University of Mysore

Oriental Library Publications

GENERAL EDITOR

M. S. BASAVALINGAYYA, M.A., B.L.
Curator, Govt. Oriental Library, Mysore.

SANSKRIT SERIES No. 81

आनन्ददायिनीभावप्रकाशाभ्यां व्याख्याटिप्पणाभ्यां संवलितया सर्वार्थसिद्ध्याख्यवृत्त्या सहितः

तत्त्वमुक्ताकलापः

द्वितीयसंपुटम्

TATTVAMUKTĀKALĀPA

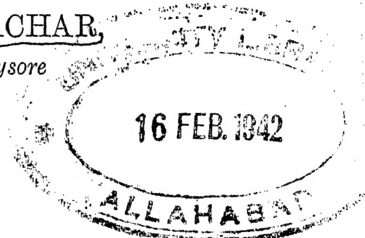
AND

Sarvārtha Siddhi with the commentaries of Ānandadāyinī and Bhāvaprakāśa

Vol. II

EDITED BY

VIDVAN S. NARASIMHACHAR,
Govt. Oriental Library, Mysore



MYSORE:
PRINTED BY THE ASST. SUPDT., GOVT. BRANCH PRESS
1940

प्रास्ताविकम्.

धीप्रस्थानसाहसिकमेधाविभवविलसद्विबुधजनविचारचातुरीसर्वंकषकर्कशतर्कसरणिदर्पणीदृश्यप्रभावैभवस्य तत्वार्थताराकल्पस्य तत्वमुक्ताकलापस्य सर्वार्थसिद्धिसहितस्य आनन्ददायिनीभावप्रकाशाभ्यां परिभूषितस्य जडसरात्मकं प्रथमं भागं मुद्राप्योपाहार्ष्म धीवैशद्य साधनसंजिघृक्षुभ्यः ॥

संप्रतीमं द्वितीयस्य जीवसरस्य जीवाणुत्वनिरूपणान्तं विविधप्रमाणतात्पर्यसाविमर्शनिरूपणरमणीयं प्रतिभाप्रचाररासिकजनहृदयाह्लादनं द्वितीयं भागं तेभ्य उपहरामः ॥

सुबहुज्ञदुर्निष्कर्षविपुलगाम्भीर्यदुरवगाहभाववाग्गुम्भनस्वारसिकप्रवृत्तीनां आचार्याणां बहुदर्शनपरिशोधननैपुणीपरिपाकविभवाविर्भावितेऽस्मिन् प्रबन्धवरे न प्रतिभागं प्रबन्धृपरिचयतच्छक्त्याविष्करणादिकं काङ्क्षितं स्यादिति तत उदास्महे ॥

द्वितीयेऽस्मिन् भागे निर्धर्मककूटस्थनिराकरणपूर्वकं भगवद्बादरायणजैमिनितद्व्याख्यातृप्राचानवृत्तिकारादिसम्मतं अहमर्थस्यात्मत्वं प्रदर्श्यते । दृश्यं शरीरमारभ्य इन्द्रियमनःप्राणबुद्धीनां पूर्वपूर्वकक्ष्यासमर्थनाक्षमतापरिग्राहितोत्तरकक्ष्याग्रहेण प्रवर्तमानं आत्मत्ववादं निरस्य तत्तदतिरिक्त आत्मेति निर्धार्यते । अहमर्थस्य आत्मनः स्वयं प्रकाशत्वं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं स्वतो भिन्नत्वं च समर्थ्यते । औपाधिकः एकजीववादोऽनेकजीववादश्च निरस्यते । अनित्यात्मवादकक्ष्याः प्रदर्श्य निर-

स्यन्ते । नैयायिकसंमतं जीवविभुत्वं च निरस्य सिद्धान्तसंमतं अणुत्वं समर्थ्यते इति विषयक्रमः ॥

प्रतिविषयं अवान्तरविषयसूचनी च पाङ्क्तिः प्रतिपृष्ठं शिरसि जागर्ति । प्रायश्च विषयान् संगृह्णाति ॥

खण्डशो व्याख्यातस्य भावप्रकाशभूयस्त्वकृतघटनाविप्रकर्षस्य तत्वमुक्ताकलापस्य व्याख्यास्थलाङ्कप्रदर्शनपूर्वकं श्लोकावलीं चोपाहराम ॥

प्रमाणोदाहरणानि च प्रायस्साकराण्येवासूचयाम । आचार्य-सूक्तिभावजिज्ञासुजनपरमोपकारिणे भावप्रकाशाय ;—

प्रख्यापयन् देशिकदूरदर्शिताम्
प्रायो निरस्याखिलसंग्रहिष्णुः ।
संतोषयिष्यन् विदुषां मनांसि
भावप्रकाशोऽभिनवः प्रकाशते ॥

शब्दार्थगमनिकाभ्यां ग्राह्यैः श्रीदेशिकोक्तिभावगणैः ।
उचितघटनाभिरामो जयतात् सर्वार्थसंसिद्ध्यै ॥

इत्याशास्महे इत्यावेदयति

सो. नरसिंहाचार्यः.

श्री सर्वार्थसिद्ध्यादिधृतप्रबन्धनामसूची

अक्षपादसूत्रम्—59.

अमरसुधा—30, 121.

अलङ्कारकौस्तुभः—134.

अद्वैतदीपिका—217.

अद्वैतपरिभाषा—146.

अद्वैतमार्तण्डः—114.

अद्वैतसिद्धिः—52, 78, 103, 218, 331, 342, 356, 379, 389, 393.

आत्मतत्त्वविवेकः—238, 239.

आनन्दगिरि टीका—250.

आनन्ददायिनी—206.

आत्मसिद्धिः—2, 33, 62, 70, 79, 87, 94, 95, 140, 154, 157, 173, 176, 181, 182, 186, 191, 195, 201, 252, 405, 423.

इष्टसिद्धिः—389, 403.

उपदेशसहस्री (गद्य) शाङ्करी—39, 197.

उपनिषद्भाष्यम् शाङ्करं—26, 38, 39, 45, 209, 242, 334.

ऋजुविमला—165, 222, 225.

ऐतरेयोपनिषत्.

कठोपनिषत्—93.

कल्पतरुः—40, 52, 55, 339, 340, 348, 353, 437.

काशिका (मी)—168.

,, (व्या)—209.

किरणावली—2, 8, 82, 310.

कैयटः—178.

कैवल्योपनिषत्—231, 244, 361, 362, 364, 366, 369, 412.

कौषीतक्युपनिषत्—364, 365, 366, 412.
गीता—21, 23.
गीताभाष्यम् (शां)—37, 142.
गीताभाष्यतात्पर्यचान्द्रिका—315.
गीताभाष्योत्कर्षदीपिका—135.
गुणाटिप्पणी—258.
चरकम्—59, 157.
चण्डमारुतः—260.
चन्द्रकला—255.
चार्वाकटीका—49.
छान्दोग्यम्—40, 86, 93, 94, 96, 134, 138, 177, 178, 186, 241, 283, 287, 307 ,340, 361, 363, 364, 412, 422, 424, 434. 436, 454.
तत्वकौमुदी—197, 272.
तत्वटीका—206, 219, 220, 227, 263.
तत्वदीपनम्—46, 55.
तत्ववैशारदी—197.
तत्वसंग्रहः—59, 75, 235, 236, 405.
,, पञ्जिका—62, 102, 156.
तन्त्रवार्तिकम्—56, 299, 339, 439.
तत्वार्थाधिगमसूत्रम्—464.
तात्पर्यटीका—9.
त्रिंशतिका विज्ञप्तिकारिका—236.
द्रमिडभाष्यम्—340.
नैष्कर्म्यसिद्धिः—44.
न्यायकुलिशः—206.
न्यायतत्वम्—4.
न्यायपरिशुद्धिः—51, 116.
न्यायभाष्यम्—2, 49, 166.

न्यायभूषणम्—166.
न्यायमञ्जरी—3, 58, 69, 90.
न्यायरक्षामणिः—364, 366.
न्यायरत्नमाला—166.
न्यायरत्नाकरः—154, 224, 226.
न्यायवार्तिकम्—9, 101.
न्यायसिद्धाञ्जनम्—129, 155, 205, 207, 254, 265, 452.
,, व्याख्या—257.
न्यायामृतम्—152.
पञ्चदशी—195, 198, 209, 267, 391.
पञ्चपादिका—8, 129, 151, 187, 222, 228, 238, 244, 250, 301, 331, 343, 380, 402.
पञ्चपादिकाविवरणम्—36, 39, 45, 53, 59, 122, 125, 152, 162, 191, 192, 197, 207, 223, 224, 245, 246, 251, 252, 259, 310, 352, 362, 373, 380, 388, 393, 395.
पञ्जिका—32, 233, 235.
पदमञ्जरी—40.
परमतभङ्गः—116, 129, 157.
परिमलः—52, 53, 305, 340.
पाणिनिशिक्षा—169.
पातञ्जलसूत्रम्—22, 77, 248.
पातञ्जलयोगसूत्रभाष्म्—197, 244, 248, 260.
प्रकरणपञ्चिका—8, 94, 155.
प्रपञ्चहृदयम्—405.
प्रमेयकमलमार्ताण्डः—30, 50, 62, 63.
प्रश्नोपनिषत्—319,
प्रामाण्यवादः—206.
बृहती—83, 222, 223, 225.
बृहतीवार्तिकम्—47, 48.

बृहदारण्यकोपनिषत्—93, 95, 97, 118, 119, 120, 121, 126, 131, 132, 135, 137, 142, 143, 144, 150, 165, 179, 206, 249, 283, 284, 315, 328, 335, 361, 363, 398, 399, 408, 411, 412, 423, 429, 439, 442, 454.

बृहद्भाष्यम्—214.

बृहदारण्यकवार्तिकम्—117, 155, 179. 186, 198, 204, 207' 211, 217, 228, 249, 310, 347, 389.

ब्रह्मविद्याभरणम्—52, 59.

ब्रह्मसिद्धिः—386, 388, 391, 401.

ब्रह्मसूत्रवार्तिकम्—39, 203.

भाट्टरहस्यम्—256.

भामती—7, 52, 53, 54, 55, 120, 121, 124, 125, 140, 154, 203, 285, 306, 315, 333, 334, 339, 341, 342, 434.

भास्करभाष्यम्—302.

मञ्जूषा—29, 36, 37, 43, 73, 154, 178, 196, 199, 210, 225 227, 256, 329, 368, 430, 431, 432, 438.

मनुस्मृतिः—146.

महाभारतम् सव्याख्यानम्—256, 242.

महाभाष्यम्—178, 227.

महोपनिषत्—326.

माण्डूक्यकारिका—416.

माधवीयधातुवृत्तिः—438.

मुण्डकोपनिषत्—326, 327, 369, 413, 418, 426, 435.

मेदिनीकोशः—21.

मैत्रायणीयोपनिषत्—26.

मोक्षधर्मः—26, 116, 129.

यतीशसिद्धान्तलेशसंग्रहः—254.

योगतत्ववैशारदी—307.

रत्नप्रभा—275.

रत्नावलिः—193, 201, 253, 310, 325, 416.
राजवार्तिकम्—464, 479.
लघुचन्द्रिका—34, 196, 198, 200, 201, 324, 341, 354, 363, 365, 366, 369, 373, 377, 378, 379, 382.
वाक्यवृत्तिः—400.
वादनक्षत्रमाला—329.
विवरणतत्वदीपनम्—52.
विष्णुपुराणम्—10, 15, 18, 43, 70, 129, 428.
वेदान्तदीपः—369.
वेदान्तसूत्रमुक्तावलिः—310.
वेदार्थसंग्रहः—147, 256, 318, 322, 325, 352.
वैशेषिकसूत्रभाष्यम्—8.
व्युत्पत्तिवादः—206, 255, 332, 333, 337.
शक्तिवादः—42, 210, 258.
शङ्करभाष्यम्—7, 23, 24, 27, 40, 56, 75, 92, 94, 96, 100, 118,119, 120, 125, 143, 144, 164, 165, 175, 211, 249, 299, 309, 328, 333, 345, 387, 416.
शब्देन्दुशेखरः—43.
शान्तिपर्व—25, 146.
शाबरम्—51, 166, 212, 220, 222, 225.
शास्त्रदीपिका—44, 88, 234, 274.
श्रीभागवतम्—129.
श्रीभाष्यम्—33, 37, 42, 148, 151, 165, 196, 201, 204, 206, 242, 256, 281, 329, 352, 389, 403, 423, 478, 479.
श्रुतप्रकाशिका—43, 116, 231, 253, 315.
श्लोकवार्तिकम्—2, 5, 158, 166, 171, 209, 220, 222, 224, 240, 348, 376, 397, 463, 464.
श्वेताश्वतरोपनिषत्—22, 23, 24.

सनत्सुजातीयभाष्यम्—21.
संक्षेपशारीरकम्—303, 310, 322, 331, 337, 353, 354, 378, 388. 389, 416.
संमतितर्कप्रकरणम्—464.
सर्वदर्शनसंग्रहः—69.
संवित्सिद्धिः—344.
सात्वतसंहिता—381.
सांख्यतत्वकौमुदी—117.
„ विभाकरः—100.
„ प्रवचनभाष्यम्—100, 273.
सारास्वादिनी—206.
सिद्धान्तचन्द्रिका—44.
सिद्धान्तबिन्दुः—34, 128, 356, 388, 402.
सिद्धान्तलेशसंग्रहः—305, 309, 313, 342, 357, 378, 387, 391, 393, 394, 398.
सिद्धान्तलेशसंग्रहव्याख्या—309.
सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम्—18, 29, 122, 439.
सुबालोपनिषत्—138.
सेश्वरमीमांसा—4.
हयशिरोरत्नभूषणम्—26.
हरिकारिका—43.

श्री सर्वार्थसिद्धयादिधृतप्रबन्धृनामसूचनी

अकलङ्कः—30.
अक्षपादः—2, 173.
अनन्तार्याः—257.
अप्पयदीक्षिताः—305, 329, 340, 378, 392.
आनन्दगिरिः—93.
ईश्वरकृष्णः—100, 273.
उदयनः—2, 8, 263, 310.
उद्योतकरः—102, 116.
उपवर्षः—3, 56.
कणादः—2, 4, 113.
कमलशीलः—32, 50, 51, 101, 168, 237, 403
कात्यायनः—316.
कृष्णताताचार्याः—257.
केशवः—437.
खण्डदेवः—256.
गदाधरः—42, 210, 255, 258, 332.
गौडपादः—370, 416.
जयन्तः —3, 90, 91.
जैमिनिः—15, 56, 168, 340, 431
दिङ्नागः—117.
द्रमिडभाष्यकाराः—343.
नागार्जुनः—32, 33.
नागेशः—29, 36, 73, 178, 196, 210, 227, 256, 329, 430, 432.
नाथमुनयः—5.

नारायणाश्रमिणः--217.

नरसिंहराजाचार्याः—206.

नृसिंहाश्रमिणः—217.

पतञ्जलिः—42, 43, 67.

पद्मपादाचार्याः—25, 301, 302, 330, 373, 363, 416.

पराशरः—33.

पार्थसारथिमिश्रः—43, 44, 88, 154, 166, 172, 182, 226 234, 240, 244.

प्रकाशात्मयतयः—44, 198, 204, 244, 247, 393, 398.

प्रज्ञाकरमतिः—33.

प्रभाकरः—166, 227.

प्रभाचन्द्रः—30, 503, 49.

बादरायणः—56.

ब्रह्मदत्तः—405.

ब्रह्मनन्दी—348.

ब्रह्मानन्दयतयः—194, 233, 239, 247, 258, 365, 382.

भट्टपादः—3, 5, 6, 8, 29, 36, 37, 44, 46, 56, 73, 95, 117, 154, 166, 168, 209, 226, 227, 234, 237, 274, 344 348, 376, 423, 439.

भर्तृप्रपञ्चः--151, 171, 182, 345, 347, 348, 405.

भवानन्दादयः—71.

भास्करः—204, 303, 344, 347, 352, 353.

मण्डनमिश्रः—386, 389, 391, 401, 402, 403.

मधुसूदनसरस्वती—193, 247, 259, 309, 353, 354, 363, 373, 391, 393, 460.

याज्ञवल्क्यः—416.

यामुनमुनयः—2, 5, 37, 46, 154, 170, 176, 208, 213, 289, 344, 423.

यादवप्रकाशाः—347, 350.

साक्षात्स्वामिनः—206.
सुचरितमिश्राः—168, 169, 240, 260.
सुरगुरुः—62.
सुरेश्वराचार्याः—117, 121, 243, 180, 186, 203, 207, 253, 301, 302, 345, 347, 386, 391, 392, 398, 423.
सोमनाथः—340.
स्थिरमतिः—154, 237.
हरदत्तः—40.
हारिः—178.

तत्त्वमुक्ताकलापश्लोकाः

यो मे हस्तादिवर्ष्मेत्यवयवनिवहाद्भाति [3] भिन्नस्स एकः [10]
प्रत्येकं चेतनत्वे बहुरिह कलहः [58] वीतरागो न जातः [59] ।
तत्संघातातिरिक्तेऽप्यवयविनि कथं तेष्वसिद्धा मतिस्स्यात् [61]
संघातत्वादिभिर्वा घट इव तदचित् [69] स्यान्ममात्मेत्यगत्या [72] ॥ १

स्याद्वाऽसौ चर्मदृष्टेरयमहमितिधीः [85] देह एवात्मजुष्टे
निष्टप्ते लोहपिण्डे हुतवहमतिवत् [86] भेदकाख्यातिमूला ।
श्रुत्यर्थापत्तिभिश्च [87] श्रुतिभिरपि च नः सर्वदोषोज्झिताभिः [92]
देही देहान्तराप्तिक्षम इह [97] विदितस्संविदानन्दरूपः [98] ॥ २

बाह्याक्षेभ्योऽन्य आत्मा [105] तदखिलविषयप्रत्यभिज्ञातुरैक्यात् [106]
कर्तुः स्मृत्यादिकार्ये करणमिति मनो मानसिद्धं ततोऽन्यत् [112]
प्राणास्संघातरूपाः वपुरुदितनयात् [114] न ध्रुवं चेतयन्ते [115]
ज्ञानं च ज्ञातृधर्मः क्षणिकमपि च वः तेन नास्यात्मभावः [158] ॥ ३

धीर्नित्या यस्य पक्षे प्रसरति बहुधार्थेषु [168] सैवेन्द्रियाद्यैः
तेनात्माऽजागळस्थस्तन इव किमिह स्वीक्रियेतेति चेन्न ।
कल्प्यं चेदात्मतत्त्वं कथयितु[169]मुचितं लाघवं तत्र युक्त्या
नित्या सा यस्य तद्वानपि निगममितो गौरवं नास्य भारः [170] ॥ ४

ज्ञानत्वं वक्ति पुंसः श्रुतिरिह न पुनर्बुद्धिमात्रस्य पुंस्त्वं
प्रत्यक्षादेः प्रकोपात् [189] अनुगतकथने ज्ञानमर्थप्रकाशः [191] ।

साक्षात्स्वामिनः—206.

सुचरितमिश्राः—168, 169, 240, 260.

सुरगुरुः—62.

सुरेश्वराचार्याः—117, 121, 243, 180, 186, 203, 207, 253, 301, 302, 345, 347, 386, 391, 392, 398, 423.

सोमनाथः—340.

स्थिरमतिः—154, 237.

हरदत्तः—40.

हारिः—178.

तत्त्वमुक्ताकलापश्लोकाः

योऽमे हस्तादिवर्ष्मेत्यवयवनिवहाद्भाति[3] भिन्नस्स एकः[10]
प्रत्येकं चेतनत्वे बहुरिह कलहः[58] वीतरागो न जातः[59] ।
तत्संघातातिरिक्तेऽप्यवयविनि कथं तेष्वसिद्धा मतिस्स्यात्[61]
संघातत्वादिभिर्वा घट इव तदचित्[69] स्यान्ममात्मेत्यगत्या[72] ॥ १

स्याद्वाऽसौ चर्मदृष्टेरयमहमितिधीः[85] देह एवात्मजुष्टे
निष्टप्ते लोहपिण्डे हुतवहमतिवत्[86] भेदकाख्यातिमूला ।
श्रुत्यर्थापत्तिभिश्च[87] श्रुतिभिरपि च नः सर्वदोषोज्झिताभिः[92]
देही देहान्तराप्तिक्षम इह[97] विदितस्संविदानन्दरूपः[98] ॥ २

बाह्याक्षेभ्योऽन्य आत्मा[105] तदखिलविषयप्रत्यभिज्ञातुरैक्यात्[106]
कर्तुः स्मृत्यादिकार्ये करणमिति मनो मानसिद्धं ततोऽन्यत्[112]
प्राणास्संघातरूपाः वपुरुदितनयात्[114] न ध्रुवं चेतयन्ते[115]
ज्ञानं च ज्ञातृधर्मः क्षणिकमपि च वः तेन नास्यात्मभावः[158] ॥ ३

धीर्नित्या यस्य पक्षे प्रसरति बहुधार्थेषु[168] सैवेन्द्रियाद्यैः
तेनात्माऽजागळस्थस्तन इव किमिह स्वीक्रियेतेति चेन्न ।
कल्प्यं चेदात्मतत्त्वं कथयितु[169]मुचितं लाघवं तत्र युक्त्या
नित्या सा यस्य तद्वानपि निगममितो गौरवं नास्य भारः[170] ॥ ४

ज्ञानत्वं वक्ति पुंसः श्रुतिरिह न पुनर्बुद्धिमात्रस्य पुंस्त्वं
प्रत्यक्षादेः प्रकोपात्[189] अनुगतकथने ज्ञानमर्थप्रकाशः[191] ।

स्वस्यवात्मा तु सिद्धिं मतिरनुभवति स्वान्ययोः [202] सिद्धिभावं
ज्ञातुर्जाड्यप्रसङ्गव्युदसनविषया ज्ञानमात्रोक्तयोऽपि [205] ॥ ५

आत्मा स्वेनैव[203]सिध्यत्यहमिति निगमैर्यत्स्वयं ज्योतिरुक्तः [221]
स्वापेऽप्यस्य स्वसिद्धावशयिषि सुखमित्यक्षता प्रत्यभिज्ञा [233] ।
चेतश्चान्यानपेक्षं मतिषु न हि भवेत् [260] किं च वेदान्तदृष्ट्या
ज्ञानत्वादेष धीवत् स्वविषयधिषणानिर्व्यपेक्षस्वसिद्धिः [261] ॥ ६

प्रत्यक्त्वं पुंसि केचित् स्वविषयधिषणाऽऽधारतामात्रमाहुः [262]
स्वस्मै स्वेनैव भानं तदिति समुचितं तत्स्वतस्सिद्धिसिद्धेः ।
प्रत्यङ् स्वापेक्षयाऽसौ त्वमयमिति मितः स्वेतरैः स्वस्वबुद्ध्या [263]
भातं नित्य [268] परस्मै जडमजडमपि स्यात्परागर्थ एव [269] ॥ ७

बोद्धा कर्ता च भोक्ता दृढमवगमितः प्रत्यगर्थः प्रमाणैः [273]
कर्तृत्वाभाववादे स्वयमिह भगवान् [278] आन्यपर्यं त्वगायत् [286] ।
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् कृतिषु च स पराधीन आभाषि सूत्रैः [296]
चित्रैः कर्मप्रवाहैर्यतनविषमता सर्वतन्त्राविगीता [297] ॥ ८

यद्भव्यं तन्न न स्यात् यदभवितृ न तद्यत्नकोट्यापि सिध्येत्
द्वेषाऽपि व्यर्थयत्ना नर इति यदि न स्वोक्तियत्नादिबाधात् [297] ।
यद्यत्नेनैव भव्यं भवति यतनतस्तत्स्वहेतूपनीतात्
दुस्साधायत्नलभ्ये प्रति यदि यतते तत्र नैष्फल्यमिष्टम् [298] ॥ ९

भिन्ना जीवाः स्वतस्स्युः प्रतिनियततया धीस्मृतीच्छासुखादेः [301]
चेतोभेदाद्यवस्था न तु भवति [311] यथा देहबाह्याक्षभेदात् [314] ।
नित्यान् भिन्नांश्च जीवान् कथयति निगमः [327] तद्धि नोपाधितस्स्यात्
आत्माद्वैतश्रुतीनामितरहृद[328]यता तत्र तत्रैव सिद्धा [345] ॥ १०

जीवाः पृथ्व्यादिभूतेष्वणव इव मिथो भेदवन्तः स्वतोऽमी
सन्मात्रब्रह्मभागास्तदिह नियतयस्सुस्थिता इत्ययुक्तम् ।
ऐक्यस्याप्यक्षतत्वादनवधि [351] च सति ब्रह्माणि स्यादवद्यम्
सत्यं तच्चेत्यभिज्ञैः बहिरगणि मृषावादतोऽप्येष पक्षः [352] ॥ ११

देहत्वाद्यैर्विगीतं निखिलमपि मया ह्यात्मवत् किं च पुंस्त्वात्
सर्वे जीवा अहं स्युर्न यदि [370] भवति ते गौरवादीत्यसारम् ।
श्रुत्यध्यक्षादिबाधात् प्रसजति च तदा तत्तदैक्यं घटादेः [371]
पक्षादेर्वादिनोश्चेत्यलमिह कलहैस्तज्जिगीषादिमूलैः [372] ॥ १२

साविद्यं ब्रह्म जीवः [373] स च न बहुतनुः नेतरे सन्ति जीवाः
स्वप्नादेकस्य लोके बहुविधपुरुषाध्यासवद्विश्वक्लृप्तिः ।
नेतः प्राक्केऽपि मुक्ताः न परमपि स तु प्राप्स्यति [374] श्रेय एको
मायोत्थौ बन्धमोक्षाविति च मतमसत् [375] सर्वमानोपरोधात् [376] ॥ १३

स्वस्य स्वेनोपदेशो न भवति न परब्रह्मणा [380] निष्कलत्वात्
नाविद्या चेतयित्री स्वतनुसमधिकं वर्ष्म निर्जीवमात्थ [381] ।
कश्चित्तत्वं ब्रवीतीत्ययमुपनिपतद्भ्रान्तिरुन्मुच्यते चेत्
तादृग्भ्रान्तिः पुराऽपि ह्यभवदिति न ते किं तदैवैष [383] मुक्तः ॥ १४

तोयाधारेषु दोषाकर इव बहुधोपाधिषु ब्रह्म[386] शुद्धम्
छायापन्नं विशेषान् भजति तनुभृतः तत्प्रातिच्छन्दभूताः ।
इत्यप्यत्यन्तदुस्स्थं [389] प्रसजति च तदा जीवनाशोऽपवर्गः
छायाच्छायावदैक्यं न भजति [394] न च तद्दर्शनं ब्रह्मणस्ते [400] ॥ १५

एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभागि-
त्याम्नातं तेन जीवोऽप्यचिदिव जनिमानित्यनध्येतृचोद्यम् ।

तन्नित्यत्वं हि (तु) साङ्ग[405] श्रुतिशतपाठतं सृष्टिवादः पुनस्स्या-
द्देहादिद्वारतोऽस्येत्यवहितमनसामाविरस्त्यैकरस्यम्[406] ॥ १६

स्थैर्यं चेन्नाभ्युपेतं भव[418]भृति न भवेदैहिकार्थप्रवृत्तिः
देहान्तत्वे तु धर्म्ये पथि निरुपधिका विश्ववृत्तिर्न सिध्येत्[419] ।
आकल्पस्थायिपक्षे कृतमफलतया मुक्तिमार्गो[421]पदेशैः
आमोक्षस्थायितायां श्रुतिरनभिमुखी पूरुषार्थे चतुर्थे[422] ॥ १७

व्याप्तास्सर्वत्र जीवास्सुखतदितरयोस्तत्र[439] तत्रोपलम्भात्
निर्वा(ह्या)ह्ये देहगत्या गतिरिह वितथा तद्वतोऽपीति चेन्न[440] ।
वक्ष्री पञ्चाग्निविद्याप्रभृतिषु भविनां स्वस्वरूपेण सिद्ध
यातायातप्रकारं श्रुतिः[441] अगतिरिमां लाघवोक्ति श्रृणोतु[442] ॥ १८

अव्यापित्वेऽपि पुंसोऽभिमतबहुवपुःप्रेरणे यौगपद्यम्
ज्ञानव्याप्त्योपपन्नम्[444] बहुषु च वपुषोंऽशेषु निर्वाह एषः ।
यच्चादृष्टं क्रियां स्वाश्रययुजि तनुतेऽन्यत्र तत्कृद्गुणत्वात्
इत्येतास्सिद्धसाध्यं विभुन इह हि तद्ब्रह्मणः प्रीतिकोपौ[447] ॥ १९

इष्टं प्रादेशिकत्वं विभुषु जनिमतां बुद्धि[448]शब्दादिकानाम्
तेनादृष्टं च तादृङ्न यदि तव सुखाद्याश्रयव्यापकं स्यात् ।
तस्मात्तत्स्वप्रदेशान्वयवति जनयेत् स्वं फलं यत्ननीत्या
भ्रातृव्यादौ च पीडां न घटयितुमलं[449] किं विभुत्वेन भोक्तुः[450] ॥२०

स्वादृष्टोपार्जितत्वाद्विभुषु यदवदन् विग्रहादेर्व्यवस्थाम्
तच्चैवं निर्निमित्तम्[450] तत इह न कथं सर्वतस्सर्वभोगः ।
आराध्ये विश्वसाक्षिण्यनुगुणफलदे त्वस्ति राजादिनीतिः[451]
तत्साम्ये भोगसाम्यम् न हि भवति यथाकर्म भोगप्रदानात्[452] ॥ २१

देहान्तर्मात्रदृष्टेः[452] पृथगिह विषयिप्राणजीवोत्क्रमोक्तेः
भूयोवाक्यानुसारात्[454] अणुरिति कथने तादृशोपाध्यनुक्तेः ।
ईशादाराग्रमात्रो ह्यवर इति भिदावर्णनात्[458] स्पन्दवाक्यात्
व्याप्त्युक्तिर्जाति[459]धर्मप्रतिहतिविनिवृत्त्यादिमात्रेण जीवे[461] ॥ २२

नात्मा देहानुरूपं विविधपरिणतिः[478] निर्विकारोक्तिबाधात्[480]
स्थूलोऽहं मूर्ध्नि जातं सुखमिति च मतिस्तस्य देहात्ममोहात्[481] ।
नानादेहश्च योगी प्रसजति भिदुरः पुंसि[484] देहप्रमाणे
मुक्तौ देहात्ययात्स्यात्परिमितिविरहस्तत्प्रयुक्तेऽस्य माने ॥ २३

निर्मुक्तस्त्वन्मते स्यात्कथमपरिमितो[486] नित्यमूर्ध्वं प्रधावन्
देहः कश्चित्तदानीमपि यदि नियतः स्यात्तु तन्निघ्नतास्य[487] ।
इच्छातो देहमेकं विशति स परिमित्यर्थमेवेति[489] हास्यम्
तस्मादास्माकनीत्या परिमितिरिह सा स्थायिनी या विमुक्तौ[490] ॥ २४

तत्वमुक्ताकलापादेः शुद्धपाठसूचनी

पु.	पङ्क्ति.	
1	5	साहितः
4	24	विशेष्यिकैव
5	Heading	त्मत्व
,,	23	निवर्तते
6	Heading	आत्म
10	11	तथाऽनु
15	12	इत्यत्र
28	Heading	संमतोऽर्थः
30	16	म्वी बौद्धोवा ? आद्ये
,,	17	मार्तण्डे
31	,,	अन्त्ये ;–' अहमेव न किंचिच्चेत् ' इत्यादि तदुक्तिवत् अविद्या ' इत्याद्युक्तिः
35	19	व्यवहारः
36	8	द्ग्रन्थि
48	22	दुपपत्तिश्च न संभवति शरीरे ज्ञानायोग
50	Heading	पक्ष
51	3	युक्तम्
,,	19	स्मरण
54	Heading	तादृगात्म
56	,,	रूपं जीवस्या
73	2	जानामीत्यादि
,,	13	भावः

पु.	पङ्क्ति.	
75	8	माशयः
75	13	संभवः
,,	17	एकत्वेना
77	20	† दृढप्रप्रत्यक्षमिति
78	8	अग्नेर्ज्वालेति
,,	9	तत्तद्ग्रहो
83	1	दुर्वाद
,,	19	शक्यन्ते
86	21	इशास्त्रदी
88	22	दृढम्
89	Heading	व्यवस्था
,,	1	भाविता
,,	1	ताभिः
91	15	मवाप
,,	20	अकर्त्रभो
92	1	ज्झिताभिः
94	Heading	स एष इ
95	1	संपद्य
96	5	एवमेवाय
97	16	३-१७.
98	5	'इति जीवस्वरूपपरीक्षायां देहातिरेकसमर्थनम्'. इति योजनीयम्
,,	11	,,
100	10	पङ्गवन्ध

पृ.	पङ्क्ति.	
102	23	कृत्यत्वात्
103	8	स्यात्
,,	9	'इति जीवस्वरूपपरीपक्षायां देहातिरेकसमर्थनम्' इति योजनीयम्
105	16	तमस्यैवा
107	Heading	अहमर्थसा
,,	1	चेन्न
,,	3	भेदेन
,,	4	रहमित्यादिर्धीः
109	14	संस्कारात्स
111	Heading	स्वानुभूता
112	17	भेदवाचक
,,	पा.	2त्मकल्पने
114	Heading	स्यात्मता
115	,,	न्यथा सिद्ध
120	19	श्रोत्रादि
121	6	स्मृतिः
,,	18	उपसृष्टो
123	10	प्रत्यययो
,,	20	पत्तिः
125	4	वच्छेदे
127	2	तत्संबन्धाधीन
,,	4	आसीत्
,,	16	देरात्म
,,	17	मनसः
128	17	विधानेन करणप्रत्ययान्तत्वेन एकदेशा
131	20	वाक्
134	13	कर्तृत्वम्
,,	17	वधारणस्य
135	8	प्राधान्यम्
136	Heading	नान्तःकरण, रूपैक
139	,,	लोपयोग.
,,	17	पश्यन्वै
140	9	मणिप्रकाशस्य
,,	10	मणिनाश
,,	13	संबद्ध
,,	22	मण्यादेः
,,	23	मणिप्रकाशो
141	19	पटस्य मणिप्रकाशस्य
142	12	विनाशायो
,,	Heading	धर्म
143	1	भूतेभ्य
,,	4	न प्रेत्यसंज्ञास्ति
144	13	प्राधान्येन
147	10	प्रजहाति
148	Heading	वादायोगः
151	2	इत्यादिभिः
153	7	त्वासंभवस्य
,,	10	दाहृतायाः
,,	15	कामस्संक
154	10	श्चिदिति
156	23	धारम्भसामग्रीवैचित्र्यादित्यभ्युपेत्यवादेन

पु.	पाङ्क्ति.	
164	3	'इति जीवस्वरूपपरीक्षायां इद्रिय मनः प्राणज्ञानातिरेकसमर्थनम्' इति योजनीयम्
164	8	'इति जीवस्वरूपपरीक्षायां इन्द्रियमनः प्राणज्ञानातिरेकसमर्थनम्' इति योजनीयम्
,,	20	,,
166	3	न्यायभाष्य
169	23	आदिना
170	6	'जीवतद्धर्मतन्नित्यत्वानामागमिकत्वम्' इति योजनीयम्
,,	10	,,
171	15	विवक्षितः
,,	19	नयः
172	17	धेयमभविष्यत्
174	7	प्राणितम्
175	21	प्राज्ञेनात्मना
185	10	ब्रह्मलोकं
186	7	भ्युपगत
,,	19	त्वस्य जीवे ज्ञानातिरेकस्य चा
,,	20	कादौ घटवृत्तिविरह
188	17	इत्यत्रैव
191	6	ज्ञानत्वं न धर्म
192	5	रकर्मकः
193	12	तापत्तिः
197	5	देरैक्यम्
,,	10	यथा छिदि
198	14	जनकत्वरूप
200	8	भास्यत्व
202	9	स्यापि
203	8	हमर्थ
206	8	'पत्तेरिति' इत्यस्यानन्तरं 'इति आत्मनोज्ञानमात्रत्वोक्तिनिर्वाहादि' इति योज्यम्
207	14	वद्दृष्टम्
207	23	,,
209	13	चेतनवाचि
210	12	स्थाप्ये
,,	16	हमर्थ एव
212	8	श्रुतौ च
,,	,,	रात्स्वशब्द
213	3	ज्योति
,,	7	भावसाधनत्वा
215	21	प्रकाशकः
222	6	एतदुपरि
223	12	स्यूतचैतन्यरूपे
226	6	इत्युक्तं तत्तु
247	15	यथाऽभावस्य
,,	16	ज्ञानस्य
249	Heading	मनोलयादि

पु.	पङ्क्ति.	
249	10	स्तदेषां
250	Heading „	न कल्प्या
252	2	इति स्थाना
253	22	वैशिष्ट्यगोचर
255	20	तच्च अनिष्टनिवृत्तीष्टप्राप्तिसाधनतारूपत्व
257	20	श्रीमदनन्तार्य
264	10	स्वत्वस्य
267	9	'ननु+दिति' इत्यधिकम्
280	13	मिणोर्भेद
281	9	त्वादितर
282	8	वागादि
287	Heading	कश्चिद्वी
„	21	शरीरे
289	21	यदेभिस्स्या
294	2	प्रकृत्यैव च
„	3	स पश्यति
298	13	'इति यत्नसाफल्यसमर्थनम्' इति योजनीयम्
299	6	„
299	14	रूपाण्युप
300	19	करणानां
302	12	ज्ञानविल
303	6	प्रकाशः
307	18	नेकेषाम्
310	Heading	काविद्यापेक्षयाः प्रवृत्तौ हार्दम्

पु.	पङ्क्ति.	
„	22	आत्मैक्ये
311	21	भिप्रेत्याह
316	15	दृढत्वमे
325	6	संप्रतिपन्नम्
328	18	पादानेन
329	9	परैरुक्ततया
330	9	दिकमप्यमु
333	5	युक्तमिति
339	15	मुख्यार्थस्य
340	18	चार्यैः
344	19	'इति अनौपाधिकात्मपरस्परभेदसमर्थनम्' इति योजनीयम्
345	4	„
„	9	„
347	11	शंकरा
„	19	व्याचख्यौ
352	8	'इति अनयौपाधिकात्मपरस्परभेदसमर्थनम्' इति योजनीयम्
„	15	„
360	21	करणाधिपा
371	4	श्रुतीति
379	19	मनःपरि
383	6	जननात्
384	4	शरीराव
„	8	सत्यपि
385	13	शरीरं

पृ.	पङ्क्ति.	
386	8	मङ्गय
392	21	वार्तिककार
398	20	(आ. गि.)
400	7	'हेतु—पेक्ष.' इत्यधिकम्
402	Heading	हानादिता
407	6	परत्वम्
409	Heading	वेषैणकात्रिधा
419	6	तत्कथम्
420	10	विफलेत्यादि
424	1	दीनव्याह
429	10	नार्थिका
442	3	तेनप्र
,,	12	गुत्क्रम
444	11	आक्षेपिकी
,,	12	ष्ठातृत्वम्
,,	16	स्यादिति
447	16	युक्तत्वमपि
448	Heading	ततद्गीत्यैव
449	,,	विभुत्वा
452	19	बाह्रिरभा
	,,	भूताकाश
453	17	भावः
455	5	श्रुत्यन्त
458	12	णुत्वानङ्गीकार
459	Heading	स्पन्दः श्रू
,,	14	नेऽपि लोके तथा
460	22	तं शास्त्रादय
461	11	निर्गुण आत्मा
461	12	इति तु तत्रत्यवच
462	5	त्वोक्तेः
464	12	गुणा अपि
467	Heading	तत्तारतम्यादि

॥ श्रीमते हयग्रीवाय नमः ॥

श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकविरचितः

तत्वमुक्ताकलापः

तदीयया आनन्ददायिनीभावप्रकाशाभ्यां व्याख्याटिप्पणाभ्यां संवलितया सर्वार्थसिद्ध्याख्यवृत्त्या सहित

द्वितीयसंपुटम्

द्वितीयो जीवसरः

सर्वार्थसिद्धिः

अथ प्रत्यगर्थे जीवस्तावन्निरूप्यते । तत्र *चार्वाकेणापि

आनन्ददायिनी

नरसिंहभुजान्तराल[1]राजन्मसृणालक्तकपादपङ्कजां ताम् ।

कलयामि कटाक्षलेशलक्ष्या विबुधानामधिपा भवन्ति यस्याः ॥

उद्देशक्रम एव निरूपणे क्रम [2]इत्याभिप्रेत्याह—**अथेति** । उद्देशे वा कथं क्रम इत्यपेक्षायामाह—[3]**चार्वाकेणापीति** । तथा च

भावप्रकाशः

ईशाना सर्वस्या वाचो देवी यदङ्कमध्यास्ते ।

कर्णाटदेशभाग्यं वागीश्वर एष मम मनो विशतात् ॥

*__चार्वाकेणापीत्यादि__—एतेन अनुमानेन देहादिविलक्षणात्मसाधनं चार्वाकसामान्येन विवादे न घटते; अपि तु तदेकदेशिभिस्सह

---

[1] राजद्घुसृणा-**क.** [2] इत्यभिप्रायेणाह—**ग-घ.** इत्यत्राह—**क-ख.** [3] चार्वाकादिभिरपीति--**क-ख.**

भावप्रकाशः

विवादे इति सूचितम् । एतच्च 'संघातत्वादिभिर्वा' इत्यस्यावतरणे स्फुटीभविष्यति । सांख्यादयः केचित् देहेन्द्रियादिविलक्षणमहमर्थातिरिक्तं निर्धर्म(निर्गुण)कमात्मानमानुमानिकमाचक्षते । अपरे पुनर्वैशेषिका नैयायिकाश्च आत्मानं देहादिविलक्षणं सधर्मकमहमर्थं मानसप्रत्यक्षविषयमभ्युपगच्छन्तोऽप्यनुमानमेव तत्र प्रमाणमुपन्यस्यन्ति । यथोक्तं कणादेन—'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारास्सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि' (वै-सू-३-२-४) इत्यादि । अक्षपादेनापि 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' (न्या-सू-१-१-१०) इति।अत्र 'स्वात्मनः अहं जाने इत्यादिमानसप्रत्यक्षविषयत्वेऽपि परात्मसाधनार्थं लिङ्गाभिधानम्' इति किरणावल्यामुदयनः । 'अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्यः इति न्यायभाष्याद्यनुसारेण शरीरातिरिक्तात्मसाधनार्थमिच्छाद्वेषेत्यादिसूत्रम्' इत्यात्मसिद्धौ भगवद्यामुनमुनयः प्राहुः । 'लिङ्गं — लौकिकप्रत्यक्षविषयतायां विषयविधया नियामकम् ; तथा च इच्छादिप्रकारेणैवात्मनो लौकिकमानसविषयता' इति राधामोहनगोस्वामिभट्टाचार्यविवरणं तु लिङ्गशब्दास्वारस्यात् वैशेषिकसूत्रे प्राणादीनामेतादृशलिङ्गत्वासंभवेन पूर्वोक्तार्थासंभवाच्च हेयम् । अतः कृत्स्नचार्वाकविवादे उदाहृतसूत्रप्रवृत्तिर्न घटते, किं त्वेकदेशिभिस्सह विवाद एवेति बोध्यम् । एवं—

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु-
र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः ।
अनैकान्तिकत्वात् . . . . .

इति शङ्कराचार्योक्तिरपीति । अत एव श्लोकवार्तिके वेदेन नास्तिकप्रतिबोधनासामञ्जस्यमाशङ्क्य—

वेदादेवात्मनोऽस्तित्वं यो नाम प्रतिपद्यते ।
विरोधं वाऽऽत्मनो ब्रूयात् तं प्रति ब्राह्मणाभिधा ॥ १४० ॥

तत्त्वमुक्ताकलापः

यो मे हस्तादिवर्ष्मेत्यवयवनिवहाद्भाति

सर्वार्थसिद्धिः

दुरपह्नवं *प्रमाणमाह—**य इति । हस्तादिवर्ष्म**—†[1]हस्तादिरूपं शरीरमित्यर्थः । ‡मम हस्तादि मम वर्ष्मेति वा पृथगुदाहर्तव्यम् । अस्ति तावदयं §व्यतिरेकप्रत्ययः । [2]तत्र न तावदेकोऽवयवोऽवयवान्तराणि ममेत्यभिमन्यते; तथाऽनुपलम्भात् ।

आनन्ददायिनी

सकलप्रमाणसिद्धस्य प्रथमोपस्थितेर्जीवस्येशात्प्रथममुद्देश इति भावः । यो मे हस्तादिवर्ष्मेत्यत्र हस्तादिरूपं [3]वर्ष्मेत्यङ्गीकारे विशेषणवैयर्थ्यमित्यभिप्रायेणाह—**मम हस्तादीति । अनुपलम्भादिति ।** [4]हस्तादिषु

भावप्रकाशः

इति आत्मवादे भट्टपादोक्तिस्संगच्छते ॥

*__प्रमाणमिति__—प्रत्यक्षप्रमाणमित्यर्थः ।

तत्र प्रत्यक्षमात्मानमौपवर्षाः प्रपेदिरे ।
अहंप्रत्ययगम्यत्वात् सयूथ्या अपि केचन ॥

इति न्यायमञ्जर्यां जयन्तेन पूर्वोत्तरमीमांसावृत्तिकृत उपवर्षस्य संबन्धिनां शबरकुमारिलादीनामात्मन्यहमिति प्रत्यक्षं प्रमाणमिति सिद्धान्तस्याभिधानादिति भावः । 'शिरःपाण्यादिलक्षणः' इति उदाहरिष्यमाणवचनानुसारेणावयवावयविनोरभेदपक्षाभिप्रायेणाह—†**हस्तादिरूपमिति ।** भेदपक्षेऽप्याह—‡**मम हस्तादीति ।** यद्वा प्रभूतकृत्स्नावयवोपादाने शिरः पाणिरुदरं पादश्च शरीरमिति सामानाधिकरण्येन प्रयोगसत्त्वेऽपि हस्तादि शरीरमिति प्रयोगस्सामानाधिकरण्येन न दृश्यत इति शङ्कायामाह—‡**मम हस्तादीति । §व्यतिरेकप्रत्यय इति ।** अयमाशयः—

[1] हस्तादिशरीरमित्यर्थः--क. ख. [2] अत्र—क. ख. [3] वर्ष्मेति कर्मधारयाङ्गीकारे—क. ख. [4] हस्तादिभिन्नस्याभिमन्तु—ग, हस्तादिष्व भिमताभिमन्तु—घ.

भावप्रकाशः

अस्ति तावत् 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म' इति जैमिनीयं सूत्रम्। तत्र पुरुषशब्दः पुरि शेत इति व्युत्पत्त्या शरीरसंबन्धिनमाचष्टे। अतस्तत्रात्मनश्शरीरव्यातिरेके इदं प्रमाणं विवक्षितम्। सूत्रतात्पर्यं च—

पुरुषस्येन्द्रियाणामित्येकानेकत्वकीर्तनात्।
देहेन्द्रियादिसङ्घातादन्य आत्मा प्रदर्शितः॥

इत्युपक्रम्य—

न च पाणिरहं चक्षुरहमात्मेति जल्प्यते।
व्यतिरिक्ता मतिश्चास्ति कायप्राणेन्द्रियादिषु॥
पुरुषस्येति संबन्धकथनात्तच्च सूचितम्।
बुद्धितो व्यतिरिक्तत्वमत एव च सूत्रितम्॥
तद्धर्मित्वेन सकलैः प्रमाणैरुपलम्भनात्।
बुद्धिजन्मेत्यनेनैव बुद्धेर्जन्मप्रदर्शनात्॥
अजातः प्रतिसंधाता प्रोक्तः पुरुषशब्दतः।

इत्यादिना सेश्वरमीमांसायां प्रत्यक्षसूत्रे प्रदर्श्यते। यद्यपि सूत्रस्वारस्यपर्यालोचनायां अहं गेहीतिवत् अहं देहीति प्रतीतिर्विवक्षितेति प्रतीयते। सा च प्रतीतिर्देहांशे चाक्षुषप्रत्यक्षरूपा, अहमंशे स्वप्रकाशप्रत्यक्षरूपेति विवेकः; 'अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' 'विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्यादिश्रुतिषु पुरुषशब्दोदितस्य देहसंबन्धिनस्स्वयंप्रकाशत्वविज्ञानस्वरूपत्वाभिधानात्; इत्थं च अभिज्ञानां स्थूलदेहवानहमिति प्रतीतिसमानविषयिण्येव स्थूलोऽहमिति प्रतीतिरिति सिध्यति, तथापि देहात्मवादिनश्चार्वाकस्य मते देहप्रधानैव प्रतीतिः 'स्याद्वाऽसौ चर्मदृष्टेरयमहमिति धीर्देह एवात्मजुष्टे' इत्यनेन वक्ष्यत इति सिद्धान्तेऽपि देहविशेष्यकैव प्रतीतिरुपदर्शितेति। व्यासश्च 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः'

भावप्रकाशः

इत्यादौ शारीरशब्देन देहात्मनोर्भेदे जैमिन्यभिप्रेतमेव प्रमाणं सूचयति। अन्तर्याम्यधिकरणे च 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' इति सूत्रे एनमित्यनेन पूर्वसूत्रे शारीरशब्देन निर्दिष्टं जीवं परमात्मनो भिन्नं स्थापयन् यथा देहजीवयोश्शरीरशरीरिभावेन भेदः तद्वज्जीवपरमात्मनोरपि शरीरशरीरिभावेन भेद इति सूचयति। तेन देहस्य जीवपारतन्त्र्यवत् जीवस्य परमात्मपारतन्त्र्यमिति प्रतिपत्तिस्सिध्यति। अत एव श्रीभाष्यकृतां परमाचार्या भगवद्यामुनमुनयः स्वपितामहनाथमुनिविरचितं न्यायतत्वमनुरुन्धानाः सूत्रप्राचीनवृत्तिकारसम्मतमेतदेव देहात्मनोर्व्यतिरेकसाधकं प्रमाणमुपन्यास्थन्। एवं 'न चाहं प्रत्ययो व्यामोह इति शक्यते वक्तुम्, बाधकप्रत्ययाभावात्' इति शाबरभाष्यविवरणावसरे श्लोकवार्तिके भट्टपादा अपि—

नातस्मिन् स इति ज्ञानं न ह्यसौ भ्रान्तिकारणम्।
न चाहंप्रत्ययो भ्रान्तिरिष्टो बाधकवर्जनात्॥ १२५॥

ज्ञातुरन्यश्च विषयः तस्य न स्यात्स्वभावतः।
अहंप्रत्ययविज्ञेयो ज्ञाता नस्सर्वदैव हि॥ १२६॥

गुरुः स्थूलः कृशो वाऽहमिति देहेऽपि या मतिः।
भ्रान्तिस्सा भेदरूपं हि गुरु मे तदितीक्ष्यते॥ १२७॥

इत्यारभ्य—

ये चेहाज्ञातनानात्वास्तेषां देहेष्वहंमतिः।
तत्राप्यात्माभिमानेनेत्यहंबुद्धिर्ध्रुवाऽऽत्मनि॥ १३२॥

ये तु विज्ञातनानात्वास्ते देहेष्वनहङ्कृताः।
जानाम्यहमितीदं तु ज्ञानं नैव प्रवर्तते॥ १३३॥

भावप्रकाशः

तन्निवृत्तौ न तेषां स्याद्ध्यानं शिष्योपदेशने ।
प्रवृत्तिर्दृश्यते सा च तेनात्मा तैः प्रतीयते ॥ १३४ ॥

इत्यन्तग्रन्थे। अत्र 'देहेष्वहंमतिः' इत्यनेन 'अविद्याऽहंमतिस्स्त्रियाम्,' इति कोशोऽपि व्याख्यातः। एवं 'ये तु विज्ञातनानात्वाः' इत्यनेन मम देहः स्थूलः स्थूलदेहवानहं इत्यादिदेहात्मविवेकज्ञानवतां न देहात्माभेद-भ्रमस्संभवति; तेषां स्थूलोऽहमित्याद्यभिलापेऽपि स्थूलदेहसंबन्धी विषयः। अत एव अहं देह इति वा स्थूलदेहोऽहमिति वा कदाऽपि न व्यवहार इति बोधितम्। 'ब्राह्मणो यजेत' ब्राह्मणोऽहमित्यादे-रप्युपपत्तिः 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इति श्रुतिविचारावसरे;—

तस्माद्यथाऽऽकृतौ शास्त्रं प्रवृत्तं व्यक्तिमाश्रयेत् ।
तथा पुंसि प्रवृत्तस्य भूतेन्द्रियसमाश्रयः ॥

इत्यनेनोक्तप्रायैव। अतश्च अविद्यावादं सत्यद्वयं असत्यात्सत्यसिद्धिं च निराकुर्वन्त एवं वदन्तो भट्टपादाः, 'तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरित-रेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः; सर्वाणि च शास्त्राणि विधिनिषेधमोक्षपराणि' इत्युपक्रम्य तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च; पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयश्शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते। यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमय-मिच्छतीति पलायितुमारभन्ते; हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभि-मुखीभवन्ति; एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गो-द्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते; तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते।

भावप्रकाशः

अतस्समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः । पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरस्सरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः । तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालस्समान इति निश्चीयते । शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वाऽऽत्मनः परलोकसंबन्धमधिक्रियते; तथाऽपि न वेदान्तवेद्यं अशनायाद्यतीतं अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदमसंसार्यात्मतत्वमधिकारेऽपेक्ष्यते; अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च । प्राक्च तथाभूतात्मविज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयं नातिवर्तते; तथा हि — 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते । अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम । तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलस्सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति' इति जिज्ञासाधिकरणे; 'आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः । तस्माद्देहादिष्वतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव' इति वृत्तिकारमतदूषणानन्तरं समन्वयाधिकरणे च शङ्करभाष्योक्तिः प्राचीनपूर्वोत्तरमीमांसावृत्तिकाराणामसंप्रतिपत्त्या स्वासंमतैवेत्यावेदयन्ति । पुत्रे पूजिते अहमेव पूजितः इत्यादिः काचित्कः प्रत्ययः स्वपुत्रयोर्भेदं पुत्रगतपूजायाः स्वस्मिन्नसंभवं च निश्चिन्वतोऽपि पुरुषस्य ममकारेण जायत इति पुत्रपूजासुखादितुल्यसुखादिविषयकः सिंहो देवदत्त इतिवद्गौणः । अत एव समन्वयाधिकरणे—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् ।
सद्ब्रह्मात्माऽहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥

इत्यत्र पुत्रस्य गौणात्मत्वोक्तिस्संगच्छते । तथा च तत्र भामती— 'पुत्रदारादिष्वात्माभिमानो गौणः; यथा स्वदुःखेन दुःखी स्वसुखेन

भावप्रकाशः

सुखी तथा पुत्रादिगतेनापीति सोऽयं गौणः, न त्वेकत्वाभिमानः, भेद-स्यानुभवसिद्धत्वात् । तस्माद्गौर्वाहीक इतिवद्गौणः' इति ।

अहमिति प्रत्यक्षे चात्मनश्शरीरव्यतिरेको न ताद्रूप्येण विषयः; अहमिति प्रत्ययविषयत्वोक्तौ ममेति प्रत्ययविषयत्वमुक्तप्रायमिति भावेन ममेति व्यतिरेकप्रत्ययः प्रदर्शितः । एतेन 'अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागामिकम्' । (३-२-९) इति वैशेषिकसूत्रभाष्याकिरणावल्यामुदयनेन प्रकरणपञ्चिकायां शालिकानाथेन च अहमिति प्रत्यक्षेण पृथिव्यादिव्यतिरिक्तात्मनस्साधनप्रयासो विफल इति सिद्धम् ॥

ननु मम देह इतिवत् अविशेषेण जायमाना गुरुः स्थूलः कृशो वाऽहमिति प्रतीतिः भ्रान्तिरिति भट्टपादकल्पनमनुचितं, विनिगमकाभावात् । मम देह इति तु घटस्य स्वरूपं शिलापुत्रकस्य शरीरं इतिवत्स्यात् । किञ्च देहात्माभेदस्याप्रत्यक्षत्वे प्रत्यक्षप्रामाण्यवादिनश्चार्वाकस्य देह एवात्मेति व्यवहारानुपपत्तिः । किञ्च मम देह इति धीरहं देह इति ज्ञानस्य विरोधिनी तस्या भ्रान्तित्वं साधयति, न त्वहं स्थूल इत्यस्य; भिन्नाभ्यां रूपाभ्यां भेदाभेदयोस्संभवात् । अपिचायं संबन्धग्रहः न साक्षाद्भेदग्रहः । अतो नाहं स्थूल इति प्रतीतिरेव तादृशी । सा च नास्ति। एतेन भेदग्रहेणाध्यासानुपपत्तौ स्थूलोऽहं मनुष्योऽहमिति प्रत्ययः पुत्रादावहंप्रत्ययवद्गौणः । 'गौणोऽहंमानो ममत्वेन संबन्धात्पुत्रदारादौ, अतस्स गौण आत्मा' इति पञ्चपादिकायामुक्तेः ॥

अध्यासवादिनाऽपि कायव्यूहवतां योगिनामपरोक्षीकृतात्मतत्वानां जीवन्मुक्तानां च मनुष्योऽहमिति व्यवहारो गौणोऽवश्यमङ्गीकरणीयः । यद्वा 'केवलं मतुब्लोपं कृत्वा अहं गौर इति षष्ठ्यर्थं निर्दिशति' इति

सर्वार्थसिद्धिः

व्यवस्थापकाभावाच्च । सर्वावयवविषयश्चासौ ममकारः । नचावयविनो[1]ऽयं स्वावयवाभिमानः; तन्निरासात् । नापि सङ्घातः सङ्घातिनोऽ-

आनन्ददायिनी

नियतस्याभिमन्तुरयमित्यनुपलम्भादित्यर्थः। **व्यवस्थापकेति**। [2]अनुपलम्भे युक्तितो हस्तादिष्वयमिति व्यवस्थापनायोगादित्यर्थः । **सर्वावयवेति** । मम हस्तो मुखं पादः शिर उदरमित्यादिरि[3]त्यर्थः । तथा च सर्वस्याभिमन्तुर्भेदभानात् तत्रैकस्य [4]नाभिमन्तृत्वमिति भावः । [5]न च भिन्नोऽहमर्थो भासतां येभ्यः स त्ववयवीत्यत्राह—**न चावयविन इति** । नन्ववयव्यभावेऽपि सङ्घातस्तादृशोऽस्त्वित्यत्राह—**नापीति** । सङ्घातः किं संसर्गः

भावप्रकाशः

न्यायवार्तिकोक्तरीतिरभ्युपेया। तात्पर्यटीकायां तु ' शरीरादयस्तु मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा अहमा विषयीक्रियन्ते ' इति पक्षद्वयमुक्तं इति शङ्काया नावकाशः । एवं अन्धादिशब्दानां विकलाङ्गवाचिनां अर्शआदिगणे पाठात् तस्याकृतिगणत्वान्मनुष्यादिशब्दानामपि संग्रहेण मत्वर्थीयप्रत्ययेन निर्वाह इत्यपि न; कुणिरहं इत्यत्रासंभवात् । नीलादिशब्दानां मतुब्लोपेनैव धर्मिबोधकत्वसंभवे गणपाठस्य स्वरार्थताया वाच्यतया तुल्यन्यायेनान्धादिशब्दानामपि स्वरार्थमेव गणे पाठ इत्येव युक्तत्वाच्च । अपि च अहमर्थो नात्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात् सुषुप्तिमुक्तयोरनवभासमानत्वात् इत्यादीन्यनुमानानि बाधकान्यहमर्थस्यात्मत्वे । एवम्—

अहं ममेत्यविद्येयं व्यवहारस्तथाऽनया ।

---

[1] नोऽवयवाभिमानः—**ख.** [2] अनुपलम्भयुक्तितो—**क.** [3] त्यर्थः । सर्वस्याभि—**ग. घ.** [4] नाभिमन्त्रहमर्थाभिन्नत्व—**ख.** [5] नचैभ्यो भिन्नो भासतां स त्ववयवी—**ग.**

तत्वमुक्ताकलापः

भिन्नः स एकः

सर्वार्थसिद्धिः

भिमन्यते; संसर्गस्य तदयोगात् । संसर्गिणां तु दत्तोत्तरत्वात् । एवमवयवेषु बहुष्वभिमन्तव्येषु अबाधितैकप्रत्ययविषयोऽभिमन्ता हस्तादिभ्यस्तत्संघाताच्चान्य इत्यभिप्रायेणाह—**स एक इति** । *स्मर्यते च—

आनन्ददायिनी

उत संसर्गिण एवेति विकल्पमभिप्रेत्य आद्यं दूषयति—**संसर्गस्येति ।** धर्मभूतस्य तस्याभिमानरूपधर्माश्रयत्वा[1]योगादित्यर्थः; अन्यथा तस्यैव द्रव्यत्वावयवित्वादिप्रसङ्गादिति भावः। द्वितीयं दूषयति—**संसर्गिणामिति।** तथाऽऽनुपलम्भाद्व्यवस्थापकाभावाच्चेत्यनेनेत्यर्थः । [2]अबाधितप्रत्ययबलादपि हस्तादिभ्योऽन्य इत्याह—**अबाधितेति ।** ननु सङ्घातस्यैक्यात्कथमेकत्वप्रत्ययस्य ततो भेदकत्वमिति चेत्; मैवम्, सङ्घातस्य सङ्घात्यतिरेकित्वाभावात् । भावे वा संसर्गरूपस्यापि हस्तादिभेदेन भिन्नत्वात् । न च गौण एकत्वव्यवहार इति वाच्यम्; न हि वयमेकत्वव्यवहारमेक[3]त्वप्रत्ययं वा प्रमाणं ब्रूमः; अपि तु यस्य मे

भावप्रकाशः

इत्यादिविष्णुपुराणवचनमपि बाधकम् । एतेन आत्मनश्शरीरसंबन्धो न कर्मकृतः, अपि तु देहात्माभिमानरूपमिथ्याज्ञाननिबन्धन इति सिध्यति । अयमर्थः समन्वयाधिकरणे भाष्ये वृत्तिकारमतदूषणावसरे व्यवस्थापित इति शङ्कायामाह—***स्मर्यते चेत्यादि ।** इदं च विष्णुपुराणे (२-१३) रहूगणराजं प्रति भरतस्य ब्राह्मणस्य प्रतिवचनम् ॥

---

[1] त्वायोगात्; अन्यथा तस्यैव द्रव्यत्वावयविवादातिप्रसङ्गादिति भावः--**ख.**
[2] अबाधितैकत्वप्रत्यय—**क.** [3] त्वसङ्ख्याप्रत्ययं वा—**ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरःपाण्यादिलक्षणः ।

इत्यादि ।

आनन्ददायिनी

हस्तादिस्तस्य मे पादादीत्यभेदप्रत्ययम्; न चैषोऽन्यथा नेतुं शक्य इति भावः । **पिण्डः**—शरीरम् ।

भावप्रकाशः

एतदुत्तरार्धं च—

ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन् करोम्यहम् ॥ ८९ ॥

इति । अत्र, राजोवाच—

किं श्रान्तोऽस्यल्पमध्वानं त्वयोढा शिबिका मम ।
किमायाससहो न त्वं पीवानसि निरीक्ष्यसे ॥ ६१ ॥

ब्राह्मणः—

नाहं पीवा न चैवोढा शिबिका भवतो मया ।
न श्रान्तोऽस्मि न चायासस्सोढव्योऽस्ति महीपते! ॥ ६२ ॥

इति प्रश्नप्रतिवचनोपक्रमः । अत्राहमर्थ आत्मैव विवक्षितः । अनन्तरम्—

भूमौ पादयुगं त्वास्ते जङ्घे पादद्वयाश्रिते ।

इत्युपक्रम्य—

शिबिकायां [1]स्थितश्चायं देहस्त्वदुपलक्षितः ।
तत्र त्वमहमप्यत्र प्रोच्यते चेदमन्यथा ॥ ६८ ॥
अहं त्वं च तथाऽन्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव! ।
गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् ॥ ६९ ॥
कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते! ।
अविद्यासंचितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥ ७० ॥

[1] स्थितं चेदं देहं त्वदुपलक्षितम्.

भावप्रकाशः

आत्मा शुद्धोऽक्षरश्शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रवृद्ध्यपचयौ नास्य एकस्याखिलजन्तुषु ॥ ७१ ॥
यदा नोपचयस्तस्य [1]नैवास्त्यपचयस्तथा ।
तदा [2]पीवानसीति त्वं कया युक्त्या त्वयेरितम् ॥ ७२ ॥

इत्यत्र अहमर्थस्यात्मनो देहसम्बन्धः कर्मनिबन्धनः, कर्मणि चाविद्या मूलम्, आत्मा उपचयापचयरूपस्वरूपपरिणामशून्यः, अतः पीवा इत्युक्तिरयुक्तेति 'नाहं पीवा' इत्युपक्रमोक्तार्थो दृढीकृतः। पश्चादपि—

यो भवान् यन्निमित्तं वा यदागमनकारणम् ।
तत्सर्वं कथ्यतां ब्रह्मन् मह्यं शुश्रूषवे त्वया ॥ ७९ ॥

ब्राह्मणः—

श्रूयतां सोऽहमित्येतद्वक्तुं भूप न शक्यते ।
उपभोगनिमित्तं तु सर्वत्रागमनक्रिया ॥ ८० ॥
सुखदुःखोपभोगौ यौ तौ [3]देशाद्युपपादितौ ।
धर्माधर्मोद्भवौ भोक्तुं जन्तुर्देहादिमृच्छति ॥ ८१ ॥
सर्वत्रैव हि भूपाल जन्तोस्सर्वस्य कारणम् ।
धर्माधर्मौ यतः कस्मात्कारणं पृच्छयते त्वया ॥ ८२ ॥

राजोवाच—

धर्माधर्मौ न संदेहस्सर्वकार्येषु कारणम् ।
उपभोगनिमित्तं च देहाद्देहान्तरागमः ॥ ८३ ॥
यत्त्वेतद्भवता प्रोक्तं सोऽहमित्येतदात्मनः ।
वक्तुं न शक्यते श्रोतुं तन्ममेच्छा प्रवर्तते ॥ ८४ ॥
योऽस्ति सोहमिति ब्रह्मन् कथं वक्तुं न शक्यते ।
आत्मन्येष न दोषाय शब्दोऽहमिति यो द्विज ! ॥

[1] न चैवापचयो नृप. [2] पीवानसीतीत्थं कया. [3] देहाद्युपपादकौ.

भावप्रकाशः

ब्राह्मणः—

शब्दोऽहमिति दोषाय नात्मन्येष तथैव तत् ।
अनात्मन्यात्मविज्ञानं शब्दो वा भ्रान्तिलक्षणः ॥ ८६ ॥
जिह्वा ब्रवीत्यहमिति दन्तोष्ठौ तालुके नृप ।
एते नाहं यतस्सर्वे वाङ्निष्पादनहेतवः ॥ ८७ ॥
किं हेतुभिर्वदत्येषा वागेवाहमिति स्वयम् ।
अतः पीवानसीत्येतद्वक्तुमित्थं न युज्यते ॥ ८८ ॥
पिण्डः पृथग्यतः पुंसश्शिरःपाण्यादिलक्षणः ।
ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन् करोम्यहम् ॥ ८९ ॥
यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम ! ।
तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते ॥ ९० ॥

इति वचनक्रमः । अत्रापि धर्माधर्ममूलक एव शरीरसंबन्धः । यद्यपि 'नाहं पीवा' इत्यत्र उपचयापचयशून्ये आत्मनि पीवा इत्यादिशब्दः उपचयापचयनिबन्धनभ्रान्तिदोषायेति प्रतीयते ; एवमुपचयापचयवद्-चेतनवाची अन्यशब्दोऽपि । एवं गर्ववाच्यपि ; गर्वस्य लोक एव प्राज्ञैर्निन्दितत्वात् । अहमिति शब्दस्तु उपचयापचयविशिष्टवस्तुवाची न प्रसिद्धः । अतः स्वरूपपरिणामशून्ये आत्मनि सर्वस्मिन्नपि काले ऐकरूप्येण प्रयुक्तः अहमिति शब्दो न स्वरूपपरिणामनिबन्धनभ्रान्ति-दोषाय । तथाऽपि कर्ममूलकशरीरसंबन्धनिबन्धनसुखदुःखाद्यागन्तुक-धर्मवत्त्वस्य आत्मन अहं सुखीत्यादिसर्वजनीनप्रतीतिसिद्धत्वेऽपि न तदुपचयापचयदोषं प्रसञ्जयितुमलम् ; धर्मधर्मिणोर्भेदात् । अन्यथा घटादौ प्रतिक्षणं विभिन्नवाय्वादिसंयोगदशायामप्युपचयाप्रचयप्रसङ्गेन क्षणिकवादी बौद्ध एव विजयी स्यात् इति । पूर्वं भरतोपदेशलब्धज्ञानेन

भावप्रकाशः

रहूगणेनोक्ते 'नाहं पीवा' इत्यादिना स्वोक्तार्थदृढीकरणे तत एव 'सोऽहमित्येतद्रूप न वक्तुं शक्यते कुतः?' इति प्रश्नस्य प्रतिवचनं संभवतीत्यभिसंधाय 'आत्मन्येष न दोषाय' इति रहूगणोक्तिमनूद्य देहेन्द्रियादावहमर्थत्वाभावसाधने निरुपाधेरात्मनोऽहमिति संज्ञेति सिध्यतीति 'अनात्मन्यात्मविज्ञानम्' इत्युपचक्राम भरतः। अत्र पूर्ववाक्ये तत्तदात्मनि तत्तदीयाहमितिशब्दो न दोषायेत्येवार्थो वाच्यः, अन्यात्मनि तदन्याहमितिशब्दस्य दोषत्वात्। अनात्मनि तु सर्वपुरुषीयाहमितिज्ञान-शब्दयोर्दोषतेति बोधनाय प्रष्टुरहमर्थात्मत्वं ज्ञातमित्यभिप्रायेणात्मशब्द-प्रयोगः॥

अत्र भ्रान्तिलक्षण इत्यनेन पूर्ववाक्ये अयमेव दोष इति सूचितम्। उच्चारयिताऽहमर्थ इति प्रसिद्धमेतत्। इत्थं च वर्णस्थानत्वादिना उच्चारणे साधनभूतानामात्मव्यतिरिक्तानां जिह्वादीनामहंत्वमेव प्रथमतः प्रतिक्षेप्यम्; तेनैव न्यायेनेन्द्रियसामान्यस्याप्यनहन्त्वं सिध्यतीति तात्पर्येण 'जिह्वा ब्रवीति' इत्यादि। अत्र विष्णुचित्तार्याः 'किं च यतो जिह्वादीनि शब्दनिष्पत्तिकारणानि अतो न कर्तृभावमनुभवन्ति। कर्ता खल्वात्मा। अनेन न्यायेन अहं स्पृशामि स्मरामीत्यादिषु बाह्यान्तरकरणानामात्म-त्वनिरासः' इति। मनस अनिन्द्रियत्वं पूर्वमेव निरस्तं; अहं पीवानित्यादिसर्वजनीनप्रतीत्या पुनः प्रत्यवस्थाने तस्या भ्रान्तित्वोप-पादनाय 'पिण्डः पृथग्यतः' इत्यादिवचनं प्रवृत्तम्। अत्र पूर्वार्धे पृथगुपलब्धिकारणकत्वेन एकत्वानेकत्वाभ्यां च अहमर्थस्यात्मनः इद-मर्थस्य शिरःपाण्यादेश्च पार्थक्यं विवक्षितमिति विष्णुचित्ताचार्याः। 'शिरःपाण्यादिलक्षणः' इत्यनेन अवयवावयविनोरभेदो बोध्यते। तेन मुख्य एकत्वव्यपदेशो निरवयवस्य पुंस एव। देहादेस्सावयवस्य तु स

भावप्रकाशः

भाक्त इति सूचितम् । उत्तरार्धे कुत्रेति—अनेकवस्तुषु शिरसि वा पाणौ वा तदन्यत्र वा इत्यर्थः । अयं भावः—शिरःपाण्यादेरिदमर्थस्य जडस्य परिणामितया अनेकरूपत्वं बहिरिन्द्रियेण गृह्यते; अहमर्थस्य तु परिणाम उपचयापचयरूपः न तथा प्रमाणेन गृह्यते करचरणाद्यनवभासेऽप्यहमिति प्रतीतिरेकरूपा जायमाना अजडैकार्थविषयकत्वेनैव निर्वाह्या । अतोऽहमिति शब्दोऽपरिणतैकार्थस्याजडस्य संज्ञा न त्विदमर्थस्य परिणामिनोऽनेकरूपस्य जडस्येति ॥

अत्र आत्मनि अहंशब्दो न दोषायेत्युक्त्यनन्तरं आत्मातिरिक्ते अहंशब्दो दोषायेत्यर्थः ;—

अनात्मन्यात्मविज्ञानं शब्दो वा भ्रान्तिलक्षणः ।

इत्यत्र द्वितीयपादे प्रतिपिपादयिषितः । अतः 'एतेनाहमित्यत्राहंशब्द आत्मवचनः; 'अनात्मन्यात्मविज्ञानम्' इत्यादिप्रतिज्ञातार्थानिरूपणस्यानुचितत्वात् । अहमर्थे आत्मनि पीवानित्यादिशब्द एव दोषाय इति । 'ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञाम्' इत्यत्राप्यहमित्यात्मनस्संज्ञा विवक्षिता । कुत्रेत्यस्य यथोक्त एवार्थः । नानापरिणामनिबन्धननानासंज्ञावतामहमिति संज्ञा न युक्तेति भावः । एतदुत्तरं 'यद्यन्योऽस्ति' इति श्लोके आत्मनामनेकाकारता निषिध्यते । 'यदा समस्तदेहेषु' इति श्लोके च एकाकारता विधीयते । एकत्वानेकत्वाभ्यां आत्मनो देहाद्व्यतिरेको जैमिनेरप्यभिप्रेतः—

पुरुषस्येन्द्रियाणामित्येकानेकत्वकीर्तनात् ।
देहेन्द्रियादिसंघातादन्य आत्मा प्रदर्शितः ॥ इति ॥

(सेश्वरमीमांसा)

विष्णुपुराणे हि पिण्डः पृथगित्यादेरनन्तरं उपसंहारेऽप्ययमर्थः

भावप्रकाशः

स्फुटः; तथाहि—'त्वं राजा शिबिका चेयम्' इत्यादिश्लोकपञ्चके वृक्षदारुशिबिकाच्छत्रशलाकादिसंज्ञाभेदः परिणामनिबन्धन इति विभिन्न-नानापरिणामवत्त्वेनासत्त्वं तेषामिति; 'पुमान् स्त्री' 'पुमान्न देवः' इत्याद्यनन्तरश्लोकद्वये च पुंसश्शरीरसम्बन्धो न परीत्या आध्यासिकः अपि तु कर्ममूलकः देवत्वादिश्शरीरपरिणामभेदः नात्मस्वरूपानुबन्धी अतस्तस्याप्यसत्त्वमिति; 'वस्तु राजा' इत्यत्र लोके राजराजभटत्वादिक-मपि नात्मस्वरूपमनुबध्नातीति;

यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै ।
परिणामादिसंभूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम् ॥ ९६ ॥

इत्यत्र परिणामभेदनिबन्धनसंज्ञाभेदशून्यं सत् 'त्वं राजा' इत्याद्युक्ता-र्थेषु किञ्चिदपि न तादृशमिति; 'त्वं राजा' इत्यनन्तरश्लोके सम्बन्धि-भेदमूलकः परिणामभेद इति चाभिधाय—

त्वं किमेतच्छिरः किं नु उरस्तव तथोदरम् ।
किमु पादादिकं किं त्वं तवैतत्किं महीपते! ॥ ९८ ॥
समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग्भूतो व्यवस्थितः ।

इत्यत्र अनात्मन्यात्मविज्ञानं अस्वे स्वमिति ज्ञानं च भ्रम इत्युपपादन-मुखेन 'पिण्डः पृथक्' इति पूर्वार्धस्यार्थम्;

कोऽहमित्यत्र निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव ॥ ९९ ॥

इत्यनेन शिरआदिर्नाहमर्थः किं तु निरुपाधिरात्मैवेति तदुत्तरार्धस्यार्थं च दृढीकृत्य;—

एवं व्यवस्थिते तत्वे मयाऽहमिति भाषितम् ।
पृथक्करणनिष्पाद्यं शक्यते नृपते! कथम्? ॥ १०० ॥

इत्यनेन अपरिणामिन आत्मनः अहमिति संज्ञेति परिणामभेदनिबन्धन-

भावप्रकाशः

संज्ञाभेदेन वृक्षो दारुः शिबिका इति यथा वक्तुं शक्यते न तथा आत्मेति 'सोहमित्येतद्वक्तुं भूप न शक्यते' इत्युपक्रमोक्तार्थ उपसंहृतः । अत्रान्तिमश्लोकस्य विष्णुचित्तीयं विवरणम् —'तत्वे—आत्मस्वरूपे । पृथक्करणं—पृथक्कारः । देवादिजातीनां चतसृणां पृथक्कारस्य भेदस्य देहगतत्वेनानात्मधर्मत्वात् आत्मान्तरेभ्यः पृथक्करणनिष्पाद्यं (सो)कोऽहमिति वचनं भाषितुं न शक्यम्; सर्वसाधारणाकारोऽहमिति वक्तुं न शक्यत इत्यर्थः' इति । अत्र 'पुमान्न देवः' इत्यादेः;—

परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः ।
न योगवान् न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यते ॥
एकस्वरूपभेदस्तु बाह्यकर्मा(र्म)वृतिप्रजः ।
देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवावरणो हि सः ॥

इति समनन्तराध्यायश्लोकयोः—

कर्मणां देहभेदेन देवभेदादयो यतः ।
कर्मक्षयादशेषाणां भेदानां संक्षयस्ततः ॥

इति शौनकवचनस्य चैकरस्यादिदमेव विवरणं युक्तम् । इत्थं च यथा शिर आदिः स्वसजातीयजडव्यावर्तकपरिणामवानिति पृथग्वक्तुं शक्यते; एवं भूततन्मात्रेन्द्रियादिस्वसजातीयजडव्यावर्तकपरिणामवद्वस्तुवाची अहंकारशब्द इति भूततन्मात्रेन्द्रियादिव्यावर्तकाकारवत्त्वेनाहंकारादिर्वक्तुं शक्यते तथा आत्मान्तरव्यावर्तकाकारवत्त्वेन सोऽहमित्येतद्वक्तुं भूप न शक्यते । सर्वात्मसाधारणोऽहमिति शब्दस्तूपाध्यनुक्त्या निरुपाधावात्मनि न परिणामदोषायेत्यहमित्यात्मनः संज्ञा; 'संज्ञां राजन् करोम्यहम्' इत्याद्युक्तेरिति सिद्धम् ॥

भावप्रकाशः

अत एव रहूगणभरतसंवादोपक्रमे 'त्वं पीवानसि, नाहं पीवा' इति युष्मदस्मच्छब्दबोधितस्य ज्ञानैकाकारस्य ;—

सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ।

इति द्वितीयांशान्तिमाध्याये रहूगणभरतसंवादसमाप्तौ आत्मस्वरूपत्वोपसंहारः संगच्छते । अत्र 'सर्वमित्युपात्तान्यजीवाभिधानम्' इति सिद्धान्तसिद्धाञ्जनेऽप्युक्तम् । 'भेदमोहं' इत्यत्र भेदः 'शरीराकृतिभेदास्तु' 'देवादिभेदेऽपध्वस्ते' इति पूर्वोक्त एव विवक्षितः । एतेन सिद्धान्तसिद्धाञ्जने स्वनामग्रहवद्दोषस्य अबोधकत्वदोषस्य वा आत्मन्यप्रस्तुतस्योक्तिः ; 'पिण्डः—ततोऽहं, इति श्लोके उपक्रमे आत्मनोऽहंशब्दविषयत्वं प्रतिक्षिप्यते । कोऽहमित्युपसंहारे च अहंकारमनादाय नात्मादेशः सिध्यतीत्यहंशब्दः ; स चाबुद्धस्य शक्त्या चिदात्मनस्तु लक्षणया बोधक इत्युपक्रमोपसंहारभेदनं, 'त्वं राजा शिबिका' इत्यादौ परिणामभेदनिबन्धनसंज्ञाभेदः, परिणामवत्त्वमेवासत्त्वमित्युक्तिमात्रेण स्वाभीष्टार्थमिथ्यात्वकथनं, विष्णुपुराणादिवैयाकुलीमापादयति । अतो रहूगणभरतसंवादेन अहंशब्दो निरुपाधिकात्मनस्संज्ञा, देहादावहंप्रत्ययो भ्रमः, 'अविद्यासंचितं कर्म' इत्यत्राविद्या ;—

अनात्मन्यात्मविज्ञानं शब्दो वा भ्रान्तिलक्षणः ।

इति वक्ष्यमाणभ्रान्तिज्ञानमिति च सिध्यति ।

एवं षष्ठांशे केशिध्वजखाण्डिक्यसंवादेऽपि तत्समानप्रकरणवचनैः सिध्यति । तथाहि—

स्वल्पकालं महीपाल्यं मादृशैः प्रार्थ्यते कथम् ।
राज्ये गृध्नन्त्यविद्वांसो ममत्वाहृतचेतसः ॥
अहंमानमहापानमदमत्ता न मादृशाः । ७—७

भावप्रकाशः

इति खाण्डिक्यप्रश्ने —

अहं ह्यविद्यया मृत्युं तर्तुकामः करोमि वै ।
राज्यं यागांश्च विविधान् भोगैः पुण्यक्षयं तथा ॥ ७–९
तच्छ्रूयतामविद्यायास्स्वरूपं कुलनन्दन ॥ १० ॥
अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चास्वे स्वमिति या मतिः ।
अविद्यातरुसंभूतिबीजमेतद्द्विधा स्थितम् ॥ ११ ॥
पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहतमोवृतः ।
अहं ममैतदित्युच्चैः कुरुते कुमतिर्मतिम् ॥ १२ ॥
आकाशवाय्वग्निजलपृथिवीभ्यः पृथक् स्थिते ।
आत्मन्यात्ममयं भावं कः करोति कलेबरे ॥ १३ ॥
कलेबरोपभोग्यं हि गृहक्षेत्रादिकं च कः ।
अदेहे ह्यात्मनि प्राज्ञो ममेदमिति मन्यते ? ॥ १४ ॥
इत्थं च पुत्रपौत्रेषु तद्देहोत्पादितेषु कः ।
करोति पण्डितः स्वाम्यमनात्मनि कलेबरे ॥ १५ ॥
सर्वं देहोपभोगाय कुरुते कर्म मानवः ।
देहश्चान्यो यदा पुंसः तदा बन्धाय तत्परम् ॥ १६ ॥

इत्यारभ्य—

निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः ।
दुःखाज्ञानमला धर्माः प्रकृतेस्ते न चात्मनः ॥ २२ ॥
तथाऽऽत्मा प्रकृतेस्सङ्गादहंमानादिदूषितः ।
भजते प्राकृतान् धर्मान् अन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः ॥
तदेतत्कथितं बीजमविद्याया मया तव ।
क्लेशानां च क्षयकरं योगादन्यन्न विद्यते ॥ २५ ॥

भावप्रकाशः

इति केशिध्वजप्रतिवचनम्। अत्र अविद्यास्वरूपनिरूपणं प्रक्रम्य 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या' इति प्रतिज्ञातार्थस्य 'पञ्चभूतात्मके देहे' 'अहं ममैतत्' इत्युपपादनेन द्वितीयांशे 'अविद्यासंचितं कर्म' इत्यत्र अविद्या अनात्मन्यात्मविज्ञानं भ्रान्तिरूपमिति बोधितम्। एवं अहमर्थ आत्मेत्यपि। एवमत्रोक्तार्थस्य व्यतिरेकेण समर्थनपरे 'आकाशवाय्वग्नि' इत्यादिसमनन्तरश्लोके अहंशब्दस्थाने आत्मशब्दप्रयोगात्। तदुत्तरम्;—

अदेहे ह्यात्मनि प्राज्ञो ममेदमिति मन्यते।

इति आत्मनि अस्मच्छब्दप्रयोगाच्च। अत एव अहं नात्मा आत्माभिनायकशब्दान्तराभावादहमित्युच्यते इति क्वापि प्रमाणेष्वनुक्तिः। अत्र 'अहंमानमहापान' 'अहंमानादिदूषितः'। इति प्रश्नप्रतिवचनयोः मानशब्दप्रयोगेण मानशब्दस्य गर्ववाचितया तेन आत्मस्वरूपाननुबन्धिशरीरसंबन्धनिबन्धनदेवत्वराजत्वादेः अहं राजा इत्याद्यभिमानस्य बोधनेन देहे अहमिति प्रतीतिर्दोषाय न त्वात्मन्यहमिति प्रतीतिरिति बोधितम्। 'ममत्वाहृतचेतसः' 'प्रकृतेस्सङ्गात्' इति समभिव्याहारोऽपि तद्द्रढयति। एवमुपसंहारेऽपि; खाण्डिक्यः—

कथिते योगसद्भावे सर्वमेव कृतं मम।
तवोपदेशेनाशेषो नष्टश्चित्तमलो यतः॥ ९८॥
ममेति यन्मया चोक्तमसदेतन्न चान्यथा।
नरेन्द्र गदितुं शक्यमपि विज्ञेयवेदिभिः॥
अहं ममेत्यविद्येयं व्यवहारस्तथाऽनया।
परमार्थस्त्वसंलाप्यो गोचरो वचसां न यः॥ १००॥

इत्यत्रापि देहेऽहमिति ज्ञानं अविद्या भ्रान्तिरूपम्। देहोपभोगसाधनेषु वस्तुषु स्वाम्यं कर्ममूलं न शुद्धात्मस्वरूपानुबन्धि। भगवद्वासुदेवशब्दा

भावप्रकाशः

र्थानुसंधाने तु सर्वत्रापि स्वाम्यं भगवत एवेति ममेति ज्ञानमपि भ्रान्तिरित्येव विवक्षितम्। न त्वात्मन्यहमिति ज्ञानमविद्येति । पूर्वं क्वापि तादृशार्थानुक्त्या उपसंहारासंभवात् अस्फुटत्वाच्च । अत एव अहमात्मा ममाविद्या इति नोक्तम् । एवं आरम्भणाधिकरणे शङ्कराचार्यैः;– 'विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्यया आत्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा । तस्मात् प्रागब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नस्सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः' इत्यनेन ॥

अहं ममेत्यविद्येयं व्यवहारस्तथाऽनया ।

इति वचनं देहादावहंप्रत्यय एव अविद्या नात्मनीति प्रतिपादयतीति व्यवस्थापनं च संगच्छते । एवं द्युभ्वाद्यधिकरणेऽपीति वक्ष्यते । अविद्याशब्दोऽपि न पराभीष्टवाची उपक्रमे भ्रान्तिज्ञानस्यैवोक्तेः । द्वितीयांशे 'भ्रान्तिलक्षणः' इत्यभिधानाच्च । अत्रापि पूर्वस्मिन्नध्याये 'अज्ञानतमसा च्छन्नः' (६–५–२१) 'अज्ञानप्रभवं महत्' 'अवाप्यते नरैर्दुःखम्' 'अज्ञानं तामसो भावः' (२५) तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्' (८७) इत्यत्र बुद्धिस्सा पार्थ तामसी' इति गीतोक्तरीत्या अन्यथाज्ञानस्योक्तेः । तेन 'मोहतमोवृतः' इत्यादौ —

अथ मोहो नृलिङ्गस्स्यात् अविद्यायां च मूर्छने ।

इति मेदिनीकोशात् मोहशब्दोऽविद्यार्थकः । अविद्या चात्र भ्रान्तिज्ञानम् । मोहशब्दः प्रकृतौ न प्रयुज्यते प्रयुज्यते च बहुत्र भ्रान्तौ; अतो भ्रान्त्यर्थकः । तदुक्तं सनत्सुजातीयभाष्ये शङ्कराचार्यैः;—'मोहो मिथ्याज्ञानम्, अनात्मन्यात्माभिमानः । अनेनाग्रहणान्यथाज्ञानात्मिकाऽऽविद्या सूचिता' इति । अत्र मोहस्य भ्रमहेतुत्वप्रतीत्या संस्काररूपस्स विवक्षितः । मोहशब्दः करणघञन्तः । एवं च 'मोहश्रमं प्रयातोऽसौ

भावप्रकाशः

वासनारेणुकुण्ठितः' इत्युत्तरत्र वासनाशब्दानुसारेण मोहजनकस्यात्र विवक्षामभिप्रेत्य 'कर्मवासना' इत्युक्तं विष्णुचित्ताचार्यैः । अत एव 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' २—५ इति पातञ्जलसूत्रं; तत्र 'एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किंतु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्या इति' अहमर्थातिरिक्तनिर्गुणात्मवादिनामपि भाष्यकृतामुक्तिश्च संगच्छते ॥

किं च षष्ठांशेऽपि 'ततुं मृत्युमविद्यया' इत्यत्र 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' इति श्रुतौ 'अहं ह्यविद्यया मृत्युं ततुंकामः' इत्युपक्रमे च अविद्याशब्दः कर्मबोधकः परेषामपीष्ट इति न तन्मतसिद्धैकान्तः । तदेवं कर्ममूलकः शरीराकारपरिणतप्रकृतिसंबन्धः, तेन च भ्रमरूपा अविद्या, तया च कर्मेति प्रवाहः द्वितीयषष्ठांशवचनैर्निर्णीतः । एतेन—

माया तवेयमज्ञातपरमार्थातिमोहिनी ।
अनात्मन्यात्मविज्ञानं यया मूढो निरुध्यते ॥
अस्वे स्वमिति भावोऽत्र यत्पुंसामुपजायते ।
अहं ममेति भावो यत्प्रायेणैवाभिजायते ॥
संसारमातुर्मायायास्तवैतन्नाथ चेष्टितम् ।
यैः स्वधर्मपरैर्नाथ नरैराराधितो भवान् ॥
ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये ।
ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा ॥
विष्णुमायामहावर्तमोहान्धतमसावृताः ।

इति पञ्चमांशे कृष्णं प्रत्यादितिवचनान्यपि निर्व्यूढानि । नायकसरे 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति श्वेताश्वतरश्रुत्युदाहरणानन्तरं

भावप्रकाशः

'विष्णुमाया' इत्याादि वचनोदाहरणेन तच्छ्रुत्यर्थ एवैतद्वचनार्थ इति सूचितम् । तत्र 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यनेन मायाशब्दो विचित्रकार्यकारित्वेन प्रकृतिवचनो नानिर्वचनीयवचन इति भाष्यादिषु स्थापितम् । अत्रापि नायकसरे स्थापयिष्यते । श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रथमाध्याये 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यतः पूर्वं—

अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ॥

इति श्रूयते । तत्रैव पञ्चमाध्याये—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।

इत्यारभ्य —

'कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते' ॥

इत्यन्तसंदर्भेणाप्युदाहृतमन्त्रार्थो विवृतः । भगवद्गीतायामपि— 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया' इत्यादौ 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः' 'येषां त्वन्तगतं पापं' 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' इत्यत्र दुष्कृतेन मोहः तन्निवृत्तौ मोहनिवृत्तिरिति ; 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति' 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः' इत्यादौ कर्मणां बन्धकत्वमिति च स्पष्टमुक्तम् । अतः षष्ठांशे 'अहंमानमहापान' इत्युपक्रम्य—

तथाऽऽत्मा प्रकृतेस्सङ्गादहंमानादिदूषितः ।

इत्यनेनाप्युदाहृतश्वेताश्वतरश्रुतय उपबृंहिताः ।

किञ्च 'जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' 'धातुःप्रसादान्महिमानमीशम्' 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' 'धर्मावहं पापनुदम्' 'एको बहूनां

भावप्रकाशः

वासनारेणुकुण्ठितः' इत्युत्तरत्र वासनाशब्दानुसारेण मोहजनकस्यात्र विवक्षामभिप्रेत्य 'कर्मवासना' इत्युक्तं विष्णुचित्ताचार्यैः। अत एव 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' २—५ इति पातञ्जलसूत्रं; तत्र 'एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किंतु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्या इति' अहमर्थातिरिक्तनिर्गुणात्मवादिनामपि भाष्यकृतामुक्तिश्च संगच्छते॥

किं च षष्ठांशेऽपि 'तर्तुं मृत्युमविद्यया' इत्यत्र 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' इति श्रुतौ 'अहं ह्यविद्यया मृत्युं तर्तुकामः' इत्युपक्रमे च अविद्याशब्दः कर्मबोधकः परेषामपीष्ट इति न तन्मतसिद्धैकान्तः। तदेवं कर्ममूलकः शरीराकारपरिणतप्रकृतिसंबन्धः, तेन च भ्रमरूपा अविद्या, तया च कर्मेति प्रवाहः द्वितीयषष्ठांशवचनैर्निर्णीतः। एतेन—

माया तवेयमज्ञातपरमार्थातिमोहिनी।
अनात्मन्यात्मविज्ञानं यया मूढो निरुध्यते॥
अस्वे स्वमिति भावोऽत्र यत्पुंसामुपजायते।
अहं ममेति भावो यत्प्रायेणैवाभिजायते॥
संसारमातुर्मायायास्तवैतन्नाथ चेष्टितम्।
यैः स्वधर्मपरैर्नाथ नरैराराधितो भवान्॥
ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये।
ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा॥
विष्णुमायामहावर्तमोहान्धतमसावृताः।

इति पञ्चमांशे कृष्णं प्रत्यादितिवचनान्यपि निर्व्यूढानि। नायकसरे 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इति श्वेताश्वतरश्रुत्युदाहरणानन्तरं

भावप्रकाशः

'विष्णुमाया' इत्यादि वचनोदाहरणेन तच्छ्रुत्यर्थ एवैतद्वचनार्थ इति सूचितम् । तत्र 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यनेन मायाशब्दो विचित्रकार्यकारित्वेन प्रकृतिवचनो नानिर्वचनीयवचन इति भाष्यादिषु स्थापितम् । अत्रापि नायकसरे स्थापयिष्यते । श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रथमाध्याये 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यतः पूर्वं—

अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ॥

इति श्रूयते । तत्रैव पञ्चमाध्याये—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।

इत्यारभ्य —

'कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते' ॥

इत्यन्तसंदर्भेणाप्युदाहृतमन्त्रार्थो विवृतः । भगवद्गीतायामपि— 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया' इत्यादौ 'न मां दुष्कृतिनो मूढाः' 'येषां त्वन्तगतं पापं' 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' इत्यत्र दुष्कृतेन मोहः तन्निवृत्तौ मोहनिवृत्तिरिति ; 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति' 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः' इत्यादौ कर्मणां बन्धकत्वमिति च स्पष्टमुक्तम् । अतः षष्ठांशे 'अहंमानमहापान' इत्युपक्रम्य—

तथाऽऽत्मा प्रकृतेस्सङ्गादहंमानादिदूषितः ।

इत्यनेनाप्युदाहृतश्वेताश्वतरश्रुतय उपबृंहिताः ।

किञ्च 'जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' 'धातुःप्रसादान्महिमानमीशम्' 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' 'धर्मापहं पापनुदम्' 'एको बहूनां

भावप्रकाशः

विदधाति कामान्' 'संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' 'अमृतस्य परं सेतुम्' इति श्वेताश्वतरश्रुत्यर्थः ;—

यैः स्वधर्मपरैर्नाथ नरैराराधितो भवान् ।
ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये ॥

इति पञ्चमांशे 'विष्णुर्मुक्तिफलप्रदः' इति षष्ठांशे चोक्तः ॥

अतः अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानमात्रनिवर्त्यमज्ञानं न मायाशब्दार्थः; तन्निवृत्तेः ईश्वरानुग्रहसाध्यत्वाभावात् । अत एव शारीरकमीमांसायां तृतीयद्वितीयपादाद्याधिकरणे 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' (३-२-५) इति सूत्रे शङ्करभाष्येऽपि 'तत्पुनस्तिरोहितं सत्परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम् ; कुतः? ततो हीश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद्बन्धः? तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः । तथाच श्रुतिः —

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥'

'इत्येवमाद्या' इत्युक्तम् । एवं तृतीयद्वितीयपादान्त्याधिकरणे 'फलमत उपपत्तेः' (३-२-३८) इत्यादिभाष्येऽपि । अत एव—

पशवः पाशिताः पूर्वं परमेण स्वलीलया ।
तेनैव मोचनीयास्ते नान्ये मोचयितुं क्षमाः ।

इति स्मृतिरप्युपपद्यते । श्वेताश्वतरोपनिषदि तत्रतत्र 'ज्ञात्वा देवं' इत्यादौ 'ईशेशितव्यादिभेदज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति तत्तत्प्रकरणेषु व्यक्तम् । एतच्च निरूपयिष्यते ॥

भावप्रकाशः

अतः षष्ठांशे अविद्याशब्दः कर्मतत्कार्ययोः पञ्चमांशे मायाशब्दः प्रकृतितत्कार्ययोश्च प्रयुक्तः । उभयत्रापि देहे अहमिति ज्ञानमेवाविद्या मायेति विवक्षितं, न त्वात्मनि । तथा सति ममेति पृथगुक्तिवैयर्थ्यात् । 'यदैवाहंकर्ताऽध्यासात्मकः तदैव तदुपकरणस्यापि तदात्मकत्वसिद्धिः । न हि स्वप्नावाप्तराज्याभिषेकस्य राज्ञो राज्योपकरणं परमार्थसद्भवति!' इति पञ्चपादिकायां पद्मपादाचार्यैरुक्तया अहमित्यध्यासेनैव तत्सिद्धेः । सिद्धान्ते तु देहात्मभ्रमनिवृत्तावप्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वयोस्तात्त्विकयोरङ्गीकारेण विषमभोगसाधनेषु ममताबुद्धिसंभवेन तन्निवृत्तये ममताबुद्धेरविद्यात्वोक्तिसाफल्यात् । विषमभोगादौ कर्मणस्तन्मूलशरीरसंबन्धस्य च हेतुतयौपाधिकत्वस्य द्वितीयषष्ठांशवचनैस्सिद्धया तत्स्वाभाविकताभ्रमापनोदनात् । देहे अहमितिबुद्ध्यपेक्षया ममेति बुद्धेः स्वाभाविकभोगसाधनता बुद्धौ स्वाभाविकत्वांशमात्रे अविद्यात्वमित्यभिप्रेत्य आत्मन्यहमिति बुद्धेर्भ्रमत्वाभावेन अहमिति बुद्धिसामान्यस्य च नाविद्यात्वमिति चाभिसंधाय अहमित्यसन्न चान्यथा वक्तुं शक्यत इत्यनभिधानम् ॥

ममेति यन्मया चोक्तमसदेतन्न चान्यथा ।
नरेन्द्र! गदितुं शक्यमपि विज्ञेयवेदिभिः ॥

इत्युक्तिश्च। शान्तिपर्वादौ विषमभोगसाधनेषु स्वरूपानुबन्धिभोगसाधनत्वबुद्धित्यागः—

ममेति द्व्यक्षरो मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ।

इत्यादिनोक्तः । यदि 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या' इत्यत्रात्मशब्दः परमात्मपरो भगवद्वासुदेवशब्दनिर्वचनानुसारात्; तदा परमात्मव्यतिरिक्ते स्वातन्त्र्यबुद्धिरेव अनात्मन्यात्मबुद्धिः । यद्वा द्वितीयषष्ठांशयोर्जीवात्मप्रकरणा-

भावप्रकाशः

नुसारादात्मशब्दो जीवात्मपर एवास्तु । पञ्चमांशे परमात्मप्रकरणानुसारात् 'अनात्मन्यात्मविज्ञानं' इत्यत्रात्मशब्दः परमात्मपरः । परमात्मव्यतिरिक्ते परमात्माभेदबुद्धिः स्वातन्त्र्यबुद्धिश्च मायेति विवक्षितम् । परमात्मव्यतिरिक्ते जीवे परमात्माभेदबुद्धेर्दोषत्वं,

सहवासनिवासात्मा नान्योऽहमिति मन्यते ।
योऽहं सोऽहमिति ह्युक्त्वा गुणानेवानुवर्तते ॥

इति मोक्षधर्मवचनोपबृंहितायां 'आत्मस्थं प्रभुं कारयितारं नापश्यद्गुणौघैरुह्यमानः' इत्यारभ्य 'अहं सो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबध्नात्यात्मनात्मानम्, इति मैत्रायणीयोपनिषदि व्यक्तं; निरूपितं चैतत् हयशिरोरत्नभूषणे ॥

एवं शङ्कराचार्यैर्बृहदारण्यकभाष्ये (४–१–२०) सांख्यमीमांसकादीनां मतमुपन्यस्य सेश्वरवादेन पूर्वपक्षोपन्यासे–' यस्सर्वज्ञः सर्ववित्, योऽशनायापिपासे अत्येति, असङ्गो न हि सज्जते, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने, यस्सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्नन्तर्याम्यमृतः, स यस्तान् पुरुषान्निरूह्यात्यक्रामत्, स वा एष महानज आत्मा, एष सेतुर्विधरण, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, य आत्मा, अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः, तत्तेजोऽसृजत, आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तस्सर्वं प्रवर्तते ।

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च परोऽस्त्यसंसारी श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यश्च । स च कारणं जगतः' इत्युपक्रम्य तद्विपरीतश्च संसारी । तस्मादहं ब्रह्मास्मीति न गृह्णीयात् । परं हि देवमीशानं निकृष्टस्संसार्यात्मत्वेन स्मरन् कथं न दोषभाक् स्यात्? तस्मान्नाहं ब्रह्मास्मीति युक्तम् । तस्मात्पुष्पोदकाञ्जलि-

भावप्रकाशः

स्तुतिनमस्कारबल्युपहारस्वाध्यायध्यानयोगादिभिराराराधयिषेत' इत्यादौ स्पष्टमुक्तम् । जीवे स्वातन्त्र्यबुद्धेश्च दोषत्वम्—

यद्यहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

इत्यादिगीतासन्दर्भे तत्रत्यशङ्करभाष्ये च स्फुटम् । 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इति सूत्रमिह भाव्यम् । एतत्पक्षे च परमात्मानधीनकर्तृत्वबुद्धिरेवा-विद्या । तदधीनकर्तृताबुद्धिस्तु प्रमैव । जगत्सृष्टिरक्षादेर्लीलात्वग्राहक-वचनैः सर्वस्यापि परमात्मभोगसाधनतानिश्चयेन स्वभोगस्यानुषङ्गिकस्य सत्त्वेऽपि परभोग एव प्रधानं फलं स्वस्यापीति तदेवानुसन्धेयं न तु स्वभोग इत्येतद्विशेषसूचनायैव 'ममेति यन्मया चोक्तं' इत्याद्युक्तिरिति ॥

तत्क्लेशप्रशमायालं यत्कर्म तदुदीरय । (६–४२)

इति प्रश्नस्य ;—

क्लेशानां च क्षयकरं योगादन्यन्न विद्यते ।
विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि ॥
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात् ।

इत्यादिप्रतिवचनस्य च पर्यालोचनायामपि मुक्तौ सर्वकर्मक्षयः स च ज्ञानसाध्यः प्रतीयते ; न परसंमताविद्यानिवृत्तिः । 'भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत्' 'विभेदजनके ज्ञाने' इत्यत्रापि उक्तभ्रान्तिरूपमेवाज्ञानं विवक्षितं उक्तयुक्तेः । अहं ममेत्यादिश्लोकस्य उत्तरार्धे 'परमार्थस्त्वसंलाप्यः' इत्यत्र परमार्थशब्दः ;—

अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ।
परमार्थस्तु भूपाल संक्षेपाच्छ्रूयतां मम ॥ (२–१४–२८)
एको व्यापी समश्शुद्धः . . . . ।

भावप्रकाशः

इत्याद्युक्तः अविनाश्यात्मा । तदुक्तं विष्णुचित्तार्यैः—'अहं ममेतीयं बुद्धिरविद्या—अन्यथाज्ञानं तथा । व्यवहारः–पुमान् स्त्री गौरयं वाजी-त्यादिव्यवहारोऽप्यनया–अविद्यया । द्वैताद्वैतयोरभेदः भ्रमकृत इत्यर्थः । परमार्थः—अविनाश्यात्मा । असंलाप्यः—अजमहिषादिविशेषरहित-तया तत्तच्छब्दैरनिर्देश्यः । तत्र हेतुः 'गोचरे वचसां न यः' इति' इति । एवं चात्र मूर्तामूर्तपरापरभेदविभक्तबद्धमुक्तरूपयोरुपसंहारः पर्यव-स्यति ॥

प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसाम् . . . . ॥

इति पूर्वमुक्तं परं रूपं उत्तरार्धे; 'तच्छ्रूयतामविद्यायास्स्वरूपम्' (७-१०) 'बन्धाय तत्परम्' (१६) इत्यत्र;—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा ।
अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥ ६१ ॥
यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्सा वेष्टिता नृप सर्वगा ।
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसंततान् ॥ ६८ ॥

इत्यादौ चोक्तं बद्धरूपं पूर्वार्धे उपसंहृतम् । अत्र पररूपे 'अगोचरं वचसाम्' इत्यनेन देवादिशब्दागोचरत्वोक्त्या तदितरशक्तिद्वये शब्द-गोचरत्वं सूच्यते ; तच्चोत्तरत्रावश्यमुपपादनीयम् । तत्र अपररूपे 'क्षेत्र-ज्ञाख्या' इत्यनेन देवादिशरीरिमहंत्वेन विज्ञाय प्रयुक्तदेवादिशब्दविशेष-गोचरत्वं सूचितम् । क्षेत्रज्ञाख्या इत्यत्र क्षेत्रज्ञ इति सामान्यशब्दः आख्या यस्यास्सा इति विग्रहवत् कर्मसंज्ञा इत्यत्र कर्मेति संज्ञा यस्यास्सा इति विग्रहः स्फुटं प्रतीयमान एव विवक्षितः । तेन पराति-रिक्तशक्तिद्वये शब्दगोचरत्वमुपपादितं भवति ॥

भावप्रकाशः

एतेन 'अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या' इति न कर्मैवाविद्योच्यते किं तु कर्मणस्संज्ञा लक्षणभूता या कर्म वा संज्ञा यस्यास्सा कर्मनिमित्तनानादेहयोगलक्षणा' इति एकत्र ; 'स चायमविद्यामयो देहयोगः कर्ममूलः तन्मूलं वा कर्मेत्यविद्या कर्मसंज्ञाऽन्येत्युच्यते। न चानयोरितरेतराधीनत्वं दोषः बीजाङ्कुरवदनादित्वात्। तथा चोद्भूततमोमय्यनाद्यविद्यैव ज्ञानशक्तेरावरणम्' इत्यन्यत्र च सिद्धान्तसिद्धाञ्जनकाराणां वचनमभिनिवेशमूलमिति बोध्यम्। सूत्रकृता अविद्यायाः क्वाप्यनुक्तावपि 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्' इति कर्मणोऽनादित्वकथनं स्वाभीष्टाविद्याभ्युपगम एव युक्तं अन्यथा त्वन्धपरम्परेति चित्रमिदम्। सूत्रकारश्च 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' इति सूत्रे 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' 'त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानाः' इत्यादिश्रुतिभिः जीवेश्वरयोर्भेदेन जीवस्य बन्धो मोक्षश्च परमपुरुषसंकल्पादेवेत्याह। कर्मजन्यादृष्टं च भगवन्निग्रहानुग्रहसंकल्परूपमिति 'विभु न इह हि तद्ब्रह्मणः प्रीतिकोपौ' इत्यत्र व्यक्तीभाविष्यति। एवं मोक्षोपायविरोधिनिवृत्तिः कर्मणा मोक्षोपायेन न तु मुक्तिविरोधिसर्वकर्मनिवृत्तिरित्यपि ;

तर्तुं मृत्युमविद्यया

क्लेशानां च क्षयकरं योगादन्यन्न विद्यते।

इत्यादिभिः स्थापयिष्यते। भ्रान्तिलक्षणाविद्यासंचितकर्मणा जीवस्य धर्मभूतज्ञानसंकोचरूपतिरोधानं स्थूलसूक्ष्मावस्थदेहद्वारकमित्येतत्पुराणार्थः 'देहयोगाद्वा सोऽपि' इत्यसूच्यत। भवदभिमता अविद्या वृत्तिकाराणां प्राचां परिणामाद्वैतिनां भट्टपादानां चासंमता मञ्जूषायां नागेशसिद्धान्तेन शङ्कराचार्याणामप्यनभिमतेति अप्रामाणिकीति चोपपादयिष्यते।

भावप्रकाशः

अतश्च 'अहं ममेत्यविद्येयम्' इत्यत्र अहंता—अहंभावः इत्यत्रेव मान्तमव्ययं 'अहंमान' इत्युपक्रमानुसारात्। अत एवामरसुधायां 'अहमिति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययमहङ्कारार्थकम्। अहंप्रधाना मतिरहं-मतिरिति' विवरणं संगच्छते। यद्वा 'श्रूयतां चाप्यविद्यायास्स्वरूपम्' 'अनात्मन्यात्मबुद्धिः' 'पञ्चभूतात्मके देहे' 'अहं ममैतत्' इत्युपक्रमा-नुसारेण अहमिति दान्त एव शब्दः। देहे अहमिति मतिरेव विवक्षिता। एतेन 'अज्ञानमविद्याऽहंमतिःस्त्रियाम्' इति कोशोऽपि निर्व्यूढः। किंच सिद्धान्ते शब्दत्रयार्थोऽपि भ्रान्तिज्ञानमिति कोशस्वारस्यम्। भवन्मते तु घटादेरिवाहंमतेरप्यविद्यापरिणामत्वेन अविद्या घट इतिवत् अविद्या अहंमतिरित्यस्याप्यस्वारस्यम्। अतः अज्ञानाविद्याशब्दयोर्न भवन्मत-सिद्धभावरूपाज्ञानवाचित्वम्, अपि तु भ्रान्तिज्ञानवाचित्वमिति बोधना-यैव 'अज्ञानमविद्याऽहंमतिः' इति कोशोऽपीति। एवं च—

विद्याविद्ये च मैत्रेय ज्ञानमेवोपधारय ॥ २–६–५१ ॥

इति विष्णुपुराणवचनमपि संगच्छते ॥

किंच 'अज्ञानमविद्याऽहंमतिः' इति कोशकारो जैनमताव-लम्बी। तन्मतं च अकलङ्काद्युपदर्शितसरणिमनुसरन् प्रभाचन्द्रः प्रमेय-कमलमार्ताण्डे "प्रत्यक्षेणैवात्मनः प्रतीतेः सुख्यहं दुःख्यहं इच्छा-वानहमित्याद्यनुपचरिताहंप्रत्ययस्यात्मग्राहिणः प्रतिप्राणि संवेदनात्। न चायं मिथ्या; अबाध्यमानत्वात्। नापि शरीरालम्बनः; बहिःकरण-निरपेक्षान्तःकरणव्यापारेणोत्पत्तेः। न हि शरीरं तथाभूतप्रत्ययवेद्यम्। बहिःकरणविषयत्वात् तस्यानुपचरिताहंप्रत्ययविषयत्वाभावाच्च। न हि स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यभिन्नाधिकरणतया प्रत्ययोऽनुपचरितः; अत्य-न्तोपकारके भृत्ये अहमेवायामिति प्रत्ययस्यानुपचारितत्वप्रसङ्गात्। प्रति-

भावप्रकाशः

भासभेदो बाधकोऽन्यत्रापि समानः। न हि बहलतमःपटलावगुण्ठितविग्रहस्य अहमिति प्रत्ययप्रतिभासे स्थूलत्वादिधर्मोपेतो विग्रहोऽपि प्रतिभासते। उपचारश्च निमित्तं विना न प्रवर्तत इत्यात्मोपकारकत्वं निमित्तं कल्प्यते भृत्यवदेव। मदीयो भृत्य इतिवत् मदीयं शरीरमिति प्रत्ययभेदस्तु मुख्य '' इति विशदीचकार। एवं च वैशेषिकाद्यनभिमतमनुभवविरुद्धमकलङ्कादिस्वीयविबुधबहिष्कृतमात्मन्यहंमतेरविद्यात्वं चिदचिद्ग्रन्थेर्बुद्धेः पर्यायत्वं वा कथं नाम कोशकारः प्रतिपादयेत्। अतोऽविद्याऽहंमतिरिति कोशो न पराभीष्टं साधयितुमलम्। आत्मनो ज्ञानस्वरूपत्वं स्वतस्सिद्धत्वं आत्मनि विशेषाः कर्म तत्फलसंबन्धश्चेत्येतत्सर्वं सत्यमिति स्थापयिष्यते। एवं भगवत्पारतन्त्र्यपाराथ्र्यादिकमपि। तेन—

यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन।
अहमेव न किञ्चिच्चेद्भयं कस्य भविष्यति? ॥ ५७ ॥

इति बोधिचर्यावतारे प्रज्ञापारमितायां शान्तिदेववचनम्—

नास्म्यहं न भविष्यामि न मेऽस्ति न भविष्यति।
इति बालस्य संत्रासः पण्डितस्य भयक्षयः॥

इति तत्र पञ्जिकोदाहृतवचनं च देहविषयकत्वान्न वैदिकानामनिष्टमापादयति। तत्रैवोत्तरत्र—

दुःखहेतुरहंकार आत्ममोहात्तु वर्धते ॥ ७८ ॥

इति शान्तिदेववचने आत्ममोहात्तु—अनात्मन्यात्मविपर्यासदर्शनादिति पञ्जिकायां विवरणेन—

ततोऽपि न निवर्त्यश्चेद्वरं नैरात्म्यभावना।

इति तदुत्तरार्धं; 'ततोऽपि—आत्मदर्शनादपि न निवर्त्यो निवर्तयितुमशक्यः अहंकारश्चेद्यदि तदा नैरात्म्यस्य पुद्गलादिविरहस्य भावना अभ्यासः'

भावप्रकाशः

इत्यादिपञ्चिकाविवरणं चानुचितम्; नैरात्म्यभावनावद्दृढतरदेहात्मविवेकस्य देहात्ममोहनिवर्तकत्वसंभवेन वैदिकमते दोषाभावात् । एतेन 'तदुक्तमाचार्यपादैः—

यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्राहमिति शाश्वतः स्नेहः ।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ॥
गुणदर्शी परितुष्यन्ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत्तु संसारः ॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोस्संप्रतिबद्धास्सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥

इति पञ्चिकोदाहृतनागार्जुनवचनानि ।

आत्मात्मीयदृगाकारसत्त्वदृष्टिः प्रवर्तते ।
अहं ममेति माने च क्लेशोऽशेषः प्रवर्तते ॥

इत्युपक्रम्य—

सर्वेषामपि तीर्थ्यानामहंकारनिवर्तनात् ।
मुक्तिरिष्टात्मतत्वे च नाहंकारो निवर्तते ॥ ३४९३ ॥

इति तत्वसंग्रहशान्तरक्षितवचनम् ।

साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबन्धो
नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ तु सत्याम् ।
अन्यश्शास्ता भवति जगतो नास्ति नैरात्म्यवादी
नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्तिमार्गः ॥

इति तत्र पञ्चिकायां कमलशीलोदाहृतश्लोकश्चेत्येतत्सर्वमपि प्रत्युक्तम् । शान्तरक्षितमतं तु—

ममेत्यहमिति प्रोक्तं यथा कार्यवशाज्जैनैः ।

भावप्रकाशः

तथा कार्यवशात्प्रोक्ताः स्कन्धायतनधातवः ॥

इति (बो-च-पं) प्रज्ञाकरमत्युदाहृतनागार्जुनवचनेन विज्ञानस्कन्धनिरासान्निरस्तम् ॥

एकज्ञानात्मके पुंसि बन्धमोक्षौ ततः कथम् ।

इति नित्यज्ञानात्माद्वैतमते यो दोष उक्तः शान्तरक्षितेन स दोषः क्षणिकज्ञानाद्वैतवादिना दुष्परिहर इति निरूपयिष्यते । तदेतत्सर्वमभिप्रेत्यानुगृहीतमात्मसिद्धौ ; —'तस्मादहमिति मतिर्बाधकापेता साक्षादात्मगोचरैव । अनात्मनि तु शरीरे भवन्ती अविद्येति युक्तम्' इति ।
तदनुसारेण श्रीभाष्ये च जिज्ञासाधिकरणे–'तस्माद्बाधकापेताऽहंबुद्धिः साक्षादात्मगोचरैव । शरीरगोचरा त्वहंबुद्धिरविद्यैव । यथोक्तं भगवता पराशरेण—

श्रूयतां चाप्यविद्यायाः स्वरूपं कुलनन्दन ।
अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या . . . . ॥

इति । यदि ज्ञप्तिमात्रमेवात्मा तदा अनात्मन्यात्माभिमानः शरीरे ज्ञप्तिमात्रप्रतिभासस्स्यात्, न ज्ञातृप्रतिभास' इति तत्र—'ननु अविद्याऽहंमतिरिति पठ्यते ; तत्कथमहंग्रहोपास्तिर्यथार्था विधीयते ? इत्यत्र विद्याविद्यात्मिके अहंमती विभजन्निगमयति–तस्मादिति । साक्षाच्छब्दः उपहितरूपव्यवच्छेदार्थः' इति । 'एवमविद्यादिरूपतया प्रसिद्धां देहाहंबुद्धिमपि परेष्टभञ्जिकामाह—यदीति' इति च तत्वटीका । 'एतद्वचनार्थमप्यहमर्थात्मत्वहेतुत्वेनाह—यदीति । अनात्मनीति—अनात्मन्यहंप्रतीतिः कथमात्माभिमान इत्यर्थः' इति श्रुतप्रकाशिका च ॥

अत्र भाष्ये आत्मसिद्धौ च साक्षाच्छब्देन 'अनात्मन्यात्मविज्ञानमित्यत्र द्वितीयांशे पूर्वं परत्र च 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या' इत्य-

भावप्रकाशः

त्रापि षष्ठांशे 'निर्वाणमय एवायमात्मा' इत्युत्तरत्र शुद्धात्मस्वरूप-निरूपणेन च शुद्धात्मैव विवक्षित इति बोधितम् ॥

तेन अहमर्थस्य चिदचित्संवलनात्मकत्वे अनात्मनि देहे अहमिति बुद्धिः शुद्धात्मबुद्धिर्न भवतीति उदाहृतवचनासामञ्जस्यम् । उक्तंच— चिदचिद्ग्रन्थेरहमर्थत्वं अद्वैतासिद्धावपि ;—'चिदचिद्ग्रन्थिरहंकारः अचिन्मात्रमन्तःकरणम् । अहंकारो ह्यनुभवामीत्यात्मानुबन्ध्यनुभवस्याहं कर्तेत्यचिदनुबन्धिकर्तृत्वादेश्चाश्रयः चिदचित्संवलनात्मकत्वादध्यस्तः । संवलनं हि न संबन्धमात्रम्; किं तु तादात्म्येन प्रतिभासः' इति । 'मान्तदान्तत्वेनार्थभेदकल्पनमयुक्तम्; सर्वेषामेव तेषां अहमिति प्रतीयमानाहंकारविषयत्वमेव । पर्यायतयैव प्रयोगदर्शनात्' इति च । लघुचन्द्रिकायां चैतद्विवरणं द्रष्टव्यम् ॥

ननु 'अहमित्यस्य ह्यंशत्वेन चिदंशे कर्तृत्वादिविशिष्टान्तःकरणैक्याध्यासवत् ब्राह्मणत्वकाणत्वादिविशिष्टदेहेन्द्रियाद्यैक्याध्यासेनात्मैक्यविषयत्वसंभवात्; तथाच आत्मनि देहेन्द्रियाद्यैक्याध्यासो युज्यत एव' इति मूलम्; 'चिदंशे—अज्ञानोपहितचिति । ननु तथाऽपि शुद्धात्मैक्याध्यासे न प्रमाणम्! तत्राह—तथाचेति । उपहितात्मैक्याध्यासादुपहिते शुद्धस्यानुस्यूतत्वेन भानादुपहितनिष्ठं शुद्धतादात्म्यं देहादावारोप्यत इति भावः' इति विवृतं तत्रैव ; अतो नानुपपत्तिरिति चेत् ; 'तेनान्योन्याध्यासाच्चिदचिद्ग्रन्थिरूपोऽध्यासः' इति सिद्धान्तबिन्दुवाक्यमित्थं विवृतं तैरेव ;—'अज्ञोऽहमित्यादिवत् सन्नाकाशः सन् वायुः इत्यादावपि परस्पराध्यासः । आकाशस्सन् वायुस्सन् इत्यादिप्रतीतिसत्त्वादित्याह—तेनेति । अज्ञोऽहमित्यादिस्थले परस्पराध्यासस्वीकारेणेत्यर्थः । परस्पराध्यासात्—परस्पराध्यासप्रत्ययात् । अध्यासः—अध्यास-

भावप्रकाशः

मात्रम् । चिदचिद्ग्रन्थिरूपः—शुद्धचिद्रूपेऽधिष्ठानेऽचितोरधिष्ठानभिन्नयोः ग्रन्थिः—परस्परावच्छेदेन परस्परसंबन्धौ रूपे यस्य तादृशः ' इति । इत्थं च आकाशस्सन् इत्यादेरप्यनात्मन्यात्मज्ञानरूपता कुतः प्रमाणेषु नोक्ता ?

' एवमध्यासे सिद्धे एकस्यात्मनो जीवेश्वरादिव्यवस्था मानमेयादिप्रतिकर्मव्यवस्था चोपपद्यते ' इति तत्रैव मूलस्य ; ' अध्यासे—अज्ञानाहंकाराध्यासे । उपपद्यत इति—तथाच तदुपपादनार्थमेव प्रथमोत्पन्नमप्याकाशाध्यासमनुक्त्वा अहंकारध्यास उक्त इति भावः ' । इति विवरणं प्रतिवचनमिति चेत् ; ' अज्ञोऽहमिति प्रतीतिबलादज्ञानप्रतिबिम्बितत्वविशिष्टाचिति मनोऽध्यासः अदृष्टादिविशिष्टमनोविशिष्टेनैव जीवेन काणत्वादिविशिष्टस्थूलदेहग्रहणात्तत्रैव तदध्यासः । पूर्वपूर्वाध्यासमूल एवायमुत्तरोत्तराहंकाराध्यासः ' इति सिद्धान्तेन स्थूलदेहाध्यासमूलभूतः अज्ञानविशिष्टचिति मनोऽध्यास एव अनात्मन्यात्मबुद्धितया प्रमाणेषु प्रदर्शनीयः ; येनाहमर्थस्यानात्मत्वं सिध्येत् ; न च तथा क्वापि प्रदर्श्यते !

एवं अन्तःकरणे शुद्धचित्तादात्म्यावागाहि ज्ञानमपि । अपि च उपहिते शुद्धस्यानुस्यूतत्वेन क्लिष्टकल्पनया देहात्मैक्याध्यासोपपादनेऽपि अनात्मन्यात्मबुद्धिर्नोपपादिता ; सा हि अनात्मविशेष्यकात्मप्रकारकज्ञानम् ! इदं रजतमिति प्रत्ययस्य शुक्तौ रजतज्ञानत्वेनैव व्यवहारः न रजते शुक्तिज्ञानत्वेन ; विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेनैवानुभवव्यवहारवैलक्षण्यस्य तान्त्रिकसंमतत्वात् । अतो विशिष्टदेहाध्यासे इतरेतराध्यासाङ्गीकारेण देहे चित्तादात्म्यभानेऽपि अनात्मन्यात्मबुद्धिरिति न व्यवहारस्संप्रतिपन्नः । इदं रजतमित्यत्रेतरेतराध्यासानङ्गीकारेऽप्युपपत्तिर्नैयायिकैरुच्यते इति वक्ष्यते ॥

भावप्रकाशः

किञ्च अहंकाराध्यासे अहमर्थो मनः । स्थूलदेहाध्यासे तदवच्छिन्नचिदित्यहमर्थद्वैविध्यकल्पनमप्यनुभवविरुद्धम् । तदेतत्सर्वमभिप्रेत्योक्तं भट्टपादैः—

ये चेहाज्ञातनानात्वास्तेषां देहेष्वहंमतिः ।

इत्यनन्तरम्—

तत्राप्यात्माभिमानेनेत्यहंबुद्धिर्ध्रुवाऽऽत्मनि ॥

इति । अहमित्यस्य चिदचिद्ग्रन्थिरूपत्वं प्रमाणानुभवविरुद्धमित्यभिप्रायः । एवं लघुमञ्जूषायां नागेशभट्टैरप्युक्तम्—

'तत्र देहादावहमित्यध्यासः शुद्धात्मविषय एव; 'जडचेतनयोर्विषयविषयिणोरन्योन्यास्मिन्नन्योन्यात्मकतामध्यस्य' इति भाष्योक्तेः । नचाध्यस्यमानस्य मिथ्यात्वेन ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वापत्तिः अध्यासविषयस्य मिथ्यात्वमित्येव नियमात् । स च क्वचिदध्यस्यमानस्य क्वचिदधिष्ठानस्य तत्त्वेनोपपन्नः । यत्त्वेतद्दोषभिया संसृष्टाध्यास इति कैश्चिदुक्तं तन्न; उक्तभाष्यास्वारस्यात्' इति ॥

अत एव द्युभ्वाद्यधिकरणे शङ्कराचार्यैः 'देहादिष्वनात्मसु अहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या' इत्युक्तं स्वरसतस्संगच्छते' ।

किञ्च अहं प्रत्ययो युक्त्यागमसहकृतो देहात्मभ्रममपनुदन् शरीरवैलक्षण्यसाधकः शुद्धात्मविषयकश्च उपन्यस्तः पञ्चपादिकाविवरणादिषु; एवं माहायानिकवैलक्षण्यसाधकोऽपीति स यदि मिथ्याविषयकः ततो देहादिवैलक्षण्यमपि न स्वरसतस्सिध्यति । पूर्वपूर्वाध्यासविशिष्टे उत्तरोत्तराध्यासस्य संसृष्टरूपेण सतोऽपि मिथ्यात्वस्य वाऽङ्गीकारे सर्वांशेऽपि मिथ्याविषयकतया प्रतीतेः अन्ततः अहमंशे नैरात्म्यवादतो न वैलक्षण्यम् ।

भावप्रकाशः

केवला अहमिति प्रतीतिरेव अनात्मन्यात्मबुद्धिः । सैव द्युभ्वाद्यधिकरणे भाष्ये प्रदर्शनीया न तु देहादिसंवलितापीति मञ्जूषानुयायिनः ॥

अतः षष्ठांशे पञ्चभूतात्मके देहे अहमित्यस्यानात्मन्यात्मबुद्धित्वमहमर्थस्यात्मत्व एवोपपद्यते नान्यथेति भट्टपादानां भगवद्यामुनमुनीनां भाष्यकाराणां चाशयः। एवं द्वितीयांशेऽपि 'नाहं पीवा नचैवोढा शिबिका' इति शुद्धात्मस्वरूपं निषेधमुखेन प्रस्तुत्य कर्माधीनं सुखदुःखोपभोगमभिधाय 'आत्मन्येष न दोषाय' इत्यनेन आत्मनि अहमिति शब्दः चैतन्यानभिव्यक्तिप्रमातृत्वानुपपत्तिरूपदोषायापि न भवतीत्युक्त्वा अनात्मन्यात्मविज्ञानस्य भ्रान्तित्वं प्रतिज्ञाय एतेनाहमित्यनेन इन्द्रियाणामहमर्थत्वबाधोपपादनेन इन्द्रियेष्वहंमतेः भ्रान्तित्वं प्रसाध्य 'पिण्डः पृथक्' 'ततोऽहमिति कुत्रैतां' इत्यत्र पूर्वार्धे शरीरस्य पुंशब्दवाच्यशुद्धात्मनो भेदमभिधाय उत्तरार्धे तत्राहमिति संज्ञाया निषेधाभिधानमुखेन भ्रान्तिलक्षणत्वकथनेन शरीरे अहमिति शुद्धात्मस्वरूपाभेदावगाहि ज्ञानमपि भ्रान्तिरित्यप्युक्तं भवतीति। श्रीभाष्ये (१) गीताभाष्ये (१३) च द्वितीयांशवचनार्थनिष्कर्षो द्रष्टव्यः ॥

अहमर्थ आत्मान्यः अहंप्रत्ययविषयत्वाच्छरीरवत् इति तु अप्रयोजकम् तथा सति सदिति प्रतीतिविषयश्चिदन्य आनन्दान्यो वा सदितिप्रतीतिविषयत्वाद्घटादिवदिति प्रयोगापत्तेः । किञ्चिद्रूपावच्छिन्नविषयतानिवेशेऽपि अहमर्थः चिदचिद्ग्रन्थिरिति व्यवहर्तुमनर्हः अहंप्रत्ययविषयत्वाच्छरीरवदिति प्रत्यनुमानं स्यात् । किञ्चिद्रूपावच्छिन्नविषयत्वविवक्षणे आत्मान्यत्वं धर्मवत्त्वप्रयोज्यं पर्यवस्यतीति अहंप्रत्ययेत्यस्य वैयर्थ्यमेव । 'ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्' इति श्रुति-

भावप्रकाशः

बाधश्च; तत्र ज्योतिश्शब्दस्य प्रकाशबोधकत्वात् । ज्योतिश्शब्दस्य प्रकाशबोधकत्वं तु विवरणादिषूक्तमेव ॥

किञ्च अहमात्मा गुडाकेश! इति भाष्योदाहृतया स्मृत्यापि बाधः । एतेन 'अहंकारोऽहमिति व्यावृत्तः आत्मा च सन्निति सर्वविषयानुवृत्तः तथाचात्मा अहंकाराद्भिद्यते अनुवृत्तत्वात् यदनुवृत्तं तद्व्यावृत्ताद्भिद्यते यथा कुसुमेभ्यस्सूत्रम्' इत्यपि प्रत्युक्तम् । किंच अहंकारान्यत्वसाधने अहमर्थान्यत्वासिद्ध्याऽर्थान्तरं च । तस्यैव साधनेऽपि अहमर्थस्यापि सद्रूपेणानुवृत्तत्वसंभवाद्व्यभिचारः आत्मनोऽपि हि सद्रूपेणैवानुवृत्तत्वमुक्तम् । एतेन अहंप्रतीतिविषयान्यः येन रूपेणाहंप्रतीतिस्तद्भिन्नरूपेणैवानुवृत्तत्वादित्युक्तावपि न निस्तारः । तथा सति आत्मा ज्ञानं चिदिति प्रतीतिविषयान्यः तादृशप्रतीतिविषयभिन्नरूपेणैवानुवृत्तत्वादिति नैयायिकास्साधयेयुः । कथंचित् ज्ञानं चिदिति रूपेणानुवृत्तत्वसाधने त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिप्राभाकरमते अहमर्थस्यापि तत्संभवत्येव। भूमविद्यायां 'अहमेवाधस्तात्' इत्यारभ्य 'अहमेवेद॑ सर्वम्' इति 'आत्मैवाधस्तात्' इत्यारभ्य 'आत्मैवेद॑ सर्वम्' इत्युभयत्राविशेषमभिदधाना श्रुतिरेवैकार्थस्यानुवृत्तत्वमन्यार्थस्य व्यावृत्तत्वं कथं सहेत? । 'अहं मनुरभवम्' इत्यादिश्रुतयोऽहमर्थस्यानुवृत्ततां कुतो न साधयन्ति?। उपनिषद्भाष्ये शङ्कराचार्यैः 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यधिकरणाधिकर्तव्यतानिर्देशात् 'स एवाधस्तात्' इति च परोक्षनिर्देशात् द्रष्टुर्जीवादन्यो भूमा स्यादित्याशङ्का कस्यचिन्माभूदिति अथातः—अनन्तरं अहंकारेणादिश्यत इत्यहंकारादेशः— द्रष्टुरनन्यत्वदर्शनार्थं भूमैव निर्दिश्यतेऽहंकारेण 'अहमेवाधस्तात्' इत्यादिना । अहंकारेण देहादिसंघातोऽप्यादिश्यतेऽविवेकिभिरित्यतस्तदाशङ्का मा भूदिति । अथ

भावप्रकाशः

अनन्तरं । आत्मादेशः—आत्मनैव केवलेन सत्स्वरूपेण शुद्धेनादिश्यते' इत्युक्तम् । अत्र अविवेकिभिरित्यनेन विवेकिभिर्देहादिसंघातो नाहंकारेणादिश्यते इति बोधितम् । अत एव जिज्ञासाधिकरणान्ते 'यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिस्स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्' इत्युपक्रम्य चार्वाकादिमतेन विप्रतिपत्तीः प्रदर्श्य प्रवृत्तस्य स्वसिद्धान्तभाष्यस्य पञ्चपादिकाविवरणे;—'अहं ब्रह्मैवेति विशेषोपसंहारः' इत्युक्तिस्संगच्छते । तत्रैतावान् विशेषः;—सगुणात्मवादे अहंत्वविशिष्टस्यात्मत्वं निर्गुणात्मवादे तु न विशिष्टस्य किंतूपलक्षितस्येति । स्पष्टं चेदं ब्रह्मसूत्रवार्तिके । 'सत्यं ज्ञानम्' इति श्रुतौ ज्ञानपदशक्यं न ब्रह्म अपि तु लक्ष्यमेव' इति उपनिषद्भाष्ये शङ्कराचार्यैरुक्तम्; अतश्च ज्ञानपदसमानन्याय एवाहंशब्दः । एतेन 'अहंकारस्य तु प्रागेवात्मैकत्वप्रतिपत्तेः पृथगुपदेशो भेदसिद्ध्यर्थ इति गम्यते । ब्रह्मणः परोक्षस्य प्रत्यक्षत्वसिद्धये अहमात्मत्वमुपदिश्य पुनस्तद्व्युदासेन मुख्यात्मत्वमुपदिशतीत्यर्थः' इति विवरणम्; 'पूर्वमेवेत्यत्र पृथगुपदेशादित्यनुषङ्गः । अहंकारात्मनोरभेदस्य शास्त्रे संस्काररहितानामपि सिद्धत्वान्नाभेदप्रतिपत्त्यर्थत्वं पृथगुपदेशस्य किंतु भेदप्रतिपत्त्यर्थत्वमित्यर्थः । ब्रह्मण इति—यथा मुख्यारुन्धतीदर्शनशेषत्वेन स्थूलतारामरुन्धतीत्वेनोपदिश्य तस्या अरुन्धतीत्वं व्यावर्त्य मुख्यप्रदर्शनम्; तथा अमुख्यमात्मानं प्रथममभिधाय पुनस्तन्निरसनेन मुख्यप्रदर्शनायाहंकारसात्म्यकथनं युक्तमित्यर्थः' इति तत्वदीपनं च समाहितम् । देहादावहमिति भ्रान्त्या अहमित्यात्मनिश्चयो न संभवतीति शङ्कायां अहमिति शुद्धस्यात्मनः निश्चयार्थं पृथगुपदेश इत्युदाहृतभाष्यादितस्सिद्धेः । एवमुपदेशसहस्र्यां गद्यग्रन्थेऽपि । 'युक्तं पर एवात्मा अहमिति प्रतिपत्तुं तदात्मा-

भावप्रकाशः

नमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति' 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' 'अहमेवाधस्तात्' 'आत्मैवाधस्तात्' इत्युपक्रम्य 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादौ अहमिति प्रतीतिश्शुद्धात्मविषयिणीति स्पष्टमुक्तम्। किंच तत्तदात्मनः तत्तदीयाहमितिप्रतीतिविषयत्वेऽपि न सर्वानुभवविषयत्वमिति कथमहन्त्वेन सार्वात्म्यमिति शङ्कायां सर्वप्रतीतिविषयात्मत्वेन तदुपपादनार्थमथात आत्मादेश इत्यस्यारम्भः। 'यथा च सद्भेद औपाधिक एवं सद्ज्ञानानन्द-भेदोऽपि' इति कल्पतरूक्तिमभिसंधाय 'अथातस्सदादेशः, अथा-तश्चिदादेशः, अथात आनन्दादेशः' इति रूपभेदविवक्षया प्रयुक्तं लौकिकवाक्यं रूपभेदेऽपि न वस्तुभेदं यथा साधयति तथा 'अथातोऽहं-कारादेशः अथात आत्मादेश' इति छान्दोग्यश्रुतिरपि रूपभेदमात्रोपक्षीणा न वस्तुभेदं साधयितुमलम्। किंच ततोऽहंकारशब्दार्थस्यात्मान्यत्वसिद्धा-वप्यहमर्थस्य न तत्सिध्यतीति भाष्यादिषु व्यक्तम्॥

'अहंशुभमोर्युस्, (पा. सू.—५–२–१४०) इति सूत्रे 'अह-मिति शब्दान्तरमेव' इति काशिकाप्रतीकमुपादाय पदमञ्जर्याम्;— 'ननु नात्र कश्चिच्छब्दः प्रकृतो यदपेक्षं शब्दान्तरत्वं स्यात्; सत्यम्; 'त्वाहौ सौ' इत्यस्मदादेशोऽहंशब्दः प्रसिद्धिवशाद्बुद्धिस्थो निर्दिष्टप्रायः; तदपेक्षं शब्दान्तरत्वम्। अहंकारे वर्तत इत्यनेनार्थ-भेदमाह। गर्वोऽभिमानोऽहंकारः' इति हरदत्तोक्तिविरोधेन मान्तदान्तयोः पर्यायत्वायोगात्। 'दम्भाहंकारसंयुक्ताः' इत्यादौ धनित्वाभिजात्याद्यभिमाने चिदचिद्ग्रन्थ्यभेदविवक्षाकल्पनस्यानुभवविरोधेनानुचितत्वेन मान्तदान्ताहं-कारशब्दानामेकरूपेण शक्तिपक्षस्यासंभवात्। अत एव सप्तगत्यधिकरण-शंकरभाष्यानुसारेण—

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।

भावप्रकाशः

संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥

इत्युक्ते वृत्तिचतुष्टये गर्व एवाहंकारशब्दो नान्यवृत्ताविति संगच्छते। एकरूपेण शक्त्यङ्गीकारे वृत्तिचतुष्टयदशायामप्यस्मच्छब्दप्रयोगेण चतुष्टयानुगतरूपेण अन्तःकरणत्वेनैव चिदचिद्ग्रन्थिशरीरेऽचितो निवेशनीयतया गर्वान्यवृत्तावपि चिदचिद्ग्रन्थ्यभेदविवक्षया कुतः स्वरसतो नाहंकारशब्दप्रयोगः? । पूर्वपूर्वप्रयोगाभावेन वारणे हर्यादिशब्दानां सर्वेषां वा शब्दानां प्रमेयत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्ने लाघवादेकरूपेण शक्तावन्यत्रातिप्रसङ्गस्य पूर्वपूर्वप्रयोगाभावेन वारणसंभवाच्छक्तिग्रहोपायविचारस्सर्वोऽपि व्यर्थः स्यात्। दान्ताहंशब्दस्यैव चेतनवाचिता पाणिन्यादिसंमतेति दान्तत्वेन निर्धारणाभावे अहमिति श्रवणमात्रेण शक्तरूपं ज्ञायत इति ततो गर्वप्रतीत्युपपत्त्या तावन्मात्रेणैकरूपेण शक्त्यसंभवात्, जननीपरिच्छेत्तृवाचकमातृशब्दस्य धातुप्रत्ययविभागज्ञानविरहदशायां ततो जननीबोधमात्रेण नैका शक्तिर्यथा तद्वत्। देहादावनात्मन्यात्माभिमानः स्थूलोऽहमित्यतः प्रतीयते, न तु स्थूलोऽहंकार इति वाक्यात्; अतोऽपि भिन्नार्थत्वमुभयोः ॥

किंच अहमित्यव्ययमेकरूपम्, अस्मच्छब्दादेशस्तु भिद्यते, प्रथमैकवचनमात्रेऽहमिति। एवंच मां ममेत्यादौ अस्मच्छब्दादेशान्तरेऽपि अहमित्यत्रेव प्रकृत्यार्थबोधानुभवेन अहमित्यव्ययसाधारणरूपेण न शक्तिः; पृथगहमित्यव्ययस्य दान्ताहमित्येतत्तुल्यार्थे शक्तिग्राहकं नास्ति; प्रत्युत भिन्नार्थ एव। अतश्चास्मन्मते एकवचने अस्मच्छब्दादेशतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मत्वेन शक्ततावच्छेदकधर्ममनुगमय्य तदवच्छिन्नस्यैकधर्मावच्छिन्ने शक्तिः पृथग्वा? इत्यन्यदेतत्। अहमित्यव्ययानुपूर्व्यवच्छिन्नस्य तु गर्वे शक्तिः। अहंतेत्यत्र देवतेत्यादिवत्स्वार्थे तल्प्रत्ययः।

भावप्रकाशः

भवन्मते तु सर्वसाधारणं नैकं शक्ततावच्छेदकं संभवति, येनैकरूपेण शक्त्युत्प्रेक्षणं स्यात् । महाभारते च मनश्शब्दः प्रद्युम्ने अहंकारशब्दश्चानिरुद्धे तत्तदभिमानित्वबोधनाय प्रयुक्तो नात्ममात्र इति पूर्वं कालनिरूपण उक्तमिति न ततोऽहंकारशब्दस्यास्मच्छब्दसमानार्थकत्वसिद्धिः॥

रहूगणभरतसंवादे 'आत्मन्येष न दोषाय शब्दोऽहं' इत्यत्र अहमित्यस्य दान्तत्वेन निर्धारणाभावे मान्तत्वं शब्दश्रवणमात्र एव सुविज्ञेयमिति तस्य दोषत्वबोधनायैव एष इति प्रयुक्तम् । तेन 'त्वं पीवानासि' 'नाहं पीवान्' इत्युपक्रमे युष्मच्छब्दप्रतिकोटिता बुद्धिस्थेति युष्मच्छब्दप्रतिकोटिरिति ज्ञायते । युष्मच्छब्दस्य स्वजन्यबोधाश्रयत्वेन वक्तुरिच्छाविषये अस्मच्छब्दस्य च स्वोच्चारणानुकूलकृतिमति शक्त्या युष्मदस्मच्छब्दयोः ज्ञानतदवस्थाविशेषकृत्याश्रयचेतनैकान्त्यं सुप्रसिद्धम् ॥

अत एव सन्सूत्रे महाभाष्ये पतञ्जलिना कूलं पिपतिषतीत्यादौ इच्छाया अचेतने बाधेन सनोऽनुपपत्तिमाशङ्क्य प्रकारान्तरेण परिहृत्य अन्ते सर्वस्य चेतनावत्त्वात् 'अथवा सर्वं चेतनावत्' इत्युपक्रम्य तत्र प्रमाणतया 'ऋषिः पठति ;–शृणोत ग्रावाणः' इत्यनेन सिद्धान्तकरणं; 'ऋषिरिति — वेदः सर्वभावानां चैतन्यं प्रतिपादयतीत्यर्थः' इति कैयटविवरणं च संगच्छते । अचेतने सर्वत्र जीवात्मसंबन्धः श्रुत्यादिभिः सिध्यतीति श्रीभाष्यादिषु स्थापितम् । अचेतनेऽनभिव्यक्तं चैतन्यमादायैव 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यत्र मध्यमपुरुष उपपद्यते न त्वन्यथेति पतञ्जलेराशयः । एतेन शक्तिवादे त्वं स्थूलः अहं स्थूलः त्वं स्वर्गं भोक्ष्यसे अहं स्वर्गं भोक्ष्ये इत्युभयत्रैव युष्मदस्मदोर्मुख्यत्वात् संबोध्योच्चारयितृशरीरतदात्मनोरेव युष्मदस्मदर्थत्वं बोध्यम्' इति गदा-

भावप्रकाशः

धरभट्टाचार्योक्तिरसंगतेति बोधितम्; आत्मन्यहंशब्दो मुख्यः शरीरादावमुख्य इति विष्णुपुराणादिव्यवस्थापितस्यार्थस्य पतञ्जलेरपि संमतत्वात्। शुक्लादिशब्दानामुभयत्र प्रामाणिकप्रयोगस्याविशेषे शुक्लरूपे शक्तिः तद्विशिष्टे निरूढलक्षणेति वदतां दृढतरदेहात्मविवेकशून्यानां भ्रान्त्या देहे प्रचुरप्रयोगोपपत्तावपि तदवलम्बनेन देहेऽपि पृथक् शक्तिकल्पनस्यानुचितत्वात्। एवमपि ब्राह्मणो यजेत स्थूलोऽहं जानामीत्यादेः प्रामाण्योपपादनासंभवाच्च। तदर्थं प्रकारान्तरानुसरणे पृथक् शक्तिकल्पनस्यायुक्तत्वात्॥

अत एव 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः' इति सूत्रे शब्देन्दुशेखरे मञ्जूषायां च मध्यमोत्तमौ प्रस्तुत्य;—

सदसद्वाऽपि चैतन्यमेताभ्यामवभासते।
चैतन्यभागे प्रथमः पुरुषो न तु वर्तते॥

इति शब्दविवर्तवादिहरिकारिकामुदाहृत्य; असत्—अनभिव्यक्तं; 'मध्यमोत्तमौ चैतन्ययुक्ते कर्तृकर्मणी बोधयतः' इति युष्मदस्मदोश्चेतनेष्वेव प्रयोगात् मध्यमोत्तमाभ्यां तदभिव्यक्तिः' इत्युक्तिरपि संगच्छते। अतः अहमर्थ आत्मान्यः इत्यादिसाधने 'आत्मन्येष न दोषाय शब्दोऽहमिति' इति स्मृत्यापि बाधः श्रुतप्रकाशिकायां व्यासार्यैरुक्तो दुष्परिहरः॥

किंच 'तदात्मानमेवावैत् अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रौतप्रयोगविषयत्वेनानैकान्त्यं बाधश्च। तदुक्तं पार्थसारथिमिश्रैः;—'तस्मादहंप्रत्ययविषयत्वमात्मनोऽनिच्छन्तः श्रुतिविरोधादेवोपेक्षणीयाः' इति। ननु—

योयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव।
ब्रह्मास्मीति धियाप्येषा ह्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते॥

भावप्रकाशः

इति नैष्कर्म्यसिद्धावहं ब्रह्मास्मीति सामानाधिकरण्यं बाधार्थमित्युक्तेः नैष दोष इति चेन्न; विवरणकारैः तन्निरासपूर्वकं अखण्डार्थतास्थापनात् हेतुपरिष्करणेन संसर्गानवगाहिज्ञानविषयताव्यावर्तनेऽप्यप्रयोजकत्वम्; भट्टपादैरात्मनः कूटस्थतानिरसनपूर्वकं कर्तृत्वादिसाधनेन अहंशब्दस्य विशिष्टे शक्तिः शुद्धे लक्षणेत्यत्र मूलं मृग्यमिति बाध एवेति पार्थसारथिमिश्राणामाशयः। 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यत्र एकस्या एव वृत्तेरहमर्थांशे प्रत्यक्षत्वं साक्ष्यंशे स्मृतित्वमिति वैरूप्यकल्पनमनुचितम्। अहमंशेऽपि परामर्शत्वमेव मुक्तावहमर्थाननुवृत्तावनुपपत्तिश्च इति भाष्यादिषु स्थापितोऽर्थो निरूपयिष्यते॥

न हि वयमङ्गुल्या निर्दिश्य अयमहमस्मीत्यनुभूयमानं प्रत्यक्षमपलपामः! येन चार्वाकस्य देहात्मवादिता अनुपपन्ना स्यात्। किंतु मम देह इति प्रतीतिः घटस्य स्वरूपम् शिलापुत्रकस्य शरीरम् इतिवन्न; अपि तु भेदावगाहिन्येव प्रमा इति 'नाहं पीवा' इत्युपक्रम्य 'पिण्डः पृथक्' इत्यादिभिः स्थूलोऽहम् इत्यादेः भ्रान्तित्वस्थापनपूर्वकं निर्धारणेन देहात्माभेदावगाहिज्ञानसामान्यं भ्रम एवेति दृढीकरणेन देहात्मनोर्भेदः मम देह इत्यादिप्रत्यक्षेणापि सिध्यतीत्येव वदामः; तदुक्तं शास्त्रदीपिकायां पार्थसारथिमिश्रैः;—'तद्यदि प्रमाणान्तरेणात्मनश्शरीरादिविवेको नैकान्ततस्सिध्यतीति ततो दृढविवेकप्रतिपादकानामुपनिषद्वाक्यानां विस्पष्टमेव फलम्; यथोक्तम्;—

'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥

इति' इति। अत्र सिद्धान्तचन्द्रिका;—'अहं स्थूलः अहं गच्छामि इत्यादि शरीर एवाहंमानदर्शनात् प्रमाणान्तरप्रतिपादितोऽप्यात्मनश्शरी-

भावप्रकाशः

रादिविवेको न दृढरूपेण हृदयेऽवतिष्ठत इति भावः' इति ।

यदि प्रत्यक्षसिद्धार्थबोधकत्वमुपनिषदां तदा देहात्मभेदांशे अनुवादकत्वमेव स्यादिति शङ्कापि तत्रैव समनन्तरग्रन्थेन निरस्ता । तथाच तद्ग्रन्थः—'अथ त्वन्यतोऽपि सिद्ध्यति ततो यथैवान्यथाऽपि क्रतुज्ञानसंभवे अध्ययनोपात्तवेदवाक्यावगतकर्मरूपाणामेव पुंसां कर्मस्वधिकारः तथैवाध्ययनोपनिषद्वाक्यावगतात्मतत्वानामेवाधिकार इत्यप्यध्ययनविधिबलादेव कल्प्यते' इति ।

'किंच जीवेश्वरविभागकल्पनास्तु पुरुषबुद्धिप्रभवा अपि शास्त्रेणानूद्यन्ते' इति सिद्धान्तबिन्दौ वदद्भिः; अन्यत्र देहादिभिन्नात्मास्तित्वप्रतिपादिकायाः श्रुतेरनुवादकत्वापादनं चित्रम्; यतः तैरेव पूर्वं 'भेदस्य मिथ्यात्वेऽपि अभेदो न तात्विकः भावाभावयोरुभयोरपि मिथ्यात्वस्य प्रागेवोपपादितत्वात् । इयांस्तु विशेषः यदत्राभेदो व्यवहारकालीनेन परीक्षितप्रमाणभावेनानुमानादिना बाध्यते; भेदस्तु देहात्मनोर्न तेन किं तु चरमवृत्त्या' इत्युक्तेः अनुमानेन सिद्धावपि श्रुतेरनुवादकत्वस्यापरिहार्यत्वात् । बृहदारण्यकभाष्यारम्भे;—'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इति श्रुतेः जन्मान्तरसंबन्ध्यात्मास्तित्वे प्रमाणतयोपन्यासेन सगुणात्मनि देहभेदस्य जीवेश्वरविभागाद्विशेषाभावाच्च । किंच विवरणे 'तत्त्वमसि' इति वाक्यं प्रस्तुत्य जीवब्रह्मपदार्थप्रतीतिसमये प्रतिपन्नैक्यविषयकतयाऽनुवादप्राप्तावपि भेदप्रतिभासविरोधितया प्रामाण्यमुपपद्यत इति । तदुक्तं;—'सिद्धं तु निवर्तकत्वात् इति' इति आगमविदां द्रमिडाचार्याणां सूत्रमुदाहृतम् । एवं चात्र दृढीकरणस्य देहात्मैक्यप्रतिभासविरोधित्वरूपत्वेन न कश्चिद्दोषः । तदप्युक्तं पञ्चपादिकाविवरणे सांख्यनैयायिकवैशेषिकान् प्रस्तुत्य;—'यदि सांख्यादयः प्रत्यक्षसिद्धस्यैवात्मनोऽनुमानानि स्पष्टी-

भावप्रकाशः

करणार्थानीति मन्येरन् तदा न कश्चिद्विरोधः' इति। स्पष्टीकरणं च देहात्मैकत्वभ्रमबाधनम्। विवरण एव पूर्वं तथाऽवगमात्। तथा च तद्ग्रन्थः;—'ननु प्रत्यक्षे देहात्मैक्याध्यासे किमैक्यप्रत्ययमपबाध्य व्यतिरेके प्रमाणमुक्तमिति? उच्यते;—युक्तिसहितागमानुमानाहंप्रत्ययैर्द्विचन्द्रबाधयैकत्ववद्व्यतिरेकस्सिध्यतीत्युक्तं भवतीति' इति। अत्र तत्वदीपनम्;— 'बाल्याद्यवस्थासु शरीरव्यावृत्तावप्यहंप्रत्ययोऽनुवर्तते। अनुवर्तमानस्य च व्यावृत्तमात्रालम्बनत्वायोगात् सकलावस्थानुस्यूतमात्मतत्वमालम्बनमेष्टव्यमित्याद्या युक्तिः। देहः स्वातिरिक्तद्रष्टृकः दृश्यत्वात् घटादिवत् इत्याद्यनुमानम्; 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' 'न जायते म्रियते वा' इत्यादिरागमः, इति। अत्र युक्तिस्तर्कः॥

शब्दस्यानुमानेऽन्तर्भावं ब्रुवाणः कणादोऽपि 'अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् (३-२-९) इति सूत्रेण अहमर्थस्यात्मनश्शरीरादिव्यतिरेकं प्रत्यक्षेण प्रसाधयन् तद्दृढीकरणमनुमानेनेति 'दृष्ट एवात्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात्प्रत्यक्षवत्प्रत्ययः (३-२-११) इति सूत्रेण व्यवस्थापयति॥

आचार्यपादाश्च 'शास्त्रयोनित्वात्' 'तर्काप्रतिष्ठानादपि' इत्यादव्यासोपदर्शितशब्दतत्वरहस्योपज्ञं भगवद्यामुनमुनिभिः भट्टपादैश्च प्रकटीकृतां सरणिमनुसरन्तः मम देह इति प्रत्यक्षसिद्धमात्मनश्शरीरातिरेकं शब्देन दृढीचक्रुरिति। अयमर्थः 'बोद्धा—दृढमवगमितः प्रत्यगर्थः प्रमाणैः' इत्यत्र व्यक्ती भविष्यति॥

एतावता मम देह इत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण अहमर्थात्मनश्शरीरातिरिक्तत्वं सिद्ध्यति देहे अहमिति प्रत्ययस्य भ्रान्तित्वव्यवस्थापनात् इत्युपपादितम्। अथ स्थिरत्वसाधकेन प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेणापि तत्

सर्वार्थसिद्धिः

*अवयवोपचयापचयविनाशादि[1]कालेष्वपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञा-

आनन्ददायिनी

[2]अस्थिरभावेभ्योऽवयवेभ्यः स्थिरत्वेन भेदं साधयितुं तस्य स्थैर्यं साधयति— **अवयवेति** । उपचयो–वृद्धिः । अपचयो–ह्रासः ।

भावप्रकाशः

स्थापयति—*अवयवोपचयेत्यादिना । यद्यपि शबरस्वामिना अन्येद्युर्दृष्टे अपरेद्युः इदमहमदर्शमिति प्रत्यभिज्ञा क्षणिकवादिमतनिरासार्थमुदाहृतेति भाष्यबृहतीवार्तिकपर्यालोचनया प्रतीयते । तत्र बृहत्याम् ;–किमिदमहमिद-मदर्शमिति ? यदि तावत्प्रत्यभिज्ञा ; क्षणिकत्वस्यैतदुत्तरं न नैरात्म्यस्य ; नचात्र क्षणिकत्वनिराकरणमभिप्रेतम् ! किं तर्हि ? बुद्धीन्द्रियशरीरव्यति-रिक्तस्यात्मन सद्भावप्रतिपत्तिः । नच क्षणिकतया नैरात्म्यमुक्तं परैः ! किं तर्हि ? स्कन्धातिरिक्तानुपलब्धेः । नित्यताया हि क्षणिकत्वं विरोधि नात्मसद्भावस्य ! तस्य चात्मसद्भावः परैराक्षिप्तः प्रतिपाद्यते । न पुन-रात्मनो विद्यमानस्य नित्यताक्षेपं प्रति समाधिः । न चान्य उपलब्धा ह्यः अद्य चान्य इत्येतावता नैरात्म्यम् ! तस्मादहंप्रत्ययग्राह्यः कार्यकारण-व्यतिरिक्त आत्मास्तीत्येतावद्वक्तव्यम् । ह्योऽद्येत्यतिरिच्यते इत्याशङ्क्य ; वेत्सि भोः ! किमिति क्षणिकता स्कन्धानामुक्तेति ? किमिति चोक्ता ? भोक्तुरभावात् । भोक्तुरभावे क्षणिकता स्कन्धानामिति किमियं राजाज्ञा ? नेयं राजाज्ञा नयाज्ञैषा । कथम् ? भोक्तुः सद्भावे कार्यकारणं क्षणिकमिति नास्ति नः प्रमाणम् । कथम् ? अनुमेयं हि कारणं कार्यतः ! अतश्च क्रियासिद्धिः । क्रियाफलकलापनिबन्धनोऽयं क्षणिकत्व-

---

[1] काले कार्येष्वपि–**क.** [2] स्थिरत्वादस्थिरभावेभ्योऽवयवेभ्यो भेदस्सिध्य-तीति भावः–**क**, I स्थिरत्वादस्थिरत्वाभावेन स्वावयवेभ्यो भेदस्सिध्यतीति तस्य स्थैर्यं साधयति—अवयवेति II **ख.**

भावप्रकाशः

वादः। लुप्तक्रियस्य च कर्तृत्वभोक्तृत्वाक्षेपः। तदाक्षेपे चात्माक्षेपः। परिणतिस्वभावमात्रमिदं कार्यकारणमिति कल्पनम् कर्ता भोक्तेति च। तस्मादहंप्रत्ययालम्बनमात्रसिद्धौ सिद्धेऽपि बुद्धीन्द्रियशरीरव्यतिरेकिणि कर्तृत्व भोक्तृत्वे न स्तः इति मन्वानः सप्रत्यभिज्ञं प्रत्यक्षमुपन्यस्तवान् भाष्यकारः। अत एव च नैरात्म्यवादिनो मुहुर्मुहुः क्षणिकतामकिञ्चित्करतां चापादयन्त्यात्मनः;—

चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्समः।

इति। तस्माद्भोक्तृतैवात्मेति। युक्तं 'भोक्तृतैवात्मेति' इति; 'तस्मात् सुष्ठूच्यते कर्तृभोक्तृतैवात्मेति। तस्मादुपपन्नोऽयं ग्रन्थः अहमिदमदर्शमिति' इति समाहितम्। वार्तिके तु;—

स्मरणप्रत्यभिज्ञाने भवेतां वासनावशात्।
अन्यार्थविषये ज्ञातुः प्रत्यभिज्ञा तु दुर्लभा ॥ १०९ ॥
अहं वेद्मीत्यहंबुद्धिर्ज्ञातारमधिगच्छति।
तत्र स्यात् ज्ञातृविज्ञानं तदाधारोऽथवा पुमान् ॥

इत्युपक्रम्य;—

तेनास्मात्प्रत्यभिज्ञानात् सर्वलोकावधारितात्।
नैरात्म्यवादबाधस्स्यात् एते च प्रतिहेतवः ॥ १३६ ॥
ह्यस्तनाहंमतिग्राह्यो ज्ञाताऽद्याप्यनुवर्तते।
अहंप्रत्ययगम्यत्वात् इदानीन्तन बोद्धृवत् ॥ १३७ ॥

इत्याद्युक्तम्। तत्र; कर्तृभोक्तृज्ञातृविषयकत्वं न प्रत्यभिज्ञाबलसिद्धम्। वासनावशादुपपत्तिश्च विषयांश इव ज्ञात्रंशेऽपि संभवति शरीरज्ञानयोगः अभिज्ञयाऽपि सूपपादः इति सा सरणिः परित्यक्ता। प्रत्याभिज्ञया स्थिरं वस्तु सिध्यति; तच्च शरीरं न भवतीति वाच्यम्; तत्र आरम्भवादे

सर्वार्थसिद्धिः

विषयः कालभेदेऽप्यभिन्न इति चात्र भाव्यम् । अन्यथा पाण्याद्यवयवच्छेदे हि तदनुभूतस्मरणं न स्यात् । अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणायोगात् । न च तदनुभववासनासंक्रमादन्योऽपि स्मरति । मात्राद्यनुभूतस्य [1] गर्भादिभिः स्मरणप्रसङ्गात् । न च संसर्गे वैषम्यं कल्प्यम् । नियामकाभावात् । वासनासंक्रमश्च पटादिषु मृगमदा[2]देर्द्रव्यस्य संक्रमः । न चेह तथा । त्वयैवानभ्युपगमात् । [3] गुणसंक्रमो न क्वचिदपि । न चात्र

आनन्ददायिनी

विनाशो—विध्वंसः । [4] भेदादिरादिशब्दार्थः । **त्वयैवानभ्युपगमादिति**—अवयवान्तरे अवयवान्तरसंक्रमाभावात्[5] सर्वत्र [6]संक्रान्तस्यावयविवत् अवयवत्वाभावादिति [7]त्वदीयटीकाग्रन्थे दर्शनादिति भावः । ननु संस्काररूपवासनायाः संक्रमोऽस्त्वित्यत्राह—**गुणेति** ।

भावप्रकाशः

प्रतिक्षणं शरीरभेदाङ्गीकारेण वासनावशादुपपत्तेर्दूषयिष्यमाणतया शरीरविषयकत्वमस्या न संभवतीति तया शरीरातिरिक्तात्मसिद्धिस्स्यात् । एवं च न्यायसूत्रभाष्यादिकमपि संगच्छते; तथाऽपि परिणामवादे शरीरातिरिक्तात्मसिद्धिर्न संभवति । इदं घटशरावादिकं पूर्वाह्णे मृत्तिकैवासीत् इति प्रत्यभिज्ञया परिणामिवस्तुन एकत्वाङ्गीकारात् । अत एव;—

शरीरे यौवनाद्याप्तिः परिणामाच्च सेत्स्यति ।
तथा हि सन्निवेशादि प्रत्यभिज्ञायते जनैः ॥

इति शब्दनित्यत्वाधिकरणे वार्तिकोक्तिस्संगच्छते । एवं य एव पूर्वं

---

1 गर्भादिस्मरण—क. ग. 2 द्रव्यसंक्रमः—क. 3 गुणसंक्रमस्तु—क. ख. घ.
4 विकारभेदादि. 5 भावादवयववत्सर्वत्र. 6 संक्रान्तं स्यादवयवत्वाभावादिति.
7 त्वदीयग्रन्थे—ख. त्वदीयग्रथितटीका—क.

भावप्रकाशः

मम देहः स्थूलः स एवाद्य कृश इति प्रत्यभिज्ञा च । तथाऽपि—'स च संस्कारकोशस्ते' इति श्लोके चार्वाकमते प्रचयापचयाभ्यां संस्कारकोशस्य प्रतिक्षणं भेद उपपादितः । एवं द्वितीयश्लोकविवरणेऽपि 'न चात्र संघातस्य भोक्तृत्वं संभवति' इत्यादौ । अतो न दोषः । यद्यपि ;—

स्थिररूपं परैरिष्टं तद्धि भूतचतुष्टयम् ।

इत्युपक्रम्य ;—

अथ क्षणिकमेवेदं परैरप्यभिधीयते ।
कथं स्वोपगमस्तेषामेवं सति न बाध्यते ॥

इति तत्वसंग्रहे शान्तरक्षितेन ; 'तेषां—चार्वाकाणां क्षणिकत्वमभ्युपगच्छताम् । स्वोपगमः—स्वसिद्धान्तः । बाध्यते—भूतानां नित्यत्वाभ्युपगमो बाध्यते' इति तद्व्याख्यायां कमलशीलेन च चार्वाकमते भूतानां नित्यत्वमेवोक्तम् ; तथाऽपि—

तस्माद्भूतविशेषेभ्यो यथा शुक्तसुरादिकम् ।
तेभ्य एव तथा ज्ञानं जायते व्यज्यतेऽथ वा ॥

इति तत्वसंग्रहपञ्जिकायां ;—'तत्र केचिद्वृत्तिकारा व्याचक्षते ; उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम् । अन्ये अभिव्यज्यत इत्याहुः । अतः पक्षद्वयमाह' इत्युक्तम् । 'एवं तेभ्यश्चैतन्यम्' इति सूत्रे पक्षभेदेन क्रियाद्वयाध्याहारः प्रमेयकमलमार्ताण्डे प्रभाचन्द्रेण दर्शितः । इत्थं च चैतन्योत्पत्तिपक्षाभिप्रायकत्वादाचार्यपादोक्तेर्न दोषः । अत एव अनित्यभूतपक्षेऽप्याचार्यीयं दूषणं सुतरां श्लिष्यति । यदाऽऽह—

देहात्सकृदुत्पन्ना धीर्यदि स्वजात्या नियम्यते ।
परतश्चेत्समर्थस्य देहस्य विरतिः कुतः ? ॥

भावप्रकाशः

इति कमलशीलोक्तिस्संगच्छते । किंच—

कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात् ।
युक्तं जायत इत्येतत्कम्बलाश्वतरोदितम् ॥

इति तत्वसंग्रहे पूर्वमुक्तम् । इदानीं तु ;—

क्षोणी तेजो जलादिभ्यो भूतेभ्यो भूतिरस्य तु ।
व्यक्तिर्वा सर्वचित्तानां यौगपद्यप्रसङ्गतः ॥

इत्युपक्रम्य 'स्थिररूपं परैरिष्टम्' इत्युच्यते । एवं च आरम्भवादे वैशेषिकादिमते परमाणूनां नित्यत्वेऽपि शरीरस्य क्षणिकत्ववत् चार्वाकमतेऽपि भूतनित्यत्वेऽपि शरीरस्य क्षणिकत्वे न दोषः ॥

एतावता विषयैक्यं साधयन्ती प्रत्यभिज्ञा शरीरातिरिक्तात्मनि प्रमाणमिति सिद्धम् । यथा वक्ष्यते न्यायपरिशुद्धौ ;—

तस्माद्विरुद्धसंसृष्टविषयप्रत्यभिज्ञया ।
स्थिरत्वमात्मनां सिद्धं बाह्यानामपि वास्तवम् ॥

इति । तदुत्तरं ;—'प्रतिसंधानमप्यात्मगोचरं प्रत्यभिज्ञाविशेष एव । योऽहमद्राक्षं स एव स्पृशामीत्येवमादिरूपत्वात्' इति न्यायपरिशुद्धिग्रन्थेन उदाहृतशाबरमपि व्याख्यातम् । एतच्च कर्त्रैक्यविषयकं प्रतिसंधानं 'कालभेदेऽप्यभिन्नः' इति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे विवक्षितम् ॥

अत एव द्वितीयस्य द्वितीयपादे 'अनुस्मृतेश्च' इति सूत्रे शङ्कराचार्यैः—'अपि च दर्शनस्मरणयोः कर्तर्येकस्मिन् प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामि' इति भाष्ये च उपलब्धुः क्षणिकतावादिबौद्धमतनिरसनपूर्वकं स्थिरत्वसमर्थनवत् ; तृतीयस्य तृतीयपादे त्रिंशाधिकरणे 'अहमिदमद्राक्षमितिचावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धत्वेन प्रत्यभिज्ञानात् स्मृत्याद्युपपत्तेश्च' इत्यनेन चार्वाकमतनिरसनमपि

भावप्रकाशः

संगच्छते । एवं भामत्यां वाचस्पतिमिश्रैरपि 'प्रत्यक्षमेवाहंप्रत्ययश्शरीरातिरिक्तमालम्बते इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधार्यते । योगव्याघ्रवत् स्वप्नदशायां च शरीरान्तरपरिग्रहाभिमानेऽप्यहंकारास्पदस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वम्' इत्युक्तम्' । 'अत्र प्रत्यक्षं—प्रत्यभिज्ञा इत्युक्तं प्रथमसूत्रे' इति कल्पतरुः । प्रथमसूत्रे सिद्धान्ते भामतीविवरणकल्पतरौ 'आत्मैक्यं प्रत्यभिज्ञार्थः । भिन्नाभ्यामेकस्य भेदस्त्वनुमानात् । तच्च शास्त्रादृते न ज्ञेयमित्यर्थः । अपरोक्षभ्रमो न यौक्तिकबाधादुच्छिद्यते' इत्युक्तम् । अत्र परिमले;—'योऽहं बाल्ये पुष्टस्स कृशोऽद्य इत्याद्युदाहृतप्रत्याभिज्ञा परिणामिविषयकतया योऽहं स्वप्ने व्याघ्रदेहः स मनुष्यदेहोऽद्य इति प्रत्याभिज्ञा बाधायां सामानाधिकरण्येन चोपपद्यते' इत्युक्तम् । एवमेव ब्रह्मविद्याभरणादावपि ॥

अत्र यद्यपि सिद्धान्तपर्यालोचनायां नात्मनि देहभेदः प्रत्यभिज्ञया सिध्यति ; किं तु शास्त्रादिति उदाहृततृतीयाध्यायभाष्यभामतीसामञ्जस्यं नैतावता सिद्धम्; तथाऽपि शास्त्रमन्तरा आनुमानिकदेहभेदज्ञानस्य अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वं न संभवतीत्येतावन्मात्रोक्तावपि शास्त्रसहकारेणानुमानस्य प्रत्यक्षस्य च अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वं विवरणोक्तमप्रतिषिद्धमनुमतमेव ॥

अत्र भामत्यां पूर्वपक्षे अहमर्थानुवर्तमानत्वानुमानं उदाहृतविवरणतत्वदीपने सिद्धान्ते सहकारिभूतयुक्तिशब्दवाच्यतर्कतया व्यवहृतमनुमानं चान्यदुक्तमित्येव भिदा । अत एवाद्वैतसिद्धौ परीक्षितप्रमाणभावेनानुमानादिना देहभेदबाधोक्तिस्संगच्छते । तृतीयाध्याये भामत्यां प्रत्यक्षातिरिक्तस्य प्रामाण्यसाधनानन्तरमेव आत्मनि शरीरभेदे प्रत्यक्षप्रमाणोपन्यासेन चायमर्थस्सूचितः । शरीरभेदस्यात्मान्यत्वमतात्विकं चेत्येकस्य

भावप्रकाशः

पक्षस्य भामत्यामुक्तावपि भामत्यामुत्तरत्र अन्तःकरणाद्युपाध्यभावस्य ब्रह्मस्वरूपत्वकथनेन शरीरभेदस्य आत्मस्वरूपत्वपक्षस्यापि वाचस्पति-संमतत्वस्य परिमले उपपादनेन तत्रापि शरीरभेदश्च स्वयंज्योतिषात्म-प्रकाशेनाभिन्नस्तत्तन्त्रो वाऽपरोक्ष एवेति विवरणोक्तैकरस्यमेव ॥

किंच 'शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदि-त्वाऽऽत्मनः परलोकसंबन्धमधिक्रियते' इति प्रथमसूत्रभाष्यव्याख्याने भामत्यां 'कर्तुर्भोक्तुरात्मनः देहाद्विवेकज्ञानमावश्यकम्' इत्युक्तम्; एवं 'तत्र देहान्तरोपभोग्यस्स्वर्गस्स्थास्यति सर्वं कार्यकारणसंघातादन्येन भोक्त्रा विना न सिध्यति' इति पञ्चपादिकायां; 'शास्त्रीये त्विति—अदृष्टार्थप्रवृत्तौ व्यतिरेकज्ञानमभ्यनुजानाति' इति विवरणेऽपि; एवं विवरणे 'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इति सूत्रावयवेन मन्त्रा-दिप्रामाण्यद्वारेण परम्परया सूत्रित एवात्मा । एवं सूत्रार्थपरम्परया भूतेऽप्यर्थे प्रामाण्यमाश्रित्य भाष्यकारेणात्मविचारः कृतः। ननु देवताधि-करणे मन्त्रादिप्रामाण्यं नास्तीत्युक्तम्? नैष दोषः; तत्र देवताया विग्रहवत्त्वे सन्निपत्योपकारकत्वप्रसङ्गात् योग्यानुपलब्धिविरोधात् कर्मणि विरोधाभिप्रायेणोक्तत्वात्; नाप्रामाण्याभिप्रायेण; अर्थवादलिङ्गानामपि तत्र द्वादशलक्षण्यां प्रमाणत्वेनोदाह्रियमाणत्वादिति' इत्यप्युक्तम्। 'अस्ति देहाद्व्यतिरिक्तस्संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे' इति भाष्यपञ्चपादिकाविवरणे 'तस्मादहमुल्लेखप्रत्यभिज्ञाभ्यां शून्यविज्ञानव्यतिरिक्त आत्मा। तथा ताभ्यामेव हेतुभ्यां मनोऽपि नात्मा नेन्द्रियाण्यप्यात्मानः' इत्युपपाद्य 'तथा शरीरमपि नात्मा शरीराकारसंसर्गशून्येऽप्यहमिति द्रष्टरि प्रत्यय-शरीरादात्मनो भेदे प्रत्यक्षप्रत्ययो भवति मम शरीरमिति च व्यति-रेकप्रत्ययात्' इत्यादिना काणोऽहमित्यादेर्भ्रमत्वमुक्त्वा 'तदेवमहमुल्लेख-

भावप्रकाशः

प्रत्यभिज्ञाभ्यां शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिशून्यव्यतिरिक्त आत्मा सिद्धः' इत्युपसंहृतम् । किं च तृतीये त्रिंशाधिकरणभाष्योपक्रमे पूर्वोत्तरकाण्ड-योरुभयोरपि देहात्मविवेकप्रतिपादनमावश्यकमित्युक्तम् ' इह देहव्यतिरि-क्तस्यात्मनस्सद्भावः समर्थ्यते बन्धमोक्षाधिकारसिद्धये । न ह्यसति देह-व्यतिरिक्तात्मनि परलोकफलाश्चोदना उपपद्येरन् ! कस्य वा ब्रह्मात्मत्व-मुपदिश्येत ? ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुक्तम् ? सत्यमुक्तं भाष्यकृता ! न तु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति । इह तु स्वयमेव सूत्रकृता तदस्तित्वमाक्षेप-पुरस्सरं प्रतिष्ठापितम् । इत एव चाकृष्य आचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम् । अत एव भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मा-स्तित्वाभिधानप्रसक्तौ ' शारीरके वक्ष्यामः ' इत्युद्धारः कृतः । इह चेदं चोदनालक्षणेषूपासनेषु विचार्यमाणेष्वात्मास्तित्वं विचार्यते कृत्स्नशास्त्र-शेषत्वप्रदर्शनाय ' इति ॥

दहराधिकरणे भाष्ये ' किंच अहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं नेदानीं तं पश्यामि इति दृष्टमेव प्रबुद्धः प्रत्याचष्टे द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति य एवाहं स्वप्नमद्राक्षं स एवाहं जागरितं पश्यामीति ' इत्यारभ्य ' न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् ' इत्याद्युक्तम् ॥

अत्र भामती ;—न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते ! अवि-नाशित्वात् ' इत्यनेन अविनाशित्वं सिद्धवद्धेतूकुर्वता सुप्तोत्थितस्यात्म-प्रत्यभिज्ञानमुक्तम् ' य एवाहं जागरित्वा सुप्तः स एवैतर्हि जागर्मीति ' इति ॥

' स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ' इति सूत्रभाष्ये ' याव-

भावप्रकाशः

देकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः' इत्युपक्रम्य 'स एवायमुपाधिः स्वापप्रबोधयोः बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम्' इत्युक्तिपर्यालोचनायां प्रत्यभिज्ञा विशिष्टविषयिणी न तु शुद्धविषयणीति प्रतीयते ॥

समन्वयाधिकरणभाष्ये वृत्तिकारमतदूषणावसरे 'तत्र किंचित् परिणामिनित्यं यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते' इत्यारभ्य 'इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं' इत्युक्तम् ॥

अत्र भामत्यां परिणामिनित्यं अपारमार्थिकं इति समर्थितम्। (१-१-१)। 'अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि प्रत्यभिज्ञानं ब्रूमः; न निष्कलङ्कचैतन्ये। तस्य मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात्' इति विवरणे (३-३-३०) भाष्ये 'अहमद्राक्षमित्यहङ्कारावच्छिन्नाया उपलब्धेः प्रत्यभिज्ञयैक्यं समर्थ्यते न शुद्धायाः' इति। भामतीकल्पतरौ च प्रत्यभिज्ञायाः अन्तःकरणविशिष्टविषयकत्वमेव न तु शुद्धविषयत्वमिति स्पष्टम्। एवं च तृतीये प्रत्यभिज्ञया चार्वाकमतनिरसनपरशङ्करभाष्यादिनापि चार्वाको न शरीरपरिणामवादीति सिद्धम्। एतेन मम देह इत्यभिज्ञाया भेदावगाहिप्रमात्वे 'पिण्डः पृथक्' इत्यादिवचनवत् 'य एवाहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एव स्थाविरे प्रणप्तृननुभवामि' इत्यादिप्रत्यभिज्ञापि तत्वदीपनोपदर्शितरीत्या अनुवृत्तत्वव्यावृत्तत्वयुक्तिविधया विनिगमकं भवतीति सूचितम्। स्थूलोऽहं इत्यादेः प्रमात्वे विनिगमकं नास्त्येव ॥

ज्ञाधिकरणे सांख्यवत् नित्यचैतन्यस्वरूप आत्मेति सिद्धान्तयद्भिः समन्वयाधिकरणदहराधिकरणादौ उपानिषद्भाष्ये च अहमर्थात्मवादिप्राचीनवृत्तिकारमतदूषणावसरे आत्मनः निर्धर्मककूटस्थनित्यत्वोपपादनेऽपि

भावप्रकाशः

प्राचीनप्रधानवृत्तिकारानुयायिनो भगवद्भाष्यकाराः पूर्वतन्त्र एवोपदर्शितरीत्या आत्मनश्शरीरादिविवेको निश्चितः स च उत्तरत्र 'नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इत्यादि सूत्रेण दृढीक्रियते(१-३-१०—११॥ ३-३-३०)। न त्वधिकरणत्रयं जीवस्य नित्यत्वसमर्थनपरम् ; प्रत्यभिज्ञायाः परिणामिनित्यविषयकत्वे शरीरस्य परिणामपक्षे शरीरविषयकत्वमुदाहृतप्रत्यभिज्ञायास्संभवतीत्यागमसहकृतयाऽपि तया न स्थूलसूक्ष्मशरीरव्यतिरेकस्सिध्यति । किंच परिणामतद्वतोर्भेदाभेदस्यातिरिक्तस्यादृष्टेः भेदे गवाश्वयोरिव सबंन्धानुपपत्तेः अभेदे परिणामानां क्षणिकत्वे तद्वतोऽपि क्षणिकत्वप्रसङ्गेन प्रत्यभिज्ञया परिणामिनित्यसाधनं क्षणिकवादिमतनिरसनमपि न संभवति। शबरादिभिः सगुणाहमर्थात्मनस्सिद्धान्तितत्वेन आत्मवादवार्तिकादौ निर्धर्मककूटस्थनिराकरणेन अपूर्वाधिकरणतन्त्रवार्तिके आत्मनानात्वमङ्गीकृत्य चैतन्यात्मकत्वाद्यविभागाच्चोपनिषत्सु ऐकात्म्यव्यवहारः इत्यात्मैकत्वनिर्धारणेन च संकोचविकासरूपस्वरूपपरिणामशून्यमेव कूटस्थनित्यं न निर्धर्मकमिति उपवर्षादीनां वृत्तिकाराणामाशयस्स्यादिति चाभिप्रयन्तः 'एक आत्मनः' (३-३) इत्याद्यधिकरणे 'अपहतपाप्मा विजरः' इत्यादिश्रुत्युक्तं 'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' इत्यधिकरणे मुक्तिकाले अभिव्यज्यते इति जैमिनिबादरायणाभ्यां यद्रूपं निर्धारितं तदेव पूर्वतन्त्रोक्तकर्मानुष्ठातॄणामनपेक्षितं उपासकानां फलतया अवश्यानुसन्धेयतयोपास्यं विवक्षितमिति समर्थयन्ते । मुक्तावपहतपाप्मत्वाद्याविर्भावः भट्टपादवार्तिकवाक्यैः शाङ्करसूत्रोपनिषद्भाष्यवाक्यैश्च वृत्तिकारसंमत इति (६४) तमे स्थापयिष्यते । शरीरात्मनोस्संबन्धः 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यभ्रान्तव्यवहारनिर्वाहश्च द्वितीयश्लोकविवरणे वक्ष्यते ।

पूर्वं जैमिनिसूत्रसूचिताभ्यां अभिज्ञाप्रत्यभिज्ञाभ्यां शरीरातिरिक्त

सर्वार्थसिद्धिः

रुमाक्षिप्त[1]काष्ठन्यायः! दुःखादेरपि तथोत्पत्तिप्रसङ्गात्। कल्प्येषु च नियामकादृष्टेः।

सर्वबोधैश्च हृत्कोशे संस्कारधानमित्यपि।
न दृष्टं न च तत्क्लृप्तौ लिङ्गं किमपि दृश्यते? ॥

आनन्ददायिनी

ननु रुमायां लवणाकरे क्षिप्तस्य काष्ठस्य तत्संसर्गाल्लवणतासंक्रान्तिवद्वासनाश्रयसंबन्धादवयवान्तरेऽपि वासनास्त्वित्यत्राह—**नचेति**। तथा सति [2]पाणौ दुःखेन संबन्धात् पदेऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्ग इत्याह—**दुःखादेरपीति**। नचातिरिक्तात्मपक्षेऽपि [3]दोषः! पाण्याद्यवच्छेदेन [4]दुःखोत्पादेऽपि पादावच्छेदेन तदुत्पादे हेत्वभावादिति भावः। ननु वासनामात्र एव रुमान्याय इत्यत्राह—**कल्प्येषु चेति**। वासनायामेवेत्यत्र नियामकादृष्टेरित्यर्थः। ननु सर्वबोधजन्यानां संस्काराणां हृदय[5]कोशवृत्तित्वादेकैकावयवनाशे प्रतिसंधानं युक्तमित्यत्राह—**सर्वबोधैश्चेति**। हृत्कोशे संस्काराधानमित्यत्र किं प्रत्यक्षं प्रमाणम्? उतानुमानम्? इति विकल्पाभिप्रायेणाद्ये दोषमाह—**न दृष्टमिति**। द्वितीयं दूषयति—**नच तत्क्लृप्ताविति**। न च स्मरणान्यथानुपपत्तिरेव प्रमाणमित्यत्राह—

भावप्रकाशः

आत्मा सिध्यति। तत्र अभिज्ञया आत्मनि शरीरातिरेकमात्रम्; प्रत्यभिज्ञया च स्थायित्वमपि सिध्यति। तद्दृढीकरणं शब्देनेति मीमांसानिष्कर्ष उक्तः। अथ श्रुत्यादिसिद्धमपि जातिस्मरणं चार्वाकैर्नाभ्युपेयते।

---

[1] काष्ठादिन्यायः—क. ख. घ. [2] दुःखे तत्संबन्धापदेऽपि त्प्रसङ्गः—ख. [3] दोषः! निमित्तयोग्यवयवावच्छेदेन ॥ १ ॥ पाण्याद्यवयवावच्छेदेन ॥ २ ॥ [4] दुखोपादेऽपि तदन्यावच्छेदेन, [5] कोशवृत्तित्वादेवैकैकावयवनाशेऽपि—ख.

तत्वमुक्ताकलापः

प्रत्येकं चेतनत्वे बहुरिह कलहः

सर्वार्थसिद्धिः

स च संस्कारकोशस्ते संघातात्मा प्रतिक्षणम् ।
[1]प्रचयापचयाभ्यां स्याद्भिन्नः [2]स्मर्तात्र को भवेत् ?

प्रत्येकचैतन्यपक्षे दूषणान्तरमाह—**प्रत्येकमिति** । अयं भावः—[3]बहूनां हि चेतनानां कार्यवशात्संहतानामपि परस्परमीर्ष्यासूयादयो दृश्यन्ते; नात्र कदाचिदपि तथा । मिथश्चैते किमर्थमुपकुर्युः ? न तावददृष्टार्थम्; त्वया तदनभ्युपगमात् । न चैकग्रामवर्तिनामिव कार्यतोऽ-

आनन्ददायिनी

स चेति । संघातात्मकत्वाभावे तस्यैव देहातिरिक्ततयेष्टसिद्धिः । अन्यथा [4]प्रचयापचयाभ्यां संभिन्नस्संघातस्स्यात् । तस्मात् स्मर्ता कोऽपि न स्यात् । ननु प्रत्येकं चेतनत्वमस्तु ; कथं बहूनां ? प्रत्येकमेकत्वादित्यत्राह—**अयं भाव इति** । **त्वयेति**—देहात्मवादित्वादित्यर्थः । त्वया तदन-

भावप्रकाशः

अत एव 'परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः' इति तदीयं सूत्रं संगच्छते । किंच परिणामपक्षे प्रत्यभिज्ञायाश्शरीरविषयकत्वं संभवतीति न ततो देहातिरिक्तात्मा सिध्यति । अत एव सुशिक्षितचार्वाकैः यावच्छरीरं स्थायी आत्मा अङ्गीक्रियते । न जन्मान्तरम् । स्पष्टं चेदं न्यायमञ्जर्याम् इति शङ्का संभवति; सा च जन्मान्तरसाधनमन्तरा न निवर्तते । तत्र 'पुराणन्यायमीमांसा' 'मीमांसान्यायविस्तरः' इत्यादौ

[1] प्रचयावचयाभ्यां—**क.** [2] स्मर्तातुको—**ख.** [3] बहूनामपि हि—**क.** [4] प्रचयापचयवतस्संभिन्न—**ख. ग.**

तत्वमुक्ताकलापः

वीतरागो न जातः ।

सर्वार्थसिद्धिः

न्योन्यमुपकारः ! क्वचिदपि देहे तादृगभिसन्धेरदर्शनात् । एक एवाहं सर्वैरवयवैर्यथार्हमधिष्ठितैः स्वात्मन उपकरोमीति सर्वेषां स्वसंवेदनसिद्धमिति । ननु स्वोपकारनिरपेक्षपरोपकर्तारः पराभ्यसूया[1]रहिताः स्वपाण्यादयः स्वहेतुशक्त्या यदृच्छातो वा सिद्धा इत्यत्राह—[2]**वीतराग** इत्यादि । **जातः**—कश्चिच्चेतनः । स च रागद्वेषादिरहितः ; तदा सर्वप्रवृत्तिनिवृत्तिभङ्गप्रसङ्ग इति भावः । आवृत्त्या अन्योऽप्यर्थः

आनन्ददायिनी

भ्युपगमादिति भाष्यप्रयोगात्साधुः । **क्वचिदपीति**—परस्परमुपकुर्यामिति प्रतिसन्धानादर्शनादित्यर्थः । प्रत्युत विरुद्धप्रतिसन्धिरित्याह—**एक एवाहमिति । तदा सर्वप्रवृत्तीति**—तद्धेतुभूतरागाद्यभावादिति

भावप्रकाशः

मीमांसासहपठिते न्यायविस्तरे अक्षपादसूत्रात्मके न वेदान्तविरोध इति बुद्धिसरे ५६१ शे श्लोके वक्ष्यते । अतस्तत्र 'वीतरागजन्मादर्शनात्' इति सूत्रविवक्षितेन 'पीताश्च विविधाःस्तनाः' इति गर्भोपनिषत्सूचितेन 'जीवापेतं वाव' इति छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये शंकराचार्यैरङ्गीकृतेन जन्मान्तरसाधनपरेण अनुमानेनाप्यात्मनि शरीरातिरेकं द्रढयति—*जातमात्रो हीत्यादि । विवरणे चरके ब्रह्मविद्याभरणेऽपि ३-३-३० एतत् स्पष्टम् । एवं तत्वसंग्रहे ;—

तदत्र परलोकोऽयं नान्यः कश्चन विद्यते ।
उपादानतदादेयभूतज्ञानादिसंततेः ॥ १८७३ ॥

---

[1] भ्यसूयादिरहिताः पाण्यादयः—**क.** दिरहिताः स्वपाण्यादयः—**ख. ग. घ.**
[2] वीतराग इति यदिजातः—**क. ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

जातमात्रो हि जन्तुः स्तन्यादिवाञ्छायुक्तस्तदर्थप्रवृत्त्या निश्चीयते। तदवस्थस्य च रागादयो भवान्तरीयसंस्कारोद्बोधमन्तरेण न युज्यन्ते।

आनन्ददायिनी

भावः। **जातमात्रो हीति**—ननु जातमात्रस्य [1]क्षुत्पिपासाबाधात्तन्निराकरणेच्छामात्रं ततो रोदनादिव्यापारः भक्षणादिव्यापारश्च नेष्टसाधन[2]ताज्ञानात्। यथा वह्न्यादिस्पर्शमात्रेण तज्जनितदुःखात् हस्तादिना संमार्जनव्यापारः। तथा च मात्रादिभिरास्ये स्तन्यादि[3]क्षारणे कृते जिह्वास्पर्शान्माधुर्यानुभवे ततो [4]निगरणम्। न तु पूर्व[5]संस्काराद्युद्बोधेष्टसाधनतास्मृतिरिति चेत् न, तर्णकादेः स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिबलात् जन्मान्तरीय[6]संस्कारोद्बोधनस्यावश्यकत्वात्। न च तत्रास्ये क्षीरादिक्षारणं मात्रा क्रियते! नचैवं गवां पदद्वयान्तराले स्तनसत्त्वस्य तत्र [7]क्षीरस्य चेत्यादिबहुसंस्कारोद्बोधकल्पनापत्तिरिति वाच्यम्; यावता विनाऽनुपपत्तिर्न शाम्यति तावतस्सर्वस्य कल्पनादिति भावः। भवान्तरीय-

भावप्रकाशः

इत्युपक्रम्य;—

अपि च स्तनपानादावभिलाषे प्रवर्तते।
उद्वेग उपघाते च सद्यो जन्मभृतामपि॥ १९४०॥

---

[1] क्षुत्पिपासामात्रात्तन्निरा—**ख.** [2] ताज्ञानं यथा—**ख.** [3] क्षारणे जिह्वा—**ख.** [4] निगरणादि—**ख.** [5] संस्कारादिष्टसाधनतादि बोधनतादिस्मृतिरितिचेत्—**ग. घ. ङ.** [6] संसारबोधन—**ग. घ. ङ.** [7] क्षीरस्य च बह्वर्थकल्पना—**ग. घ. ङ.**

तत्त्वमुक्ताकलापः

तत्संघातातिरिक्तेऽप्यवयविनि कथं तेष्वसिद्धा मतिस्स्यात् ?

सर्वार्थसिद्धिः

[1]अतश्च देहतदंशव्यतिरिक्त आत्मेति । *एवं मनुष्यादिशरीरप्राप्तिदशायामदृष्टवि[2]शेषात्पूर्वजन्मानुभवसंस्कारभेदैरेव मतिरुचिभेदाश्च युज्यन्ते । अवयविवाद†मन्वारुह्याप्याह—[3]**तत्संघातेति** । अयं भावः—अवयवगतविशेषगुणपूर्वका एव हि अवयविनि विशेषगुणास्तद्वादिभि-

आनन्ददायिनी

संस्कारवत्त्वं [4]देहाद्यतिरिक्तमात्मानं साधयतीत्याह—**अतश्चेति** । अहेतुवादस्य निरस्तत्वात् ततोऽतिरिक्तकारणाभावादिति भावः । अवयव्यनभ्युपगमात् कथमवयव्यङ्गीकार इत्यत्राह—**अवयविवादमिति** ।

भावप्रकाशः

रुदितस्तनपानादिकार्येणासौ च गम्यते ।

इत्याह शान्तरक्षितः ।

रागद्वेषादयश्चामी पटवोऽभ्यासयोगतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भवन्तः परिनिश्चिताः ॥ १९४८ ॥
इहत्याभ्यासरहिताः ते ये प्रथमभाविनः ।
को हेतुर्जन्मनस्तेषां यदि न स्याद्भवान्तरम् ? ॥ १९४९ ॥

इति शान्तरक्षिताङ्गीकृतमन्यदप्याह—*एवमित्यादि । †अन्वारुह्येति—'तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा' इति चार्वाकसूत्रे शरीरादेः संघात-

---

[1]ततश्च—ग. [2]विशेषोद्बोधितपूर्व—क. ख. ग. [3]तत्संघातेति—अवयवगत—क. ख. घ. [4]देहादिव्यतिरिक्त—ग. घ ङ.

सर्वार्थसिद्धिः

रिष्यन्ते ! [1]प्रत्यवयवं चैतन्यं च निरस्तमेव । नन्ववयवनिष्ठं चैतन्यं सूक्ष्मवर्तित्वात्सूक्ष्मम् । अवयविनिष्ठं तु स्थूलवर्तित्वात्स्थूलम् । तदेव [2]व्यवहारयति ; मैवम् ; त्रसरेणुकल्पानामपि जन्तूनां प्रवृत्तिदर्शनात् । अतोऽपि स्थूलतमानां मनुष्यमातङ्गाद्यवयवानां पृथक् स्वधीपूर्वप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न च मनुष्याद्यवयवेषु चैतन्यमनुद्भूतमिति वच्यम् ; अनुद्भूतैरुद्भूतारम्भायोगात् । यत्तु सूत्रितं सुरगुरुणा ;—*' पृथिव्यापस्तेजो

आनन्ददायिनी

प्रत्यवयवमिति—ऐक्यानुभव[3]प्रसङ्गादिनेत्यर्थः । ननु अवयवेष्वपि चैतन्यमस्त्येव ; नचैवं कलहादिप्रसङ्गः ; सूक्ष्मत्वेन व्यवहारानर्हत्वात् । तथाच अवयवचैतन्यादवयविनि चैतन्यं स्यादेवेत्याशङ्क्य त्रसरेणुकल्पेषु जन्तुषु विद्यमानसूक्ष्मचैतन्यस्य व्यवहारादिहेतुत्वदर्शनात् गजादि[4]स्थूलरूपावयवानां चैतन्यस्य व्यवहारहेतुत्वं कैमुत्यसिद्धमिति । तथैक्यानुभवविरोधकलहादिप्रसङ्गस्तदवस्थ इति परिहरति—**नन्ववयवेति** । [5]नन्ववयवचैतन्यानामभावेऽपि [6]समुदायचैतन्यं स्यादेव किण्वादिसमुदाये मदशक्तिवदिति शङ्कते—**यत्तु सूत्रितमिति** । ' अथ लोकायतं

भावप्रकाशः

त्वस्थापनादिति भावः । आत्मासिद्धिपाठक्रममनुसृत्याह —* पृथिव्याप इत्यादि । यद्यपि प्रमेयकमलमार्ताण्डे पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्वानि । तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा । तेभ्यश्चैतन्यम्' इति सूत्रपाठक्रमो दृश्यते; तथाऽपि तत्वसंग्रहपञ्चिकायां ' पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति चत्वारि तत्वानि । तेभ्यश्चैतन्यम्' इति पाठ उपात्तः; अनन्तरं तत्समुदाये

---

[1] प्रत्यवयवचै–**ख. ग. घ.** [2] व्याहारयति–**क.** [3] वकलहादिप्रस–**ग. घ.** [4] स्थूलतमावयवानां–**ख.** [5] नन्ववयवेचैतन्या–**ग. घ. ङ.** [6] समुदाये चैतन्यंस्यादेवेति–**ग. घ. ङ.**

सर्वार्थसिद्धिः

वायुरिति तत्वानि। तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्' इति। इदमपि प्रत्येकसमुदायादिविकल्पदोषोक्त्या दत्तोत्तरम्। अस्ति हि प्रत्यवयवं किण्वादीनां संसर्गविशेषे मदशक्तिः! आम्लकर्पूरादिषु विषशक्तिश्च! एतेन चूर्णहरिद्रासंसर्गजरागादयोऽपि [1]निरूढाः। *ननु चैतन्यमिति [2]न कश्चिद्गुणः; [3]या सा युष्माकं चैतन्यसामग्री सैव चैतन्य-

आनन्ददायिनी

शास्त्रम्; इत्यारभ्य [4]प्रथमपादे इति शेषः। **किण्वादिः**—यवाङ्कुरादिः बाधकत्वगादिरिति केचित्। आदिशब्देन जलादिपरिग्रहः। दृष्टान्तेऽपि प्रत्येकमवयवेष्वेव शक्तिरित्याह—**अस्ति हीति**। जम्बीररसस्य कर्पूरस्य च संसर्गे प्रत्यवयवं विषशक्तिरित्यर्थः। ननु [5]चैतन्यस्याभ्युपगमे प्रत्येकसमुदायादिविकल्पस्स्यात्; तदेव नास्ति व्यवहारादेरन्यथासिद्धत्वात्; कुतस्तत्प्रयुक्ता दोषा इत्यत्राह—**ननु चैतन्यमिति**।

भावप्रकाशः

विषयेन्द्रियसंज्ञा' इति सूत्रमुपात्तम्; अतः प्रमेयकमलमार्ताण्डे चैतन्यस्य भूतपरिणामत्वपक्षे शरीरेन्द्रियविषयगुणत्वं प्रस्तुत्य तन्निरस्य ततो निराकृतमेतत्। शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेभ्यः पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्तिः इत्याद्युपसंहारानुगुण्यार्थं सूत्रक्रममुल्लङ्घ्य समुदाय उपात्त इत्यदोषः। तेभ्यश्चैतन्यमिति सूत्रं उत्पद्यते अभिव्यज्यते इति द्विधैव व्याख्यातं प्राचीनैः। तत्सामग्रीरूपं चैतन्यमित्येतदर्थपरं तत्सूत्रमिति स्वयं तन्मतं परिष्कृत्य दर्शयति *नन्वित्यादिना।

---

[1] निर्व्यूढाः—**क.** [2] ननु न कश्चिच्चैतन्यमिति—**क. ख.** [3] यावायुष्माकं—**ख. घ.** I याऽसौ युष्माकं—**ग.** II. [4] पादशेष इति शेषः—**ख.** [5] चैतन्यस्याभ्युपगमे—**ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

पदार्थस्स्यात्। व्याहारव्यवहारयोस्तयैवोपपत्तौ मध्ये गुणविशेषकल्पने [1]गौरवादिति; तन्न; तस्याः प्रत्यक्षत्वायोगात्। प्रत्यक्षाप्रत्यक्षसमुदायो हि सर्वत्र सामग्री! [2]प्रत्यक्षश्च जानामीति बोधः। न च तद्धीरानुमानिकी!

आनन्ददायिनी

व्याहारः—उक्तिः। **व्यवहारः**—प्रवृत्तिः। **प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेति**—ननु प्रत्यक्षकारणविषया [3]जानामीति धीरस्तु; न तु समुदायविषया। नचैवं यत्किञ्चित्कारणगोचरत्वे सर्वदा घटादिकं जानामीति प्रतीतिस्स्यात्।; सर्वदा देहादेस्सत्त्वादिति वाच्यम्; सर्वदा यत्किञ्चित्कारणसत्त्वेऽपीतरातीन्द्रियकारणसमवधानकाल एव तथा धीविषयत्वात् इति चेत् न; तथाऽपि जानामीत्यनुभवविषयो यः तन्मात्रस्यैव ज्ञानत्वेन तदन्यकालेऽपि तत्त्वेन भानप्रसङ्गात्। न च पटसमवधानकाले घटत्वेन भातस्य तदन्यकाले तत्त्वेन न भानमित्यस्ति; [4]किंच जानामीति ज्ञानमपि सामग्र्यैव विषयस्य पूर्वसामग्र्या एव तथात्वे अयं घटः घटं [5]जानामीत्यातिप्रसङ्गोऽनुभवविरुद्धो दुर्वारस्स्यादिति भावः। जानामीति बोधस्य प्रत्यक्षत्वमेव नास्तीत्यत्राह—**नचेति**। अतीन्द्रियानुमानाङ्गीकारेऽपि लिङ्गाप्रति-

भावप्रकाशः

बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात्।
साधकं हृद्गतं पित्तम्; . . . ॥ (१२-१३)

इत्यष्टाङ्गहृदयादौ सूत्रस्थाने वाग्भटाद्युक्त्या;—

सर्वबोधैश्च हृत्कोशे संस्काराधानमित्यपि।
न दृष्टम्;

---

[1] गौरवादिति मैवम्—**क. ख.** [2] प्रत्यक्षं च जानामीति—**क. ख.** [3] न, तत्काले जानामि—**क. ख.** [4] किंचिज्जानामी—**ख.** [5] जानामि घटज्ञानज्ञानं जानामीत्य तिप्रसङ्गो—**ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

त्वया कथमप्यतीन्द्रियानुमानानभ्युपगमात् । प्रवृत्तिरहितदशायामपि जानामीति धीसद्भावाच्च ।

देहधातुविशेषो वा विकासो वाऽस्य कश्चन ।
ज्ञानमित्यपि वक्तुं ते न युक्तं तददर्शनात् ॥

* हृदयस्थः पित्तविशेषः प्रकाशक इति † वैद्यागमस्त्व ‡ न्यपरः ।

आनन्ददायिनी

संधानेऽपि तद्धीदर्शनान्नानुमानिकमित्याह—**प्रवृत्तीति** । ननु देहस्य धातुविशेषः—[1]पित्तधातुविशेषः तस्य पित्तस्य विकासविशेषः परिणामविशेषः चैतन्यम् । तथाच देहावयवातिरिक्तो न चैतन्याश्रय इति शङ्कते—**देहधात्विति** । तत्र प्रमाणं नास्तीति परिहरति—**तददर्शनादिति** । आगमः प्रमाणमिति पररीतिमभ्युपगम्यान्यथासिद्ध्या परिहरति—**हृदयस्थ इति** । **प्रकाशः**—प्रकाशजनकः । नन्वनुमानेन देहाद्यतिरिक्तात्मसाधनमयुक्तम्; तेन तत्प्रामाण्यस्यानभ्युपगमात् इत्य-

भावप्रकाशः

इति पूर्वोक्तिरसंगता इति मूढस्य शङ्कां प्रसङ्गादपाकर्तुमाह—* हृदयस्थ इत्यादि—† वैद्यागम इति । आयुर्वेद इति प्रसिद्धिम्;

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः । (१-४२)

इति चरकोक्तिम्;—

इदमागमसिद्धत्वात् प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।
मन्त्रवत्संप्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथंचन ॥

इत्यष्टाङ्गहृदयान्ते वाग्भटवचनं च मनसि निधाय वैद्यागम इत्युक्तिः । ‡ अन्यपर इति—बुद्धिमेधादिप्रकाशनिमित्तकारणपरः न तूपादान-

[1] पित्तादेः विकारविशेषः—ख.

भावप्रकाशः

कारणपरः। अनन्तरमेव;—'रूपालोचनतः स्मृतम्' 'दृक्स्थमालोचकम्' इति; तदुत्तरम्;—श्लेष्माणं प्रस्तुत्य 'रसबोधनात्। बोधको रसनास्थायी' इति च पित्तश्लेष्मणो रूपरसबोधनिमित्तकारणत्वाभिधानात्। अत एव चरके;—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥ (१-५५)
वायुः पित्तं कफश्चोक्तश्शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥ ५६॥
प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥ ५७॥

इति सूत्रस्थाने;—

खादयश्चेतनाषष्ठाः धातवः पुरुषस्स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥ (१-१४)
पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥ (१-१५)
भास्तमस्सत्यमनृतं वेदः कर्म शुभाशुभम्।
न स्युः कर्ता च बोद्धा च पुरुषो न भवेद्यदि॥ ३८॥
प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः॥ ५२॥
आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते॥ ५३॥
करणानि मनो बुद्धिः बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्तुस्संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च॥ ५५॥

भावप्रकाशः

नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम् ।
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किंचन ॥ ५६ ॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ॥ ७५ ॥
ज्ञस्साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा यतस्स्मृतः ।
सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः ॥ ८२ ॥
मोक्षो रजस्तमोऽभावाद्बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥ १४२ ॥

इति शारीरस्थाने पतञ्जल्युक्तिश्च संगच्छते । अत्र सगुणात्मवाद एवोक्तः न निर्गुणात्मवादः। मोक्षे रजस्तमोविरहकथनेन शुद्धसत्वसंबन्धस्सूच्यते । तत्रैव तृतीये गर्भनिरूपणं प्रक्रम्य ;—अस्ति खलु सत्वमौपपादिकं यज्जीवस्पृक् शरीरेणाभिसंबध्नाति' इत्यारभ्य 'यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति । स्मार्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धादनुवर्तते यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो जातिस्मर इत्युच्यते इति सत्वमुक्तम्' इत्यनेन पुरुषस्य जातिस्मरत्वमुपपाद्य 'आत्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः स्यादसत्स्वज्ञः ; यत्र चैतदुभयं भवति ज्ञत्वमज्ञत्वं च सविकारप्रकृतिकश्चात्मा' इत्यादिनाऽऽक्षिप्य ; 'नचात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञोऽसत्सु वा भवत्यज्ञो न ह्यसत्वः कदाचिदात्मा ! सत्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेषः'—

नात्मा ज्ञानादृते चैकं ज्ञानं किंचित्प्रवर्तते ।
तस्मात् ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा द्रष्टा कारणमेव च ॥ ३४ ॥

इत्युपसंहारात् । चतुर्थे मातृजपितृजाविकारानभिधाय 'निर्विकारः परस्त्वात्मा' इत्यादिना सत्वं शुद्धं राजसं तामसं चेति त्रिविधं निरूप्य ; पञ्चमे प्रवृत्तिनिवृत्त्युपायौ प्रस्तुत्य गर्वरूपाहङ्कारादीन् प्रवृत्त्युपायान्

भावप्रकाशः

उक्त्वा निवृत्तिरपवर्गः तत्परं प्रशान्तं तदक्षरं तद्ब्रह्म स मोक्षः इत्यादिना निवृत्त्युपायकथनानन्तरं ;—

पश्यतस्सर्व (भावान्हि) भूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते ॥ ३१ ॥
नात्मनः कारणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते ।
स सर्वकारणत्यागान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ३१ ॥

इत्युपसंहारे शुद्धसत्त्ववतो मुक्तस्येन्द्रियानधीनसर्वसाक्षात्कारकथनाच्च । सूत्रस्थान एव परलोकेषणां प्रस्तुत्य चार्वाकमतं चतुर्धा विमृश्य दूषितम् ।

मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम् ।
स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः ॥

इत्यत्र संशयः ;—

आत्मा मातुः पितुर्वा यस्सोऽपत्यं यदि संचरेत् ।
द्विविधं संचरेदात्मा सर्वो वाऽवयवेन वा ॥
सर्वश्चेत्संचरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत् ।
निरन्तरं नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चात्मनः ॥ १० ॥
विद्यात्स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत्स्वलक्षणम् ।
संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम् ॥
अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः ।
पर आत्मा स चेद्धेतुः इष्टोऽस्तु परनिर्मितिः ॥
न परीक्षा न परीक्ष्यं कर्ता कारयिता च न ।
न देवा नर्षयस्सिद्धाः कर्म कर्मफलानि च ॥
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः ।
पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः ॥

इत्यत्र दूषणम् ।

तत्वमुक्ताकलापः

संघातत्वादिभिर्वा घट इव तदचित्

सर्वार्थसिद्धिः

ये तु लोकायतमित्यत्र आयतशब्दविवक्षितमनुमानमपि *प्रत्यक्षान्तर्भावेण †तत्फलतया वा गृह्णन्ति तान्प्रत्यनुमानान्यप्याह—‡संघातत्वादिभि-

आनन्ददायिनी

त्राह—**ये त्विति**। 'अथ लोकायतं शास्त्रम्' इति [1]सूत्रं कैश्चिदेवं व्याख्यातम्;—तत्र **आयतम्**—अन्तर्गतम्। लोक्यते अनेनेति **लोकः**—प्रत्यक्षम्। तत्रान्तर्गतमनुमानमि[2]त्यर्थः। तस्मादागतं फल-

भावप्रकाशः

'द्विविधमेव खलु सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा;—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षं अनुमानं युक्तिश्च' इत्यादिना आत्मनि प्रत्यक्षोपन्यासावसरे जातिस्मरणमप्युक्त्वा चतुष्टयं निरूपितम्॥

*प्रत्यक्षान्तर्भावेणेति—एतच्च बुद्धिसरे (३८) 'अक्षैरेवानुमार्थीभवतु' इत्यत्र विशदीकरिष्यते। †तत्फलतया वेति—एतत्तत्त्वं तु बुद्धिसरे (६८)पि ज्ञेयम्। एवं तु न्यायमञ्जर्याम्;—'अत एव केचन प्रत्युत्पन्नकारणजन्यां स्मृतिमेवानुमानमुक्तवन्तः। प्रत्युत्पन्नं च कारणं कुत्रचिद्धर्मि' इत्यत्र (पृ. ११८) 'सुशिक्षिततराः प्राहुः;—द्विविधमनुमानं किंचिदुत्पन्नप्रतीति किंचिदुत्पाद्यप्रतीति' इति ईश्वराद्यनुमानं तूत्पाद्यप्रतीति॥

यत्त्वात्मेश्वरसर्वज्ञपरलोकादिगोचरम्।
अनुमानं न तस्येष्टं प्रामाण्यं तत्वदर्शिभिः॥

इत्यत्र च बोध्यम्। इमौ च पक्षौ सर्वदर्शनसंग्रहे चार्वाकदर्शने 'धूमादिज्ञानानन्तरमग्न्यादिज्ञाने प्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया' इत्यत्र संक्षिप्तौ। ‡संघातत्वादिभिरितीति—

---

[1] सूत्रेकैश्चित्—**ग. घ. ङ.**　[2] त्यर्थः। यद्वा लोकादागतं—**ग. घ. ङ.**

भावप्रकाशः

अत्र ;—

अत्र प्रतिविधिर्देहो नात्मा प्रत्यक्षबाधतः ।
न खल्वहमिदंकारावेकस्यैकत्र वस्तुनि ॥

इत्युपक्रम्य ; 'अपि च दृढ एव शरीरे विरोधिगुणापातमन्तरेण कुसुमविलेप-गन्ध इव निवर्तमानश्चैतन्यसुखादिर्न तद्गुणो भवितुमर्हति ; न खलु तद्विशेषगुणा रूपादयः तथा निवर्तन्ते ! आत्मनः परेषां च शरीरगुणाः प्रत्यक्षयोग्याः बाह्येन्द्रियग्राह्याश्च । न च तथा ज्ञानादिरिति नासौ तद्गुणः । किंच ;—

उत्पत्तिमत्त्वात् पारार्थ्यात् सन्निवेशविशेषतः ।
रूपादिमत्त्वात् भूतत्वात् देहो नात्मा घटादिवत् ॥
सच्छिद्रत्वाददेहित्वात् देहत्वान्मृतदेहवत् ।
इत्यादिसाधनैर्न्याय्यैर्निषेध्या वर्ष्मणाश्रितिः ॥

इति आत्मसिद्धि (११ पृ) सूक्तिरनुसंधेया । उदाहृतविष्णुपुराण-वचनादिष्वेते हेतवो यथासंभवमवगन्तव्याः । एतेन ;—इदमितिप्रतीति-विषयपरिष्करणेन अहम् इदम् इति प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्य-निबन्धनमिति सूचितम् । अयमहमस्मि इतीदंशब्दप्रयोगः शुद्धात्म-स्वरूपासाधारणाकारविलक्षणाकारविवक्षयेत्युत्तरत्र स्फुटीभविष्यति । अतश्च यथासंभवं उक्तैर्हेतुभिः अन्तःकरणस्यापि शरीरादिवत् विशेषण-तया विशेष्यतया वा अहंपदशक्त्युपस्थितिविषयत्वनिरसनादिकं विष्णु-पुराणविष्णुचित्तीयविवरणोक्तं सर्वं प्रतिष्ठापितं भवतीति बोध्यम् । 'ममात्मेत्यत्रापि लाक्षणिकश्शरीर एव ममकारः । यस्तु चेतनः तत्रास्म-च्छब्दो मुख्यः । न च शरीरं चेतनम् !' इति प्रकरणपञ्चिकायां शालिकानाथोक्तमयुक्तम् । लक्षणाकल्पनस्यानुभवविरोधेनानुचितत्वात् । स्वः आत्मा स्वकीयः आत्मा मदीयः आत्मा इत्यादितोऽविशेषान्ममा-त्मेत्यस्य । सर्वत्र सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतस्सति

सर्वार्थसिद्धिः

रिति । तदिति वर्ष्मपरामर्शः । **अचित्**—न चैतन्याश्रय इत्यर्थः । विमतमचेतनं संघातत्वात् घटवत् [1]आदिशब्दात् बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् भूतत्वात् रूपवत्त्वादित्यादीनां ग्रहणम् । तथा विगीता धीः [2]चैत्रव्यतिरिक्ताश्रया [3]धीत्वात् मैत्रधीवदिति । न चैषां प्रत्यक्षबाधश्शङ्क्यः ! देहात्मबोधस्या-

आनन्ददायिनी

तया ; प्रत्यक्षगृहीतव्याप्तिकमनुमानमपि प्रमाणमेव । [4]शास्त्रम्—शासनस्य प्रत्यक्षादेः प्रयोजकमित्यर्थः । [5]भवानन्दादयस्तु लोकस्यायतं—विस्तारः इत्याहुः । तथाच अनुमानादेरपि प्रत्यक्षाद्यन्तर्भावेण प्रामाण्याङ्गीकारादनुमानोपन्यासो युक्त इत्याहुः । चेतनपरामर्शे नपुंसकत्वानु[6]पपत्तिमाशङ्क्याह—**तदिति । न चैतन्याश्रय इति** । चेतते जानातीति चित् चैतन्याश्रयः । अचित्—चिद्भिन्नः । न चैतन्याश्रय इत्यर्थः । **विमतमिति**—ननु सिद्धान्ते विमतमचेतनं संघातत्वात् परमाणुवदिति तुल्यः प्रयोग इति चेत्; देहातिरिक्तस्यासंघातद्रव्यस्य सिद्धौ [7]धर्मिग्राहकेण चेतनतयैव सिद्धेः तदसिद्धावाश्रयासिद्धिरिति न तुल्यतेति ध्येयम् । आदिशब्देन जन्यत्वात् विनाशित्वात् स्पर्शवत्त्वात् इत्याद्यूह्यम् । **विगीतेति**—ननु देहरूपादावपि विगीतं रूपं चैत्रपिण्डव्यतिरिक्ताश्रयं रूपत्वादित्यादिप्रसङ्ग इति चेत् मैवम्; प्रत्यक्षेण बाधितत्वात् । ननु चैवमत्रापि बाधप्रसङ्ग इत्यत्राह—**देहात्मबोधस्येति** । देहचैतन्या[8]श्रयत्वबुद्धेरित्यर्थः । नन्वन्यथासिद्धिर्न संभवति बाधकाभावादित्यत्राह—

[1] आदिशब्देन—**ग. घ.** [2] चैत्रपिण्डव्यतिरिक्त विषया—**क. घ.** [3] बुद्धित्वात् मैत्रबुद्धिवत्—**क. घ.** [4] शास्त्रं शास्त्रार्थभूतं—**ग. ख. ङ.** [5] अन्येतु—**क. ख.** [6] नुपपत्त्याऽऽह—**ग. घ. ङ.** [7] धर्मिग्राहकबाधात्तदसिद्धावाश्रयासिद्धिरिति न तुल्यः प्रयोग इति ध्येयम्—**ग. घ.** [8] श्रयबुद्धे—**ग. घ.**

भावप्रकाशः

अत्र ;—

अत्र प्रतिविधिर्देहो नात्मा प्रत्यक्षबाधतः ।
न खल्वहमिदंकारावेकस्यैकत्र वस्तुनि ॥

इत्युपक्रम्य ; 'अपि च दृढ एव शरीरे विरोधिगुणापातमन्तरेण कुसुमविलेपगन्ध इव निवर्तमानश्चैतन्यसुखादिर्न तद्गुणो भवितुमर्हति ; न खलु तद्विशेषगुणा रूपादयः तथा निवर्तन्ते ! आत्मनः परेषां च शरीरगुणाः प्रत्यक्षयोग्याः बाह्येन्द्रियग्राह्याश्च । न च तथा ज्ञानादिरिति नासौ तद्गुणः । किंच ;—

उत्पत्तिमत्त्वात् पारार्थ्यात् सन्निवेशविशेषतः ।
रूपादिमत्त्वात् भूतत्वात् देहो नात्मा घटादिवत् ॥
सच्छिद्रत्वाददेहित्वात् देहत्वान्मृतदेहवत् ।
इत्यादिसाधनैर्न्याय्यैर्निषेध्या वर्ष्मणश्चितिः ॥

इति आत्मसिद्धि (११ पृ) सूक्तिरनुसंधेया । उदाहृतविष्णुपुराणवचनादिष्वेते हेतवो यथासंभवमवगन्तव्याः । एतेन ;—इदमितिप्रतीतिविषयपरिष्करणेन अहम् इदम् इति प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयवैलक्षण्यनिबन्धनमिति सूचितम् । अयमहमस्मि इतीदंशब्दप्रयोगः शुद्धात्मस्वरूपासाधारणाकारविलक्षणाकारविवक्षयेत्युत्तरत्र स्फुटीभविष्यति । अतश्च यथासंभवं उक्तैर्हेतुभिः अन्तःकरणस्यापि शरीरादिवत् विशेषणतया विशेष्यतया वा अहंपदशक्त्युपस्थितिविषयत्वानिरसनादिकं विष्णुपुराणविष्णुचित्तीयविवरणोक्तं सर्वं प्रतिष्ठापितं भवतीति बोध्यम् । 'ममात्मेत्यत्रापि लाक्षणिकश्शरीर एव ममकारः । यस्तु चेतनः तत्रास्मच्छब्दो मुख्यः । न च शरीरं चेतनम् !' इति प्रकरणपञ्चिकायां शालिकानाथोक्तमयुक्तम् । लक्षणाकल्पनस्यानुभवविरोधेनानुचितत्वात् । स्वः आत्मा स्वकीयः आत्मा मदीयः आत्मा इत्यादितोऽविशेषान्ममात्मेत्यस्य । सर्वत्र सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतस्सति

सर्वार्थसिद्धिः

रिति । तदिति वर्ष्मपरामर्शः । **अचित्**—न चैतन्याश्रय इत्यर्थः । विमतम-चेतनं संघातत्वात् घटवत् [1] आदिशब्दात् बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् भूतत्वात् रूपवत्त्वादित्यादीनां ग्रहणम् । तथा विगीता धीः [2] चैत्रव्यतिरिक्ताश्रया [3] धीत्वात् मैत्रधीवदिति । न चैषां प्रत्यक्षबाधश्शङ्क्यः ! देहात्मबोधस्या-

आनन्ददायिनी

तया ; प्रत्यक्षगृहीतव्याप्तिकमनुमानमपि प्रमाणमेव । [4]**शास्त्रम्**—शास-नस्य प्रत्यक्षादेः प्रयोजकमित्यर्थः । [5]भवानन्दादयस्तु लोकस्यायतं—विस्तारः इत्याहुः । तथाच अनुमानादेरपि प्रत्यक्षाद्यन्तर्भावेण प्रामाण्या-ङ्गीकारादनुमानोपन्यासो युक्त इत्याहुः । चेतनपरामर्शे नपुंसकत्वानु[6]पपत्तिमाशङ्क्याह—**तादिति । न चैतन्याश्रय इति** । चेतते जानातीति चित् चैतन्याश्रयः । अचित्—चिद्भिन्नः । न चैतन्याश्रय इत्यर्थः । **विमतमिति**—ननु सिद्धान्ते विमतमचेतनं संघातत्वात् परमाणुवदिति तुल्यः प्रयोग इति चेत्; देहातिरिक्तस्यासंघातद्रव्यस्य सिद्धौ [7]धर्मि-ग्राहकेण चेतनतयैव सिद्धेः तदसिद्धावाश्रयासिद्धिरिति न तुल्यतेति ध्येयम् । आदिशब्देन जन्यत्वात् विनाशित्वात् स्पर्शवत्त्वात् इत्याद्यूह्यम् । **विगीतेति**—ननु देहरूपादावपि विगीतं रूपं चैत्रपिण्डव्यतिरिक्ताश्रयं रूपत्वादित्यादिप्रसङ्ग इति चेत् मैवम्; प्रत्यक्षेण बाधितत्वात् । ननु चैवमत्रापि बाधप्रसङ्ग इत्यत्राह—**देहात्मबोधस्येति** । देहचैतन्या-[8]श्रयत्वबुद्धेरित्यर्थः । नन्वन्यथासिद्धिर्न संभवति बाधकाभावादित्यत्राह—

---

[1] आदिशब्देन—**ग. घ.** [2] चैत्रपिण्डव्यतिरिक्त विषया—**क. घ.** [3] बुद्धि-त्वात् मैत्रबुद्धिवत्—**क. घ.** [4] शास्त्रं शास्त्रार्थभूतं—**ग. ख. ङ.** [5] अन्येतु—**क. ख.** [6] नुपपत्त्याऽऽह—**ग. घ. ङ.** [7] धर्मिग्राहकबाधात्तदसिद्धावाश्रयासिद्धिरिति न तुल्यः प्रयोग इति ध्येयम्—**ग. घ.** [8] श्रयबुद्धे—**ग. घ.**

तत्वमुक्ताकलापः

स्यान्ममात्मेत्यगत्या ॥ १ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

न्यथासिद्धिसंभवात् व्यतिरेकधीप्राबल्याच्च । ननु भेदधीबलादेषां प्रत्यक्ष-विरोधः परिजिहीर्षितः । सा तु न भेदसाधिका ममात्मेत्यभेदेऽपि तद्दृष्टे-रित्यत्राह-- **स्यादिति** । अयं भावः—मम हस्तश्शरीरमित्यादि-प्रत्ययाः मम गृहमित्यादिवद्व्यक्तव्यतिरेकाः । *ममात्मेति धीस्तु †घटस्य स्वरूपमितिवत् अभेदेऽपि निर्दिष्टविशिष्टांशनिष्कर्षगोचरतया तन्मात्र-भेदस्थापिका अगत्या स्वीकृता नान्यत्रापि अतिप्रसङ्गात् इति ॥ १ ॥

आनन्ददायिनी

व्यतिरेकेति—भेदे भासमाने सत्यभेदबुद्धेरन्यथासिद्धेरावश्यकत्वादिति भावः । ननु भेदधीरेव नास्ति । येन तद्बलादभेदबुद्धेरन्यथासिद्धिरित्या-शङ्कते—**नन्विति । न भेदसाधिका**—न भेदगोचरा । नन्वगति-रुभयत्रापि समेत्यत्राह—**अयं भाव इति** । मम हस्त इत्यादिप्रत्ययो न गौण इति सिद्धम् । तत्समानयोगक्षेमत्वात् मम शरीरमित्यपि न गौणः । ममात्मेति तु न तादृश इति भावः । **निर्दिष्टेति**—ममेति शरीरविशिष्ट-निर्देशः । आत्मेति केवलस्य निष्कर्ष इत्यर्थः । तथाच विशिष्टाविशिष्ट-भेदात् वनस्याम्रवृक्ष इतिवत् भेदव्यपदेशो मुख्य इति भावः । नन्वेवं देहात्मपक्षेऽपि मम शरीरमिति व्यपदेशोऽप्युक्तविधया संगतस्स्यात् इति चेत्; अत्राहुः;—ममेत्यस्यावयवपरत्वे विनिगमकाभावेन सर्वावयव-

भावप्रकाशः

विशेष्ये बाधे इति न्यायेन रूपभेदविवक्षासंभवाच्च । अतः श्लोकवार्ति-कोक्तरीतिरेव युक्तेत्याह--*ममात्मेति धीस्तु इत्यादिना । †घटस्यस्व-रूपमितीति । इदमुपलक्षणम्;—घटस्यात्मेत्यस्य । अत एव आद्यन्त-

सर्वार्थसिद्धिः

*अथ स्यात्;–अस्ति तावत् स्थूलोऽहं जानामी[1]त्यादिधीः। तत्र स्थौल्यं शरीरस्थं ज्ञानादिकं तदन्यनिष्ठमिति दुर्विवेचम्। ममेति

आनन्ददायिनी

परामर्शे ममेत्येकत्वपरामर्शानुपपत्तेः अस्माकमिति बहुत्वपरामर्शापत्तेश्च न संगतिरिति ॥ १ ॥

स्थौल्यज्ञानयोस्सामानाधिकर[2]ण्यप्रतीतेर्बाधकाभावेन तयोस्सामानाधिकर[3]ण्याद्भेदधीरौपचारिकीति शङ्कामुत्तम्भयन् आक्षेपसंगतिमाह—**अथ स्यादिति।** एवं च व्यतिरेकधियो न प्राबल्यमिति भावः।

भावप्रकाशः

वत्सूत्रे 'एवं शिलापुत्रकस्य शरीरम् इति अनेकक्रियाविषयस्यावस्थातुरिदमेकावस्थायुक्तं शरीरमिति व्यपदेशः' इति कैयटोक्तं सङ्गच्छत इति भाव । एवं वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषायां;—तत्र 'भेदः प्रतिभासमात्रकल्पितत्वेन अध्यस्तः राहोश्शिर इतिवत्। अभेदस्तु व्यावहारिकः' इति वाचस्पतिमिश्राः। अन्ये तु उभावपि व्यावहारिकौ स्वर्णं कुण्डलम् स्वर्णस्य कुण्डलम् इति च व्यवहारात्। राहोश्शिर इत्यत्रानेकावस्थायुक्तराहोरेकावस्थायुक्तशिरसोऽवयवत्वेन तत्रापि व्यावहारिक भेद एव इति; एवं आद्यन्तवत्सूत्रे राहोश्शिर इत्यादौ षष्ठ्युपपादनाय व्यपदेशिवद्भावः इति भाष्ये उक्तम्' इति च नागेशोक्तिरिह भाव्या। एतेन अभेद एव षष्ठ्यर्थः किं न स्यात्? इति शङ्काया नावकाशः ॥ १ ॥

जानाम्यहमितीदं तु ज्ञानं नैव निवर्तते।

इत्यादिकुमारिलोक्तावप्यनुपपत्तिमाशङ्क्याह—* अथ स्यादिति।

---

[1] त्यादिप्रत्ययः–**क. ख. ग. घ.** [2] ण्य प्रवृत्तेर्बा–**क.** [3] ण्येनभेद–**क.**

सर्वार्थसिद्धिः

भेदधीश्च नाभेदधियं बाधितुमर्हति अविशेषात् । अनुमानानि च वह्न्य-नुष्णत्वानुमानवत्स्युः । तत्र निषेध्यं ह्युष्णत्वं वह्नावेव सिद्धमिति [1]चेत्; तत्रापि निषेध्यं [2]चेतनत्वं देह एव ग्राह्यम् । *न च प्रत्यक्षप्रतिपन्ने वादिविमतिमात्रात् बाधकानुमानावकाशः; अतिप्रसङ्गात् । विप्रति-पत्त्या संदेहः [3]संदेहे न्यायप्रवृत्तिस्स्यादिति चेन्न; धृष्टे कस्मिंश्चि-द्विगायति वह्नावनुष्णत्वानुमानप्रसङ्गात् । एतेन शास्त्रतोऽतिरिक्तबोधात् संदेहः ततश्चानुमानमिति निरस्तम्; तत्प्रामाण्यव्यवसायाव्यवसाययोरत्र

आनन्ददायिनी

अत एवानुमानानि दुर्बलानीत्याह—**अनुमानानि चेति । निषेध्यं चेतनत्वमिति**—स्थूलोहं जानमीति धियेति शेषः । ननु स्थूलोऽहं जानामीतिप्रत्यक्षेऽपि वादिविप्रतिपत्तेस्संशयात् न प्रत्यक्षस्य बाधक-त्वमि[4]त्याशङ्क्याह—**न चेति** । प्रत्यक्षनिर्णीतमात्रेपि तथा प्रसङ्गेन निर्णयमात्रोच्छेदस्स्यादिति भावः । ननु सर्वत्र न विप्रतिपत्तिः अतो न निर्णयमात्रोच्छेद इति शङ्कते—**विप्रतिपत्त्येति** । पुन[5]स्सर्वस्य साम्यमाह—**नेति** । ननु विप्रतिपत्त्या संशयाभावेऽपि [6]प्रमाणद्वयप्रवृत्तौ सत्प्रतिपक्षस्थल इव संशय इत्यत्राह—**एतेनेति** । एतच्छब्दार्थमाह—**तत्प्रा-माण्येति** । तत्प्रामाण्यव्यवसाये ततो निर्णयस्यैव भावात् तदव्यवसाये च प्रत्यक्षनिर्णयस्य सत्त्वात् नोभयथाऽपि संशय इत्यर्थः । ननु तदव्यव-

भावप्रकाशः

उदाहृतशाङ्करोपनिषत्सूत्रभाष्यमपि मनसि निधाय शङ्कते—*नचेति ।

[1] चेदत्रापि निषेध्यं—**क. ख. ग.** [2] चैतन्यं—**ग. घ.** [3] संदिग्धे न्यायः प्रवर्तते—**क. ख. ग.**–I -संदिग्धेन्यायप्रवृत्तिस्स्यादिति—**घ.**–II. [4] त्याशङ्काया-माह—**ग. घ. ङ.** [5] सर्वसाम्य—**क. ख.** [6] प्रामाण्यद्वय—**क. ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

सन्देहानुदयात् । *सन्दिग्धशास्त्राद्दृढप्रत्यक्षं हि बलीयः ! अन्यथा अग्नि-

आनन्ददायिनी

साये निर्णयः परं मास्तु; प्रत्यक्षप्रतिरोधकत्वं [1]स्यादित्यत्राह–**संदिग्धेति । अन्यथेति**–अविशेषादिति भावः । ननु मास्तु शास्त्रात्संदेहः प्रत्यक्षयुग-

भावप्रकाशः

ननु प्रामाण्यसन्देहाद्विषयसंशयो भवतीति शङ्कायामाह—*सन्दिग्धशास्त्रादिति । अयमाशयः—यद्यपि विज्ञानवादिना शान्तरक्षितेन तत्वसंग्रहे ;—

तदत्र परलोकोऽयं नान्यः कश्चन विद्यते ।
उपादानतदादेयभूतज्ञानादिसंततेः ॥ १८७२ ॥

इत्युपक्रम्य ;—

संततेर्नन्ववस्तुत्वान्नावस्थान्तरसंभव ।
तत्रावस्थापितो लोकः परो वा तात्विकः कथम् ? ॥ १८७६ ॥
नैव सन्ततिशब्देन क्षणास्सन्तानिनो हि ते ।
सामस्त्येन प्रकाशन्ते लाघवाय वनादिवत् ॥ १८७७ ॥
एत्कवेनावक्लृप्तत्वान्निस्स्वभावतया मता ।
तत्वान्यत्वाद्यनिर्देश्या वियत्कमलपङ्क्तिवत् ॥ १८७८ ॥

इत्युक्तम् । शाङ्करछान्दोग्योपनिषद्भाष्ये च ;—'सेयं देवता—अनेन जीवेनात्मना, इत्यत्र 'जीवो नाम देवताया आभासमात्रं बुद्ध्यादिभूतमात्रासंसर्गजनितः आदर्श इव प्रविष्टः पुरुषः प्रतिबिम्बः, इत्यादि॥

ननु वाचारम्भणमात्रश्चेज्जीवः मृषैव प्राप्तः । तथा परलोकेहलो-

---

[1] स्यादिति संशय –**क. ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

भेदधीश्च नाभेदधियं बाधितुमर्हति अविशेषात् । अनुमानानि च वह्न्यनुष्णत्वानुमानवत्स्युः । तत्र निषेध्यं ह्युष्णत्वं वह्नावेव सिद्धमिति [1]चेत्; तत्रापि निषेध्यं [2]चेतनत्वं देह एव ग्राह्यम् । *न च प्रत्यक्षप्रतिपन्ने वादिविमतिमात्रात् बाधकानुमानावकाशः; अतिप्रसङ्गात् । विप्रतिपत्त्या संदेहः [3]संदेहे न्यायप्रवृत्तिस्स्यादिति चेन्न; धृष्टे कस्मिंश्चिद्विगायति वह्नावनुष्णत्वानुमानप्रसङ्गात् । एतेन शास्त्रतोऽतिरिक्तबोधात् संदेहः ततश्चानुमानमिति निरस्तम्; तत्प्रामाण्यव्यवसायाव्यवसाययोरत्र

आनन्ददायिनी

अत एवानुमानानि दुर्बलानीत्याह—**अनुमानानि चेति । निषेध्यं चेतनत्वमिति**—स्थूलोहं जानमीति धियेति शेषः । ननु स्थूलोऽहं जानामीतिप्रत्यक्षेऽपि वादिविप्रतिपत्तेस्संशयात् न प्रत्यक्षस्य बाधकत्वमि[4]त्याशङ्कयाह—**न चेति ।** प्रत्यक्षनिर्णीतमात्रेपि तथा प्रसङ्गेन निर्णयमात्रोच्छेदस्स्यादिति भावः । ननु सर्वत्र न विप्रतिपत्तिः अतो न निर्णयमात्रोच्छेद इति शङ्कते—**विप्रतिपत्त्येति ।** पुन[5]स्सर्वस्य साम्यमाह—**नेति ।** ननु विप्रतिपत्त्या संशयाभावेऽपि [6]प्रमाणद्वयप्रवृत्तौ सत्प्रतिपक्षस्थल इव संशय इत्यत्राह—**एतेनेति ।** एतच्छब्दार्थमाह—**तत्प्रामाण्येति ।** तत्प्रामाण्यव्यवसाये ततो निर्णयस्यैव भावात् तदव्यवसाये च प्रत्यक्षनिर्णयस्य सत्त्वात् नोभयथाऽपि संशय इत्यर्थः । ननु तदव्यव-

भावप्रकाशः

उदाहृतशाङ्करोपनिषत्सूत्रभाष्यमपि मनसि निधाय शङ्कते—*नचेति ।

[1] चेदत्रापि निषेध्यं–**क. ख. ग.** [2] चैतन्यं–**ग. घ.** [3] संदिग्धे न्यायः प्रवर्तते–**क. ख. ग.**–I -संदिग्धेन्यायप्रवृत्तिस्स्यादिति–**घ.**–II. [4] त्याशङ्काया-माह–**ग. घ. ङ.** [5] सर्वसाम्य–**क. ख.** [6] प्रामाण्यद्वय–**क. ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

सन्देहानुदयात् । *सन्दिग्धशास्त्राद्दृढप्रत्यक्षं हि बलीयः ! अन्यथा अग्नि-

आनन्ददायिनी

साये निर्णयः परं मास्तु ; प्रत्यक्षप्रतिरोधकत्वं [1]स्यादित्यत्राह—**संदिग्धेति। अन्यथेति**—अविशेषादिति भावः । ननु मास्तु शास्त्रात्संदेहः प्रत्यक्षयुग-

भावप्रकाशः

ननु प्रामाण्यसन्देहाद्विषयसंशयो भवतीति शङ्कायामाह—*सन्दिग्ध-शास्त्रादिति । अयमाशयः—यद्यपि विज्ञानवादिना शान्तरक्षितेन तत्व-संग्रहे ;—

तदत्र परलोकोऽयं नान्यः कश्चन विद्यते ।
उपादानतदादेयभूतज्ञानादिसंततेः ॥ १८७२ ॥

इत्युपक्रम्य ;—

संततेर्नन्ववस्तुत्वान्नावस्थान्तरसंभव ।
तत्रावस्थापितो लोकः परो वा तात्त्विकः कथम् ? ॥ १८७६ ॥
नैव सन्ततिशब्देन क्षणास्सन्तानिनो हि ते ।
सामस्त्येन प्रकाशन्ते लाघवाय वनादिवत् ॥ १८७७ ॥
एत्कवेनावक्लृप्तत्वान्निस्स्वभावतया मता ।
तत्वान्यत्वाद्यनिर्देश्या वियत्कमलपङ्क्तिवत् ॥ १८७८ ॥

इत्युक्तम् । शाङ्करछान्दोग्योपनिषद्भाष्ये च ;—'सेयं देवता—अनेन जीवेनात्मना, इत्यत्र 'जीवो नाम देवताया आभासमात्रं बुद्ध्यादि-भूतमात्रासंसर्गजनितः आदर्श इव प्रविष्टः पुरुषः प्रतिबिम्बः, इत्यादि॥

ननु वाचारम्भणमात्रश्चेज्जीवः मृषैव प्राप्तः। तथा परलोकेहलो-

---

[1] स्यादिति संशय –**क. ख.**

भावप्रकाशः

कादि च कथं तस्य? नैष दोषः; सदात्मना सत्यत्वाभ्युपगमात् । सर्वं च नामरूपादि सदात्मनैव सत्यं विकारजातम्; स्वतस्त्वनृतमेव; वाचारम्भणं विकारो नामधेयमित्युक्तत्वात्; तथा जीवोऽपीति । यक्षानुरूपो बलिरिति हि न्यायप्रसिद्धिः! अतस्सदात्मना सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वम् । सतोऽन्यत्वे चानृतत्वमिति न कश्चिद्दोषस्तार्किकैरिहानुवक्तुं शक्यः । यथेतरेतरद्वैतवादाः स्वबुद्धिविकल्पनामात्रा अतत्वनिष्ठा इति शक्यं वक्तुम्, इत्युक्तम् ॥

आरम्भणाधिकरणतद्भाष्येऽपि—'सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये' इत्युपक्रम्य 'स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये । तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते' इत्युक्तम् ॥

तत्र पूर्वमते क्षणिकविज्ञानान्येव सत्यानि सन्ततिः परलोकः इत्यादि सर्वं तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयं मिथ्या । उत्तरमते तु एकं सत् विज्ञानमेव सत्यम् । विभिन्नं नानावस्तु परलोकः ईशः ईशितव्यः इत्यादि पूर्ववत् । तत्वतो विभिन्नस्थिरजीववादिनां अवैदिकानां जैनानां वैदिकानां मध्ये निर्गुणात्मवादिनां सांख्यानां यौगानां सगुणात्मवादिनां नैयायिकानां वैशेषिकाणां पूर्वमीमांसकानां पूर्वोत्तरमीमांसावृत्तिकाराणां च मते परलोकस्सत्यः एते सर्वेऽप्यस्मत्प्रतिपक्षाः; तथाऽपि आद्यमतद्वयेऽपि पारमार्थिकबन्धमोक्षलोकद्वयानङ्गीकारात् 'परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः' इति सूत्रमङ्गीकृतप्रायमेव । तत्र पूर्वमते शब्दस्य

भावप्रकाशः

प्रामाण्यमेव नाङ्गीक्रियते । उत्तरमते तु अखण्डार्थवाक्यातिरिक्तस्य परमार्थतत्वावेदकत्वं नाभ्युपगम्यते । निर्गुणात्मवादिनां मते ;—

तस्मान्न बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।

इति कारिकाद्युक्तादिशा अन्तःकरणस्यैव संसृतिमोक्षभागित्वेन सुशिक्षितचार्वाकेषु सुनिपुणतमास्ते भवेयुः ; तदीयपुरुषस्याजागळस्तनतुल्यत्वात् । सगुणात्मवादिनां मते च प्रलयकाले परलोकाभावेन तत्र केषांचित्पक्षे मुक्तौ सुखानुभवाभावेन च कालविशेषे एतत्सूत्रं नाङ्गीकृतम् । सर्वपक्षेष्वपि अहं सुखी इत्यादिप्रात्यक्षिकसुखाङ्गीकारेण अस्मत्सौहार्दम् । स्थूलोऽहं सुखीत्यस्य सर्वांशे प्रमात्वे विप्रतिपत्तेः । सर्वेऽप्येतेऽस्मत्प्रतिपक्षा देहभोग्येष्वेव प्रीतिविशेषं कुर्वन्तः अस्मात्सिद्धान्तं आत्मसाक्षिकं प्रकाशयन्ति । यथोक्तं पातञ्जलसूत्रे ;—' स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ २॥ ९॥ इति ॥ अत्र भाष्यम् ;— ' सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवम् भूयासम् इति ' इत्यारभ्य ' मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः ' इति । परं त्वेते परस्परविरुद्धमागमं भाषन्ते । तत्र बुद्धागमः स्याद्वादागमः वेदो वा प्रमाणम् । वेदोऽपि कस्य संमतेऽर्थे प्रमाणं इत्यत्र विनिगमकं दुर्लभम् । शब्दस्य वा शास्त्रस्य कस्यापि वा न सर्वैरभ्युपगतं प्रामाण्यमिति सान्दिग्धं शास्त्रम् । प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं सर्वाभ्युपगतम् । सर्वोऽपि लोकः अहं सुखी भवेयमिति प्रवर्तत इति दृढं प्रत्यक्षम् । ' विज्ञानघन एव ' ' न प्रेत्य संज्ञास्ति ' इत्यादिनापि संदेहश्शास्त्रे । दृढप्रत्यक्षमिति— ' नाहं पीवा ' इत्यादिशास्त्रजन्यज्ञानवतोऽपि स्थूलोऽहमित्यादिप्रतीतिर्जायत इति न शास्त्रस्य प्रत्यक्षबाधकत्वम् । शास्त्रस्य प्रत्यक्षाद्बलवत्त्वाङ्गीकारे ' तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः ' इत्यादिशास्त्रस्य ;

सर्वार्थसिद्धिः

रनुष्ण इति कस्यचिद्वाक्येनापि संदेहे अनुष्णत्वानुमानस्य निर्बाधत्व-प्रसङ्गात् । ऐक्यभेदधीभ्यामेव संदेह इति चेन्न; अग्नेर्ज्वालेति भेदधिया

आनन्ददायिनी

बलात्स्यात् इति शङ्कते—**ऐक्यभेदधीभ्यामिति** । [1] प्रत्यक्षद्वयमात्रान्न संदेहः अपि तु विरुद्धार्थ[2]ग्राहकात् । न चात्र विरुद्धार्थग्राहकः । एकेन देहे चैतन्यग्रहोऽपरेणाहमर्थभेदग्रहः । यथाऽग्निभेदग्रहेऽपि ज्वालायां नानुष्णत्वग्रह इति नानुष्णत्वसंदेहेनानुष्णत्वानुमानम्; तथाऽत्रापीति परिहरति—**नाग्नेर्ज्वालेति** । यद्यपि [3] वह्नावुष्णत्वग्रह इव ज्वालात्वावच्छेदेनापि [4] तत्तद्ग्रहोऽस्तीति युक्तं [5] तत्रोष्णत्वानुमानबाधः; अत्र तु अहन्त्वावच्छेदेन स्थूलोऽहं जानामीति [6] ज्ञानग्रह [7] इव देहत्वावच्छे-

भावप्रकाशः

'गुणवादस्तु' इति सूत्रेण गौणार्थत्वं प्रतिज्ञाय 'दूरभूयस्त्वात्' इति सूत्रेण तदुपपादनं जैमिनेरसंगतमेव स्यादिति भावः । उक्तं चाद्वैतसिद्धावपि; — 'वाक्यशेषप्रमाणान्तरसंवादार्थक्रियादिपरीक्षापरीक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्राबल्येन व्यवहारदशायामेवैतद्विरुद्धार्थग्राहिणो 'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः इत्यादेस्तद्विरोधेनामुख्यार्थत्वेऽपि' इति । 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यपरोक्षज्ञानमेव निर्विकल्पकमविद्यानिवर्तकं न परोक्षमिति वदतां मते प्रत्यक्षस्यैव प्राबल्यमास्थेयम् । वाक्यजन्यज्ञानमात्रादविद्यानिवृत्त्यनङ्गीकारेण वाक्यस्य शास्त्रस्य वा प्राबल्यकथन्ासंभवात् । 'अहं ब्रह्मास्मीतिज्ञानस्य अपरोक्षत्वं विषयायत्तं न वाक्या-

[1] प्रत्यक्षमात्रादिहसं–क. ख. घ. I प्रत्यक्षमात्रान्न सं–क.ग.ख.ङ. II. [2] र्थग्रहे. [3] वह्नयनुष्णत्वग्रह इव–ग. [4] तद्ग्रहो–क. ख. [5] तत्रानुष्णत्वानुमान–क.ख. [6] ज्ञानसंग्रह इव–क. ख. घ. [7] इवाहन्त्वाव I इवाहन्ताव II–क. ख. घ.

सर्वार्थसिद्धिः

अग्नेरुष्णत्वेऽपि केनचिद्धेतुना ज्वालानुष्णत्वानुमानप्रसङ्गात् । *सांख्याद्युक्तानुमानानि [1]त्वसाधकतमानि । पठन्ति हि ;—'संघातपरार्थत्वात्' इति । अत्र आद्ये पत्यादिशरीरैस्सिद्धसाधनता । न च तावदतिरिक्तं

आनन्ददायिनी

देन नास्तीति न तुल्यत्वम् ; तथाऽपि स्थौल्यसामानाधिकरण्येन अहात् स्थूले देहे तद्बाधादनुमानं न संभवतीति भावः । सांख्यास्तु ;—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

इति देहातिरिक्तात्म[2]साधने अनुमानान्याहुः । तानि दूषयितुमनुवदति—**सांख्येति** । शरीरं परार्थं संघातत्वात् शयनादिवत् इत्यनुमानेन देहस्य परार्थत्वे देहा[3]पेक्षया अन्यः स्वामी सिद्ध इति तदतिरिक्तात्मसिद्धिरिति । तदुक्तमाद्यमनुमानं दूषयति—**तत्राद्य इत्यादिना ।** [4]परार्थत्वे साधिते परस्ततस्सिध्यति न त्वात्मेति भावः । आदिशब्देन भृत्यशरीरस्य स्वामिशरीरप्रभृतिभिरिति विवक्षितम् । ननु शरीरं [5]स्वा-

भावप्रकाशः

यत्तं नापि शास्त्रायत्तम् ; भाषावाक्यजन्यतद्विषयज्ञानेऽपि तत्संभवात् इति। आत्मसिद्धौ सांख्योदितहेतुदूषणं विस्तरेण कृतम् ; तत्संगृह्णाति—* सांख्याद्युक्तानुमानानीत्यादिना । आत्मसिद्धौ इच्छादिगुणलिङ्गदूषणाभिधानेन तत्परित्यज्य वैशेषिकसूत्रमात्रोक्तप्राणादिकार्यलिङ्गदूषणं

---

[1] त्वसाधकानि—**क. ग.** [2] साधकानुमानान्याहुः–**क. ख.** [3]पेक्षयान्यथासिद्ध इति तदुक्तमाद्य–**क.** [4] परार्थत्वे परस्सिध्येत् नवात्मेति–**ग. घ. ङ.** [5] स्वातिरिक्तार्थ–**क.**

सर्वार्थसिद्धिः

खट्वादिदृष्टान्तेऽपि दृष्टम्! स्वाभिमतात्मपारार्थ्यसाधने त्वप्रसिद्धविशेषणः पक्षः। दृष्टान्तश्च साध्यविकलः। खट्वादौ च संहतपरार्थत्वनियमदृष्ट्या तत्रापि संहतः परः प्रसज्येत। अनवस्थाभयात्तस्यासंहतत्वकल्पनाद्वरं शरीरस्यानन्यार्थत्वकल्पनम्। एवमाधिष्ठेयत्वभोग्यत्वाभ्या-

आनन्ददायिनी

तिरिक्तात्मार्थं संघातत्वादिति प्रयोगेऽ[1]र्थान्तरतेत्याह—**स्वाभिमतेति**[2]। अत्रात्मशब्देनाहमिति प्रत्ययविषयो विवक्षितः उत देहातिरिक्तस्सः? नाद्यः; स्वातिरिक्तस्वामिदेहमादायार्थान्तरत्वात्। द्वितीये तु एतादृशसाध्यस्यैतदनुमाना[3]धीनत्वेन ततः पूर्वं तत्साध्यस्यानुपस्थितत्वात् तद्घटितसंदेहाभावेन संदिग्ध[4]साध्यकत्वरूपपक्षता न स्यात्। तथा च आश्रयासिद्धिरिति भावः। **ननु** सिद्ध्यभाववत्त्वमेव पक्षत्वमित्यत्राह—**दृष्टान्तश्चेति**। तथा च व्याप्यत्वासिद्धिरिति भावः। प्रत्युत परार्थत्वव्याप्तिवत् संघातपरार्थत्वव्याप्तिरपीति विरुद्धश्चेत्याह—**खट्वादौ चेति**। ननु संहतपरार्थत्वकल्पना नोपपद्यते; तत्कल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात्; तथा-च कस्यचित्परस्यासंहतत्वमेव कल्प्यत इति चेत्; तत्राह—**अनवस्थेत्यादि**। यदि गौरवाद्भीतिः तर्हि शरीरव्यतिरिक्तस्यैव [5]संहतस्य परार्थत्वानियमः शरी[6]रस्य तु नेत्येव [7]कल्प्यताम्! अतिरिक्तकल्पने गौरवादिति भावः। इदमधिष्ठातृसापेक्षं अधिष्ठेयत्वात् इदं भोक्तृसापेक्षं भोग्यत्वात् इत्यनुमानद्वयं दूषयितुमनुवदति—**एवमित्यादिना**। अत्र किमात्माधिष्ठातृत्वं आत्मभोग्यत्वं च हेतुतयोच्यते[8]? उत भोग्यत्वाधिष्ठे-

---

[1] गे पदार्थान्तर—**क. ग.** [2] स्वाभिमतेति—तादृशात्म I—**क.** एतादृशात्म—**ख.** [3] धीनत्वेन तदसिद्ध्या तद्घटित—**ग.** [4] साध्यघटितपक्षता—**ग.** [5] संहतत्वपरार्थत्व—**क.** [6] रस्यनेत्येव—**ग.** [7] कल्प्यतामिति तत्कल्पने गौ—**क. ख.** [8] च्येत—**क.**

सर्वार्थसिद्धिः

मधिष्ठातृभोक्तृकल्पनं चायुक्तम् । स्वाभिमतात्माधिष्ठेयत्वभोग्यत्वयोः सर्वत्रासिद्धेः साध्याविशेषाच्च । अधिष्ठेयत्वादिमात्रे हेतावाकारभेदेन स्वेनैव स्वस्य तदुभयसंभवात् । अधिष्ठेयत्वं हि कस्यचिद्व्यापारेण व्यापार्यत्वम्! तच्च स्वस्य परस्य चेति न विशेषः । भोग्यत्वमप्यनुकूलबुद्धिविषयत्वम्; तच्च स्वेनैव स्वस्य देहातिरिक्तत्वेऽप्यनुमतम् । * यच्चाहुः;— 'नेदमनात्मकं जीवच्छरीरं अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात्' इति तत्र जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वादिति †प्रसङ्गानुग्राह्यः प्रयोगः । [1]तस्मिन्न-

आनन्ददायिनी

यत्वमात्रमिति विकल्पाभिप्रायेणाद्यं दूषयति—**स्वाभिमतेति** । तथाच व्याप्यत्वासिद्धिः दृष्टान्ते साधनाभावेन व्याप्त्यग्रहात् । पक्षद्वये च संदिग्धतया स्वरूपासिद्धिमप्याह—**साध्याविशेषाच्चेति** । साध्यवत्संदिग्धत्वादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—**अधिष्ठेयत्वादिमात्रे इति** । उपपादयति—**अधिष्ठेयत्वं हीति** । स्वेन स्वस्य भोग्यत्वं परस्यापि मतमित्याह—**देहेति** । जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात् इदं निरात्मकं न भवति तथात्वे प्राणादिमत्त्वाभावप्रसङ्गादिति तर्कानुगृहीतेनानुमानेन देहातिरिक्तात्मसिद्धिरिति नैयायिकादय आहुः; तद्दूषयितुमनुभाषते—**यच्चाहुरिति** । अनेन किं स्वाभिमतात्मयोगस्साध्यते? उत आत्मशब्दवाच्यमात्रयोगः इति विकल्पमभिप्रयन् आद्यं दूषयति—**तस्मिन्निति** ।

भावप्रकाशः

वक्तुमनुवदति—*यच्चाहुः इत्यादि । तर्कस्य अनुमानानुग्राहकत्वमात्रमङ्गीक्रियते वैशेषिकादिभिः न तु जैनैरिव पृथक्प्रामाण्यमित्याह । †प्रसङ्गानुग्राह्य इति । एतच्च (६० तमे श्लोके) विवेचयिष्यते ॥

[1] अस्मिन्न—ख.

सर्वार्थसिद्धिः

प्रसिद्धविशेषणः पक्षः; [1]त्वदिष्टस्यात्मनः क्वचिदप्यसिद्धेः । आत्मशब्दवाच्ययत्किञ्चिद्योगाविवक्षायां * स्वभावयत्नादियोगात्सिद्धसाधनता ।

आनन्ददायिनी

संदेहघटितपक्षतारूपविशेषणविरहादाश्रयासिद्धिरिति भावः । व्याप्यत्वासिद्धिमप्याह—**त्वदिष्टस्यात्मन इति** । द्वितीयं दूषयति—**आत्मशब्देति**—

[2]आत्मा देहेन्द्रिये बुद्धौ स्वभावे परमात्मनि ।

इति स्वभावादीनामात्मशब्दवाच्यत्वादिति भावः । ज्ञानादिरादिशब्दार्थः । ननु [3]व्यतिरेकिणः साध्याप्रसिद्धिर्भूषणमेव व्याप्तिस्तु व्यतिरेक[4]योरेवेत्य-

भावप्रकाशः

*स्वभावयत्नादियोगादिति—एतेन प्राणापानेत्यादिसूत्राकिरणावल्याम्;—जीवच्छरीरं भोक्तृप्रयत्नवदधिष्ठितं संमूर्छनाभावे सति विकृतक्रियपवनाश्रयत्वात् भस्त्रावत्; विशिष्टनिमेषोन्मेषक्रियावत्त्वात् दारुयन्त्रवत्; शरीरावयववृद्धिक्षतभग्नसंरोहणे प्रयत्नवन्निमित्तके वृद्धित्वात् संरोहणत्वाच्च गृहकुड्यवृद्धिवत् तत्संरोहणवच्च; मनः प्रयत्नवदधिष्ठितम् गुरुत्वद्रवत्वादिकारणान्तराभावे सति गतिमत्त्वात् दारकप्रेरितपेलकवत्, इत्याद्यनुमानान्यपि प्रत्युक्तानि । तत्रैवोत्तरत्र 'भस्त्रादिषु शरीरिणोऽधिष्ठातुर्दर्शनेन विग्रहस्यापि शरीरी अधिष्ठाता स्यादित्याशङ्क्य अनवस्थाभयान्नैवमित्युक्त्या विग्रह एव प्रयत्नवानस्तु कृतं ततोऽप्यधिकेनाधिष्ठात्रेति? न; प्रतिसंघातुस्तथाभावात् । शरीरस्य

---

[1] त्वदृष्टस्या—ख. [2] आत्मायत्नेन्द्रिये बुद्धौ स्वभावे देहजीवयोः—क. ख.
[3] व्यतिरेकेण—ग. [4] योरित्यत्राह—क. ख.

सर्वार्थसिद्धिः

किंच अनेनैव हेतुना जीवच्छरीरं खपुष्पवदित्यपि साधयन्नपि दुर्वारस्स्यात् अप्रसिद्धसाधनस्यानभ्युपगमात् । [1]अस्तु किंचित् खपुष्पशब्देनोपस्थाप्यम् तदेवात्मेति चेन्न; असत आत्मत्वसाधनायोगात् । यत्किंचिन्मात्रस्य साधने च सिद्धसाधनता । विवक्षितविशेषस्य दुस्साधत्वात् । अपि च

आनन्ददायिनी

त्राह—**किंचेति** । **अस्त्विति**—खपुष्पशब्दवाच्य[2]तयापि सिध्यतो देहा[3]तिरिक्तत्वे स एवात्मेति भावः । अत्र किमसत एवात्मत्वमभिमतम्? उत सत एव कस्याचित् खपुष्पशब्द[4]वाच्यस्य? इति विकल्पमभिप्रेत्य आद्यं दूषयति—**असत इति** । तुच्छस्य चैत[5]न्याश्रयत्वासंभवादित्यर्थः । द्वितीय आह—**यत्किञ्चिदिति** । एवं व्यतिरेकिणा[6]त्मसाधने घटादावपि तत्स्यादित्याभाससाम्यमाह—**अपि चेति** ।

भावप्रकाशः

च भेदेन तथाभावानुपपत्तेः । भूतत्वकार्यत्वादिना प्रागेव तस्य चैतन्यप्रतिषेधात्' इति ग्रन्थसंदर्भे हेत्वन्तरेण साधनमपि विग्रहस्य परिणामचैतन्याभ्युपगमेनानुचितमेव । तदेतदभिसंधाय 'अनन्याधिष्ठितस्वयंवाहकयन्त्रन्यायादित्यनुपदमेव वक्ष्यति । शाबरभाष्यव्याख्यायां बृहत्यां तु 'एभिरनात्मन्यात्मबुद्धिः प्राप्नोति । सर्वप्रकारं चाज्ञानं निरसनीयम्' इत्यारभ्य 'प्राणादयः भूतधर्मा न भवन्ति अयावद्भूतभावित्वादित्याशङ्क्य; प्राणादयस्तावदयावद्भूतभावितया नैव शक्यते वक्तुम् । चलनात्मका ह्यमी । वायोश्चायं धर्मः । सर्वत्र श्वसनादिषु चलनात्मकतैवोप-

---

[1] अस्तु यत्किञ्चित्-**ग.घ.**　[2] तया सिध्यतो-**ख.**　[3] तिरिक्तत्वे स एव-**क ख.**　[4] वाच्यस्य? नाद्य इत्याह—असत इति-**क.ख.**　[5] चैतन्याश्रयासं-**ग.**
[6] त्मसाधने घटाः दैव्यवहारादिकं नास्त्यैव घटादावपि -**ग.**

सर्वार्थसिद्धिः

सर्वेषु वस्तुषु तत्तदसाधारणधर्मेण [1]सात्मकत्वं साध्यं स्यात् । विपक्षे तत्तदसाधारणधर्मविरहप्रसङ्ग इत्यनुग्राहकसिद्धेश्च । अनुपलम्भबाधादिकं तु [2]समानम् । अतोऽनन्याधिष्ठितस्वयंवाहकयन्त्रन्यायाद्विचित्रभूतपरिणतिविशेषसंभवोऽयं देहयन्त्र इति । अत्र प्रत्येकसमुदायविकल्पदौस्थ्यादिप्रागुक्तप्रबलबाधक[3]प्रतिक्षिप्तेऽपि पक्षे गाढाभिनिवेशस्य सोपपत्तिकं भेदबुद्धेरनुमानानां च बलीयस्त्वं पुनरुद्घाटयन् निष्कम्पामैक्याधियम*न्वारुह्य

आनन्ददायिनी

[4]तर्कवत्त्वाद्विशेष इत्यत आह—**विपक्षे इति । अनुपलम्भेति**—यद्यपि घटादौ व्यवहारादिकं नास्त्येव; तथापि [5]कीटविशेषादाविव तदभावेऽपि सात्मकत्वोपपत्तेः इदं वैषम्यमप्रयोजकमिति भावः । अन्याधिष्ठितत्वसाधने व्यभिचारं दर्शयन्नुपसंहरति—**अत इति** । नन्विदं सर्वमनुपपन्नं देहस्य चैतन्यपक्षे प्रत्येकसमुदायविकल्पदूषणरूपबाधकतर्कानुगृहीततया भेदबुद्धेर्बलवत्त्वात् तत्सहितत्वेनानुमानानामपि बलीयस्त्वात् कथमैक्याधियो बलवत्त्वं कथं तरां तदनुरोधेन पूर्वपक्षः? कथमिदं विहाय मानान्तरेण सिद्धान्तसाधनमित्यत्राह—**अत्र प्रत्येकेति** । इन्द्रि-

भावप्रकाशः

लभ्यते । तस्मादयावद्भूतभावित्वमसिद्धम् । सेयमनात्मन्यात्मबुद्धिः' इत्युक्तम् । *अन्वारुह्येति ;—एतेन 'स्थूलोऽहं गच्छाम्यहमित्यादिप्रत्यक्षमुदितविषयतया प्रसिद्धैव अतीतकालता व्यतिरेकानुमानभेदानामित्यानुमानकीमप्यात्मसिद्धिमश्रद्दधानाः श्रौतीमेव तां श्रोत्रियास्संगिरन्ते' इत्यात्मसिद्धिग्रन्थोऽप्यन्वारुह्येति दर्शितम्—

---

[1] सात्मकत्वं साध्यम् । विपक्षे—**क. ख.** [2] समानम् अतो—**क. ख. ग.** [3] प्रतिक्षिप्ते पक्षे—**क. ग.** [4] तर्कत्वाद्वाविशेष इत्यत- **क. ख.** [5] कीटविशेषादिवत् तद-**क. ख.**

तत्वमुक्ताकलापः

स्याद्वाऽसौ चर्मदृष्टेरयमहमिति धीः

सर्वार्थसिद्धिः

मानान्तरेण बिबाधयिषुः परेष्टं तद्बलमन्वाह—**स्याद्वेति** । [1]अन्यथा-सिद्धिसूचनाय *चर्मदृष्टेरिति मौढ्यपरम् । †अयमिति गुणाक्रियादिविशेष-

आनन्ददायिनी

यस्य [2]चर्मरूपत्वाभावात् तद्विवक्षितार्थं तद्विशेषणस्य [3]प्रयोजनं चाह—**चर्मदृष्टेरिति** । नन्वयमहामितिधीरित्यत्रायामितिधीरहमितिधीरिति [4]विव-क्षितम्? उतायमहमिति विशिष्टधीः? नाद्यः; अयमितिधियः प्रत्य-क्षत्वे देहमात्रगोचरत्वेनातिरिक्तात्मगोचरत्वे मानाभावात् । न द्वितीयः अहमितिमात्रस्यैव विशिष्टगोचरत्वे अयमि[5]त्युक्तिवैयर्थ्यमित्यत्राह—**अयमितीति** । ननु प्रत्य[6]क्षस्यान्यप्रमाणापेक्षया बलवत्त्वस्य भवद्भिरङ्गी-

भावप्रकाशः

एवमात्मा स्वतस्सिद्धयन्नागमेनानुमानतः ।
योगाभ्यासभुवा स्पष्टं प्रत्यक्षेण प्रकाश्यते ॥

इति तत्रोपसंहाराच्च ॥

*चर्मदृष्टेरिति—एतेन चर्मदर्शनकालिकप्रतीतेरेव देहविषयिण्या भ्रमत्वमभ्युपगम्यते न तु करचरणाद्यनवभासकालिकायास्तत्प्रतीतेरिति बोधितम् । †अयमहामितीत्यादि ;—स्थूलोऽहं जानामीति शङ्कितप्रतीते-र्भ्रान्तित्वोक्तौ कृशोऽहं सुन्दरोऽहमित्यादिगुणक्रियाविषयकप्रतीतिसामा-न्यस्य भ्रमत्वं नोक्तं स्यादिति तत्परित्यज्य गुणक्रियादिविशिष्टशरीर_

---

1 अन्यथा सिद्धिसाधनाय—क. ग. 2 धर्मरूपत्वा—ग. 3 प्रयोजकं—ग.
4 विवाक्षितमुताहमिति—ख. 5 त्युक्ते वैय—ग. 6 क्षस्यानुप्रमाणा—ग.

तत्त्वमुक्ताकलापः

देह एवात्मजुष्टे *निष्टप्ते लोहपिण्डे हुतवहमतिवत्

सर्वार्थसिद्धिः

विशिष्टपिण्डावमर्शः । संसर्गविशेषादयं भ्रम इति बोधयितुमात्मजुष्टत्वोक्तिः । तन्निदर्शनेन शोधयति—**निष्टप्ते इति ।** †संसर्गजत्वा-

आनन्ददायिनी

कारात्कथं शास्त्रेण बाधः ? तथात्वे बहुव्याकोपा[1]दित्यत्राह—**संभा-**

भावप्रकाशः

विषयकाहंप्रतीतिसामान्यस्य भ्रमत्वसिद्ध्यर्थं अयमहमितिधीरित्युक्तम् ; एवं 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमस्मीति' इति (८–११–१–२) सुषुप्तिप्रकरणस्थछान्दोग्यश्रुतिप्रत्यभिज्ञापनार्थं च । तेन सुषुप्तौ अहमिति बुद्धिर्वर्तत एव देहविषयिणी अयमहमस्मीतिबुद्धिरेव नास्ति देहस्य तदा प्रतिभासविरहादिति सूच्यते। अयमर्थः (६) ष्ठे स्थापयिष्यते ॥

निर्गुणात्मवादिभिस्सांख्यादिभिरन्तःकरणपुरुषविवेकाग्रहे योऽयं दृष्टान्त उपन्यस्तः स एव सगुणात्मवादिनां वृत्तिकारादीनां मते देहात्मविवेकाग्रह इत्यभिप्रेत्याह—*निष्टप्त इत्यादि । सर्वार्थसिद्धौ †संसर्गजत्वादित्यनेन निर्गुणात्मवादे आत्मनि संसर्गाभावेन दृष्टान्तासामञ्जस्यं व्यञ्जितम् । किं च वह्नावुष्णस्पर्शवदात्मनि ज्ञानस्य परमार्थतोऽङ्गीकारात् तत्संसर्गेण उष्णप्रतीतिवत् स्थूलोऽहं जानामीति प्रतीतिस्सिद्धान्ते उपपद्यते । चित एव मुख्यं ज्ञानत्वामितिमते चितः कुत्राप्यवृत्त्या न दृष्टान्तवद्दार्ष्टन्तिके उपपत्तिस्संभवति । अयमर्थश्शास्त्रदीपिकायां व्यक्तः । एतत्तात्पर्येणैव 'तदेवं चैतन्यस्वभावः परिस्फुरन्नप्ययमात्मा गम्भीरजलाशयचरमीनवत् जलसंसृष्टक्षीरवच्च न विविच्य स्फुटं च-

[1] दि प्रसङ्गा–**ग.**

तत्वमुक्ताकलापः

भेदकाख्यातिमूला । श्रुत्यर्थापत्तिभिश्च

सर्वार्थसिद्धिः

*त्संभावितान्यथासिद्धिकमैक्यप्रत्यक्षं शास्त्रेण बाधितुं शक्यामित्याशयः । [1]संसृष्टेष्वपि सर्वत्र कथं न भ्रम इत्यत्राह—**भेदकेति** । यत्र हि सामग्री तत्र कार्यं स्यादिति भावः । नन्वैक्यधीरिह दृष्टा †तदन्यथासिद्धिस्तु शङ्किता नैतावता विवक्षितसिद्धिरित्यत्राह—**श्रुतीति** ।

आनन्ददायिनी

वितेति । ननु संसर्गो न भ्रमहेतुरतिप्रसङ्गादित्यत्राह—**यत्र हीति** । असंसर्गाग्रहो न सर्वत्रेति भावः । ननु संसृष्टत्वे विशिष्टविषयकत्वं[2] तप्तलोहपिण्डवह्निन्यायेन वक्तुं शक्यते अतिरिक्तात्मसिद्धेः पूर्वं तत्संसृष्टत्वनिर्णयो नास्तीति शङ्कते—**नन्विति** । **श्रुत्येति** । ननु श्रुतिप्रामाण्यसिद्धौ तत[3]एव देहादिविलक्षण आत्मा सिद्धः ।

भावप्रकाशः

कास्तीति तदुपपादनन्यायानुगताः पूर्वानुमानभेदाः वचनानि चाद्रियन्ते' इत्यात्मसिद्ध्युक्तदृष्टान्ताकथनम् । अत्र आत्मसिद्धौ न्यायः 'अनन्यथासिद्धेन संभाव्यमानान्यथासिद्धि बाध्यम्' इति बुद्धिसरे (१३३) तमेवक्ष्यमाणो विवक्षित इति व्यञ्जयन्नाह—*संभावितान्यथासिद्धिकमिति ।

अन्यथानुपपत्तेश्च विधिनाऽऽत्मन्यपेक्षिते ।
अस्तित्वद्योतनादेतैरर्थाक्षिप्तसमर्थनम् ॥ १४० ॥

इति वार्तिकमनुसृत्याह—मूले श्रुत्यर्थापत्तिभिश्चेत्यादि ॥

†तदन्यथासिद्धिस्तु शङ्कितेति—एतेन प्रत्यक्षं न दृढमिति

---

[1] संसृष्टेष्वपि सर्वेऽपुनभ्रम—**ख**. [2] त्वमनिष्टं पिण्डवह्निन्यायेन—**ग**. [1] एवनित्यो देहादि—**ख**.

आनन्ददायिनी

तदसिद्धौ कथं तन्मूलकार्था[1]पत्तिरपीति चेत्; सत्यम्; तथाऽपि प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिर्वक्तव्येति तत्प्रदर्शनमात्रमत्र क्रियत इति भावः। श्रुत्यादि[2]भिः प्रत्यक्षबाधेऽतिप्रसङ्ग इति चेत्; अत्राहुः—प्रत्यक्षस्यैवानुपपत्तेः। न तावदिदं चाक्षुषम्; ज्ञानादीनां तदविषयत्वात्। नापि मानसं देहस्य तदगोचरत्वात्। नच स्वप्रकाशम्; तद्विशिष्टतया देह-

भावप्रकाशः

शास्त्रमेव बलीय इति दर्शितम्; तेन संदिग्धशास्त्राद्दृढप्रत्यक्षं बलीय इत्यादिपूर्वपक्षोक्तिरयुक्तेति सिद्धम्। एतच्च नायकसरे(५४)शे विशदीभविष्यति। उक्तं च शास्त्रदीपिकायां पार्थसारथिमिश्रैः;—'यद्यपि चानेन प्रकारेण शरीरात्मनोर्विस्पष्टो भेदो न सिध्येत्; तथाऽपि तावदभेदोऽपि न विस्पष्टः; मम शरीरमिति विवेकस्यापि प्रतिभासात्। तत्र संमुग्धे तत्वे श्रुतार्थापत्त्या साक्षाच्छ्रुत्या वा निर्णयः। स्वर्गकामादिश्रुतयो हि शरीरातिरिक्तं परलोकफलोपभोगयोग्यं कर्तारमन्तरेणानुपपद्यमानास्तमाक्षिपन्ति। ताभिश्चाक्षिप्तं साक्षादेवोपनिषदः समर्थयन्ति 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इत्येवमादयः' इति। अत्र यद्यपि सिद्धान्ते अर्थापत्तिरनुमानमेवेति बुद्धिसरान्ते न्यायपरिशुद्धौ स्मृत्यध्याये च स्थापयिष्यते; श्रुतितदनुपपत्तिप्रमाणकोऽयं प्रत्यगात्मा' इत्यात्मसिद्ध्युक्तिरपि न पृथक्प्रमाणत्वाभिप्राया; उपसंहारे प्रत्यक्षानुमानागमानां त्रयाणामेव . . . प्रमाणत्वाभिधानात्; तथाऽपि संदिग्धप्रत्यक्षाद्दृढं शास्त्रं बलीयः इति सिद्धान्ते श्रुत्यनुग्राहकमनुमानमपि बलीय एवेत्याश-

---

[1] पत्तिरिति—ग. [2] भ्यः प्रत्यक्ष—ग.

सर्वार्थसिद्धिः

*श्रुत्या भविता अर्थापत्तयः श्रुत्यर्थापत्तयः ताभि–श्रुतार्थापत्तिभिरिति यावत्। सन्ति हि देहान्तरानुभाव्यस्वर्गस्वाराज्यादि[1]साधन[2]विधायिन्यो यमनरकादिप्रापकश्रुतयश्च। † न च तत्रानाश्वासः; श्रुतिप्रामाण्यस्थाप-

आनन्ददायिनी

[3]स्य प्रकाशे सुषुप्तावपि स्थूलोऽ[4]हमिति प्रकाशप्रसङ्गात्। नचान्यतर-स्योपनयः तथात्वे जानामीति वा [5]स्थूल इति वा पूर्वं प्रकाशे सत्य-नन्तरं विशिष्टप्रकाशो वाच्यः; तथा च बुद्धिद्वयस्यावश्यकत्वे तयो-रसंसर्गाग्रहाद्व्यवहारसंभवे विशिष्टबुद्धिर्न कल्प्येति। ननु चाक्षुषमेव स्थौल्यज्ञानं जायते। तदेव [6]स्वप्रकाशत्वात् जानामीत्याकारमिति नोक्तदोष इति चेत्; न; तथाऽपि [7]संभाविततद्दोषमूलतयाऽप्रामाण्य-शङ्काकलङ्कितया श्रुत्यादिभिर्बाध इति भावः। ननु श्रुतयश्चार्था-पत्तयश्चेत्यर्थाङ्गीकारे श्रुतिभिरित्यनेन पौनरुक्त्यमित्यत आह—**श्रुत्या भाविता इति। सन्ति हीति** 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः' 'स्वाराज्यकामो राजसूयेन' इत्यादय इत्यर्थः। आदि-शब्देन मोक्षार्था विवक्षिताः। **नरकादीति।** 'एष ह्येवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषति' 'यो ब्राह्मणायावगुरेत तं शतेन यातयात्' इत्यादय [8]इत्यर्थः। **श्रुतिप्रामाण्येति।** जैमिनीये [9]प्रमाणाध्याये

भावप्रकाशः

येन विवृणोति *श्रुत्या भाविता इत्यादिना। †नचेत्यादि;—प्रत्यक्ष-

---

1 साधनविधयो नरकादि–क. ग. 2 विधायिन्यो नरकादि–ख. घ.
3 स्यस्वप्रकाशे–ग. 4 हमितिस्वप्रकाशे–ग. 5 स्थूलोहमिति वा–क. ख.
6 स्वप्रकाशत्वंजानामीति न तथाऽपि–ग. 7 न संगतावितरदोषमूलतया–क.
8 इत्यर्थः आदिशब्देन मोक्षार्थाविवक्षिताः–ग. 9 प्रथमाध्याये–ग.

सर्वार्थसिद्धिः

नात् । अतोऽर्थादापद्यते *देहान्तरानुयायी भोक्तास्तीति । †पश्चादिदृष्ट-

आनन्ददायिनी

प्रामाण्यसमर्थनादित्यर्थः । कथं श्रुतार्थापत्तिरित्यत्राह—**अत इति** । [1]देहान्तरानुयायिजीवाभावे स्वर्गस्वाराज्यादिसाधनत्वं श्रुतं यागादेर्नोपपद्यत इति अनुपपद्यमानं स्वर्गादिसाधनत्वं तद्योग्यं जीवं कल्पयतीति भावः । इष्टफलसाध[2]नत्वश्रुतार्थापत्तिमाह—**पश्चादीति** । अन्यथासि-

भावप्रकाशः

मात्रप्रामाण्ये स्वमातुः स्वप्रत्यक्षेण निर्णयो न संभवति एवं पितुरपि । मातुर्दुष्टत्वेऽदुष्टत्वे वा कस्याप्यप्रत्यक्षेण मातरि पितरि चानाश्वासेन मातुः पितुश्च सर्वस्वमपहृत्य तौ बहिर्निष्कास्य यावज्जीवं सुखं जीवनं चार्वाकस्यावर्जनीयमिति पितृभक्तिविहीनस्य चार्वाकस्य देहातिरिक्तात्मनि तत्पितरि परमात्मनि तत्र प्रमाणे श्रुतौ चानाश्वासेऽपि न क्षतिः श्रद्धातव्यमातृवचनादिना पितृनिर्णयादिवत् तादृशवेदमातृवचनेन देहातिरिक्तात्मतत्पितृनिर्णयादिकं युज्यते । चार्वाकस्यापि प्रवृत्तिसामान्यं प्रत्यक्षातिरिक्तप्रामाण्यानङ्गीकारे न घटते इति जयन्तोदयनादिभिः स्थापितामिति भावः । *देहान्तरानुयायीति—एतेन 'परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः' इति सूत्रं तदनुसारि सुशिक्षितचार्वाकमतं च प्रतिक्षिप्तम्; यथाऽऽह न्यायमञ्जर्यां 'आत्मशरीर' इत्यादिसूत्रे जयन्तभट्टः;—'न चास्तित्वाविनाभावी भावानां विनाशः! किं तु हेत्वन्तरनिमित्तकः। न च विनाशहेतुः प्रमातरि चिरमपि विचार्यमाणः कश्चित्कुतश्चिदवाप्यते! इत्युपक्रम्य 'आशरीरमवस्थिते तु प्रमातृतत्वे सति न फलन्त्येते परलोकापलापमनोरथाः' इति । आशरीरमवस्थितं प्रमातृतत्वमनङ्गीकुर्वतश्चिरन्तनचार्वाकस्य मतं दूषयति—†पश्चादीत्यादिना । 'न कर्म

[1] देहान्तरानुपाधि–**क.** [2] साधकत्वश्रुता–**ख.** सत्धकत्वज्ञाता–**क.**

सर्वार्थसिद्धिः

फलसाधनविधयश्च तत्तत्फलोपायदशानुवृत्तभोक्तृसापेक्षाः। नचात्र संघातस्य भोक्तृत्वम्; उपायसाधकसंघातस्योपचयादिना भिदुरस्यानुवृत्त्यसंभवात्। *अहमुपायानुष्ठाता तत्फलं भुञ्जे इति च स्वरूपतः कालतश्चाभिन्न एकः प्रतिसंधीयते। †मुक्त्युपायविधयश्च सर्वबन्धनिवृत्तिमदात्मास्थित्या-

आनन्ददायिनी

द्धिशङ्कां परिहरति—**न चेति**। तत्रोपपत्तिमाह—**उपायेति**। अन्यार्थमन्यस्य प्रवृत्त्ययोगादिति भावः। ननु[1] पुत्रादिभोगार्थं पित्रादिप्रवृत्तिर्दृश्यते इत्यत्राह—**अहमिति**। अवयवाद्युपचयापचयेन [2]भिन्नत्वेन देहस्यैक्यप्रत्ययविरोधादिति भावः। नन्विदं सर्वं स्थैर्यभ्रान्त्योपपद्यते इत्यत्राह—**मुक्तीति**। [3]तत्र तत्वज्ञानपूर्वकत्वेन [4]भ्रान्त्येति वक्तुमश-

भावप्रकाशः

कर्तृसाधनवैगुण्यात्' इति सूत्रे 'पश्वादिप्राप्तिस्तु कस्यचिदुत्तरकालेऽपि दृश्यते प्रतिग्रहादिना। तथाऽप्यस्मत्प्रपितामह एव ग्रामकामस्सांग्रहणीं कृतवान्। इष्टिसमाप्तिसमनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवापा इति' जयन्तभट्टोक्तौ कस्यचिदेव तदा फलमुक्तम्; तत्रैव कालान्तरेऽपि फलं साधितमिति भावः। *अहमुपायानुष्ठातेति—एतेन अहमर्थातिरिक्तकर्तृभोक्त्रन्यज्ञानमात्रात्मवादे प्रवृत्तिसामान्यानुपपत्तिस्सूच्यते। †मुक्त्युपायेति—जीवे बन्धस्य तात्विकस्याङ्गीकार एव मुक्त्युपायविधिरुपपद्यते न त्वन्यथेति निरूपयिष्यते। एतेन अकर्तृभोक्त्रात्मस्वरूपं न वेदान्तेषु ज्ञेयम्। किंतु 'अपहतपाप्मा' इत्यादिश्रुत्या 'ब्राह्मेण

---

[1] नन्विदं पुत्रादि–**ग.** [2] भिन्नत्वाद्देह–**ख.** [3] तत्र मुक्तिदत्वज्ञान–**ख.**
[4] भ्रान्तेर्वक्तुम–**क. ख. ग. घ.**

तत्वमुक्ताकलापः

श्रुतिभिरपि च न स्मर्वदोषोज्झिताभि-

सर्वार्थसिद्धिः

क्षेपकाः । देहात्मभेदं कण्ठोक्त्याप्याह—*श्रुतिभिरपीति । चः श्रुतिवदनन्ताः स्मृतीस्समुच्चिनोति । स्वतः प्रामाण्ये प्राप्ते बाधकासं-

आनन्ददायिनी

भ्यत्वादिति भावः । **देहात्मेति** । 'अशरीरं वाव सन्तम्' इत्यादि-श्रुतिभिरित्यर्थः । **च इति** ;—

भावप्रकाशः

जैमिनिः' 'व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वात्' इति सूत्रेण च निर्णीतमात्मस्व-रूपं इति बोधितम् । *श्रुतिभिरपीतीति—उक्तं च शङ्कराचार्यैरपि बृहदार-ण्यकभाष्योपक्रमे;—'तस्माज्जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्ट-प्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते । 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' इत्युपक्रम्य 'अस्तीत्येवोप-लब्धव्यः' इति निर्णयदर्शनात् । 'यथा च मरणं प्राप्य' इत्युपक्रम्य 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' इति च ; 'स्वयं ज्योतिः' इत्युपक्रम्य 'तं विद्या-कर्मणी समन्वारभेते पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' इति ; 'ज्ञापयि-ष्यामि' इत्युपक्रम्य 'विज्ञानमयः' इति च व्यतिरिक्तात्मास्तित्वम् ; तत्प्रत्यक्षविषयमेवेति चेन्न ; वादिविप्रतिपत्तिदर्शनात् । न हि देहान्तर-सम्बन्धिन आत्मनः प्रत्यक्षेणास्तित्वविज्ञाने लोकायतिका बौद्धाश्च नः प्रतिकूलास्स्युर्नास्त्यात्मेति वदन्तः ! न हि घटादौ प्रत्यक्षविषये कश्चि-द्विप्रतिपद्यते नास्ति घट इति ! स्थाण्वादौ पुरुषादिदर्शनान्नेति चेत् ; न ;

भावप्रकाशः

निरूपिते तदभावात् । न हि प्रत्यक्षेण निरूपिते स्थाण्वादौ विप्रतिपत्तिर्भवति! वैनाशिकास्तु;—अहमिति प्रत्यये जायमानेऽपि देहान्तरव्यतिरिक्तस्य नास्तित्वमेव प्रतिजानते। तस्मात् प्रत्यक्षविषयवैलक्षण्यात् प्रत्यक्षान्नात्मास्तित्वसिद्धिः।' इत्यादि। अत्र 'यद्यपि व्यतिरिक्तात्मास्तित्वं तदभिप्रायेणाहंधीगोचरः; तथाऽपि न सा व्यतिरेकमात्मनो गोचरयति युक्त्यागमविवेकशून्यानामहंप्रत्ययभाजां व्यतिरेकप्रत्ययप्राप्तौ विपश्चितां विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गादिति परिहरति—नेति' इत्यानन्दागिरिः। कठोपनिषदि शरीरत्वायेति—शरीरग्रहणार्थमित्यर्थः; 'शरीरस्थस्य देहिनः' इति पूर्वमुक्तेः। अत्र शरीरसम्बन्धे कर्मैव हेतुरिति 'यथाकर्म' इत्यत्र स्फुटम्। अत्र 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' इत्यादि बृहदारण्यकोपनिषदि च परसंमताविद्याया देहसंबन्धहेतुत्वनिर्णायकश्शब्दो न वर्तते वर्तते च कर्मवाची शब्दः। अतः कर्मैव देहसंबन्धे मूलमित्यनेन संदर्भेण सिद्ध्यति न परसंमताविद्या। किञ्च बृहदारण्यके स्वप्नं प्रस्तुत्य 'अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' इत्यभिधाय 'दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च' 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः' इत्यनेन स्वाप्निकफलानुवृत्त्यभावे असङ्गत्वं प्रयोजकमुक्तम्; तच्च न कर्मसंबन्धसामान्याभावः। पूर्वं परत्र कर्मसंबन्धप्रतिपादनविरोधात्। किं तु स्वाभाविककर्मसंबन्धाभावः। स्वाभाविकत्वं स्वरूपप्रयुक्तत्वम् सार्वदिकत्वं वा। अतश्च शरीरसंबन्धे कर्मैव प्रयोजकमिति। एवं छान्दोग्ये 'तद्यत्रैतत्सुषुप्तस्संप्रसन्नस्स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' इत्यत्राप्ययमर्थोऽनुसंधेयः। असङ्गत्वं संबन्धसामान्याभावरूपं न विवक्षितमित्य-

भावप्रकाशः

भिप्रेत्यैव स्वसंवेद्यज्ञानाश्रयाहमर्थात्मवादिना शबरस्वामिना बृहदारण्यके 'असङ्गो न हि सज्जते' इतिवाक्यपूर्ववाक्यखण्डमुपादाय इत्थमर्थो वर्णितः ;—'परेण नोपलभ्यत इत्यत्रापि ब्राह्मणं भवति 'अगृह्यो न हि गृह्यते' इति । परेण न गृह्यत इत्येतदभिप्रायमेतत् । कुतः ? स्वयंज्योतिष्ट्ववचनात् । अथापि ब्राह्मणं भवति ;—'अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' इति । केन पुनरुपायेनायमन्यस्मै कथ्यते इति अत्राप्युपाये ब्राह्मणं भवति ;—'स एष नेतिनेत्यात्मेति होवाचेति । असौ एवं रूप इति न शक्यते निदर्शयितुम् । यच्च परः पश्यति तत्प्रतिषेधस्तस्योपदेशोपायः । शरीरं परः पश्यति तेनात्मा उपदिश्यते शरीरं नात्मा अस्ति शरीरादन्य इति स चात्मेति शरीरप्रतिषेधेनोपदिश्यते' इति । एतेन शाबरग्रन्थेन अहमर्थस्यात्मत्वं स्थापितं भवति । 'स एष नेति नेत्यात्मा' इति श्रुतेरद्वैतपरत्वम् न संभवतीति प्रकरणपञ्चिकादौ शालिकानाथादिभिर्निरूपितम् । एतदेवाभिप्रेत्य आत्मसिद्धौ ;—'स एष नेतिनेति' इति श्रुतिः शरीरातिरिक्तात्मास्तित्वे प्रमाणतयोपन्यस्ता ॥

एवं तत्र 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' इति छान्दोग्य (६-११-३) श्रुतिरप्युदाहृता । इयं च श्रुतिरुपनिषद्भाष्ये शङ्कराचार्यैरित्थं विवृता ; 'जीवापेतं—जीववियुक्तं वाव किलेदं शरीरं म्रियते न जीवो म्रियते' इति । कार्यशेषे च सुप्तोत्थितस्य ममेदं कार्यशेषमपरिसमाप्तमिति स्मृत्या समापनदर्शनात् । जातमात्राणां च जन्तूनां स्तन्याभिलाषभयादिदर्शनाच्चातीतजन्मान्तरानुभूतस्तनपानदुःखानुभवस्मृतिर्गम्यते । अग्निहोत्रादीनां च कर्मणामर्थवत्त्वान्न जीवो म्रियत इति' इति । 'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्' (२-३-१६) इति सूत्रे इमां श्रुतिमुदाहृत्य 'स वा अयं

भावप्रकाशः

पुरुषो जायमानश्शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिस्संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः (६ ३-८) इति च शरीरसंयोगवियोगनिमित्तावेव जन्ममरणशब्दौ दर्शयति। जातकर्मादिविधानं देहप्रादुर्भावापेक्षमेव द्रष्टव्यम्' इत्यन्तग्रन्थसन्दर्भेणैतच्छ्रुत्यर्थो दृढीकृतः। 'स वा अयं' इति श्रुतिः बृहदारण्यके 'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (६-३-७) इत्यस्याः 'अत्रायं पुरुषस्स्वयं ज्योतिः' (६-३-९) इत्यस्याश्च मध्यस्था। जायमान इत्यस्य विवरणं 'शरीरमभिसंपद्यमानः' इति। 'स उत्क्रामन्' इति 'म्रियमाणः' इत्यस्य विवरणम्। 'पाप्मनो विजहाति' इति श्रुतेरन्त्यभागः शरीरसंयोगे पापफलानुभवः तद्वियोगे च तद्वियोगः। स्वयंज्योतिष आत्मनो यथावदनुभवस्य विरोधितया पुण्यमपि पापमेवेति बोध्यम्।

एतत्सूत्रभाष्यभामत्यादिपर्यालोचनायां कर्मविधिवाक्यगतब्राह्मणादिशब्दाः लक्षणया ब्राह्मणशरीरसंयुक्तजीवं बोधयन्तीति न तिरोहितं विदुषाम्। अस्यार्थस्य भ्रान्तिमूलत्वं बोधयत् सूत्रमन्यन्नैव वर्तते; अतो नास्यान्वारुह्यवादत्वं युक्तम्। जातिवाचिनश्शब्दाः व्यक्तौ लाक्षणिका इति व्यवस्थापयन्तो भट्टपादाः;—

साक्षाद्यद्यपि सम्बन्धो नात्मनो यज्ञसाधनैः।
तथाऽपि लक्षणावृत्त्या शरीरद्वारको भवेत्॥

इति आत्मवादोपक्रम एव ब्राह्मणादिशब्दा आत्मनि लाक्षणिका इति सूचयन्ति। सिद्धान्ते च आकृत्यधिकरणे विशिष्टशक्तिव्यवस्थापनेन ब्राह्मणादिशब्दानामप्यात्मनि शक्तिरेवेत्युत्तरत्र व्यक्तीभविष्यति। एवं च ब्राह्मणो जातः मृतः इत्यादेरन्यार्थत्वं 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते' इति श्रुतिः व्यवस्थापयच्छरीरातिरिक्तात्मनि प्रमाणं भवत्येव। एवमात्मसिद्धावुदाहृता 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति!

सर्वार्थसिद्धिः

भवार्थं सर्वदोषोज्झितत्वोक्तिः । *'देही नित्यमवध्योऽयं देहे'

भावप्रकाशः

अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (८-१२-१)' इति छान्दोग्यश्रुतिरपि। अत्र सशरीरत्वं शरीरसंयुक्तत्वमेव विवक्षितम्। तत्रैवोत्तरत्र 'स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवायमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः' (३) इत्यत्र आत्मनः प्राणसहचरितस्य शरीरसंयोगमभिधाय 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (४) इत्यादौ घ्राणेन्द्रियादिजन्यगन्धादिविषयकज्ञानाश्रयत्वाभिधानात्। एवमन्या अपि प्राचीनैरेव श्रुतय उदाहृता वेदितव्याः। 'विज्ञानघन एव—न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इति श्रुतेरर्थः (१७शे) वक्ष्यते। *देही नित्यमित्यादि—इदं च उपसंहारवचनम्। 'न त्वेवाहं; देहिनोऽस्मिन्' इत्युपक्रमः। अत्राहमर्थस्यात्मनः नित्यत्वं प्रतिज्ञाय तस्य पूर्वदेहवियोगोत्तरं देहान्तरसंयोगे देहसंयोगनाशेऽपि नात्मनो धर्मिणो नाशः इत्युक्तम्। अनन्तरं 'अविनाशि तु तद्विद्धि' 'अन्तवन्त इमे देहाः' 'न जायते म्रियते वा' 'वासांसि जीर्णानि' इत्यत्र तदेव स्थिरीकृत्य 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' इत्यत्र संकोचविकासात्मकस्वरूपपरिणामरूपविकारशून्यत्वरूपमविकार्यत्वं कूटस्थत्वमभिधाय 'देही नित्यम्' इत्युपसंहृतम्। आत्मनि देहसंयोगाङ्गीकारे कूटस्थत्वविरोधो नास्तीति सूचनायैव उपसंहारवचनोदाहरणम्। शङ्कराचार्यैर्गीताभाष्ये;—'देहिनोऽस्मिन्' इत्यत्र 'अविक्रियस्यैव द्वितीयतृतीयावस्थाप्राप्तिरात्मनो दृष्टा देहान्तरप्राप्तिरविक्रियस्यैवात्मनः' इति; 'अन्तवन्त इमे देहा इत्यत्र 'नित्यस्यानाशिनः इति न पुनरुक्तम्; नित्यत्वस्य द्विविधत्वाल्लोके नाशस्य च। यथा देहो भस्मीभूतोऽदर्शनं गतो नष्ट उच्यते। विद्यमानोऽपि यथा अन्यथा परिणतो

तत्वमुक्ताकलापः

देही देहान्तराप्तिक्षम इह

सर्वार्थसिद्धिः

'वासांसि जीर्णानि' *इत्यादिस्मारणाय देहीत्यादिकथनम् ।

भावप्रकाशः

व्याध्यादियुक्तो जातो नष्ट उच्यते। तत्र अनाशिनो नित्यस्येति द्विविधेनापि नाशेनासंबद्धस्येत्यर्थः । अन्यथा पृथिव्यादिवदपि नित्यत्वं स्यादात्मनः तन्माभूदिति नित्यस्यानाशिन इत्याह' इति; अविकार्योऽयमुच्यते' इत्यत्र 'यथा क्षीरं दध्यातञ्चनादिना विकार्यं भवति न तथाऽयमात्मा; निरवयवत्वाच्चाविक्रियः । न हि निरवयवं किंचिद्विक्रियात्मकं दृष्टम्! अविक्रियत्वादविकार्योऽयमात्मा उच्यते' इति विवरणेन परिणामिनित्यवैलक्षण्येनात्मनस्स्वरूपपरिणामशून्यत्वमेव कूटस्थनित्यत्वमिति बोधितम् ॥

एतेन 'अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा (६-५-१४) इति बृहदारण्यकभाष्ये 'नापि विक्रियालक्षणो नाप्युच्छेदलक्षणो विनाशोऽस्य विद्यत इत्यर्थः' इति शङ्कराचार्योक्तौ विक्रिया स्वरूपपरिणाम एवेति सिद्धम्। तेन '(२-२-११) उच्छित्तिः पूर्वावस्थानाशः धर्मोऽस्येत्युच्छित्तिधर्मा—परिणामी । स नेत्यनुच्छित्तिधर्मा—अपरिणामी' इति रत्नप्रभायां रामानन्दविवरणमपि स्वरूपपरिणामपरमेव; अन्यथा उदाहृतभाष्यानुगुण्यायोगादिति बोध्यम्। गीतायामनन्तरं 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' २-३९ 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः' 'बुद्धियुक्तो जहातीह' ५० इत्यादौ आत्मनः स्वधर्मभूतज्ञानपरिणामेनैव सुकृतदुष्कृतात्मककर्मबन्धहानिरुक्ता। 'प्रजहाति यदा कामान्' इत्यादिना ज्ञानयोगकथनावसरे 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' इत्यादिभिरप्यात्मनो ज्ञातृत्वं दृढीकृतम् । *इत्यादीत्यादिपदेन 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रं' १३—१

तत्वमुक्ताकलापः

विदितस्संविदानन्दरूपः ॥ २ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

व्यावर्तकधर्मवर्गप्रदर्शनार्थं संविदानन्दरूपतोक्तिः। रूपशब्दः स्वरूपपरः निरूपकधर्मपरो वा ॥ २ ॥

आनन्ददायिनी

पिण्डः पृथग्यतः पुंसश्शिरःपाण्यादिलक्षणः ।

[1] इत्यादिशब्दार्थः । संवित्त्वादिनाऽपि देहभेदसाधनमित्याह—**व्यावर्तकेति ।** अत्रानुमानोपन्यासो बौद्धादीन् प्रति ; श्रुत्युपन्यासो वेदप्रामाण्यवादिनं प्रतीति केचिद्याचक्षते ॥ २ ॥

भावप्रकाशः

इत्युपक्रम्य ; 'क्षेत्रं क्षेत्री' (१३–३३) इत्यादिग्रन्थसंदर्भो विवक्षितः। तत्र–

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १३–१ ॥

इत्यत्र इदमर्थपराक्तेन शरीरं अहन्त्वसामानाधिकरण्येनानुभवसिद्धवेदितृत्वेन क्षेत्रज्ञं भेदेन निर्दिश्य ; 'सर्वेन्द्रिय' 'असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च' (१४–२) इत्यत्र जीवस्य वेदितृत्वाङ्गीकारे असङ्गश्रुतेः निर्गुणश्रुतेश्च सामरस्यमभिधाय; 'अविभक्तम्' 'भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च' (१६–२) इत्यत्र वेदितृत्वातिरिक्तैरपि हेतुभिरात्मानं शरीराद्भिन्नं निश्चित्य; 'यावत्संजायते किंचित्' 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' (२६) इत्यत्र शरीरात्मनोस्संयोगात् स्थावरजंगमोत्पत्तिमुक्त्वा ;

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।

---

[1] इत्याद्याः । संबित्त्वादि–क. ख.

भावप्रकाशः

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते (३१) ॥

इत्यत्र उत्पत्त्याख्यस्वरूपपरिणामशून्यत्वेनैकेन हेतुना नाशाख्यस्वरूपपरिणामशून्यत्वं पूर्वप्रस्तुतसत्वादिगुणशून्यत्वेनापरेण हेतुना शरीरसंयुक्तस्याप्यात्मनः स्वाभाविकरूपेण सुखदुःखानुभवसाधनभूतक्रियाश्रयत्वरूपं कर्तृत्वं तत्फलदेहस्वभावलेपश्च नास्तीत्यभिधाय ;

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

इत्यत्र तत्वतस्सर्वसंयुक्तस्याकाशस्येव देहे सर्वत्र तत्वतस्संयुक्तस्याप्यात्मनः स्वसंयुक्तवस्तुस्वभावैरलेपमुपपाद्य ;

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

इत्यत्र सूर्यस्य तत्वतः स्वप्रभाद्वारा सर्वलोकसंयोगेन प्रकाशकत्वं यथा तथा आत्मनः धर्मभूतज्ञानद्वारा देहे सर्वावयवसंयोगेन प्रकाशकत्वमित्युपसंहारेण शरीरावयवानां संघातात्मकानां शरीरस्य च न वेदितृत्वं किं तु तत्वतः धर्मभूतज्ञानद्वारा शरीरसंयुक्तस्यात्मनः क्षेत्रज्ञत्वं क्षेत्रवेदितृत्वरूपमित्युपक्रमोक्तार्थस्थापनेन शरीरात्मनोर्भेदः प्रतिष्ठापितः ॥

सूत्रकारश्च 'अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत्' इति सूत्रे तात्विकज्योतिरादिसंयोगवत् तात्विकदेहसम्बन्धं अनुज्ञापरिहारप्रयोजकं वदन् 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादौ तात्विकब्राह्मणादिशरीरसम्बन्धं यागादेः प्रयोजकमित्यावेदयति । एवं देहयोगाद्वा सोऽपि (३-२) इत्यत्रापि । यद्यपि बाह्यार्थमपलपद्भिः शान्तदेववसुबन्धुप्रभृतिभिः शङ्कराचार्येभ्योऽपि प्राचीनैर्नैरात्म्यवादिभिः परमाणुनिराकरणदशायां निरंशस्य संयोगो न दृष्ट इति न संभवतीत्युक्तम् ; तथाऽपि निरवयवसंयोगस्य

भावप्रकाशः

प्रत्यक्षासंभवेऽपि यैव श्रुतिः शरीरातिरिक्तमात्मानं तत्वतो ज्ञापयति सैव शरीरात्मनोस्संयोगमपि ज्ञापयति। तत्र वैदिकैरेकत्रानभ्युपगमे निदानं न पश्यामः; आत्मन इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षानङ्गीकारेण तद्विषयविसजातीयत्वात्। अत एव आनुमानिकं तमङ्गीकुर्वन्ति निर्गुणात्मवादिनस्साङ्ख्याः। यथोक्तमीक्षत्यधिकरणशङ्करभाष्ये;—'प्रधान पुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते' इति। सांख्यतत्वविभाकरे (१) 'वंशीधरमिश्रोऽपि असङ्गश्रुतिसंकोचेन प्रकृतिपुरुषसंयोगं समर्थयन् (६) 'प्रकृतिपुरुषतत्संयोगा नित्यानुमेयाः' इति प्राचामुक्तिं प्रमाणयति। एवं च; 'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं........॥२०॥ 'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगः'........॥२१॥ 'इतीश्वरकृष्णकारिकापि स्वरसतस्संगच्छते। विज्ञानभिक्षुश्च सांख्यप्रवचनभाष्ये;–'निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गश्रुतेः'। (६-१०) 'निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा' (१-१४६) 'अहङ्कारः कर्ता न पुरुषः' (६-५४) इत्यत्र आत्मानं ज्ञानादिधर्मशून्यं वदन्नपि; 'शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्' इत्युपक्रम्य 'अधिष्ठानाच्चेति' (१—१४२) इति सूत्रे अधिष्ठानं हि भोक्तुस्संयोगः; संयोगश्च भेदे सत्येव भवति' इति कथयन् 'देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्' (६—२) 'षष्ठीव्यपदेशादपि' (२) इत्यत्र ममेदं शरीरं ममेयं बुद्धिः इत्यादेर्विदुषां षष्ठीव्यपदेशादपि देहादिभ्य आत्मा भिन्नः' इत्युपक्रम्य 'त्वं किमेतच्छिरः' 'कोऽहमित्यत्र निपुणः' इति वचनान्युदाहृत्य स्थूलोऽहमित्यादेर्बाधितत्वम्; 'न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात्' (४) इत्यत्र ममेदं शरीरमित्यस्यागौणत्वं च व्यवस्थापयन् असङ्गश्रुतेर्निर्गुणश्रुतेश्च सङ्कोचमङ्गीचकार। ज्ञानादीनामन्तःकरणपरिणामत्ववादिनस्साङ्ख्याः अतिसुशिक्षितचार्वाका एवेति पूर्वं

भावप्रकाशः

'साङ्ख्यसौगतचार्वाकैः' इति श्लोके व्यञ्जितम् । तत्संमतपुरुषश्च अजागलस्थस्तनकल्प इति वक्ष्यते । उदाहृतशङ्करभाष्ये शरीरात्मनो-र्व्यावहारिकस्संयोगः स्पष्टमुक्तः ॥

जीवच्छरीरं निरात्मकं सत्त्वात् इत्यनुमानस्य न्यायवार्तिके उद्द्योतकरेण साध्यं विकल्प्य दूषितस्य परिष्करणावसरे तत्वसङ्ग्रह-पञ्जिकायां;—'यत्तावदुक्तमात्मानुपकारित्वसिद्धौ न दृष्टान्तोऽस्तीति; तदसम्यक्; तथाहि—शक्यमेवं प्रसाधयितुं यो यस्य स्वभावातिशयं नाधत्ते नासौ तस्योपकारी; यथा विन्ध्यो हिमवतः; नादधते चात्मनो नित्यैकरूपस्य स्वभावातिशयं शरीरादय इति व्यापकानुपलब्धेः । न चासिद्धो हेतुः; स्वभावातिशयस्यात्माव्यतिरिक्तत्वात्तदाधाने ह्यात्मन एवाधानं स्यात्; ततश्चानित्यत्वप्रसङ्गः । व्यतिरेके च स्वभावातिशयस्य सम्बन्धनिबन्धनाभावात्तदीयोऽसाविति न सिध्येत् । तस्मान्नित्यस्य न कश्चिदुपकारी सम्भवति तस्य तत्राकिञ्चित्करत्वात्' इति शान्तरक्षित-शिष्यकमलशीलोक्तं तु हेयम्; धर्मभूतज्ञानपरिणामरूपोपकारस्य परिणामि-ज्ञानसंयोगस्य च अङ्गीकारेऽपि सङ्कोचविकासात्मकस्वरूपपरिणामशून्यत्व-रूपनित्यत्वाङ्गीकारे क्षतिविरहस्य संयोगविशेषरूपापृथक्सिद्धिसंवलितस्य उपकारकत्वरूपशेषत्वस्य शरीरपदप्रवृत्तिनिमित्ततायाश्च श्रीभाष्यादिषु स्थापनेन वैदिकपक्षे दोषाभावात् । बौद्धाद्युक्तसम्बन्धानुपपत्तिस्तु बहिष्कार्यैव वैदिकैः; अन्यथा भावानां प्रतिक्षणपरिणामस्य (सां. त. कौ.) वाचस्पतिनोक्ततया परिणामतद्वतोश्च गवाश्वयोरिव बौद्धोक्तदिशा भेदसम्बन्धस्यानुपपत्त्या भेदाभेदस्यापि क्षपणकमतप्रवेशप्रसङ्गेना-सम्भवेन अभेदस्याभ्युपगमे न्यायवार्तिके (३-१-५) 'य एव बौद्धस्य प्रतिक्षणं ध्वंसिषु संस्कारेषु दोषः स एव प्रतिक्षणपरिणामिष्वपि'

भावप्रकाशः

इत्युद्द्योतकरोक्तरीत्या क्षणिकवादापत्त्या क्षणिकज्ञानसंततिपरलोकतापक्षात् शान्तरक्षितसमंतात् नित्यज्ञानपरलोकतापक्षोऽप्यविशिष्ट इति 'परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः, इति चार्वाकसूत्रं प्रकारान्तरेण प्रतिष्ठापितं स्यात् । एवं सदसतोस्संबन्धानुपपत्तिवत् सतस्सदसदानिर्वचनीयस्यापि सम्बन्धानुपपत्त्या दोषादिसामग्र्या अधिष्ठानस्य च एकजातीयत्वानुभवेन विजातीयत्वानुपपत्त्या च माध्यमिकसंमतया शान्तिदेवादिमतस्योन्मज्जनप्रसङ्गोऽपि । निष्क्रियस्य संयोगानुपपत्तिस्तु नात्र शङ्कनीया; 'यच्चोक्तं;—'कस्य वा शरीरे आत्मा विद्यते इति' तदप्यसम्यक्; तथाहि;—येषां दर्शनं अङ्गुष्ठपर्वार्धश्यामकादिफलप्रमाण आत्मेति तेषां मतेनात्मनो मूर्तत्वाच्छरीरास्थितिरस्त्येवेति तान् प्रति प्रतिषेधो युज्यते' इति तत्वसङ्ग्रहपञ्चिकायां आत्मनः क्रियावत्त्वपरिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वरूपमूर्तत्वस्य 'अङ्गुष्ठमात्रः' 'प्राणाधिपस्संचरति स्वकर्मभिः' इत्यादिश्रुत्यनुसारिप्राचीनसंमतत्वोक्त्या तत्रादिपदेन विवक्षितस्य तदुत्तरश्रुतिसंदर्भ सिद्धजीवाणुत्वप्रमाणस्य स्थापयिष्यमाणत्वेन जीवस्यापि सक्रियत्वात् । निष्क्रियसंयोगोऽपि प्रमाणबलात्साधयिष्यते । तदेवं आत्मनः स्थूलसूक्ष्मशरीरादिव्यतिरेकं यदेव श्रुत्यादिकं साधयति तदेव तयोस्संयोगमपि साधयतीति सिद्धम् । अत्र स्वर्गादिफलोद्देशेन साधने विदुषां प्रवृत्तिकथनेन मरणत्रास इदानीमनुभाव्यफलापेक्षया अतिशयिते भाविनि स्वर्गादिफले येषां न दृढतरः प्रत्ययः प्रत्ययेऽपि च स्वर्गादिफलसाधनपूर्तिर्येषां न जाता तद्विषय इति सूचितम् । एतच्च;—

प्रायेणाकृतकृत्यत्वात् मृत्योरुद्विजते जनः ।
कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ॥

आनन्ददायिनी

आत्मनो [1]देहान्यत्वे साधिते तदन्येषामिन्द्रियादीनामात्मत्व-

भावप्रकाशः

इति अन्यत्र आचार्योदाहृतस्मृतिवचने व्यक्तम् । अन्यच्च ; परलोकापलापिनां मते ;—

नास्ति चेन्नास्ति नो हानिः अस्ति चेन्नास्तिको हतः ।

इति परमतभङ्गोक्तदूषणमप्यत्रानुसंधेयम् । चार्वाकोऽपि अदृष्टं चेत्स्यात् किं क्रियेतेत्यन्तर्भीत एव स्यत् इति तत्रैव आचार्यैरभिहितमपि ॥ २ ॥

तदनेन श्लोकद्वयेन ;—'कायादेव' इति सूत्रानुसारेण शरीरात्मवादिचार्वाकमतमपाकृतम् । अथ 'पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्वानि' इत्यादिसूत्रानन्तरं 'तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा' इति सूत्रे शरीराविशेषणेन्द्रियाणां विषयभूतप्राणस्य च भूतसमुदायत्वाभिधानात् तत्रैव चैतन्यमिति वादिनां चार्वाकैकदेशिनां मतं निराकरोति तृतीयश्लोकेन । अत्रैव (१७श्लो) 'प्राणेन्द्रियात्मवादिन आत्मानमाशरीरस्थायिनम्' इति वक्ष्यते । आशरीरस्थाय्यात्मवादिनस्सुशिक्षितचार्वाका इति न्यायमञ्जर्यां जयन्तेनोक्तम् । एवं च प्राणेन्द्रियात्मवादिनस्सुशिक्षितचार्वाका अनुमानप्रामाण्यवादिन इति न्यायमञ्जरीवाक्यैर्निश्चीयते । अत एव 'न भूमिर्न तोयम्' इति श्लोकविवरणसिद्धान्तबिन्दुटीकायां न्यायरत्नावल्यां प्राणेन्द्रियात्मवादिनां चार्वाकैकदेशित्वकथनं सङ्गच्छते । तत्र बाह्येन्द्रियात्मवादिनामाशयं प्रकटयन्

[1] देहातिरिक्तत्वेऽपि तद—क. ख.

सर्वार्थसिद्धिः

*ये पुनराहुः ;—चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायि रूपादिज्ञानं तन्निष्ठमेवोचितम् । व्यपदिशन्ति च चक्षुः पश्यतीत्यादि ; तथा स्पर्शनसुखो वायुः श्रवणकटुश्शब्दः इति [1]इन्द्रियेषु च विकलेषु विक-

आनन्ददायिनी

मस्त्वित्यु[2]त्थितेस्सङ्गतिमाह—[3]**ये पुनरिति** । यद्यपि देहातिरिक्तत्व-साधकश्रुत्यादिभिरिन्द्रियाद्यन्यत्वमपि सिध्यति ; तथापि अनुमानतोऽपि भेदसाधनाय प्रवृत्तिरिति द्रष्टव्यम् । नन्विन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वात् अहमिति प्रत्यक्षेण प्रकाशमा[4]नत्वं कथमित्यत्राह—**चक्षुरादीति** । लाघवात् ज्ञानस्य तन्निष्ठ[5]त्वे तेषां नातीन्द्रियत्वमिति भावः । ननु रूपादिज्ञानानां कथं तन्निष्ठत्वम्? तदाश्रयत्वेन भानाभावादित्यत्राह—**व्यपदिशन्ति चेति** । व्यवहारस्य ज्ञानमूलत्वादिति भावः । ननु देवदत्तः पचतीत्यत्र पाकस्य न तन्निष्ठत्वम् ; तथेह ज्ञानस्येन्द्रिय निष्ठत्वे नेदं मानमित्यत्राह—**स्पर्शनसुखो** [6]**वायुरिति** । स्पर्शननिष्ठ-सुखहेतुरित्यर्थः । न च तत्रापि स्पर्शनसम्बन्धिसुखजनकत्वमर्थः न तावता तन्निष्ठत्वमिति वाच्यम् ; सम्बन्धस्य स्वस्वामिभावत्वे [7]सुखादि-भोक्तृत्वलाभादात्मत्वसिद्धिः । वस्तुतस्तु तदाश्रयस्यान्यस्यादर्शनादि-न्द्रियाणामेव लाघवादाश्रयत्वमिति भावः । इन्द्रियधर्माणा-महमर्थगतत्वेन [8]भानाच्च तेषामेवाहमर्थत्वमिति दर्शयति—**विकलेष्वि-त्यादिना** । नन्विन्द्रियाणामहमर्थत्वे य एवानुभवति तस्यैव प्रत्यभि-

भावप्रकाशः

तन्मतमनुवदति—*ये पुनरित्यादिना । ज्ञानं च ज्ञातृधर्म इति

---

[1] इन्द्रियेषु विक—**क.** [2] त्थितेस्संङ्गतिः । यद्यपि—**ग. घ.** [3] ये पुन-रिति—नन्विन्द्रि—**क. ख.** [4] मानात्मकत्वं कथ—**ग. घ.** [5] ष्ठत्वेन तेषां—**क. ख.** [6] वायुरिति—स्पर्शनं तन्नि—**क.** [7] सुखभोक्तृत्व—**ग. घ.** [8] भानाच्चेन्द्रियाणामेव—**ग. घ.**

तत्त्वमुक्ताकलापः

बाह्याक्षेभ्योऽन्य आत्मा

सर्वार्थसिद्धिः

लोऽहमिति धीर्जायते सकलेष्वन्यथा । परस्परानुभूतार्थप्रतिसन्धानमपि संस्कारवैचित्र्यात् । तच्चैकशरीरानुप्रवेशायत्तम् ; अतो हेत्वादिप्रतिसन्धानमपि सिद्धम् । अहं पश्याम्यहं शृणोमीत्याद्यपि सर्वेषामिन्द्रियाणामहमर्थत्वात्सिद्धम् ; पञ्चानामपि व्यवहारहेतुभूतं मुखं प्रवृत्तिकारणं शरीरं च साधारणम् । तेन एक एवायं व्यवहरतीति लौकिकावगमः । अनुमानमपि ;—चक्षुः रूपादिग्रहणाधिकरणं चक्षुष्ट्वात् यन्नैवं तन्नैवम् यथाऽन्यदिति। एवं श्रोत्रादिष्वपीति ; तान् [1]प्रत्याचष्टे—**बाह्याक्षेभ्य इति।**

आनन्ददायिनी

ज्ञेति य एवाद्राक्षं स एव स्पृशामीति प्रत्यभिज्ञानं स्यात् दर्शनजन्यसंस्कार[2]स्य त्वगिन्द्रियानिष्ठत्वात् । चक्षु[3]रपाये च रूपादिस्मरणं न स्यात् इत्यत्राह—**परस्परेति । वैचित्र्यं**—सामर्थ्यम् । नन्वन्यसंस्कारस्यान्यत्र स्मृतिजनकत्वेऽतिप्रसङ्ग इत्यत्राह—**तच्चेति ।** यच्छरीरजन्यस्संस्कारः तच्छरीरजन्यस्मरणत्वावच्छेदेन जनक [4]इति जननसामर्थ्यं कल्प्यत इत्यर्थः । ननु देवदत्त एको व्यवहरति पश्यतीत्यादिलौकिक[5]व्यवहारबलात् इन्द्रियेष्वन्यतमस्यैवाहमर्थत्वं वाच्यम्; तत्र चक्षुषोऽहमर्थत्वे अहं शृणोमीति व्यवहारो न स्यात्; श्रोत्रस्य तथा[6]त्वे च पश्यामीति न स्यात् इत्यात्राह—**अहं प[7]श्यामीत्यादिना ।** लौकिकानामैक्यव्यवहारस्यान्यथासिद्धत्वादिति भावः । **एवं श्रोत्रा-[8]दिष्वपीति**—श्रोत्रं शब्दग्रहणाधिकरणं श्रोत्रत्वात् यन्नैवं तन्नैवं

[1] प्रतिवक्ति–**क. ग.** [2] रस्येन्द्रियनिष्ठत्वात् चक्षु–**क. ख.** [3] रपाये स्मरणं–**ग घ.** [4] इति सामर्थ्यं–**ग. घ.** [5] व्यपदेशब–**क. ख.** [6] त्वेपश्या–**क. ख.** [7] **पश्यामीति**–लौकिका–**क. ख.** I पश्यतीत्यादिलौ–**ग. घ.** [8] दि-ष्विति–**क.**

तत्वमुक्ताकलापः

तदखिलविषयप्रत्यभिज्ञातुरैक्यात्

सर्वार्थसिद्धिः

[1]पाण्यादिषूक्तां प्रतिसन्धानानुपपत्तिं इन्द्रियेष्वपि दर्शयितुमाह— **तदखिलेति** । तेषां चक्षुरादीनां प्रतिनियता विषयाः रूपादयः । अखिलानां तेषां प्रतिसन्धाता त्वेकः योऽहं द्रष्टा स [2]एव

आनन्ददायिनी

यथा घट इत्याद्यूह्यम् । आदिशब्दार्थो रसनादिः । **पाण्यादिष्विति**— संस्कारवैचित्र्यादेव तथा व्यवहारः । अतिप्रसङ्गस्यैकशरीरोपाधिना निरासात् । ननु संस्कारस्य स्मृतिहेतुत्वेऽपि य एवाहमश्रौषं स एवाहं पश्यामीति श्रवणदर्शनयोस्सामानाधिकरण्यस्यानुभवः तदाश्रयैक्यं साधयन् परस्परविलक्षणेन्द्रियवैजात्यं साधयतीति चेत्; [3]न; तयोरुपस्थितयोरसंसर्गाग्रहमात्रेण प्रत्यभिज्ञानसम्भवात्; यथानुभूतगृह्यमाणघटगोचरस्स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा । तत्र विषयैक्यगोचरा अत्र कर्त्रैक्यगोचरेति भिदेति चेत्; न; तत्र विष[4]य इवोभयोरैक्यमोहासम्भवात् । अत्र धर्मि[5]द्वयोपस्थितावेव [6]भेदग्रहे देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव परस्परस्य परस्परोपस्थित्यसम्भवात् । [7]न च स्मरणकारणमेव तदवच्छिन्नात्मद्वयोपस्थितिकारणमिति परस्परस्य परस्परोपस्थितिरिति वाच्यम्; तथा सति तद्भेदे मानाभावः । न च चक्षुरादिभेदस्य स्थिरत्वात् कथं नाम मानाभाव इति वाच्यम् । शक्तिभेदमादायापि रूपादिप्रतिनियत-

[1] प्राणादिषूक्तं प्रतिसन्धानस्यानुपपन्नत्वं चक्षुरादिष्वपि—**क. ग.** [2] एवाहं शृणोमी—**क.** [3] न; तया निवासित—**क. ख.** [4] षयवदुभ—**ग. घ.** [5] धर्मद्वयो—**घ.** [6] भेदाग्रहः—**ग.** [7] न च संस्काररूपस्मरणकारणमेव तदुभयोपस्थितौ कारणमिति—**क. ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

शृणोमीति । भ्रान्त्या यत्तच्छब्दाभ्यां द्वयोरेकीकार इति चन्न; द्वयो[1]रप्येकवदेकत्वमोहायायागात् । अन्यस्य मुह्यतोऽनभ्युपगमात् । एकश्चाहं बहुभिरिन्द्रियैरनुभवामीति भ[2]देन चेति । [3]न च चक्षुरित्यादिधीः ! स्थूलोऽहमित्यादिदेहात्मबुद्धेश्च इन्द्रियात्मवादेऽपि दुस्त्यजत्वाद्वरमिह देहात्मवादः । रूपादिज्ञानस्य चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधा[4]नं तत्करणतयाऽपि स्यात्; तथाचाभिमानः चक्षुषा पश्यामि

आनन्ददायिनी

विषयव्यवस्थितौ तद्भेद[5]स्यासिद्धेरिति । **भ्रान्त्येति**—ऐक्यभ्रमात् यत्तच्छब्दाभ्यामेकत्वेन व्यवहार इत्यर्थः । इन्द्रियेभ्यो भेदबुद्धिबलाच्च नेन्द्रियस्यात्मत्वमित्यत्राह—**एकश्चाहमिति** । तथा च तादृशानुभव बलात् तावज्जन्यज्ञानाश्रयः कश्चित्सिद्ध इति भावः । चक्षुरादेरिन्द्रियत्वसाधकं च नास्तीत्याह—**न च चक्षुरहमिति** । काणोऽहमिति धीस्तु नेन्द्रियगोचरा किन्त्विन्द्रियाभाववत्तया तद्भिन्नगोचरेति [6]भावः । दोषबाहुल्येऽपि चेदिन्द्रियाणामेवाहमर्थत्वं तर्हि [7]साधकवत्त्वाद्देहस्यैवात्मत्वम[8]भ्युपगन्तुमुचित[9]मित्याह—**स्थूलोऽहमिति** । रूपादि[10]ज्ञानं प्रति चक्षुराद्यन्वयानुविधानं प्रमाणमस्तीत्यत्राह—रूपादिज्ञा[11]नस्य चेति । उक्तेऽर्थे स्वानुभवं साक्षयति—**तथाचाभिमान इति** । यत एव स्वानुभव[12]सिद्धोऽयमर्थोऽत एव पश्यतीत्यादिकं गौणमित्याह—

---

[1] रप्येवमेकत्व–**क.** [2] भेदेन वेत्ति–**क.** [3] न च कस्यचिदहं चक्षुरि–**ग. घ.** [4] विधानं तु–**क.** [5] स्यासिद्धेरिति नैकत्वभ्रान्तिरित्यर्थः–**ग. घ. ङ.** [6] भावः । चाक्षुषादेः दोष–**क.** [7] साधकत्वाद्देह–**ख.** [8] भ्युपैतुमुचित–**क.** [9] मित्यत्राह–**ख.** [10] ज्ञानस्य चक्षुर–**क ख.** [11] न स्येति–**क.** [10] सिद्धोऽर्थो–**ग. घ.**

सर्वार्थसिद्धिः

श्रोत्रेण शृणोमीति। अत एव चक्षुःपश्यतीत्यादिकं भाक्तम्। वैकल्यादिधीश्च चक्षुषा विकलोऽहमित्यादिरूपा न तु चक्षुरहं नास्मीति विरोधात्। न हि नष्टमिन्द्रियं स्ववैकल्य[1]मनुसन्धत्ते! असत्त्वात्। नाप्यन्यत्; [2]तस्या-वैकल्यात्। अन्यथा तत्रापि विरोधात्। यदि परमिन्द्रियान्तरविरहमिन्द्रियान्तराण्यनुसन्दधीरन्, तथापि गतस्येन्द्रियस्य नाहमर्थत्वसिद्धिः। अन्यथा पाण्यादिविकलोऽहमिति बोधेऽपि पाण्यादीनामात्मत्वप्रसङ्गात्। नचेन्द्रिया-

आनन्ददायिनी

अत एवेति । विरोधादिति—वैकल्यं नाम इन्द्रियध्वंसः कथं [3]तस्मिन् सति स्यादिति भावः । ननु विद्यमानमिन्द्रियमिन्द्रियान्तरवैकल्यानु[4]सन्धात्रित्यत्राह—**नाप्यन्यदिति** । वैकल्यस्य सम्बन्धाभावादिति भावः । **अन्यथेति**—स्वस्य वैकल्ये इत्यर्थः । ननु अतिरिक्तात्मवादे यथात्मनो वैकल्याभावेऽपि अन्यवैकल्यानुसन्धानमहमन्ध इति तथात्राप्यस्त्वित्यत्राह—**यदि परमिति** । ननु [5]हतस्यापीन्द्रियस्य स्वसत्ताकाले अहंप्रत्ययवेद्यत्वात् अहमर्थत्वमिति चेत् तत्राह—**अन्यथा पाण्यादीति** । अविशेषादिति भावः । इन्द्रियस्यातीन्द्रियतया [6]तत्सद्भाव इवासद्भावोऽपि न प्रत्यक्षगम्यो योग्यानुपलब्ध्यभावात्; तथा च इन्द्रियान्तरस्य तद्वैकल्यानुसन्धानमिह न प्रत्यक्षेणेति नेन्द्रियस्यात्मत्वसाधकमस्तीत्यत्राह—**न चेति** । नन्वतिरिक्तात्मवादेऽपि कथं वैकल्यप्रतिसन्धानम्? इत्या[7]शङ्क्य परि-

[1] ल्यानुसन्धानक्षमम्—**क. ख.** [2] तस्य वैकल्याभावात्—**क. ख.** [3] तस्मिन् सति तत्स्यादि—**क.** I तास्मिन् सति प्रतियोगि स्यादि—**ग. घ.** II [4] सन्धानक्षममि—**क. ख.** [5] गतस्या—**क.** [6] तद्भाव इवा—**क.** [7] त्याशङ्कां—**क.**

सर्वार्थसिद्धिः

न्तरमिन्द्रियान्तरसदसद्बोधक्षमम्; तस्य तदप्रत्यक्षत्वात्। अनुमानतोपि बोद्धु[1]स्तस्य रूपाद्यनुपलम्भात्। तद्बोध[2]ककरणाभाव एव अनुमेयः; ततश्च एक एव तत्तत्करणाधीनरूपादिग्रहणोऽहमर्थस्सिद्धः। मिथोऽनुभूतप्रतिसंधानार्थं च संस्कारवैचित्र्यं किमिति चिन्त्यम्। यद्यात्मान्तरेषु स्मृत्युत्पादनशक्तिः तन्न; सर्वेषु तत्प्रसङ्गात्। तच्छरीरवर्तिष्विति चेन्न; औदरकृम्यादिष्वपि तत्प्रसङ्गात्। शरीरान्तरवर्तित्वात्तत्र न प्रसङ्ग इति चेन्न; भिन्नावयवस्थित्यापि प्रतिसंधानाभावप्रसङ्गात्। सन्निधानस्य

आनन्ददायिनी

हरन् वैषम्यमाह—**अनुमानत इति।** [3]**एकएवेति**—अहं रूपग्रहणकरणविकलो रूपग्रहणविरहात् तथा श्रोत्रग्रहणकरणविकलः शब्दग्रहणविरहादित्याद्यनुमानैरेकस्यैव रूपादिग्राहकत्वं लाघवादिति विवक्षितसिद्धेरित्यर्थः। अन्यानुभूते अन्यस्य प्रतिसंधानानुपपत्त्या च तदन्याहमर्थसिद्धिरिति मत्वा संस्कार[4]स्याहमर्थत्वं परोक्तं खण्डयति—**मिथोऽनुभूत** इति। **सर्वेष्विति**—देवदत्तानुभवजन्यसंस्कारात्सर्वेष्वात्मसु स्मृतिप्रसङ्गादित्यर्थः। **औदरेति**—तच्छ[5]रीरवर्तित्वादिति भावः। नचेष्टापत्तिः! तत्संस्कारा[6]त्तत्सुखदुःखप्रतिसन्धानं देवदत्तस्य स्यादिति भावः। **भिन्नावयवेति**—शरीरत्वं हि लाघवात् भोगायतनत्वमात्रम्; न त्वन्त्यावयवित्वमप्यत्र प्रवेश्यम्; गौरवात्; तथाच हस्ताद्यवच्छिन्नस्य भिन्नशरीरावच्छिन्नत्वात् प्रतिसंधानं न स्यादिति भावः। नन्ववयवानामेव भोगायतनत्वमस्तु तथाऽपि हृत्कोशरूपावयवस्य सर्वसाधारणस्यैकस्यैव संस्कारायतनत्वात् सर्वेषां प्रतिसंधानं स्यात्। न

---

1 स्वस्य—क. घ. 2 धकरणा—ख, I धकारणा II. 3 एकएवाहंरूप—क. ख. 4 स्याहमर्थ्यम्—ग. घ. 5 रीरवत्त्वादिति—क. 6 रात्सुखदुःख—ख.

सर्वार्थसिद्धिः

चाविशेषात् । संस्काराणां सर्वेन्द्रियसाधारणहृत्कोशादिवर्तितया शरीरैक्याच्च विशेष इति चेन्न; त्वदिष्टसंस्कारकोशे [1] मानाभावात् अनेकेषामहमर्थानामेकशरीरयोगे च । ततश्च वरं यथोपलम्भमेकस्मिन्नहमर्थे सर्वैस्संस्काराधानम् । नचोपदेश[2]चेष्टाभिर्मिथो बोधनेनान्योन्य-

आनन्ददायिनी

च [3]कृम्यादिसंस्कारादपि प्रतिसंधानप्रसङ्गः! तत्संस्कारस्य तदवयवगतहृत्कोशगतत्वेन एकहृत्कोशावच्छिन्नत्वाभावादिति शङ्कते—**संस्काराणामिति** । सर्वैरहमर्थैः हृत्कोशे संस्का[4]राधानमित्यत्र न प्रमाणमित्याह—**त्वदिष्टेति** । नन्वनेकेषामेकशरीरयोगान्यथानुपपत्त्या कल्प्यत इत्यत्राह—**अनेकेषामिति** । तर्हि लाघवादेकस्मिन्नेवाहमर्थे संस्कारकल्पनमस्तु किं संस्कारकोशकल्पनयेत्याह—**ततश्चेति** । ननु तर्हि संस्कारकोशोऽन्यो मास्तु; सर्वे[5]षां संस्कारवत्त्वमस्तु; न चातिप्रसङ्गः; अन्योऽनुभूयान्यस्मै [6]उपदेशादिभिरावेदयति । तथा च उपदेशजन्यानुभवजन्यसंस्कारात् स्मरणमुपपद्यते इति । न चातिप्रसङ्गः । सर्वेषां तथाऽनुभवाभावात् । भा[7]वे वेष्टापत्तिरिति शङ्कायामाह—**नचोपदेशेति** । न च त्वगिन्द्रियानुभूतं चक्षुः प्रतिसंधत्ताम्; न चातिप्रसङ्गः! पञ्चानां परस्परसंस्कारैः परस्परप्रातिसंधानकल्प[8]नात् इत्याशङ्क्य नियामकाभावे नियमकल्पनानुपपत्तेः; अन्यथा संस्कारकल्पनापि न स्यात् । वैकल्येपि कस्यचित्प्रतिसंधानदर्शना[9]दित्यादिबहुदोष-

---

[1] प्रमाणा—**क.** [2] चेष्टादिभि—**क.** [3] कृत्यादि—**क.** [4] रायतन—**क. ख.** [5] षां सर्वसं—**ग. घ.** [6] कथयति यथा च—**क. ख.** [7] वे चेष्टा—**क.** [8] नास्यादित्या—**ग. घ.** [9] दितिबहु—**क.**

सर्वार्थसिद्धिः

संस्कारार्पणम्! अदर्शनात् अविचारितरमणीयोऽयं पञ्चानां परस्पर-संस्कारादिलाभ इति[1] तत् त्वादृशेष्वेव वक्तव्यम्। यदपि[2] 'शरीराद्यैक्यादेकत्वावगम' इति। स किं [3] तत्रत्यानां तेषामेव, अन्येषां वा? नाद्यः, परस्परानभिज्ञत्वात्। अनुमानतस्तु भिन्नतयैव सिद्धेः। चक्षुश्श्रोत्रादिरूपोऽहमिति भ्रमादर्शनाच्च। न द्वितीयः, स्वशरीरसिद्धप्रकारेण परशरीरेऽपि बहुत्वानुमानात्। केवलव्यतिरेकिभिरिन्द्रियाणां ज्ञातृ[4]त्वाद्यनुमानमतिप्रसङ्गाद्यनेकदोषोपहतम्। ततश्चैकस्यैव सर्वग्रह-

आनन्ददायिनी

प्रसङ्गाद्धेयमित्याह—**अविचारितेति**। अविचारिते–विचाराभावेरमणीयम्। सम्यग्विचार्यमाणे [5] न रमणीयमित्यर्थः। केचित्तु;—अविचारितशब्दः पुरुषपर इत्याहुः। तेषामेव—अहमर्थानामेवेत्यर्थः। **अन्येषां**—इतरशरीरस्थानामित्यर्थः। **परस्परेति**—एक[6]श्रोत्रा अहं पश्यामीति प्रतिसंधानं न स्यादित्यर्थः। **भिन्नतयेति**—रूपादिज्ञानकरणस्य परस्परविलक्षणतया सिद्धस्यैक्यज्ञानायोगा[7]दैक्याप्रतीतेर्बाधाच्चेति भावः। परेणेति पक्षं दूषयति—**स्वशरीरेति**। **अतिप्रसङ्गाद्यनेकेति**—प्रतिपक्षादिदोषोपहतमित्यर्थः। किञ्चोक्तव्यव[8]हारेणैकस्यैव सर्वग्रहणाधिकरणत्वे सिद्धे स चैकोऽहमर्थ[9]स्सिध्यन्निन्द्रियेभ्योऽन्यस्सिध्यतीत्याह—**ततश्चैकस्यैवेति**। उक्तव्यतिरेकिणि तर्कप्रतिरोधमप्याह—

---

[1] इति तु तत्त्वादृ–**क.** [2] यदपि च शरी–**ख.** [3] तत्रत्याना-मेवान्ये–**क. ग.** [4] त्वानुमान–**क.** [5] नसारमित्यर्थः–**ख.** [6] श्रोताऽहं–**ग. घ. ङ.** [7] दैक्यप्रतीतिबा–**क. ख.** [8] हारेणैक–**क.** [9] ध्यन्नती-न्द्रियेभ्यो–**क.**

तत्वमुक्ताकलापः

कर्तुः स्मृत्यादिकार्ये करणमिति मनो मान-सिद्धं ततोऽन्यत् ।

सर्वार्थसिद्धिः

णाधिकरणत्वे त्वस्मन्मते कः प्रद्वेषः? अन्धबधिराद्य[1]भावश्च स्यात् । ज्ञातुर्ज्ञानकरणतयैव चक्षुरादीनां सिद्धेस्तद्विपरीतानुमानानां धर्मिग्राहक-बाधश्चेति । अस्तु देहाच्चक्षुरादिभ्यश्चात्माऽन्यः । स तु मन एव स्यात्; देहादेरन्यत्वात् एकत्वेन प्रतिसन्धानोपपत्तेः । असंघातरूपत्वेन प्रत्येकादिविकल्पानवकाशाच्च । तदतिरिक्ता[2]त्मक्लृप्तौ तु गौरवम् । अतो मम मन इति भेदोक्तिः क्लिष्टगत्येति । तत्राह—**कर्तुरिति** । अयं भावः—किमत्र स्मृत्यादिकरणस्य तत्कर्त्रा तादात्म्यं साध्यते, तेन वा कर्तुः? [3]न तावदाद्यः;—ततोन्यतयैवानुमानतश्शास्त्रतो

आनन्ददायिनी

अन्धबधिरेति । चक्षुरभावे अहमर्थस्यैवाभावात् भावे अन्धत्वायोगात् इन्द्रियान्तराणामेतत्स्वामि[4]त्वायोगात् भावे वा सर्वेन्द्रियस्वामिनः कस्य[5]चिदेकस्यैवाहमर्थत्वस्योचित[6]त्वादिति भावः ।

प्रतिरोधानुमानबाधितं चेत्याह—**ज्ञातुरिति** । भेदवा[7]चक• प्रयोगो राहोश्शिर इतिवदभेदेऽपि सम्भवतीति मम मन इति नाह-मर्थस्य[8] भेदसाधक इत्याह—**अतो मम मन इति** । ननु स्मृत्यादि-करणत्वमस्तु न तावताऽहमर्थत्वबाधः । एकस्यैवाकारभेदेनोभयसम्भ-वादित्यत आह—**अयं भाव इति । अनुमानत इति**—घटादि-

[1] द्यभावप्रसङ्गश्चस्यात्–**क. ग.** [2] त्मकल्पने गौरवं स्यात्–**क. ख. ग.** [3] नाद्यः–**क. घ.** [4] त्वाभावत्–**क. ख.** [5] चिदेवाहमर्थ–**ग.** [6] त्वादितिभावः–**क. ख.** [7] चकषष्ठीप्रयो–**ग. घ.** [8] स्यायं व्यवहारो न भेद–**ग.**

सर्वार्थसिद्धिः

वा तत्सिद्धेर्धर्मिग्राहकबाधात् । अत एव न द्वितीयः; स्वस्य स्वयमेव स्मृत्यादिकरणमित्यत्र मानाभावाच्च । करणमङ्गीकृत्य कर्तृनिरासः क्रियत इति चेन्न; ज्ञातृमात्रापह्नवे मनसोऽपि ज्ञातृत्वाभावप्रसङ्गात् । तदन्यज्ञातृनिरासे कल्प्येन क्लृप्तत्यागा[1]योगात् । अथ कर्तारमङ्गीकृत्य करणत्यागः; तदा मनस आत्मत्वं न साधितं स्यात्; किं तु तस्यासत्त्वम् । तच्च तद्ग्राहकमाने सति न शक्यमिति । अन्यस्त्वाह;—

आनन्ददायिनी

स्मरणं करणसाध्यं क्रियात्वात् इत्यनुमानेन परिशेषात् कर्तृभिन्नतया मनस्सिद्धेः[2] । 'वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि' 'मन एव मनुष्याणाम्' इत्यादि शास्त्रम् । **स्वस्येति**—सर्वत्र करणस्य कर्तृभिन्नतयोपलम्भादिति भावः । अत्र किं ज्ञातृमात्रनिरासः क्रियते' उत ज्ञातृत्वं करणगतमिति साध्यते? इति विकल्पं मनसि निधाय आद्य आह—**ज्ञातृमात्रेति** । द्वितीय आह—**तदन्येति** । ननु ज्ञातृमात्रं सि[3]द्धम्; न तु मनोभिन्नत्वेन; तथाच कल्प्येन क्लृप्तत्याग इति चेन्न; ज्ञातुः करणसापेक्षतया करणानुमानेन तद्भिन्नत्वेनैव मनसः कल्प्यत्वे[4] ज्ञातरि तद्भिन्नत्वस्यावश्यकत्वादिति भावः । ननु मनस एव कर्तृत्वान्न करणत्वमिति चेत्तत्राह—**अथेति** । तथा सति संज्ञामात्रविपर्यास इति भावः । ननु मास्त्वतिरिक्तं करणमित्यत्राह—**तच्चेति** । क्रियात्वहेतोः श्रुतेश्च सत्त्वादिति भावः । तर्हि प्राण एवात्मास्त्विति पक्षान्तरं शङ्कते—**अन्यस्त्विति** । प्राणस्यात्मत्वे

---

[1] गापातात्–क. ग. [2] द्धेरित्यर्थःक. [3] द्धिर्न तु–ग. [4] त्वेनैवसिद्धे-ज्ञातं–ग.

तत्वमुक्ताकलापः

प्राणास्संघातरूपाः वपुरुदितनयात्

सर्वार्थसिद्धिः

प्राणाधीना देहेन्द्रियमनसां प्रवृत्तिः । आत्मशब्दश्च प्राणे दृष्टः प्राणशब्दश्चात्मनि । प्राण[1]स्थितिगमनाभ्यां च जीवति म्रियत इति व्यवहारः । सुषुप्तावुच्छ्वासनिश्वासप्रवृत्तौ सत्यामपि सामग्र्यभावा-द्बोधाभावः । मम प्राणा [2]इत्येतदपि कथञ्चिन्नेतव्यमिति । अत्र देहात्मवादे निदर्शितान् दोषानतिदिशति—**प्राणा इति**। अधि-काशङ्का तु 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति श्रुतिस्वारस्यात् ।

आनन्ददायिनी

युक्तिमाह—**प्राणाधीनेति**। देहादिप्रवृत्तिप्रयोजकस्यात्मत्वादिति भावः। [3]प्राणो हीत्यादिष्वात्मशब्दादिप्रयोगात् प्राणस्यात्मत्वमित्याह—**आत्म-शब्दश्चेति**। मुख्यत्वे बाधकाभावादिति भावः । किं च प्राणे सति जीवतीत्युच्यते तदभावे [4]म्रियत इति। जीवनमरणे ह्यात्मस्थिति-तदभावौ! अतश्च प्राण आत्मेत्याह—**प्राणस्थितीति**। ननु तर्हि प्राणस्यात्मत्वे सुषुप्तिकालेऽपि बोधप्रसङ्गः आत्मव्यापारस्य सत्त्वात् तस्यैव बोधात्मकत्वात् बोधमू[5]लत्वं चेत्यत्राह—**सुषुप्ताविति**। न प्रवृत्तिमात्रं बोधसापेक्षं बो[6]धात्मकं वा; जीवनादे[7]स्तदात्मकत्वात् तन्निरपेक्षत्वात् सामग्रीभेदाच्चेति भावः। बाधकं परिहरति—**ममेति**। ननु देहन्याये[8]नैव प्राणस्यानात्मत्वे पृथङ्निराकरणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह—**अधिकाशङ्केति** । अन्यथासिद्धप्रयोगत्वान्न[9]साधकत्वमिति भावः।

---

[1] स्थितित्यागाभ्यां—**क.** [2] इत्यपि-**क.** [3] प्राण आत्मेत्यादिश्रुत्यादिष्वा-**ग. घ. ङ.** [4] मृत इति—**क.** [5] लत्वाद्वित्यत्राह—**क.** [6] धरूपं वा—**क.** [7] देस्तन्निरपेक्षत्वात्—**ग.** [8] नैव निरासे—**क.** [9] न्न बाधकत्व—**ग.**

तत्वमुक्ताकलापः

न ध्रुवं चेतयन्ते

सर्वार्थसिद्धिः

परिहारदार्ढ्याभिप्रायेण **ध्रुवशब्दः** । देहादिव्यापारहेतुत्वमनैकान्तिकम् । आत्मप्राणशब्दयोर्व्यतिहारोऽनेकार्थतया स्यात् । प्राणस्थित्यादौ जीवत्यादिव्यवहार आत्मान्यत्वेऽप्यविरुद्धः । प्राणोऽस्मीति तद्वैशिष्ट्यपरम् । एवमन्यपरवाक्यान्तरैरपि वायुस्वरूपत्वमात्मनो न शङ्क्यम् ।

आनन्ददायिनी

परिहारेति—सङ्घातत्वाद्यनुमानादेरनन्यथासिद्ध[1]त्वमिति भावः । पूर्वोक्तप्राणात्मत्वसाधकानां परिहारमाह—**देहादीति** । ज्ञानेच्छादेरिति भावः । नानार्थन्यायेन आत्मादिशब्दप्रयोगमन्यथयति—**आत्मेति** । इन्द्रियादिस्थितिव्यतिरे[2]कादिवत् प्राणस्थितिव्यतिरेकादिकमपि न साधकमित्याह—**प्राणस्थित्यादाविति** । नन्वहमर्थे 'प्राणोऽस्मि' [3]इति प्राणाभेदबोधनात् प्राणोऽहमर्थ इत्याह—**प्राणोऽस्मीति** । न तत्र प्राणाभेदः प्रतिपाद्यते; अपि तु प्राणवदभेद इति भावः । ननु 'वायुरात्मा भवेत्ततः' इति वाक्याद्वायुत्वनिश्चये तद्विशेषः प्राणो भविष्यतीत्यत्राह—**एवमन्यपरेति** । सूक्ष्मो दुर्ग्रहो भवतीति सूक्ष्मतादिपरत्वेनान्यथासिद्धत्वात् न साध[4]कत्वमिति भावः । ननु **योगशास्त्रे** ;—

वायुर्भूत्वा ततो गच्छेत्प्राणायामेन योगिनः ।

---

[1] त्वादिति—**ग.** [2] कवत्प्राण—**क.** [3] इत्यहमर्थाभेदप्रतिपादनात्—**ग.**
[4] कामिति—**क. ग.**

सर्वार्थसिद्धिः

* सांख्ययोगिमतं तु † बहिष्कार्यमेव ॥

आनन्ददायिनी

इति ज्ञानयोगिन आहुः; तत्कथं संगच्छत इत्यत्राह;— सांख्येति। श्रुतिन्यायविरुद्धत्वादिति भावः ॥

भावप्रकाशः

सिद्धान्तं स्थापयितुं ज्ञानकामधर्मादीनां अन्तःकरणधर्मत्वं बन्धमोक्षयोः प्रकृतिगतत्वं वदन् निरीश्वरस्सेश्वरो वा साङ्ख्यः भूतचैतन्यवादिचार्वाकैकदेश्येवेति चार्वाकैकदेशिदूषणप्रसङ्गेन व्यञ्जयन्नाह—* साङ्ख्येत्यादि। साङ्ख्ययोगिशब्दस्य साङ्ख्ययोगव्याख्यातारः—साङ्ख्ययोगविचारिण इत्यर्थः। मोक्षधर्मे साङ्ख्ययोगौ बहुत्र प्रशस्य विरुद्धांशकथनावसरे;—

बहवः पुरुषा राजन् साङ्ख्ययोगविचारिणः।
नैत इच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह ॥

इति परमतभङ्गोदाहृतवचनानुसारात्। पञ्चरात्राधिकरणश्रुतप्रकाशिकायां च स्पष्टमेतत्। अत एव न्यायपरिशुद्धौ साङ्ख्ययोगयोर्धर्मशास्त्रप्रभेदत्वकथनं संगच्छते। 'बहवः पुरुषा' इत्युपक्रमस्य;—

कर्मात्मा त्ववरो योऽसौ मोक्षबन्धैस्स युज्यते।

इत्युपसंहारवचनं नायकसरे (४०) उदाहरिष्यते। मोक्षधर्मनारायणाख्यानवचनार्थश्च हयशिरोरत्नभूषणे निर्णीतः ॥

† बहिष्कार्यमेवेति—अंशाधिकरणे शङ्कराचार्यैः 'स्वामिभृत्यभावेष्वेवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात् तद्विध एव संबन्ध' इति प्राचीनसिद्धान्तं पूर्वपक्षीकृत्याऽपि 'स्मरन्ति च' (२-३-४७) इति सूत्रे उक्तवचनोदाहरणेन बन्धमोक्षव्यवस्थयैव जीवपरमात्मभेदसाधनात्;—

बुद्धिजन्मनि पुंसश्च विकृतिर्यद्यनित्यता।
अथाविकृतिरेवायं प्रमातेति न युज्यते ॥

इति दिङ्नागेन सगुणनिर्गुणात्मवादद्वये दूषिते कुमारिलभट्टैरात्मवादे आत्मनः साङ्ख्यसंमतं कूटस्थत्वं निराकृत्य सगुणत्वम् शब्दनित्यत्वाधिकरणे धर्मभूतज्ञाननित्यत्वं च प्रसाध्य 'सत्संप्रयोगे' 'ज्ञोऽत एव' इत्यादिजैमिनिव्याससिद्धान्तप्रतिष्ठापनाच्चेति भावः। ननु वाचस्पतिना साङ्ख्यतत्वकौमुद्यां भामत्यां च कामादीनामन्तःकरणधर्मत्वमेवेति श्रुत्यादिभिः स्थापितम्। एवं बृहदारण्यकवार्तिके 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इति श्रुतिविवरणावसरे 'हृदि श्रिताः कामा वासनाश्च हृदयसंबन्धिनमात्मानमुपसर्प्योपश्लिष्यन्ते हृदयवियोगेऽपि चात्मन्यवतिष्ठन्ते पुटतैलस्थ इव पुष्पादिगन्धः। बुद्धिस्थास्तद्द्वारा आत्मस्थाश्च कामा निवर्तन्ते। ततो जीवस्य मोक्षो न त्वात्मनस्सहसिद्धकामध्वस्तिः। आत्मैव कामो यस्येत्यर्थया 'आत्मकाम' इति श्रुत्या बोधितानामात्माभिन्नकामानां नाशासंभवात्' इति वदतः शङ्कराचार्येभ्योऽपि प्राचीनस्य परिणामाद्वैतिनो भर्तृप्रपञ्चस्य सिद्धान्तं दूषयद्भिः सुरेश्वराचार्यैः;—

कणभुग्जैमिनीयैर्य आत्मधर्मा इतीरिताः।

नात्मनोऽनात्मनस्ते तु काम इत्यादिनोदिताः॥ ४१९॥

इत्यादिना काणभुजमतमिव जैमिनीयवृत्तिकारमतमप्यवैदिकमिति व्यवस्थापितम्। अत एव नवीनैरपि आत्मस्वरूपाभिन्नानां कामानां न मुक्तिः किं तु हृदि स्थितानामेव। ज्ञानकामसुखदुःखादिकमन्तःकरणधर्म एवानित्यम्। धनी इत्यादाविव अहमिदं जानामीत्यादावपि ज्ञानादिस्वामित्वमेव प्रतीयते। कामस्यान्तः करणधर्मत्वे 'कामस्संकल्प' इति श्रुतिः आत्मधर्मत्वे अनुभवो मानम्। किंच अप्रियविषयकः कामो मनोधर्मः प्रियविषयकस्तु आत्मधर्मः इत्युच्यते इति चेत्; अत्रायं प्राचामाशयः;—का सा श्रुतिः कामादीनामन्तःकरणधर्मत्वं साधयति? न तावत्

भावप्रकाशः

'कामस्सङ्कल्पः+एतत्सर्वं मन एव' इति (बृ. ३-५-३) समानाधिकरण-श्रुतिः। तथा हि;—इयं श्रुतिस्सप्तान्नब्राह्मणस्था। तत्पूर्वब्राह्मणान्ते 'आत्मैवेदमग्र आसीत् सोऽकामयत जाया मे स्यात् (३-४-१७) इत्यादिश्रुतौ आत्मनः जायापुत्रवित्तकर्मविषयककामचतुष्टयप्रतिपादनेन तद्विरुद्धं कामस्यान्तःकरणधर्मत्वं कथमियं श्रुतिः प्रतिपादयेत्? एवं तत्पूर्वम्;—'अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते' (१५) इत्यत्राप्यात्मनः कामवत्त्वमभिहितम्। सप्तान्नब्राह्मणस्यार्थः ज्योतिरधिकरणे व्यासार्यैरित्थं सङ्गृहीतः;—'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति परमात्मनस्संकल्पात् देहिनामुपजीव्यत्वात् अन्नशब्दवाच्यानां सप्तानामुत्पत्तिमुक्त्वा तत्र प्रसिद्धान्नं दर्शपूर्णमासौ पयश्चेत्यन्नचतुष्टयस्य मानुषदेवतिर्यक्षु विनियोगमुक्त्वा 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत' इत्यवशिष्टान्नत्रयस्य सर्वविधप्रवृत्तिहेतुत्वात् सामान्येन सर्वभोक्तृवर्गशेषमकरोदित्युक्त्वा 'अन्यत्र मना अभूवं नादर्शम् अन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषम् कामस्सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति प्रसिद्धं मन एव प्रतिपादितम्। कामादीनां मनःकार्यत्वात्सामानाधिकरण्यम्। यः कश्चन शब्दो वागेवेति सामानाधिकरण्यमपि श्रुत्या वागिन्द्रियाधीनोच्चारणत्वनिबन्धनम्। अतश्शब्दोच्चारणकारणं प्रसिद्धवागिन्द्रियमेवेत्युक्तम्' ॥ इति ॥

अत्र तृतीये पूर्वं (२) आत्मनः कामेक्षणादिकमुक्तम्। अनन्तरम् (३) वाक्प्राणचक्षुश्श्रोत्रमन आसन्यप्राणानामुद्गानमभिहितम्। ततः (४) 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इति मन्त्रे 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्पश्यंश्चक्षुश्शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तस्यैतानि कर्मनामानि' इत्युक्तम्। अत्र शङ्करभाष्ये वाचः करणत्वोक्त्या वाक्शब्दस्य पाणिपादपायूपस्थोपलक्षणार्थत्वकथनेन च वाक् इन्द्रियमेव। 'वदन् वाक्'

भावप्रकाशः

इत्यत्र वद्धात्वर्थः वागभिव्यक्तिः—शब्दोच्चारणमेव । एवं 'मन्वानो मन इति ज्ञानशक्तिविकासानां साधारणं करणं मनुतेऽनेनेति । पुरुषस्तु कर्ता सन् मन्वानो मन इत्युच्यते' इतिशङ्करभाष्योक्त्या मनोऽपीन्द्रियमेव करणवाचिशब्दानां कर्तृप्रत्ययान्तत्वविवक्षायां तु आत्मैव तत्तच्छब्दार्थ इति च विवक्षितमिति प्रतीयते—

ज्ञानशक्तिविकासानां मनः साधारणं मतम् ।
क्रियाशक्त्युद्भवानां च करणं तत्त्रिकालदृक् ॥ ७०८ ॥

इति सुरेश्वरवार्तिकाच्च । एवं चतुर्थे ;—'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदैषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषस्स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः (१-१७) इति ; एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (१८) इति सुषुप्तिस्वप्नवाक्ययोः मनोवाचोरिन्द्रियत्वं आत्मोपकारकत्वादिकं च स्पष्टम् । एवं च 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत (३-५-३) इत्यत्र आत्मोपकारकेष्विन्द्रियेषु प्रधानस्य मनस इन्द्रियस्यात्मोपकारकत्वं प्रतिपिपादयिषितम् । मनसः प्रथममभिधानेन प्राधान्यं सूच्यते । तच्च कर्त्रात्मगतसर्वज्ञानकामादिनिमित्तकारणत्वरूपमुत्तरश्रुतिवाक्येनैव प्रकाश्यते । अत एव पञ्चमे (१) 'घ्राणवाग्जिह्वाचक्षुश्श्रोत्रमनोहस्तत्वचां ग्रहत्वं गन्धनामरसरूपशब्दकामकर्मस्पर्शानामतिग्रहत्वं च वक्ष्यमाणं संगच्छते । ग्रहाः—इन्द्रियाणि, अतिग्रहाः—तत्तदिन्द्रियविषयाः । गन्धादिविषयविशेषितज्ञानाद्यसाधारणकारणत्वेन गन्धप्रत्यक्षानुपादानभूतानां घ्राणादीनामिव कामासाधारणकारणत्वेन मनसो निर्देशेन मनसः कामनिमित्त

भावप्रकाशः

कारणत्वं न तूपादानकारणत्वम् 'मनसा हि कामान् कामयते' इति मनसो व्यतिरिक्तमेव कामाद्यधिकरणमुक्तम्। तच्चात्मैव। 'गन्धान् जिघ्रति' इति वाक्यस्य 'घ्राणेन गन्धं सर्वो लोको जिघ्रति' इति शङ्करभाष्ये विवरणेन अत्रापि सर्वलोकस्यैव कर्तृत्वेन तस्यैवाधिकरणत्वात्। अत एव घ्राणादीनां ग्रहत्वमुपपद्यते; ग्रहत्वस्य स्वासाधारणकार्यविशेषैरात्मबन्धकत्वरूपस्यैव विवक्षितत्वात्। आत्मबन्धश्च सुरेश्वराचार्यैरप्युक्तः;—

ग्रहा घ्राणादयो ज्ञेयाः गन्धाद्यास्तदतिग्रहाः।
ग्रहैर्गन्धादयो ग्रस्ताः ग्रहाश्चात्मा च गोचरैः ॥ १० ॥

इति। 'ग्रहातिग्रहाणां ग्रहीतुश्च बद्धत्वमाह—ग्रहैरिति' इत्यानन्दगिरिः। एवं च दर्शनकामाद्याश्रयत्वमात्मन एव। दर्शनादौ चक्षुरादेरिव कामादौ मनसोऽपि निमित्तत्वमेवेति मनो न दर्शनकामाद्युपादानम् तत्करणत्वात् इत्यनुमानानुगृहीतया श्रुत्यैव सिद्धेः। अत्रापि कामादिनिमित्तत्वमेव प्राधान्यं मनसः ॥

मनस इन्द्रियत्वं शाङ्करसूत्रभाष्यभामत्यादिषु वाचस्पतिना सिद्धान्तितम्। अतोऽत्र वागिन्द्रियमेव वाक्छब्देन विवक्षितम्। ज्ञानेन्द्रियेषु प्रधानस्य मनस इव कर्मेन्द्रियेषु प्रधानस्य वागिन्द्रियस्यैव आत्मभोगार्थत्वेनान्नत्वस्यावश्याभिधेयत्वात् 'अन्यत्र मना अभूवम् नादर्शम्' इत्यादिना मनसः प्रधानेन्द्रियत्वमुच्यते। चक्षुश्श्रोत्रादिजन्यज्ञानस्यापि मनस्संबन्धान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन मनसः प्राधान्यम्। अनन्तरम्;—'मनसा ह्येव पश्यति' इत्यादिना बहिरिन्द्रियजन्यज्ञानस्य मनःकार्यतया मनसः प्राधान्यमभिधाय तत्तदिन्द्रियजन्यज्ञानावस्थाविलक्षणकामाद्यात्मकावस्थाविशेषहेतुतयाऽपि मनसः प्रधानेन्द्रियत्वमभिधीयते कामस्सङ्कल्प इत्यादिना। 'मनसा ह्येव पश्यति' इत्यत्र

भावप्रकाशः

एवकारः अत्राप्रसक्तस्य चक्षुषः करणत्वं पञ्चमे श्रुत्यैव वक्ष्यमाणं न व्यवच्छिनत्ति । एवकारार्थस्तु वक्ष्यते । इत्थं च चक्षुरादेर्मनसश्च दर्शनादौ करणतया दर्शनाद्यनन्तरकालिकविषयाभिलाषसङ्कल्पादौ कस्यासाधारणकारणत्वमिति शङ्काऽपि कामस्सङ्कल्प इत्यादिना निरस्यते । सङ्कल्पः— सविकल्पकज्ञानम् । धीः चिन्ता स्मृतिः । सविकल्पकस्मृत्यादौ मनसः करणत्वं साङ्ख्यैरप्यङ्गीकृतम् ॥

एवं च 'बुद्धेः करणत्वोपगमात्' (२-३-४० सू.) 'अपि चैकादशैव कार्यजातानि रूपाद्यालोचनादीनि परिगणितानि यदर्थमेकादश प्राणास्संगृहीताः' (२-४-१० सू.) 'श्रोत्रादिनिरपेक्षा भूतभविष्यदादिविषया मनसोऽपरा वृत्तिरस्तीति' (२-४-१२ सू.) इति शाङ्करसूत्रभाष्यं 'करणं तत्त्रिकालदृक्' ७०८) इति (बृ) सुरेश्वरवार्तिकं, 'सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्ति मनस्तु, (२-४-२) इति शङ्करसूत्रभाष्यस्य आनन्दगिरिणा मनस इन्द्रियत्वसमर्थनपरत्वेन विवरणं, 'इन्द्रियाणां वर्तमानमात्रविषयत्वात् मनसस्तु त्रैकाल्यगोचरत्वाद्भेदेनाभिधानं (२-४-८) इति मनसः प्रधानेन्द्रियत्वप्रतिपादनपरं भामतीवाक्यं च संगच्छते । 'एतत्सर्वं मन एव' इत्यत्र मनोवाचिशब्दान्तरं विहाय मनश्शब्दप्रयोगोऽप्यमुमेवार्थं स्थिरीकरोति । मन्यतेऽनेनेति मनश्शब्दो विवृतोऽमरसुधायाम् । 'मन्वानो मनः' 'मनसा कामान् कामयते' इत्युदाहृतश्रुत्या आत्मनः कर्तृत्वबोधनेन मनस उपादानत्वबोधकप्रमाणविरहेण च 'मन्वानो मनः' इति भाष्यवार्तिकयोरुक्तदिशा करणप्रत्ययान्त एवात्र मनश्शब्दः । तदुक्तं 'तस्मादपि पृष्ठत उपसृष्टो मनसा विजानाति' इत्यत्रापि मनसो ज्ञाननिमित्तकारणत्वमेवाभिहितम् । एवं च पूर्वं परत्र च मनसो ज्ञाननिमित्तकारणत्वाभिधानात्

भावप्रकाशः

'एतत्सर्वं मन एव' इत्यत्रापि कार्यकारणभाव एव विवक्षित इति तन्निबन्धनमेव सामानाधिकरण्यम् । साङ्ख्यमतेऽपि 'एतत्सर्वं' इत्यत्र बहिरिन्द्रियजन्यज्ञानविवक्षणमावश्यकम् । अन्यथा तन्मते बहिरिन्द्रिय-जन्यज्ञानस्य मनःपरिणामत्वासिद्धिः स्यात् । बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने च मनसो हेतुत्वं पूर्वं परत्र चोक्तम् ॥

किंच मृद्धट इतिवत् कामः सङ्कल्पो मन इत्यादिवैदिकपरी-क्षकप्रचुरप्रयोगाविरहात् परिणामपरिणामिवाचकपदयोस्सामानाधिकरण्यं साङ्ख्यमतेऽपि भाक्तं वाच्यम् । अत एव 'इति तु कामयमानः 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः' 'कामान् यः कामयत' इत्यादिश्रुतयस्संगच्छन्ते ॥

ननु विवरणे 'सत्यन्तःकरणे भावादसति च सुषुप्तेऽभावादन्तः करणधर्माः कामादयः' इत्युपक्रम्य अन्वयव्यतिरेकयोः करण-विषयत्वेनान्यथासिद्धिमाशङ्क्य कार्यस्य कारणपरतन्त्रतानियमात्करण-नियमाभावात्करणकल्पनादुपादानकल्पनस्याभ्यर्हितत्वाच्चक्षुरादिकरणान्त-रभावाच्चेति समाधाय 'आत्मन उपादानत्वे मृद्धट इत्यादिवदहं काम इति स्यात् । अतोऽहं कामी इति दण्ड्यादिवत्संबन्धप्रत्ययः' इत्युक्तम् ॥

'अन्तःकरणस्यैव विशेषपरिणामस्य ज्ञानत्वाभ्युपगमात्, इति विवरणतत्वदीपने 'कामस्सङ्कल्पः' इति श्रुतिमुदाहृत्य मृदो घटादि-रूपेणावस्थावदन्तःकरणस्यैव व्यवस्थितत्वमभिहितम् ॥

एवं गीताव्याख्याने मधुसूदनसरस्वतीभिः 'कामस्सङ्कल्प इत्या-दिश्रुतिः मृद्धटवदुपादानाभेदेन कामानां मनोधर्मत्वमाह' इत्युक्तम् ॥

सिद्धान्तसिद्धाञ्जने च 'यः कश्चन शब्दो वागेव, इत्यत्र वागिन्द्रियं न विवक्षितम्; तथा सति वीणाशब्दादेर्वागिन्द्रियानिमित्त-

भावप्रकाशः

कत्वेन शब्दसामान्यासङ्ग्रहः स्यात् । वस्तुतस्तु वागिन्द्रियमेवोच्यतां वाक्पदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दकरणेन्द्रियत्वम् । एवं च सविशेषणे हीति न्यायेन वागिन्द्रियविशेषणीभूतशब्दसामान्याभेदालम्बनं तद्वृत्तिभूतयावद्विशेषशब्दसामानाधिकरण्यं संघटिष्यते । एवं प्राणोऽपानः इत्याद्युपक्रम्य 'एतत्सर्वं प्राण एवेत्यत्र प्राणादीनां तत्त्वैकत्वे सति वृत्तिभेदमात्रत्वाद्वृत्तिवृत्तिमतोस्सामानाधिकरण्यम्; एवं च 'कामः सङ्कल्पः' 'एतत्सर्वं मनः' इत्यत्रापि मृद्घट इत्यादाविव वस्तुवृत्तेन वृत्तिवृत्तिमतोरभेदात्सामानाधिकरण्यम् । सूत्रितं च 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' इति । लौकिकानां मनः काम इति शब्दप्रत्ययोऽस्तु न प्रवृत्तिः अहमित्येवात्मतादात्म्येनात्मधर्मत्वविभ्रमात् । अहं कामः आकाशः शब्दः अहं देहः शिलापुत्रकश्शरीरं इत्यादि प्रयोगाः लोकव्युत्पत्त्यैव तेषां निष्कृष्टविषयत्वविज्ञानात्स्वरूपासंभेदग्रहस्य परिपन्थितया वारणीयाः । 'मनसा ह्येष पश्यति' इत्यादिकं तु मृदा घटं करोति, कटमेरकाभिः करोति, इत्यादिवन्नोपादानतां विरुणद्धि । अपि च यथा 'कषायेण रज्यति पटः,' 'यः प्राणेन प्राणिति' 'योऽपानेनापानिति' इति व्यपदेशः कषायप्राणयो रक्तिमप्राणनोपाधित्वात्तथा मनस उपाधित्वादयमपि व्यपदेशः । अथवा मनो द्विविधम्; बुद्धिसत्त्वतद्वृत्तिभेदात्; कामादावाद्यमुपादानं द्वितीयं निमित्तमिति 'एतत्सर्वं मनः' 'मनसा ह्येव पश्यति' इति व्यपदेशद्वयोपपत्तिः । मनोविरहकाले 'सोऽकामयत' 'सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः' इत्यादिव्यवहारो लोकदृष्ट्या कार्यसिद्धिमपेक्ष्य ज्ञानस्यैव कामादित्वोपचारादुपपादनीयः; 'यस्य ज्ञानमयं तपः' इति लिङ्गात् ॥

अथवा—अन्तःकरणसमष्टिशक्तिमयमायोपाधिकस्स भविष्यति, तस्या एव तदवच्छेदेन मनश्शब्दत्वाविरोधात् । 'पराभिध्यानात्तु

भावप्रकाशः

'एतत्सर्वं मन एव' इत्यत्रापि कार्यकारणभाव एव विवक्षित इति तन्निबन्धनमेव सामानाधिकरण्यम् । साङ्ख्यमतेऽपि 'एतत्सर्वं' इत्यत्र बहिरिन्द्रियजन्यज्ञानविवक्षणमावश्यकम् । अन्यथा तन्मते बहिरिन्द्रिय-जन्यज्ञानस्य मनःपरिणामत्वासिद्धिः स्यात् । बहिरिन्द्रियजन्यज्ञाने च मनसो हेतुत्वं पूर्वं परत्र चोक्तम् ॥

किंच मृद्धट इतिवत् कामः सङ्कल्पो मन इत्यादिवैदिकपरी-क्षकप्रचुरप्रयोगविरहात् परिणामपरिणामिवाचकपदयोस्सामानाधिकरण्यं साङ्ख्यमतेऽपि भाक्तं वाच्यम् । अत एव 'इति तु कामयमानः 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः' 'कामान् यः कामयत' इत्यादिश्रुतयस्संगच्छन्ते ॥

ननु विवरणे 'सत्यन्तःकरणे भावादसति च सुषुप्तेऽभावादन्तः करणधर्माः कामादयः' इत्युपक्रम्य अन्वयव्यतिरेकयोः करण-विषयत्वेनान्यथासिद्धिमाशङ्क्य कार्यस्य कारणपरतन्त्रतानियमात्करण-नियमाभावात्करणकल्पनादुपादानकल्पनस्याभ्यर्हितत्वाच्चक्षुरादिकरणान्त-रभावाच्चेति समाधाय 'आत्मन उपादानत्वे मृद्धट इत्यादिवदहं काम इति स्यात् । अतोऽहं कामी इति दण्ड्यादिवत्संबन्धप्रत्ययः' इत्युक्तम् ॥

'अन्तःकरणस्यैव विशेषपरिणामस्य ज्ञानत्वाभ्युपगमात्, इति विवरणतत्वदीपने 'कामस्सङ्कल्पः' इति श्रुतिमुदाहृत्य मृदो घटादि-रूपेणावस्थावदन्तःकरणस्यैव व्यवस्थितत्वमभिहितम् ॥

एवं गीताव्याख्याने मधुसूदनसरस्वतीभिः 'कामस्सङ्कल्प इत्या-दिश्रुतिः मृद्धटवदुपादानाभेदेन कामानां मनोधर्मत्वमाह' इत्युक्तम् ॥

सिद्धान्तसिद्धाञ्जने च 'यः कश्चन शब्दो वागेव, इत्यत्र वागिन्द्रियं न विवक्षितम्; तथा सति वीणाशब्दादेर्वागिन्द्रियानिमित्त-

भावप्रकाशः

कत्वेन शब्दसामान्यासङ्ग्रहः स्यात्। वस्तुतस्तु वागिन्द्रियमेवोच्यतां वाक्पदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दकरणेन्द्रियत्वम्। एवं च सविशेषणे हीति न्यायेन वागिन्द्रियविशेषणीभूतशब्दसामान्याभेदालम्बनं तद्वृत्तिभूतयावद्विशेषशब्दसामानाधिकरण्यं संघटिष्यते। एवं प्राणोऽपानः इत्याद्युपक्रम्य 'एतत्सर्वं प्राण एवेत्यत्र प्राणादीनां तत्त्वैकत्वे सति वृत्तिभेदमात्रत्वाद्वृत्तिवृत्तिमतोस्सामानाधिकरण्यम्; एवं च 'कामः सङ्कल्पः' 'एतत्सर्वं मनः' इत्यत्रापि मृद्घट इत्यादाविव वस्तुवृत्तेन वृत्तिवृत्तिमतोरभेदात्सामानाधिकरण्यम्। सूत्रितं च 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' इति। लौकिकानां मनः काम इति शब्दप्रत्ययोऽस्तु न प्रवृत्तिः अहमित्येवात्मतादात्म्येनात्मधर्मत्वविभ्रमात्। अहं कामः आकाशः शब्दः अहं देहः शिलापुत्रकश्शरीरं इत्यादि प्रयोगाः लोकव्युत्पत्त्यैव तेषां निष्कृष्टविषयत्वविज्ञानात्स्वरूपासंभेदग्रहस्य परिपन्थितया वारणीयाः। 'मनसा ह्येष पश्यति' इत्यादिकं तु मृदा घटं करोति, कटमेरकाभिः करोति, इत्यादिवन्नोपादानतां विरुणद्धि। अपि च यथा 'कषायेण रज्यति पटः,' 'यः प्राणेन प्राणिति' 'योऽपानेनापानिति' इति व्यपदेशः कषायप्राणयो रक्तिमप्राणनोपाधित्वात्तथा मनस उपाधित्वादयमपि व्यपदेशः। अथवा मनो द्विविधम्; बुद्धिसत्त्वतद्वृत्तिभेदात्; कामादावाद्यमुपादानं द्वितीयं निमित्तमिति 'एतत्सर्वं मनः' 'मनसा ह्येव पश्यति' इति व्यपदेशद्वयोपपत्तिः। मनोविरहकाले 'सोऽकामयत' 'सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः' इत्यादिव्यवहारो लोकदृष्ट्या कार्यसिद्धिमपेक्ष्य ज्ञानस्यैव कामादित्वोपचारादुपपादनीयः; 'यस्य ज्ञानमयं तपः' इति लिङ्गात्॥

अथवा—अन्तःकरणसमष्टिशक्तिमयमायोपाधिकस्स भविष्यति, तस्या एव तदवच्छेदेन मनश्शब्दत्वाविरोधात्। 'पराभिध्यानात्तु

भावप्रकाशः

तिरोहितम्' इति सूत्रे मायोपाधिकसत्यकामत्वादेरीश्वरेऽङ्गीकारात्तदंशे जीवे सत्यकामत्वाद्यभिव्यक्तिशङ्कायां तिरोहितमविद्ययेत्युच्यते। परा-भिध्यानात्तिरोधानापनये 'स यदि पितृलोककामो भवति' इति श्रुत्युक्त आविर्भावः॥

अथवा—आत्माभेदादेव ज्ञानैश्वर्यादि जीवस्याशङ्क्याविद्यया तिरोहितं पराभिध्यानादाविर्भवति 'ज्ञात्वादेवं' 'तस्याभिध्यानात्तु तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आत्मकामः' इति श्रुतेः। इत्थं च 'मनसि मे सुखं' 'व्येतु ते मनसो व्यथा, 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इत्या-दिव्यपदेशाः 'पादे मे वेदना' इत्यादिवदगौणा भवन्तीति 'एतत्सर्वं मन एव' इत्यत्र सामानाधिकरण्यं मृद्धटवदेवेति प्रतिष्ठापितमिति चेत्—

उच्यते—कामस्मृत्यादेरसाधारणनिमित्तकारणमेव करणमित्य-न्वयव्यतिरेकौ तद्विषयावेव। अत एव 'अपिचैकादशैव कार्यजातानि रूपाद्यालोचनादीनि परिगणितानि यदर्थमेकादश प्राणास्सङ्गृहीताः' इत्यादिभाष्यं संङ्गच्छते। एवमादिभाष्यान्मनसः करणत्वं पूर्वमेव निरूपितं चक्षुरादिवत्। 'स प्राणन्नेव प्राणो वदन् वाक्' प्राणन-क्रियाकर्तृत्वाद्धि प्राणः! क्रिया च नामरूपसाध्या प्राणसमवायिनी; तस्याः प्राणाश्रयायाः क्रियाया अभिव्यक्तौ वाक्करणम्, इत्यादि-शङ्करभाष्ये प्राणस्योपादानत्वं वागादीनां करणत्वं च सुस्पष्टम्। एवं—

नामरूपप्रकाश्या च क्रिया प्राणात्मिका तथा।

नामाभिव्यक्तिकृद्वाक्स्यात् (२-४-५)

इत्यादिवार्तिकेऽपि। एवं 'अकरणत्वाच्च न दोषः' इत्यादिसूत्रभाष्य-भामत्यादिषु प्राणस्याकरणत्वं मनसः करणत्वं च व्यक्तमुक्तम्॥

किञ्च 'बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात्' (२-३-४० सू.) इति

भावप्रकाशः

भाष्यभामत्यां; 'अयमभिसन्धिः—चैतन्यमुपलब्धिरात्मस्वभावो नित्य इति न तत्रात्मनः कर्तृत्वम्, नापि बुद्धेः करणत्वम्, किंतु चैतन्यमेव विषयावच्छिन्नं वृत्तिरिति चोपलब्धिरिति चाख्यायते। तस्य तु तत्तद्विषयावच्छदे वृत्तौ बुद्ध्यादीनां करणत्वं, आत्मनश्च तदुपधानेनाहङ्कारपूर्वकं कर्तृत्वं युज्यत इति' इत्यनेन वृत्तौ बुद्धेः करणत्वं तदुपहितस्यात्मनः कर्तृत्वं च स्थापितम्। एवं च 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' (२-४ १२) इति सूत्रेऽपि प्राणस्योपादानत्वं मनसो निमित्तत्वमेव विवक्षितम्॥

उक्तं च विवरण एव 'विज्ञानानि मनसा ह्येव पश्यति' इत्यादिप्रमाणवचनैर्मनसः करणत्वम्। इत्थं च 'ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इति धीशब्दवाच्यज्ञानपरिणामवन्मन इति विवरणोक्त्या 'कामः सङ्कल्पः' इति श्रुतौ धीशब्दवाच्यज्ञानकरणत्वं मनसोऽभ्युपेतम्। एवं 'मनसा कामान् कामयते' 'मनसा वा अग्रे सङ्कल्पयति' 'संशयं कुरुते मनः' इत्याद्यनुसारेण 'कामस्सङ्कल्पः' इति श्रुतौ संकल्पविचिकित्साधीषु भामात्याद्युक्तदिशा मनसः करणता सम्भवतीति तत्सहपठितेषु कामादिष्वपि तद्विवक्षणमेवोचितम्, अभ्यासरूपतात्पर्यलिङ्गाच्च। शङ्करभाष्ये प्राणापानादिशब्दार्थनिरूपणानुसारेण प्राणस्योपादानत्वं स्फुटं सर्वसंप्रतिपन्नं च। अतः प्राणमनसोरुपादाननिमित्तयोः कारणत्वेनोपकरणत्वात्सूत्रं समञ्जसं भवति॥

किं चान्तःकरणमिति प्रसिद्धिरेव मनसः करणतामिन्द्रियतां च द्रढयति। प्राणस्य तु तथा प्रसिद्धिविरहात्तद्विसजातीयत्वम्। पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इत्युक्तनामरूपाभिव्यक्तिक्रिया 'वदन् वाक्' इत्यादिना विशदीकृतेत्यत्रापि

भावप्रकाशः

मनोवाचोरात्मोपकरणत्वमुखेन सा विशदीक्रियते । वाक्शब्दोऽपि वच-परिभाषण इति धातुना निष्पन्न इति 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यादिकोशान्निश्चीयते, तत्र कर्मप्रत्ययान्तत्वेऽपि करणप्रत्ययान्ततया निष्पन्नोऽत्रत्यो नामोच्चारणकरणमाचष्टे । पञ्चमाध्याये 'वाचा हि नामान्यभिवदति' इत्यनेन वाक्शब्दस्येत्थमेवार्थो निर्धारितः । अत्र 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचम्' इत्यत्र मनोवाचोः क्रमेण 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इत्युक्तः क्रमः प्रत्यभिज्ञाप्यते । अतोऽत्र वाच आत्मोपकरणत्वप्रकरणे 'यः कश्चन शब्दो वागेव सा' इत्यत्र नामसामान्योच्चारणकरणं वागिति विवक्षितम् । एवमेव 'कामस्सङ्कल्पः+एतत्सर्वं मनः' इत्यत्रापि संभवति । मन्यतेऽनेनेत्यमरसुधायां मनश्शब्दविवरणेन मनधात्वर्थज्ञाने कामादेरभेदान्वयस्यापि संभवात् । बोधस्तु 'सुपां सु' इति तृतीयार्थकसुप्रत्ययेन कामादिशब्दानां करणवाचितया मनश्शब्दयोगार्थे एकदेशान्वयेन लक्षणया वेत्यन्यदेतत् । ज्ञानं काम इत्यप्रयोगस्तु लौकिकव्युत्पत्त्या भेदग्रहस्य परिपन्थित्वात् । कामादेर्ज्ञानस्य चानुभवसाम्येन आरम्भणाधिकरणनयेन लाघवानुगृहीतया श्रुत्या वस्तुवृत्तेनार्थतत्त्वं प्रतिपाद्यते । इत्थं च कामादेर्धर्मभूतज्ञानावस्थाविशेषतया 'मनसा कामान् कामयते' इत्यादिकं स्वरसत उपपद्यते । यद्यपि हेतुसामान्यार्थकतृतीयाया उपादानार्थकत्वमपि संभवति, तथाऽपि प्रथमं कामस्य मन उपादानकत्वानिश्चयेन मनोऽन्यवृत्तित्वनिश्चयेन प्रतिबन्धान्मनोऽनवच्छिन्नात्मनः कामकर्तृत्वानभ्युपगमात् 'चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति, श्रोत्रेण शब्दान् शृणोति' इति सहपठितत्वाच्चास्य वाक्यस्य नोपादानार्थविवक्षा संभवति । कषायपटयोः पृथगवस्थानदशायां परस्परविरुद्धरक्तशुक्लरूपयोः प्रत्यक्षेण निश्चयेन कषायेण रज्यति पट इत्यत्र वास्तविकस्य पटगतस्य रक्तरूपस्य

भावप्रकाशः

न भानम्। अत एव 'तेन रक्तं रागात्' इति सूत्रे तेन रक्तत्वं तत्संबन्धाधीनतदीयरूपारोपविषयत्वमिति व्युत्पत्तिवादे गदाधरोक्तं संगच्छते। प्रकृते मन आत्मनोः परस्परविरुद्धकामादितादितरधर्मवत्त्वेन प्रत्यक्षेणानिर्णयात्। मनोविरहकालेऽपि 'आत्मैवेदमग्र असीत्' स ईक्षत सोऽकामयत बहुस्यां' 'तदैक्षत बहुस्याम्' इत्यादिश्रुत्युक्तकामादेः मनोवृत्तित्वोत्प्रेक्षणस्यायुक्तत्वाच्च नारोपितार्थस्यौपाधिकस्य भानम्। 'कामस्सङ्कल्पः एतत्सर्वं मनः' इत्यत्रोक्तदिशा कामादेर्ज्ञानावस्थाविशेषत्वप्रतीत्यङ्गीकारेण 'सोऽकामयत' 'तदैक्षत' इत्यादेर्मुख्यत्वसंभवे कामादौ ज्ञानत्वोपचारकथनस्यायुक्तत्वात्। कामादेरात्मधर्मत्वं श्रुत्यनुभवसिद्धमनन्यथासिद्धश्रुत्यादिप्रमाणेन यद्यबाधिष्यत तदाऽन्तःकरणसमष्टिशक्तिमयमायोपाधिकस्स भविष्यतीति हठादस्वरसार्थोऽप्युत्प्रैक्षिष्यत; न च तादृशं प्रमाणं वर्तते। 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्' 'ब्राह्मेण जैमिनिः' इत्यत्र सत्यकामत्वादेस्तात्विकत्वमेव विवक्षितमिति स्थापयिष्यते। अतः 'सोकामयत' 'तदैक्षत' इत्यादिश्रुतिभिस्तात्पर्यचन्द्रिकायां कामादे[रा]त्मधर्मत्वसाधनं निष्प्रत्यूहम्॥

यद्यपि मन[सः] अध्यवसायाभिमानाचिन्तारूपा वृत्तयः, बुद्धिशब्दस्य महत्तत्त्वं अध्यवसायश्चार्थ इत्येतावन्मात्रं प्रामाणिकम्। न चैतावता बुद्धितत्त्वतद्वृत्तिरूपे मनसी उपादानकारणभूते इत्युत्प्रेक्षणं संभवति। साङ्ख्यसंमतचतुर्विंशतितत्वानां व्यासेन मोक्षधर्मादौ वैदिकत्वस्थापनात्। 'मनो महान्' इत्यादिस्मृतिवचनं तु ब्रह्मेश्वरादिपदसामानाधिकरण्यादन्यपरम्। इत्थं च 'पादे मे वेदना' इत्यादि वदेव 'मनासि मे सुखं' इत्यादिप्रयोगा अस्मदर्थात्मगतसुखविषयकाः। अन्तःकरणस्यास्मदर्थप्रवेशं वदतां मते मनसो द्विधा भानमनुभवविरुद्धमेव। 'प्राणन्नेव

भावप्रकाशः

प्राणो वदन् वाक्' इत्यत्र 'प्राणनाक्रियाकर्तृत्वाद्धि प्राणः' इति (शं. भा) विवरणात् 'अधिष्ठानं तथा कर्ता' इत्यादौ प्राणस्य तदितरेषां च हेतुत्वस्य गानाच्च 'यः प्राणेन प्राणिति' इति निर्व्यूढम्। इत्थं च —

'प्राणोऽपानस्समानश्चोदानव्यानौ च वायवः'।

इति कोशादिषु प्राणस्य वायुसजातीयत्वाभ्युपगमात्;

अन इत्यविशिष्टस्य वायोर्ग्रहणमिष्यते।
स एव प्रादिसंबन्धाद्विशेषार्थो भवेदसुः ॥ ११४१ ॥
प्राणशब्दः पुरा प्रोक्तो वृत्तिमात्राभिधायकः।
अन्ते वृत्तिमदर्थः स्यात्सर्वं प्राण इतीरणात् ॥ ११५१ ॥

इति वार्तिकोक्तः 'प्राणोऽपानः एतत्सर्वं प्राण एव' इति श्रुत्यर्थस्सर्वसंप्रतिपन्नः। 'पञ्च वृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' इति सूत्रे संप्रतिपन्नांश एव दृष्टान्तौचित्येन धीशब्दार्थकरणताया उभयसंमततया उपलब्धितादितरकामाद्योरनुभवांशे वैषम्याभावेन श्रुतेस्तुल्यतया 'मनसा कामान् कामयते' इति श्रुतिस्वारस्यात् मनः काम इत्यादिवैदिकपरीक्षकप्रचुरप्रयोगविरहान्मनोविरहकाले कामवत्त्वश्रुतिभिश्च कामादयो मनोवृत्तय इत्यर्थस्तु न घटते, किं तु धर्मभूतज्ञानावस्थाविशेषाः कामादयः, तन्निमित्तकारणं मन इत्येवार्थो युक्तः। रीतिस्तु सुपां सुविधानेन योगेन एकदेशान्वयेन लक्षणया वेत्युक्तैव। मृद्धट इत्यादौ घटादिशब्दा वृत्तिमदर्थकाः प्रसिद्धाः। कामादिशब्दास्तु वृत्त्यर्थका एव प्रसिद्धा न वृत्तिमदर्थका इति 'कामः सङ्कल्पः' 'एतत्सर्वं मनः' इत्यत्र न मृद्धटवत्सामानाधिकरण्यमभाक्तं संभवतीति। ननु सिद्धान्तबिन्दौ;—(१३२) मधुसूदनसरस्वतीभिः 'एवमत्र प्रक्रिया —शरीरमध्ये स्थितः सर्वशरीरव्यापकः सूक्ष्मपञ्चभूतारब्धः अन्तःकरणाख्यः अविद्याविवर्तः दर्पणादिवदतिस्वच्छः नेत्रा-

भावप्रकाशः

दिद्वारा निर्गत्य योग्यान् घटादीन् विषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति द्रुतताम्रादिवत् । तस्य च सौरालोकादिवत् झडित्येव सङ्कोचविकासा-वुपपद्येते । स च सावयवत्वात् परिणममानो देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग्व्याप्य देहघटयोर्मध्येऽपि चक्षुर्वदविच्छिन्नोऽप्यवतिष्ठते । तत्र देहेऽन्तःकरणभागोऽहङ्काराख्यः कर्तेत्युच्यते । देहविषयमध्यवृत्तिदण्डा-यमानस्तद्भागः वृत्तिज्ञानाख्यः क्रियेत्युच्यते । विषयव्यापकस्तद्भागो विषय-स्य ज्ञानकर्मत्वसंपादकमभिव्यक्तियोग्यत्वमित्युच्यते ' इति अध्यासभाष्य-पञ्चपादिकाद्युक्तसरणिः परिष्कृता। इत्थं च सांख्यमतेऽपि तथैवाङ्गीकारेण कामादीनामन्तःकरणविकासरूपत्वेन अन्तःकरणावयवत्वात् अवयवावय-विनोर्भेदाभेदस्य तादात्म्यस्य कुमारिलादिभिरिव तैरप्यङ्गीकारात् तन्तवः पटः पटे तन्तवः इतिवत् ' कामस्संकल्पः ; एतत्सर्वं मनः ' ' कामा येऽ-स्य हृदि श्रिताः ' इति श्रुतिद्वयमप्युपपद्यते इति चेत् ; मनसः सात्विका-हङ्कारकार्यत्वं (२४ २५ सां–कौ) वदन्तस्सांख्याः सूक्ष्मपञ्चभूतारब्धत्वं कथं प्रामाणिकं ब्रूयुः ? एवं गीताव्याख्याने मधुसूदनसरस्वत्यः ;—महदहङ्कारतत्वतया सांख्याभ्युपगतयोः बुद्ध्यहङ्कारयोः ' तदैक्षत बहु स्याम् ' इत्याद्युक्तसदीक्षणसङ्कल्पचिकीर्षारूपतामाहुः ; तद्वा चतुर्विंशति-तत्ववादिनस्सांख्याः कथं प्रामाणिकं वदेयुः ? आचार्यपादाश्च जडसरे—

' दृष्ट्वा साङ्ख्यं पुराणादिकमपि बहुधा निर्वहन्त्येतदेके ' ॥

इत्युक्तमर्थं परमतभङ्गन्यायसिद्धाञ्जनयोः प्रत्याक्षिपन् । विष्णु-पुराणश्रीभागवतमोक्षधर्मादिषु चतुर्विंशतितत्वानां जीवपरमात्मतत्वयोश्च औपनिषदत्वं स्पष्टम् ॥

किञ्च ' अविद्यातद्व्याप्यतत्कार्यात्मकः प्रपञ्चो दृश्यपदार्थः । सोऽपि त्रिविधः अव्याकृतमूर्तामूर्तभेदात् । तत्र साभासाविद्यातद्व्या-

भावप्रकाशः

ण्यैश्चैतन्यतत्संबन्धजीवेश्वरविभागचिदाभासैस्सहानादित्वादव्याकृतमित्यु-च्यते। अयं चाव्याकृतपदार्थ ईश्वरोपाधिः। सा च पञ्चमहाभूतानि जनयति। तानि च सूक्ष्माण्यपञ्चीकृतानि पञ्चमहाभूतान्यमूर्ताख्यानि। कारणैक्यात्सत्वरजस्तमोगुणात्मकानि सत्वांशप्राधान्येन ज्ञानक्रिया-शक्त्यात्मकमेकं स्वच्छद्रव्यं चित्ररूपमिव मिलित्वा जनयन्ति। तस्य च ज्ञानशक्तिप्रधानांशोऽन्तःकरणम्। तच्च बुद्धिर्मन इति द्विधोच्यते। क्रियाशक्तिप्रधानांशः प्राणः। अयममूर्तपदार्थः जीवोपाधिरेव। तानि पञ्चीकृतानि पञ्चमहाभूतानि मूर्ताख्यानि' इति सिद्धान्तबिन्दुः॥

अत्र बुद्धिर्मन इति द्विधेति—'बुद्धेरप्यहङ्कारनिश्चयतदन्य-निश्चयरूपवृत्तिभेदेन अहङ्कारोऽनहङ्कारश्चेति द्वैविध्यम्। मनोऽपि द्वि-विधम्—संशयवृत्त्या चित्तं संकल्पादिवृत्तिभिरचित्तं 'कामस्संकल्पो वि-चिकित्सेत्यादि एतत्सर्वं मन एव' इति श्रुतेः' इति तट्टीका॥

लघुचन्द्रिकायाम् (६०१)—वीक्षणजन्यमायापरिणामरूपाहङ्का-रस्य मनोजनकत्वमुक्तम्। एवं च मन उत्पत्तिप्राक्कालिकयोः सदीक्षण-चिकीर्षयोः अविद्यावृत्तिरूपयोः मनोभिन्नाया द्विविधाया बुद्धेश्च मनो-वृत्तित्वासंभवेन उक्तश्रुत्या सदीक्षणादीनामनात्मधर्मत्वं न सिध्यति। एवं तन्मते शुक्तिरूप्यस्वाप्निकार्थयोरविद्यापरिणामत्वेन तज्ज्ञानस्याप्य-नात्मधर्मताऽनया न सिध्यति; नापि श्रुत्यन्तरं समस्ति। तदर्थं नेति नेतीत्यादिश्रुतिरेवान्वेषणीया॥

अपि च अन्तःकरणवासनानिमित्तः इन्द्रियवृत्त्यभावकालीना-र्थोपलम्भस्स्वप्नः। अविद्याया एव सर्वत्रार्थाध्यासोपादानत्वेन क्लृप्तत्वा-न्मनोगतवासनानिमित्तत्वेन च क्वचिन्मनःपरिणामत्वव्यपदेशात्' इति सिद्धान्तबिन्दुटीकायां 'क्वचित् 'सधीः स्वप्नो भूत्वा' इत्यादिश्रुतौ इत्य-

भावप्रकाशः

नेन मनोगतवासनानिमित्तकत्वेन मनःपरिणामत्वव्यपदेश उक्तः। एवं च 'कामस्संकल्प' इति श्रुतावपि क्वचिन्मनोनिमित्तकत्वेन कामादीनां मनःपरिणामत्वं व्यपदिश्यते' इत्युक्तिर्युक्तैव। कामादीनां ज्ञानावस्था-रूपत्वं गीतातात्पर्यचन्द्रिकायां स्थापितम् ॥

किञ्च 'प्रमैवान्तःकरणपरिणामः अहंकाराश्रयः स्मृतिसंशय-विपर्ययास्त्वविद्यापरिणामाः अविद्योपहितचिदाश्रयाः' इति सिद्धान्त-बिन्दावुक्तम्। इत्थं च उक्तश्रुतौ विचिकित्सापदार्थसंशयस्य मनःपरि-णामत्वं कथम्? एवं ध्यैचिन्तायामिति धातुना निष्पन्नधीशब्दार्थ-स्मृतेरपि। यदि प्रकृतिपरिणामाः कामादय इति भगवती श्रुतिरभ्यधास्य-त्तर्हीदं सर्वं समगंस्यत। रचनानुपपत्त्यधिकरणभाष्यमसमञ्जसमभविष्यत्, न च तथा श्रुतिः प्रतिपादयति। ननु विवरणानुसारेण धीशब्दस्य वृत्ति-रूपज्ञानमर्थ इत्यद्वैतपरिभाषायामुक्तमिति चेत्; तत्र वृत्तिरूपज्ञानस्य मनो-धर्मत्वे इमां श्रुतिं प्रमाणतयोदाहृत्य धीशब्देन वृत्तिरूपज्ञानाभिधानादि-त्युक्तम्। धीशब्दार्थनिर्णयानन्तरं श्रुत्या मनोधर्मत्वसिद्धिः मनोधर्मत्वसि-द्ध्यनन्तरं धीशब्दस्य वृत्तिरूपज्ञानार्थकत्वमित्यन्योन्याश्रयः ॥

न च मुख्यज्ञानस्य ब्रह्मरूपतया मनस्त्वासंभवादेव धीशब्दस्य वृत्त्यर्थकत्वमिति वाच्यम्; ब्रह्मातिरिक्तस्यापि मुख्यज्ञानत्वस्य स्थाप-यिष्यमाणतया ज्ञानतद्विशेषवाचिशब्दानामौपचारिकत्वकल्पनस्यान्याय्य-त्वात्। एतत्पूर्वब्राह्मणे 'स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वद-न्नेव वाक पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति आत्मनः चक्षुश्श्रोत्रमनोरूपेन्द्रियकरणकज्ञानकर्तृत्वं प्रतिपाद्यत इति भाष्यवार्तिकयोरप्युक्तया एतद्ब्राह्मणे 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचं प्राणम्' इति 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' इत्यत्रापि चक्षु-

भावप्रकाशः

श्श्रोत्रमनसां करणत्वमेव प्रतिपाद्यते इत्यास्थेयम्। एवंच ‘कामस्सङ्कल्पः एतत्सर्वं मन एव’ इत्यत्र सङ्कल्पविचिकित्साधीषु मननरूपेषु करणत्वमेव विवक्षितम्। पूर्वब्राह्मणे आत्मनः कर्तृत्वं एतद्ब्राह्मणे च कर्तृत्वफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते। अत्र च श्रुतौ प्रथमतः कामशब्दोपादानं पूर्वब्राह्मणान्ते ‘आत्मैवेदमग्र आसीत् एक एव सोऽकामयत’ इत्यात्मनः कामकर्तृत्वं प्रतिपादितमिति आत्मकर्तृके कामेऽपि मनसः करणत्वस्थापनार्थम्। अनया च वाचो भङ्ग्या दर्शनादेरिव कामादेरपि ज्ञानावस्थाविशेषरूपता सूच्यते ॥

पञ्चमे (२) ‘चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति’ इत्यादिवत् ‘मनसा हि कामान् कामयते’ इत्युक्त्या आत्मकर्तृकदर्शनादौ चक्षुरादेरिव आत्मकर्तृके कामे मनसः करणत्वं प्रतिपादयिष्यते। एवं च पूर्वं आत्मकर्तृकधीविशेषदर्शनश्रवणकरणत्वं मनस उक्तमिति धीशब्दस्यापि सामान्यजनकवृत्तिरेवार्थ इत्येव युक्तम्। अत्र वार्तिके;—‘विज्ञानं निश्चितं धीस्स्यात्’ इति धीशब्दस्य निश्चयोऽर्थः। एतत्सर्वमित्यत्र चाक्षुषादिवृत्तिसामान्यं विवक्षितमित्युक्तम्। ‘अवधारणरूपसङ्कल्पनिश्चययोः सामान्यविशेषभावादपौनरुक्त्यम्’ इत्यानन्दगिरिः ॥

एवम्;—

> चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः।
> बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ (३-४-६८२)

इन्द्रियासाधारणं व्यापारमाह—चक्षुरिति। चक्षुश्शब्देन दशेन्द्रियाणि गृह्यन्ते। आलोचनशब्देन दर्शनादयो वचनादयश्च गृह्यन्ते। संशयस्संकल्पस्याप्युपलक्षणमित्यानन्दगिरिः ॥

भावप्रकाशः

ज्ञानशक्त्युद्भवानां च मनस्साधारणं मतम् ।
क्रियाशक्त्युद्भवानां च करणं तत्रिकालदृक् ॥ (७०८)
साधनान्येव मनसो बुद्धिकर्मेन्द्रियाण्यपि ।
सहैवायतनैस्सर्वैः प्राधान्यं मनसस्ततः ॥ (३-५-१०९)
त्वचोपस्पृष्टिमात्रेण स्पर्शमात्रं प्रपद्यते ।
स्पर्शनादिविशेषं तु मनसैव प्रपद्यते ॥ १२६ ॥
बुद्धेश्च मनसश्चैक्यं विवक्षित्वोपसंहृतिः ।
मनसैव यतोऽशेषकरणस्वार्थधीभवः ।
सर्वं हि मन एवेति श्रुतिराह वचस्ततः ॥ १२७ ॥

इति वार्तिकम् । अत्र चाक्षुषाद्यालोचने मनसस्साधारणं करणत्वं विशेषप्रतिपत्तौ प्रधानत्वमुक्तम् । विशेषप्रतिपत्तिस्संकल्प एव ।

विषयाभिलाषः कामस्स्यात् न विशेषेऽस्ति कारणम् ।
इन्द्रियालोचितार्थस्य स्यात्संकल्पोऽवधारणम् ॥ ११० ॥

इति वार्तिकोक्तेः । पूर्वं मनोबुद्ध्योस्संशयाध्यवसायविभागकथनेऽपि अत्रैक्यविवक्षैवोक्ता । एवं—

'चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ २५३ ॥ १८ ॥

इति शान्तिपर्वणि व्यासशुकसंवादे संग्रहे—

इन्द्रियाणि न बुध्यन्ते क्षेत्रज्ञस्तैस्तु बुध्यते ॥ २८१।१५॥
चित्तमिन्द्रियसंघातात्परं तस्मात्परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिः क्षेत्रज्ञो बुद्धितः परः ।
पूर्वं चेतयते जन्तुरिन्द्रियैर्विषयान् पृथक् ॥

भावप्रकाशः

विचार्य मनसा पश्चादथ बुद्ध्या व्यवस्यति ।
चित्तमिन्द्रियसंघातं मनो बुद्धिस्तथाऽष्टमी ॥
अष्टौ ज्ञानेन्द्रियाण्याहुरेतान्यध्यात्मचिन्तकाः ।
पाणिं पादं च पायुं च मेहनं पञ्चमं मुखम् ॥
इति संशब्द्यमानानि शृणु कर्मेन्द्रियाण्यपि । १९

इति तत्रैवासितदेवलसंवादे विस्तरे च मनसश्चित्ताद्बुद्धेश्च पृथगुक्तिः ;

मनोबुद्धिः स्वभावश्च त्रय एते मनोमयाः' । २५३।१३।

इति व्यासशुकसंवादवचनेन 'दशेमे पुरुषे प्राणाः' 'आत्मैकादशः'

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।

इति श्रुतिमनुवचनादिभिश्च वृत्तिभेदाभिप्रायिकेत्यपि बोध्यम् ॥

'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि (८–१२–४) छान्दोग्यश्रुत्युपबृंहणेषु अत्रोदाहृतभारतवचनेषु मनस इन्द्रियत्वं क्षेत्रज्ञस्य मन आदीन्द्रियजन्यज्ञानकर्तृत्व; तदेव साक्षित्वमित्यर्थः स्फुटः। मनो न ज्ञानोपादानं इन्द्रियत्वात् चक्षुरादिवत् इत्यनुग्राहकमनुमानमप्यनेन सूचितम्। तेन च सत्यन्तःकरणे भावादसति च सुषुप्तेऽभावादिति विवरणोक्तान्वयव्यतिरेकौ करणविषयाविति सिद्धम्। चक्षुराद्यालोचितार्थावधारणयस्य मनोबुद्ध्योरैक्येन मनोमात्रसाध्यत्वनिरूपणपरवार्तिकेनैव विवरणोक्तचक्षुरादिकरणान्तरसद्भावस्य मनसः करणत्वे बाधकत्वं विघटितम्। मनसोऽभ्यर्हितत्वमप्यवधारणकरणत्वमिति बोधितम्। एवं च तृतीये ;—

'अन्यत्र मना अभूवं नादर्शम् अन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषम्' 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' इत्यत्र पूर्वं करणमेव विवक्षतम्। अन्यत्र मना इत्यत्र चक्षु (रादिसं) स्संबन्धकाल

भावप्रकाशः

एव मनोव्यापारविरह उच्यते न तु चक्षुस्संबन्धवियोगकाले; तथा सति चक्षुर्विरहेणैवादर्शनोपपत्तेः। चक्षुस्संबन्धकाले मनोव्यापारविरहेऽप्यालोचनमुदीयमानं नापह्नोतुं शक्यम्। अतोऽदर्शनं विशेषादर्शनमेव विवक्षितम्। 'मनसा ह्येव पश्यतीत्यत्र दर्शनमपि निश्चयात्मकमेव। अत एव एवकारसंगतिः। अन्यथा चक्षुरादेरपि कारणत्वेनात्मनः करणत्वस्य कस्याप्यसंमतत्वेन तद्व्यवच्छेदासंभवेन तदसंगतेर्दुर्वारत्वात्। एवं च तत्तदिन्द्रियजन्यज्ञानविषयविशेषावधारणकरणत्वेन मनसः प्राधान्य; 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचं प्राणम्' इत्युपक्रमे प्रथमनिर्दिष्टस्य मनसः आत्मभोगोपकरणत्वं च सम्यगुपपादितं भवति। सामान्यतोज्ञाते विशेषसंदेहेन निर्णयेच्छायां निर्णय इत्यविप्रतिपन्नमेव; अतः संशयेच्छानन्तरकालिकावधारणकरणत्वं प्राधान्यं च संशयेच्छादि करणत्वनिरूपणेन दृढीक्रियते 'कामस्संकल्प' इत्यादिना। 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' इत्यत्र शरीरासंबद्धवस्तुनः तदभिमुखस्य ग्रहे तदनभिमुखस्य तदसंबद्धस्यापि शब्दस्य ग्रहे मनसः करणत्वमुक्तम्; तेन च शब्दोच्चारणकरणवागिन्द्रियापेक्षया मनसः प्राधान्यम्। 'मनो वाचम्' इत्युपक्रमे प्रथमनिर्देशे बीजमपि सूचितम्। 'तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा जानाति' इत्युत्तरत्र शरीरसंयुक्तशरीरानभिमुखविषयविशेषग्रहे करणत्वमुच्यते ॥

तदनेन प्रघट्टकेन शरीरासंयुक्ततत्संयुक्तविषयग्रहानन्तरकालिके स्मरणे संशये इच्छायां विषयविशेषनिर्धारणे श्रद्धादौ च मनसः करणत्वं प्रतिपादितं भवति। अतः 'कामस्संकल्पः' इत्यादौ सामानाधिकरण्यं 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' इति गीताभाष्योत्कर्षदीपिकोक्तादिशा आयुर्घृतमितिवदित्येवयुक्तम्। अत आयुर्घृतमित्यादिवत्सामानाधिकरण्यमिति जडसरोक्ति (३२) रप्रकम्प्या ॥

भावप्रकाशः

अत एव—

'पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षड्गुणयोगयुक्तं शरीरम् ।

शोत्रं शब्दे त्वक् स्पर्शे चक्षू रूपे जिह्वा रसे घ्राणं गन्धे वाग्वचने पाणिरादाने पादो गमने पायुर्विसर्गे उपस्थ आनन्दे वर्तते बुद्ध्या बुद्ध्यति निश्चिनोति मनसा संकल्पयति चित्तेन संजानाति अहंकारेणाहंकरोति तानितानि तत्तद्विषयेषु वर्तन्ते । षड्वाव गुणाः कामादयश्शमादयश्च तद्योगस्तन्निष्ठा च तया युक्तम् । अष्टौ प्रकृतयष्षोडश विकाराश्शरीरे' इति गर्भोपनिषत्संगच्छते ।

महाभूतान्यहंकारः बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इति अष्टौ प्रकृतय उक्ताः ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।

इति षोडश विकारा उक्ताः । 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं' इत्यनेन कामादयस्संगृहीताः । 'अष्टौ प्रकृतयष्षोडश विकाराः' इति श्रुतेर्मोक्षधर्मे (३११-३१५) यमस्मृतौ चोपबृंहणं द्रष्टव्यम् । अत्र मनस एकस्यैव संशयादिवृत्तिभेदात् संज्ञाभेद उक्तः । एवं 'मनसा संकल्पयति' इत्यत्र मनसः करणत्वोक्त्या; 'षोडश विकाराः' इत्यत्र रूपादिगुणपञ्चकस्य एकादशेन्द्रियाणां च विकारत्वोक्त्या च मनसो निश्चयकामादिप्रकृतित्वं नास्तीति बोधितम् । कामादिकारणत्वेन शरीरस्य कामादियोगयुक्तत्वाभिधानेनापि तदेव दृढीकृतम् । मनस इन्द्रियस्य चक्षुरादिवन्न प्रत्यक्षविषयता । अकरणस्य प्राणवायोर्मन इन्द्रियस्य चान्तःकरणरूपैकद्रव्यत्वायोगः । जानातीति व्यवहारो यदन्वयव्यतिरेकानुविधायी तस्यात्मसाधारणप्रवृत्तिनिमित्तयोगेन ज्ञानपदमुख्यार्थत्वं स्वयं प्रकाशता च । सूर्यतदालोकयोरपि नावयव्यवयवभावः; 'निबिडावयवं हि तेजोद्रव्यं

भावप्रकाशः

प्रदीपः प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रभा (२-३-२६) प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम् (२९) इति' शाङ्करसूत्रभाष्योक्तेः; किं तु नित्यसंयुक्तद्रव्यतैव। आलोकादिविकासस्थले एकदेशस्य करणत्वेन तदन्यदेशस्य फलत्वेन च प्रामाणिकव्यवहारादर्शनं दृश्यत्वान्न दृशिधर्मत्वमित्यादेरयोगश्चेत्यादिकं श्रीभाष्यादिनिष्णातानां सुगममिति दिक्। अतः 'कामस्संकल्पः' इति श्रुतिर्न कामादीनामन्तःकरणधर्मतां साधयितुमलम्। अत एव कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति ? रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ! कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानि ? हृदय इति होवाच यस्माद्धृदयेन हि रूपाणि सर्वो लोको जानाति तस्माद्धृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्ति ! (बृ. ५-९-२०) इति श्रुतिरुपपद्यते। अत्र रूपाणां हृदये प्रतिष्ठितत्वस्य हृदयाधीनज्ञानविषयत्वनिबन्धनत्वं स्पष्टमुक्तमिति रूपाकारेण हृदयपरिणामो नात्र विवक्षितः। अन्यथा चक्षूरूपयोरपि परिणामपरिणामिभावस्याकामेनापि स्वीकारापत्तौ 'एतत्सर्वं मन एव' इति श्रुत्यर्थस्य बाध आपद्येत। अतः हृदयाधीनज्ञानविषयत्वनिबन्धनमेव हृदये रूपाणां प्रतिष्ठितत्वं प्रतिपादयति भगवतीयं श्रुतिः। एवमेव 'अथ रूपाणां चक्षुः' इत्युपक्रम्य 'एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति' इति श्रुतिवाक्यं निर्वाह्यम् ॥

एतेन 'तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' (बृ. ६-३-२०) इति व्यधिकरणश्रुतौ शेषषष्ठ्यर्थोऽपि निर्णीतः। अत्र पूर्वं 'यत्र सुप्तो न कं चन कामं कामयते (१९) इति प्रस्तुतसुषुप्तौ' 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (२१) इत्यत्र जीवस्य देशविशेषे परमात्मना संयोगात्तद्व्यतिरिक्तबाह्यान्तरवस्तुभिरिन्द्रियप्रणालिकया ज्ञानप्रयोजकसंबन्धविरहेण कामहेतुभूतबहिरन्त-

भावप्रकाशः

रिन्द्रियजन्यज्ञानाभावः 'अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन' इत्यत्र बहिरन्तरिन्द्रियजन्यज्ञानजनकपुण्यपापविरहश्चाभिहितः । अत इन्द्रियप्रधानमनोजन्यबाह्यान्तरविषयकज्ञाननिबन्धनशोकविरह एवात्र प्रतिपिपादयिषितः । किञ्च सुबालोपनिषदि चतुर्थखण्डे नाडीनिरूपणानन्तरम् ;– 'हृद्याकाशे दिव्योऽयमात्मा स्वपिति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते' इति श्रूयते । प्रश्नोपनिषदि च 'हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां' (३-६) इत्यादि । छान्दोग्येऽपि सुषुप्तिप्रकरणे 'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्यमिति' (८-३१) इत्यादि । एवं अत्रापि 'कतम आत्मेति? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्युपक्रम्य 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति (१९) इत्यनन्तरं 'ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यः (२०) इत्याद्यभिधाय 'अकामं रूपं शोकान्तरम्' इति कामविरहेण आत्मनश्शोकविरहमुक्त्वा अनन्तरं 'तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' इति पठितश्रुतौ तदा सर्वान् शोकान् तीर्णो हृदयस्य भवति इति योजना । सुषुप्तिकाले सर्वशोकविधुरो हृदयसंबन्धी भवतीत्यर्थः । मनश्शब्दादीन् विहाय हृदयशब्दप्रयोगात् इत्थमेवार्थ इति निश्चीयते । तदेत्यनेनं सुषुप्त्यतिरिक्तकाले शोकसंबन्धो वर्तत इति सूचितम् । एवं च उपक्रमगतसुषुप्तिविषयक-'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष' इति श्रुत्यैकार्थ्यम् । ज्ञानवाचिशब्दं विहाय शोकशब्दप्रयोगेण तदा विषयासंस्पर्शिज्ञानस्य न नाश इति सूचितम् । पूर्वं 'न बाह्यं किं चन वेद नान्तरम्' इत्यत्र बाह्यान्तरशब्दद्वयप्रयोगेणाप्ययमर्थस्सूच्यते । एवं च 'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदैषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्त-

भावप्रकाशः

हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते' (४-१-१६) इति श्रुत्यानुरूप्यमपि। अत्र सुषुप्तौ जीवस्य हृदयसंबन्धश्च परमात्मद्वारक उक्त इत्येव भिदा ॥

अपि च 'योऽयं विज्ञानमयः' (६-३-७) इत्युपक्रमवाक्यादात्मनो ज्ञानप्राचुर्यमवगतम्। अत एव एतदुत्तरं माध्यन्दिनपाठे–'सधीस्स्वप्नो भूत्वा' इत्यत्रात्मनो ज्ञानवैशिष्ट्यकथनं संगच्छते। अत्र ज्ञानवाचिशब्दान्तरं विहाय विज्ञानशब्दप्रयोगेण 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति पञ्चमाध्यायान्तविज्ञानशब्दः प्रत्यभिज्ञाप्यते। तत्र च प्रकाशवाची विज्ञानशब्दः भावसाधन इति अत्रापि प्रकाशवाची भावसाधन एव विज्ञानशब्दः। षष्ठाद्यब्राह्मणे मन आदीन्द्रियनिरूपणेन तदुपस्थित्या इन्द्रियसंबन्धयोग्यधर्मभूतज्ञानं प्रकाशात्मकं इन्द्रियवाचिप्राणशब्दसहचरितविज्ञानशब्दार्थः। एवं च उपक्रमे आत्मनः धर्मभूतज्ञानवत्त्वकथनेन (६-३-२०) अत्र तदवस्थाविशेषशोका अपि आत्मसंबान्धिन एव तरितव्या विवक्षिताः। एवं उपक्रमे इन्द्रियसंबन्धयोग्यधर्मभूतज्ञानप्राचुर्यमभिधाय सुषुप्तौ बाह्यान्तरज्ञानाभावप्रतिपादने उपक्रमगतमयडर्थप्राचुर्यबाध इति शङ्कायां इन्द्रियद्वारा विषयसंबद्धज्ञानस्य विशेष्यस्य न नाशः किं तु विषयसंबन्धस्य विशेषणस्येति 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' इत्यत्र सूचितोऽर्थः 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्व तन्न पश्यति इत्याद्युपसंहारग्रन्थे विशदीक्रियते। तत्र च इन्द्रियविशेषजन्यज्ञानालोपमुक्त्वा 'यद्वै तन्न विजानाति' 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इत्यादिना विपूर्वज्ञाधातुना धर्मभूतज्ञानसामान्यवाचिना धर्मभूतज्ञानमभिधाय आत्मनस्तदलोपोक्त्या उपक्रमे विज्ञानमय इत्यस्य यथोक्त एवार्थः नान्य इति सिध्यति। अत्र प्रकरणे षष्ठ्यन्तपदार्थद्रष्ट्रादीनां अविनाशित्वमेव हेतुर्विवक्षित इत्यभि-

भावप्रकाशः

प्रेत्य विशिष्टस्याविनाशित्वाद्विशेषणस्याविपरिलोप इति (?) व्यासार्यैरुक्तम् । आत्मसिद्ध्युक्तश्श्रुत्यर्थः (४) निरूपयिष्यते ॥

भामत्यां च (१-२-१९) अविनाशित्वं सिद्धवद्धेतूकुर्वता सुप्तोत्थितस्यात्मप्रत्यभिज्ञानमुक्तम् । 'य एवाहं जागरित्वा सुप्तस्स एवैतर्हि जागर्मीति' इत्युक्तम् । अत्र जागरणं दर्शनादिज्ञानमेव । एवं च पश्यन् द्रष्टुः इत्यादि कर्तृप्रत्ययान्तशब्देषु सुषुप्तिप्राक्कालिकज्ञानमेव विवक्षितम् । दर्शनस्मृत्यादिकं तु तत्तद्विषयविशेषसंबद्धज्ञानमेव । एवं च यथा हस्तपटादेराकुञ्चनप्रसारणयोर्वस्तुसबन्धासंबन्धवैषम्यमात्रमेव न तु हस्तपटादिविनाशः । यथा च दीपप्रकाशस्य वस्तुसंबन्धासंबन्धवैषम्यमात्रेण न नाशः ; किं तु दीपनाशकाल एव ; तथा ज्ञानस्यापि विषयसंबन्धविशेषविरहमात्रेण न नाशः ज्ञानाश्रयस्यात्मनः नाशाभावात् । आत्मनो नाशविरहश्च सुषुप्तिप्राक्कालिकजागरणप्रत्यभिज्ञया सिद्धः । अतो रूपादिसंबन्धज्ञानस्य विशेष्यस्य न नाशः किं तु रूपादिसंबन्धस्येति । शाङ्करोपनिषद्भाष्योक्त आदित्यप्रकाशदृष्टान्तोऽपि पूर्ववद्योजनीयः । निरन्वयविनाशनिरसनस्य सत्कार्यवादस्थापनेनैव सिद्धेरात्मनोऽविनाशित्वं संकोचविकासात्मकस्वरूपपरिणामशून्यत्वम् । धर्मभूतज्ञाननित्यत्वं च एतद्विलक्षणमिति बोधनाय विपरिलोप इति विभिन्नशब्दनिर्देशः । विपरिलोपः—विशेषतस्सर्वत्रादर्शनं अनवस्थितिर्वा नास्तीत्यर्थः । तेन च किंचिद्देशे दर्शनं स्थितिश्च वर्तत इत्युक्तं भवति । लोकेऽपि घटादेः कपालरूपावस्थिति दशायां कपालाधिकरणदेशे घटो नष्टः नास्तीति च यथा व्यवह्रियते न तथा पटादेराकुञ्चनदशायाम् । आकुञ्चितपटदेशे दीपादेः प्रकाशन्यूनतादशायां न्यूनप्रकाशदेशे च पटः दीपप्रकाशो नष्टः नास्तीति

भावप्रकाशः

व्यवह्रियते । एवमेव ज्ञानस्य विषयसंबन्धविगमदशायां विकासप्रतिकोटिसंकोचात्मकावस्थासत्त्वेऽपि आत्मनि ज्ञानं नष्टं नास्तीति च न व्यवहारः । एतत्तात्पर्येणैव 'द्रष्टुः दृष्टेः' इत्यादि पदद्वयम् । ज्ञानस्य चाक्षुषत्वादिकमपि चक्षुरादिद्वारकविषयसंबन्धवत्त्वमेव इत्युक्तं भवति ॥

'न तु तद्द्वितीयमस्ति' इत्यादिना विषयसंबन्धरूपविशेषणविरह उपपाद्यते; अतः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन सुषुप्तिप्राक्कालिकदर्शनाद्याश्रयस्य अविनाशित्वाद्दर्शनादेर्विशेष्यस्य सर्वदेशेष्वनवस्थितिर्नास्ति आत्मदेशे सत्त्वात् किं तु विषयसंबन्धाभावाद्विषयदेशे असत्त्वमित्युदाहृतश्रुतेः पर्यवसितोऽर्थः । एवमेव 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा' (६-५ १४) इति मैत्रेयीब्राह्मणवाक्येऽपि आत्मज्ञानयोरुभयोरपि नित्यत्वं विवक्षितम् । तत्र चात्र च अविनाशिशब्द एकरूप एव प्रयुक्त इति मैत्रेयीब्राह्मणगताविनाशिशब्दस्य पूर्ववदर्थः । 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्येतत्स्थानाभिषिक्तस्य 'अनुच्छित्तिधर्मा' इत्यस्य नित्यज्ञानवानित्यर्थः । अत्रापि पूर्ववत् अविनाशिपदभिन्नानुच्छित्तिपदप्रयोगेण धर्मनित्यत्वं आत्मनित्यत्वविलक्षणमिति बोधितम् । उच्छित्तिः—उत्कृष्टद्वैधीभावः कियदप्यवयवासंयोगेन अत्यन्तावयवविश्लेषः न विद्यते यत्रेत्यनुच्छित्तिः; अनुच्छित्तिः धर्मो यस्येत्यनुच्छित्तिधर्मा इति विग्रहः । काष्ठच्छेदे काष्ठावयवानामत्यन्तविश्लेषेण यथा देशान्तरसंबन्धः न तथा पटदीपादेः प्रसारणेन देशान्तरसंबन्धः किंत्वत्यन्तावयवाविश्लेषेण । एवमेव धर्मभूतज्ञानस्य विषयसंबन्धोऽपीति विषयसंबन्धाभावदशायामपि न ज्ञाननित्यत्वहानिरिति । यद्यपि सुरेश्वराचार्यैः;—

निरन्वयो विनाशोऽस्य न हीत्युक्त्या निषिध्यते ।
अविनाशीति चाप्यत्र विकारापह्नुतेर्वचः ॥ १४९७ ॥

भावप्रकाशः

परिणामनिषेधस्स्यादविनाशगिराऽऽत्मनः ।

अनुच्छित्तिगिरा नाशो वार्यते यो निरन्वयः ॥ १२ ॥

इति २-५. ब्राह्मणद्वयार्थ उक्तः। तत्र संकोचविकासात्मकस्यैव परिणामस्य निषेध इति पूर्वं (९६–९७) उदाहृतशाङ्करगीताभाष्यात्सिध्यति । तथाऽपि उभयत्र निरन्वयविनाशविरहः अचित्साधारणो न विवक्षितः सत्कार्यवादस्थापनेनैव तत्सिद्धेः । द्रष्टुरित्यादिपदस्वारस्यं च न परित्याज्यम् । 'न हि द्रष्टुः' इत्यादितुल्यार्थमेव 'अनुच्छित्तिधर्मा' इति वाक्यं इति धर्मपदप्रयोगान्निश्चीयते इत्यभिप्रेत्य वाक्यान्वयाधिकरणे व्यासार्यैः 'अनुच्छित्तिधर्मा' इति वाक्यं धर्मभूतज्ञानस्य नित्यत्वपरं व्याख्यातम् ॥

एतेन (१-४-२२) नाशहेतुशून्यत्वनाशशून्यत्वे (र-प्र) विनाशायोग्यत्वविनाशयोगित्वे (आ-गि) पदद्वयार्थ इति भेदकथनेऽपि नापूर्वार्थः प्रदर्शितो भवति, धर्मपदवैयर्थ्यं चेति बोध्यम् । (२-३-१७) उच्छित्तिः पूर्वावस्थानाशो धर्मोऽस्येत्युच्छित्तिधर्मा—परिणामी ; स नेत्यनुच्छित्तिधर्मा अपरिणामी, तस्मादविनाशीत्यर्थः (र-प्र) इति विवरणे । माध्यन्दिनपाठे तदुत्तरं 'मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' इति श्रुतिः मात्राभिर्भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवतीति (१-४-२२) इति भाष्यं च, असंसर्गस्य स्वरूपत्वेन स्वभिन्नेन पारमार्थिकेन वा धर्मेण शून्यमित्यर्थविवक्षणमन्तरा न संगच्छते । तथैवार्थविवक्षणे उच्छित्तिपदवैयर्थ्यम्, अविनाशी—नाशहेतुशून्यः विनाशायोग्यः, 'अनुच्छित्तिधर्मा' इति धर्मपदस्य स्वभाववाचितया स्वाभाविकविनाशरहित इत्यर्थः । अतएव—'मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' इति माध्यन्दिनपाठे औपाधिकविनाशकथनं सङ्गच्छते इति (न्या र-म) विवरणेऽपि

भावप्रकाशः

'एतेभ्यो भूतभ्यस्समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' इत्यत्र पूर्वमेव नाशस्यौपाधिकत्वस्य विवक्षायाः शाङ्कर (२-३-१७) भाष्ये स्पष्टतया तत एवोक्तार्थसिद्धेः उदित्यनेनापि स्वभावबोधसंभवाच्च धर्मपद-सार्थक्यं न संभवति। किञ्च 'न प्रत्ये संज्ञाऽस्ति' इत्यत्र मात्रासंसर्गनि-मित्तकविशेषज्ञानाभावो विवक्षित इत्यत्रैव भाष्य उक्तम्। एवं च अनु-च्छित्तिधर्मा इत्यस्य धर्मभूतज्ञाननाशशून्यत्वार्थविवक्षणं सुसंगतम्॥

अत एव मैत्रेयीब्राह्मणद्वये (४-६) 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' इत्यादिवाक्यान्ते 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (४) इति 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्यनेनात्मनो ज्ञातृत्वप्रति-पादनं संगच्छते। भूतपूर्वगतिकल्पनं तु श्रुतिपीडनमेव; इत्थं मैत्रेयी-ब्राह्मणैकार्थ्यात् 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्युपसंहार-वाक्ये धर्मभूतज्ञाननित्यत्वं विवक्षितमिति 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्युपक्रमेऽपि धर्मभूतज्ञानप्राचुर्यमेव विवक्षितमिति 'तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य' इति मध्यवाक्येऽपि तरितव्या आत्मगता एव शोका विवक्षिताः नान्तःकरणगताः। एतेन यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि [1]श्रिताः' (६-४-७) इति श्रुतिरपि व्याख्याता। अत्रापि पूर्वम्; स विज्ञानो भवति स विज्ञनमेवान्ववक्रामति तं विद्या-कर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (२) 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः' (५) इत्यत्रात्मनो धर्मभूतज्ञानवत्त्वमुक्तम्। उत्तरत्रापि 'आत्मानं चेद्विजानीयात्' 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्' इत्यादौ॥

सुषुप्तौ संस्काररूपाः कामा वर्तन्त इति तेषामपि प्रमोचन-विवक्षयाऽत्र सर्वपदमिति वार्तिके उक्तम्। एवं च सुषुप्तावात्मनो

भावप्रकाशः

हृदयसंबन्धस्य श्रौतत्वस्यानुपदमेवोपपादनात् हृत्सबंन्ध्यात्मगताः कामा एव हृदि अस्य इति योजनया हृदि श्रिता इत्यत्र विवक्षिताः। मनश्श्रिता इत्यनभिधाय हृदि श्रिता इत्युक्त्या अयमर्थो विवक्षित इति निश्चीयते । सर्वशब्दश्च बन्धकबाह्यान्तरयावत्संग्राहकः । अत एव अनात्मविषयककामानामेव शङ्करभाष्यादावुक्तिस्संगच्छते । यद्वा काम-शब्दस्य करणकर्मभावप्रत्ययान्तस्य लोके प्रयोगात् कामशब्दोऽत्र कीदृशः? इत्यनिर्णयेन तन्निर्णयार्थं हृदि श्रिता इति । अतश्च भावप्रत्य-यान्तोऽत्र विवक्षित इति वार्तिकतद्व्याख्ययोः स्पष्टम् ॥

सिद्धान्तेऽपि सैव सरणिः । परं तु कामशब्दः करणप्रत्ययान्तः। पञ्चमे ग्रहातिग्रहाणां निरूपणावसरे 'मनसा कामान् कामयते' इत्यत्र मनसः कामकरणत्वोक्तेः । अत्रापि पूर्वं 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः' इत्यत्र 'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कर्मभिर्जायते तत्र तत्र' इत्याथर्वणोक्तं कामस्य प्राधान्यन बन्धकत्वपक्षमुपक्षिप्य बन्धप्रकारनिरूपणावसरे पुरुषस्य कामप्राचुर्यमुक्त्वा ;—

'तदेव सक्तस्सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य' इत्यत्र मनसः फलज्ञानतदिच्छाजनकत्वेन बन्धकत्वाभिधानात् 'अथा कामयमानः योऽकामो निष्कामः' इति मोक्षनिरूपणं प्रक्रम्य पुरुषस्य फलेच्छाभाव उच्यते । अत्र पदत्रयेण उपसंहारे वक्ष्यमाणपुत्रवित्त-लोकैषणात्रयविरहः प्रतिपाद्यते इति श्रुतप्रकाशिकायां व्यक्तम् । उपसंहारे च 'ब्रह्म विविदिषन्ति' एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः' इत्यत्र पुरुषाणां ब्रह्मवेदन आत्मविषयकेच्छावत्त्वमप्युक्तम् । एवं च 'आप्तकामः आत्मकामः' इत्युपक्रमवाक्यमपि निर्व्यूढम् । अतोऽत्र

भावप्रकाशः

कामशब्दः फलेच्छाजनकव्यापारपरः, हृच्छब्दः 'लिङ्गं मनः' इति पूर्वप्रस्तुतमनोवाची । एतेन ;—

प्रजहाति यदा पार्थ सर्वान् कामान् मनोगतान् ।

इति गीतावचने मनश्शब्दप्रयोगेण हृत्संबन्ध्यात्मविवक्षा न संभवतीति शङ्कापि परास्ता । तत्रापि कामशब्दस्य 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' (१३-११) इत्यत्र ज्ञानशब्दस्येव करणप्रत्ययान्तत्वात् । तस्मिन्नेवाध्याये ;—

ध्यायतो विषयान् पुंसस्सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

इत्यत्र कामक्रोधमोहानां पुरुषगतत्वस्य कामहेतोस्सङ्गस्य चाभिधानात् । अध्यायान्ते ;—

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।
विहाय कामान् यस्सर्वान् पुमांश्चरति निस्स्पृहः ॥
निर्ममो निरहङ्कारस्स शान्तिमधिगच्छति ।

इत्यत्र आत्मगतकामत्यागः तद्धेतुभूताहङ्कारममकारत्यागश्चाभिहितः । ननु ;—

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

इत्युपक्रम्य ;—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
इच्छा द्वेषस्सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

इत्युक्तम् । अत्र एकशब्दार्थान्तःकरणविकारा एवेच्छादयः । यादृ-

भावप्रकाशः

गित्यस्य यद्विकारीत्यस्य वा प्रतिवचनम् 'इच्छाद्वेषः' इत्यादि इति प्रतीयते इति चेत्; उच्यते;—'इन्द्रियाणि दशैकं च' इति यादृगित्यस्य विवरणम्। 'पञ्च चेन्द्रियगोचराः' इत्युक्तानां ज्ञाप्यविषयाणां शब्दादीनां वागादिकार्यविषयाणां च वचनादीनामिव मनइन्द्रियकार्यकामादिविषयाणामपि न मनोधर्मत्वमिति बोधनायैव मनस इन्द्रियत्वं शब्दादीनामिन्द्रियगोचरत्वं चाभिहितम्। गीताव्याख्याने 'एकं चान्तरिन्द्रियं मनः' इति व्याकुर्वता अद्वैतपरिभाषाकारगुरुणा वेङ्कटनाथेन मनस इन्द्रियत्वमभ्युपगतमिति शिष्येण अद्वैतपरिभाषायां 'एकादशेन्द्रियाण्याहुः' २।८९। इत्युपक्रम्य 'एकादशं मनो ज्ञेयम्' इति मनुस्मृति (१३४) उदाहृत शान्तिपर्ववचनविरुद्धार्थकथनेऽपि न क्षतिः। 'यद्विकारि' इत्यस्य विवरणम् 'इच्छाद्वेषः' इत्यादि। इच्छादीनामन्तःकरणमात्रविकारत्वे क्षेत्रस्य शरीरस्य तद्विकारित्वं नोपपादितं स्यात्। क्षेत्रविशेषस्यान्तःकरणस्यैवेच्छादिविकारत्वं सांख्यसंमतम्। तच्चात्र नोच्यते। 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रं' तत् क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि' इति हि गीयते! अतः शरीरस्यैव इच्छादिविकारित्वं वक्तव्यम्। तच्च आत्मगतधर्मभूतज्ञानविकारकामादिनिमित्तकारणत्वम्। अतएव (१३६) उदाहृतश्रुतौ शरीरस्य कामादियोगयुक्तत्वाभिधानं संगच्छते। एवम्;—

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।

इत्यत्रापि कामादिविकाराणां प्रकृतिनिमित्तकत्वं विवक्षितम्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।

इत्यत्र पुरुषस्य कामस्य वक्ष्यमाणात् 'इच्छा द्वेषस्सुखं दुखम्' इत्यत्र द्वेषदुःखपदोपादानात् मुक्तिकालिकयोरिच्छासुखयोः शरीरनिमित्तकत्वं नास्तीति सूचितम्॥

भावप्रकाशः

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।

इत्यत्र वेदितृत्ववक्तृत्वयोरेकनिष्ठत्वकथनेन 'न त्वेवाहं जातु नासम्' 'सर्वे वयम्' इति शास्त्रोपक्रमोक्ताहमर्थस्यैव क्षेत्रज्ञत्वम् 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते' 'उपद्रष्टानुमन्ता च' इत्यादौ भोक्तृत्वादिकं च प्रतिपाद्यते । तेनाहमर्थस्य प्रत्यगात्मत्वं स्थापितम् । 'इदं शरीरं कौन्तेय' इत्यत्र इदंशब्देन 'अन्तवन्त इमे देहाः' 'देहिनोस्मिन् यथा देहे' इत्युपक्रमोक्तः परागर्थ उक्तः । 'इच्छाद्वेषस्सुखं दुखम्' ।

एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।

इत्यत्र वेदितुरहमर्थाद्भिन्नस्य तद्वत्स्वयंप्रकाशस्य धर्मभूतज्ञानस्यापि पराक्त्वं भोग्यत्वं चोक्तमिति बोध्यम् । अतः 'प्रजहाति+मनोगतान्' इत्यत्र यथोक्त एवार्थः 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इत्यत्र अस्येत्यस्य' ब्रह्मविषयकभक्तिरूपमानसज्ञानवत इत्यर्थः । अत्र 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति हि वक्ष्यते । कठोपनिषदि ;—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।

पराचः कामाननुयन्ति बालाः . . . . ॥ २ ॥

इति द्वितीयारम्भे जीवस्य ज्ञानेच्छावत्त्वमुक्तम् । द्वितीयान्ते च एतच्छ्रुतेः प्राक् 'हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः' इति श्रूयते । 'हृदा मनीषा' इत्यत्र हृच्छब्दो भक्तिपर इति वेदार्थसंग्रहे उक्तम् । श्रीभागवते ;—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मा सकृन्मुने ।

कामा हृदीया नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥ (११-२०-३०)

इत्युद्धवगीतावचनेऽप्ययमर्थःस्फुटः । अत्र 'मयि स्थिते' इत्यनेन श्रुतौ कामशब्दः काम्यमानब्रह्मव्यतिरिक्तविषयपर इति प्रतीयते । अयमर्थो

भावप्रकाशः

मम मनसि वर्तत इति लोकेऽपि प्रयोगदर्शनात्। हृदि श्रितत्वं च मनोजन्यस्मृत्यादिविषयत्वम्। 'अस्य' इत्यनेन ब्रह्मध्यानस्य मनोऽन्यनिष्ठत्वप्रतिपादनादिच्छानां हृदयगतत्वविवक्षाया असंभवात्। यद्वा कामशब्दः करणप्रत्ययान्त एवास्तु—'प्रमुच्यन्ते' इत्यत्र स्मृतेरिच्छायास्तज्जनकव्यापारस्य च नाश एव विवक्षितः। 'हृदि श्रिताः' इत्युक्तिः कामानामेव नाशः न तु मनसः इति ज्ञापनार्था। अत एव;—

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।

इत्युत्तरत्र ब्रह्मप्राप्तिकथनं संगच्छते। 'सर्वं पाप्मानं तरति' 'विपापो विरजो विचिकित्सः' इत्यन्त एव पापसामान्यनिवृत्तिकथनेन मनस्संबन्धप्रयोजककर्मणो नेदानीं नाश इति ज्ञायते। श्रीभागवते;—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
(११–२–४२)

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥

इति निमिं प्रति कविवचनयोः भक्तिकामत्यागब्रह्मप्राप्तीनां चैककालिकत्वं तदनन्तरमेव मुक्तिरिति स्पष्टम्। एतच्च श्रीभाष्ये स्थापितम्। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इति पूर्वं 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति परत्र च ब्रह्मप्राप्त्युक्तेः नात्र सांख्याभिमतं निर्गुणात्मस्वरूपं प्रतिपिपादयिषितमिति निश्चीयते॥

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहमदादयः।
अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः॥ (११–२८–१६)

इत्यत्राहंकारशब्दस्य अहमर्थः अन्तःकरणं अहङ्कारतत्वं वा नार्थः पूर्वं 'नैवात्मनो न देहस्य संसृतिः' इत्युद्धवप्रश्ने;—

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनस्संनिकर्षणम्।

भावप्रकाशः

संसारः फलवांस्तावत् अपार्थोऽस्य विवेकिनः ॥ १४ ॥

इति; देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो जीवोऽन्तरात्मा' 'संसार आधावति कालतन्त्रः' (१७) इति श्रीकृष्णप्रतिवचनमध्यपातित्वादस्य वचनस्य; किं तु देहेन्द्रियादिसंयुक्तस्तन्निबन्धनतत्तदात्माभिमानवान् अहंकारशब्दार्थः। अस्मच्छब्दाप्रयोगेणाहमर्थस्यात्मत्वं सूच्यते। आत्मशब्दस्तदभिमानशून्यपरः। शोकादिदर्शनं देहादिसंनिकर्षमूलकतत्तदात्माभिमानहेतुकम्, न तत्रात्मस्वरूपं हेतुरिति यावत्। अयमर्थः;—

नायं जनो मे सुखदुःखहेतुः
　न देवतात्मग्रहकर्मकालाः॥
मनः परं कारणमामनन्ति　　॥ (२३–४३)
देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
　ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽयमन्योऽयमिति भ्रमेण
　दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥ ५० ॥

इत्यादि भिक्षुगीतावचनेऽप्यवसेयः। अत्र देवतादीनां निमित्तकारणतया प्रसक्तानां प्रधानकारणत्वनिषेधेन मनसः प्रधाननिमित्तकारणत्वमुक्तमिति मनस उपादानकारणत्वं न सिध्यति। सत्वरजस्तमसां प्रत्येकं कार्यवर्गकथनानन्तरं;—

संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः।
व्यवहारस्संनिपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः॥ (२५–६)॥
पुरुषं सत्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः।
कामादिभीरजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥ ९ ॥

भावप्रकाशः

सत्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥ १२ ॥
एतास्संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः ।
येनेमा निर्जितास्सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः ॥
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावायोपपद्यते ॥ ३२ ॥

इत्यत्र पुंसः कामादिमत्त्वं तत्र मनोगतगुणानां निमित्तत्वं च स्पष्टमुक्तम् । पूर्वम्;—

तमोरजस्सत्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः ॥ १५ ॥

इत्यादिना सृष्टिमभिधाय;—

अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति ।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १५ ॥

इत्युक्त्या;—'सत्वसंयुक्तम्' इत्यादौ सत्वगुणवन्मनोयुक्तत्वं विवक्षितम् ।

एवं;—'गुणा जीवस्य' इत्यत्र' चित्तजसत्वादिगुणानां ीवसंबन्धः शमकामक्रोधादिद्वारक एव न तु साक्षादिति ध्यम् । अतः 'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' इति श्रुतिः न कामानामन्तःकरणधर्मत्वं साधयति । एतत्तात्पर्येणैव वार्तिके 'नेति ते' इत्यादिश्रुतिभिः कामादीनामात्मधर्मत्वं न संभवतीत्युक्त्वा;—

परमार्थात्मनोऽथान्यः कश्चिदात्मेति भण्यते ।
अस्तु कामं स कामादेराश्रयो नैव वार्यते ॥ ४९७ ॥

ुक्तम् । उक्तं च शङ्कराचार्यैरपि;—(बृ. ३-४ ७) 'कल्पितदुःखात्मागमाच' इति । 'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत' (१७) त्र 'आत्मैव स्वाभाविकोऽविद्वान्' इति च । अत एव अहं

भावप्रकाशः

कर्तुरपरमार्थत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञादिना स्थायित्वार्थक्रियाकारित्वे प्रसाध्य माहायानिकवैलक्षण्यमुपपादितं पञ्चपादिकादौ । 'नेतिनेति' इत्यादिभिः नात्मनि धर्मसामान्यनिषेध इति श्रीभाष्यादिषु स्थापितम् । एवं ज्ञानस्य द्रव्यत्वं इच्छादीनां तत्परिणामरूपत्वं चेत्यादिकमपि । अत्रापि यथाऽवसरं स्थापयिष्यते । अतः 'कामस्संकल्प' इत्यादिश्रुतीनां कामादीनामन्तःकरणधर्मत्वसाधनाक्षमतया कामादीनामन्तःकरणधर्मतावादिसांख्ययोगव्याख्यातृमतं बहिष्कार्यमेव । एतेन भर्तृप्रपञ्चस्य कामद्वैविध्याङ्गीकारोऽपि निष्फल इति सिद्धम् ॥

नवीनैरपि 'अविरोधश्चन्दनवत्' (२–३–२४) इति सूत्रे भाष्ये जीवस्य स्वरूपेणाणुत्वमंशेन शरीरव्याप्तिं चाभिधाय 'गुणाद्वाऽऽलोकवत्' (२–३–२६) इति सूत्रे भाष्ये प्राचीनमत इव जीवस्य आलोकवत् ज्ञानगुणेन शरीरव्याप्तिरुक्ता । आलोकस्य द्रव्यत्वेऽप्यप्राधान्यसाम्याद्गुणत्वोक्तिरिति तट्टीका । अनन्तरसूत्रे भाष्ये योगिनोंऽशैर्बहुशरीरव्याप्तिः । बृहद्भाष्ये ;—

अल्पं तेजस्तथैवाल्पं जीवरूपं हि संसृतौ ।
तथैव सुमहत्तेजः करोति भगवान् महत् ॥

इति मुक्तौ तेजोमहत्ता च प्रतिपादिता । अत्रोभयत्रापि प्राचीनवच्छरीराद्बहिः प्रवर्तकत्वप्रकाशकत्वशक्तिद्वयाश्रयज्ञानव्याप्त्यङ्गीकारे सर्वमुपपद्यते । 'यथाऽणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्यातत एवमेवास्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याततोऽणुर्ह्येवैष पुरुषो भवति' । 'चिद्गुणेनैव नान्यथा' (२-३ १६-चं) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञानप्रकाशस्य चक्षुःप्रकाशवद्विषयव्याप्तेरवबोधनात् । नवीनमते जीवे ज्ञानादिस्वामित्वस्य अयावद्द्रव्यभाविगुणानां चाङ्गीकारेण प्राचीनमत इव द्रव्यान्तररूपेण परिणामशून्यत्वेनैव कौट-

भावप्रकाशः

। रक्षणीयत्वेन 'कौटस्थ्यं निर्विकारत्वम्' (२-२-२) इति सुधा-
;। नापि निर्विकारत्वं बाधकम्; ज्ञानरूपगुणाश्रयत्वेऽपि द्रव्या-
पत्तिरूपविकारानापातात्' इति न्यायामृते च प्राच्यरीतिरेवा-
ा। एवं च दीपस्यालोकः गन्धवानयं इत्यादावालोकगन्धादि-
याद्दशः ताद्दश एव मम ज्ञानं ज्ञानवानहमित्यत्रापि भासते; एवं
। संयुनक्त्ययमित्यादावाख्यातार्थो याद्दशस्ताद्दश एवाहं जाना-
पे भासत इत्येवाङ्गीकरणीयमिति न ज्ञानादिस्वामित्वविषय-
ऽनुभवो निर्वहणीय इति निर्बन्धः ॥

बृहद्भाष्ये 'त्रीण्यात्मनेऽकुरुत मनो वाचं प्राणम्' इत्यत्रात्म-
परमात्मपरत्वाभिधानेन तन्मते मनोवाक्प्राणानामीशमुक्त-
प्रभूतानामप्यङ्गीकारेण 'कामस्संकल्प' इत्यादिश्रुतिः चिदा-
दिपरा निर्वोढुं शक्यत इति ज्ञानादेरन्तःकरणधर्मता नानेन
। यदि च बद्धजीवात्मणो भिन्न एवेति तन्मनोवाक्प्राणानां
गार्थत्वासिद्धेः। 'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता' इति
जन्युक्तेश्च मनोवाक्प्राणाः प्राकृतिका एव विवक्षणीया इति
तदा प्राचीनवदेव 'कामस्संकल्प इत्यादिश्रुत्यर्थः। तथाहि;—
पा) सूत्रभाष्ये प्राणस्याकरणत्वमनिन्द्रियत्वं मनसश्चक्षुराद्य-
णत्वमिन्द्रियत्वं विषयद्रवणं च श्रुतिभिस्साधितम् ॥

ामृते च मनसः करणत्वं प्रसाध्य विवरणोक्तं कर्तृत्वस्यान्तः-
तिरेकानुविधायित्वमात्मनः कर्तृत्वे बाधकमाशङ्क्य देहादिव-
तत्वेनापि तदुपपत्तेश्च' इति समाधाय 'कामस्संकल्पः'
तत्सर्वं मनः' इति श्रुतेः 'मनसा वा अग्रे संकल्पयति'
नःकरणकत्वपरत्वादित्युक्त्या विवरणोक्तस्य अन्वयव्यति-

सर्वार्थसिद्धिः

* अन्ये तु मन्यन्ते ;—न देहेन्द्रियादिकं भोक्तृ ।

आनन्ददायिनी

चार्वाकैकदेशिन आहुः ;—'न देहादिकमात्मा अपि तु चैतन्यमेव । तच्च क्षणिकमिति न नियमः ; अतो बौद्धाद्भेदः' इति । तन्मतमनुवदति ;—**अन्ये त्विति** । ज्ञानस्यात्मत्वे युक्तिमाह—**न देहेति** ।

भावप्रकाशः

रेकयोः करणविषयकत्वसंभवस्य उक्तश्रुतेः मनसः कर्तृत्वकामादिमत्त्वपरत्वस्य च निरासेन मनसः कामादिपरिणामित्वे उक्तश्रुतेः प्रामाण्यासिद्धेः ; 'मनसा वा अग्रे संकल्पयति' इति श्रुतेः तत्रैव पूर्वं करणत्वसाधकतयोदाहृतयोः 'शृण्वन्तश्श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा' इति श्रुतिसमानार्थकत्वात् ; 'कामस्संकल्प' इति श्रुतौ धीशब्दार्थो ज्ञानमिति विवरणोक्तेः ; ज्ञानेच्छाकृतीनां समानाश्रयत्वसंप्रतिपत्तेः ; 'मनसा ह्येव पश्यति' तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसैव विजानाति' इति पूर्वोत्तरवाक्ययोः सर्वेन्द्रियजन्यज्ञानस्य मनआयत्तत्वे तात्पर्यस्य बृहद्भाष्ये स्पष्टतया 'कामास्संकल्प' इति मध्यवाक्यस्यापि कामदेर्मनआयत्तत्वे तात्पर्यस्यानिवार्यत्वाच्च । इत्थं च मनसि ज्ञानकामादिकमन्तराऽप्युक्तश्रुतिनिर्वाहस्संभवतीति मुक्तौ ज्ञानादिसत्ताश्रुतेरनुभवबलाच्च आत्मनि ज्ञानादिकमङ्गीकरणीयं न मनसीति 'कामायेऽस्य हृदि श्रिताः' इत्यादेः कामादेर्मनोधर्मतासाधकता न संभवतीति प्रागेवोपपादितमिति दिक् ॥

* अन्ये त्वित्यादि ;—

युक्त्यानुपेतामसतीं प्रकल्प्य
यद्वासनामर्थनिराक्रियेयम् ।

भावप्रकाशः

आस्थानिवृत्त्यर्थमवादि बौद्धैः
ग्राहं गतास्तत्र कथञ्चिदन्ये ॥

इति श्लोकवार्तिके निरालम्बनवादान्ते भट्टपादैरुक्तम्। अत्र ग्राहशब्दः ;—

कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह ॥ १९ ॥

इति वसुबन्धुश्लोकप्रत्यभिज्ञापनेन तत्रत्यग्राहशब्दसमानार्थः । तत्र च ग्राहद्वयम् ;—'ग्राह्यग्राहो ग्राहकग्राहश्च' इति त्रिंशतिकाविज्ञप्तिभाष्ये स्थिरमतिना व्याख्यातम् । वार्तिके अन्ये—अविद्यावादिनः । संबन्धाक्षेपपरिहारे अविद्यादूषणवार्तिकव्याख्याने न्यायरत्नाकरे 'निरस्तश्चायं पक्षो निरालम्बनवादेन' इति पार्थसारथिमिश्रोक्तेः। कथञ्चिदिति—भामत्यां (१·२-२१) ;—

विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते ॥

इति आचार्यवाचस्पतिमिश्रवचनेन मूलाविद्याया वासनारूपत्वसमर्थनपरलघुमञ्जूषासंदर्भेण च विवृतम् । अविद्यावादस्यास्थानिवृत्त्यर्थत्वम् ;—'नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्र फलभोगविरागः' इति भाष्यविवरणभामत्यां ; 'नित्यानित्ययोर्वसतीति नित्यानित्यवस्तु—तद्धर्मः । नित्यानित्ययोर्द्धर्मिणोस्तद्धर्माणां च विवेको नित्यानित्यविवेकः । नित्यत्वं—सत्यत्वम्; तद्यस्यास्ति तन्नित्यं—सत्यं तथा च आस्थागोचरः । अनित्यत्वं—असत्यत्वम् ; तद्यस्यास्ति तदनित्यं—अनृतं—तथा च अनास्थागोचरः । ततोऽस्यैतादृशान्नित्यानित्यवस्तुविवेकलक्षणात् प्रसंख्यानात् इहामुत्र फलभोगविरागो भवति ' इत्यादौ व्यक्तम् । वार्तिकश्लोकस्येत्थमर्थमभिसंधायैव भगवद्यामुनमुनिभिरात्मसिद्धौ ;—

देहेन्द्रियमनःप्राणधीभ्योऽन्योऽनन्यसाधनः ।

सर्वार्थसिद्धिः

*न च नित्यः कश्चिदन्यः; सुषुप्त्यादौ †तेषां भोक्तृत्वादृष्टेः। सति ज्ञाने भोक्तृत्वमिति चेत्; तर्हि तस्यैव तदस्तु ‡किमन्तर्गडुभिरन्यैः। तस्य च भोक्तृत्वं अनुकूलप्रतिकूलविषयावगाहित्वम्।

आनन्ददायिनी

भोक्तुरेवात्मत्वमिति भावः। ननु भोक्तृत्वमनुभवितृत्वविशेषः। स च ज्ञानानाश्रयस्य न संभवतीत्यत्राह—**तस्य चेति**। न त्वनुकूलप्रतिकूलज्ञानाश्रयत्वं गौरवादिति भावः। ननु कस्यचिदनुकूलानुभवरूपभोक्तृत्वं कस्य चित्प्रतिकूलानुभवरूपभोक्तृत्वमिति वैषम्यं न स्यात्। तथा कदाचिद्भोक्तृत्वं कदाचिन्नेति वैषम्यं न स्यात्; नित्यस्य कस्यचिददृष्ट-

भावप्रकाशः

इति प्रतिज्ञाय धीभेदसाधनावसरे आत्मनः क्षणिकज्ञानान्नित्यज्ञानमात्राच्च भेदस्साधितः। एवं प्रकरणपञ्चिकायां शालिकानाथेनापि। न्यायसिद्धाञ्जने च आत्मसिद्ध्यनुसारः स्फुटः। अतः वार्तिकस्थान्यशब्दप्रयोगात् अभोक्तृनित्यज्ञानात्मवादिन एवान्ये अकर्तृ भोक्तृनित्यज्ञानात्मवादिसांख्यविलक्षणा अविद्यावादिन एवेति। तत्रैतावान् विशेषः;—आत्मसिद्धौ विज्ञानवादच्छाया अत्र तु शून्यवादच्छायेति।
*न च नित्यः कश्चिदिति—भोक्तेति लिङ्गविपरिणामेनानुषज्यते।
†तेषां—नित्यानां चिताम्। ‡किमन्तर्गडुभिरन्यैरिति—अत्र;—

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः॥ १५९॥

इति आत्मसिद्ध्युदाहृतं(सु)वार्तिकादिकमनुसंधेयम्। अनुकूलादि-

सर्वार्थसिद्धिः

*तच्च †यदृच्छावैचित्र्यादिति ‡नादृष्टाद्यपेक्षा। §न च सुषुप्त्यादौ निर्विषयधीसन्ततिसद्भावे किञ्चिन्मानम्! ‖प्रबोधारम्भसामग्रीवैचित्र्यात्

आनन्ददायिनी

वतोऽनभ्युपगमादित्यत्राह—**तच्चेति**। निर्हेतुकत्वात्कार्यस्य कण्टकतैक्ष्ण्यादिन्यायेनोपपन्नमिति भावः। नन्वतिरिक्त आत्मा माभूत्; तथाऽपि संतन्यमानज्ञानमात्मा सुषुप्त्यादौ वर्तताम्; न तु प्रत्यङ्गं विच्छिन्नम्; तथात्वे जागराद्यज्ञानानुपपत्तिप्रसङ्गादिति बौद्धपक्षं दूषयति;—**न च सुषुप्त्यादाविति**। ज्ञानस्य सविषयत्वनियमादिति भावः। कार्यस्य कारणाधीनत्वे हि जागराद्यज्ञानं कारणसापेक्षम्!

भावप्रकाशः

विषयकवृत्त्यवच्छिन्नचित एव भोगरूपत्वे अदृष्टवैचित्र्याद्भोगवैचित्र्यानुपपत्तिरिति शङ्कायाम्। माण्डूक्यकारिकासु सृष्टिश्रुतीनां जीवपरमात्मैक्यबुद्ध्यवतारार्थत्वं अद्वैतप्रकरणे माध्यमिकमत इव कार्यकारणभावस्यातात्त्विकत्वं अलातशान्तिप्रकरणे स्थापयित्वा अधिष्ठानसत्यत्वेन शून्यवादवैलक्षण्यमभिहितमिति परमार्थतः कारणमन्तरैव वैषम्यमुपपद्यत इत्याह—*तच्चेत्यादि। †यदृच्छा—परमार्थकारणशून्यं वस्तु। ‡नादृष्टापेक्षेति—तात्त्विकात्मगतादृष्टापेक्षा नास्तीत्यर्थः। व्यवहारस्तु संवृत्या अविद्यापरपर्यायेति भावः। परमार्थतः कार्यकारणभावमङ्गीकर्तुः योगाचारस्य मतं दूषयति—§नचेत्यादिना। एतेन सुषुप्तावहमर्थसत्त्वे मनाभावान्नाहमर्थ आत्मेति तत्वसंग्रहपाञ्जिकोक्तदूषणं तन्मत एव योजितम्। ‖प्रबोधारम्भवैचित्र्यादित्यभ्युपत्यैवा देन।

सर्वार्थसिद्धिः

* यदृच्छयैव वा जागराद्यज्ञानोपपत्तेरिति । बौद्धास्तु ग्राहकाभिमानारूढोऽनादिधीसंतान एवात्मा । अहं जानामीत्यादिबोधस्तु आलयविज्ञानवशात् आश्रयकल्पनया वा स्यात् । अतिरिक्तस्तु बाधितत्वादनादेय इत्याहुः ।

आनन्ददायिनी

तदेव नास्तीत्याह—**यदृच्छयेति** । अथ ज्ञानसंतान एवात्मा; न तस्य धर्मादिकमस्ति । तथापि दोषवशात् कर्तृत्वभोक्तृत्ववत्तया भ्रान्तिविषयो भवति । न च निर्धर्मकत्वे ज्ञानाश्रयत्वप्रतीत्यनुपपत्तिः ! आलयविज्ञानमेव हि प्रवृत्तिविज्ञानवेदनास्कन्धादिहेतुतया तद्वत्तया भासते । यद्वा आधाराधेयभावोऽध्यस्यते । तद्बलात्तथा व्यवहारो भवतीति बौद्धाः प्राहुः; तदनुवदति—**बौद्धास्त्विति** ।

भावप्रकाशः

* यदृच्छयैव—परमार्थतःकारणं विनैव । पूर्वं जडसरे कार्यकारणभावापलापिचार्वाकमतदूषणावसरे अविद्यावादिनामपि परमार्थतः कार्यकारणभावानभ्युपगमस्याचार्यपादैरुक्तया आत्मसिद्ध्यनुसारेण च अत्रापि चार्वाकमतदूषणोपसंहारे माध्यमिकसरण्या कार्यकारणभावापलापिनां अविद्यावादिनां मतं दूष्यत्वेन विवक्षितमिति प्रतिभाति । परमतभङ्गे बुद्धिविशेष एव मन इति ज्ञानात्मवादश्चार्वाकस्येत्युक्तम् । चरके च यदृच्छावादोऽपि चार्वाकस्यैवेति व्यक्तम् । अतश्चार्वाकमतपरतयैव वाऽयं ग्रन्थो योजनीयः । आत्मसिद्धिसंदर्भेण ;—

अहं वेद्मीत्यहंबुद्धिः ज्ञातारमधिगच्छति ।
यदि स्यात् ज्ञानमात्रं च क्षणिकं ज्ञातृ तत्र वः ।
न भवेत्प्रत्यभिज्ञानं पूर्वज्ञातरि संप्रति ॥ ११५ ॥

तत्वमुक्ताकलापः

ज्ञानं च ज्ञातृधर्मः क्षणिकमपि च वः तेन नास्यात्मभावः ।

सर्वार्थसिद्धिः

तदेतन्मतद्वयं तन्त्रेण निरस्यति—*ज्ञानमिति। संविदधीना हि सर्ववस्तुव्यवस्था! ज्ञानं च ज्ञातृधर्मतयैव वेद्यते। न च ज्ञानस्य भोक्तृत्वम्; अनुकूलप्रतिकूलविषयावगाहेऽपि तस्य भोगात्मकत्वं सिध्येत्। मम भोग इति मन्यमानस्तु ज्ञातैव भोक्ता। आनुकूल्यादिकं हि तदपेक्षयैव; † उपलम्भ-

आनन्ददायिनी

तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् ।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ॥

इति तदुक्तेः अहमिति विज्ञानमालयविज्ञानमित्यर्थः । **संविदधीनेति**—पुरुषेच्छाधीनत्वे अतिप्रसङ्गादिति भावः । यथासंविद्व्यवस्थायां ज्ञानस्याहमर्थतया भासमानस्य धर्मितया कल्पनं युक्तमित्याह—**ज्ञानं चेति**। भोक्तृत्वान्यथानुपपत्त्या च न ज्ञानमहमर्थ इत्याह—**नच ज्ञानस्येति**। भोक्तृत्वं हि न भोगात्मकत्वम्! अपि तु भोगाश्रयत्वम्; तथा च मम भोग इति व्यतिरेकप्रतीतिबलाच्च न ज्ञानं भोक्तेत्याह—**मम भोग इति**। किंच आनुकूल्यादिकं च कस्यचिद्भोक्तुरेव न तु भोगस्य; अनुभवविरोधात् । तथा च यदपेक्षयाऽऽनुकूल्यं तस्यैवाहंत्वमिति न ज्ञानस्यात्मत्वमित्यत्राह—**आनुकूल्यादिकं हीति** । नन्विदं सर्वं

भावप्रकाशः

इत्यादिभट्टवार्तिके मतद्वयविवक्षामभिप्रेत्य वार्तिकोक्तमेव विशदयति—*ज्ञानमितीत्यादिना † उपलम्भविरुद्धकल्पनायोगादिति। सविकल्पकस्य

सवार्थसिद्धिः

विरुद्धकल्पनायोगात् । *आलयविज्ञानक्लृप्तिश्च निष्प्रमाणिका । †उपलब्धस्य च बोद्धुः कुतो बाधः? धर्मधर्मिभावायोगादिति चेन्न

आनन्ददायिनी

आलयविज्ञानादेवोपपन्नं तस्य वेदनात्मकभोगाद्भिन्नतया तद्रूपत्वादित्यत्राह—**आलयेति ।** नन्वहमाकारज्ञानमेवालयविज्ञानम् । तच्च सर्वानुभवसिद्धमिति चेन्न; तादृशस्य ज्ञानस्याश्रयतया अहमर्थत्वाङ्गीकारे विवादाभावात् । केवलज्ञानमात्रस्यैव तन्मते स्वलक्षणत्वात् । ननु ज्ञातृत्वेनोपलम्भेऽपि बाधात् स्वलक्षणमात्रं सिध्येदित्यत्राह —**उपलब्धस्यचेति ।** बाधादर्शनादिति भावः । बाधोऽस्तीति शङ्कते—**धर्मेति ।**

भावप्रकाशः

प्रामाण्यं स्थापयिष्यते । माध्यमिकमतेन प्रमाणप्रमेयव्यवहारस्य सांवृतत्वेऽपि तन्मतस्थापनमपि न प्रमाणमन्तरा संभवतीति सांवृतप्रमाणेनैव तद्वाच्यम्; एवं चोपलम्भविरुद्धकल्पना तन्मतेऽप्ययुक्ता न्यायविरोधात् । श्रुत्यादिकं तु अनुगुणमेवेति स्थापयिष्यते इति भावः ॥

*आलयविज्ञानेति—'पूर्वचित्तं प्रवृत्तिविज्ञानं यत्तत् षड्विधं पञ्च रूपादिज्ञानान्यविकल्पकानि षष्ठं च विकल्पविज्ञानम् । तेन सह जातस्समानकालश्चेतनाविशेषस्तदालयविज्ञानमित्युच्यते' इति (न्या. वा. ता. टी) तेषां प्रक्रिया । इदमितिप्रतीतिविलक्षणया अहमिति प्रतीत्या आलयविज्ञानसिद्धिमाशङ्क्य दूषयति—†उपलब्धस्य चेति । अहं जानामीतिप्रतीतिसत्त्वेऽपि ज्ञानात्मनोर्भेदेन गवाश्वयोरिव संबन्धानुपपत्त्या धर्मधर्मिणोरभेदे आत्मन्यागन्तुकधर्माङ्गीकारे नित्यत्वहानिरिति शङ्कायां धर्मधर्मिणोर्भेदपक्ष एव धर्मधर्मिभावः जडसरादौ स्थापित इत्याह—

सर्वार्थसिद्धिः

*आदावेव तत्साधनात् । प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यासंभवादित्यप्ययुक्तम् ; क्षण-भङ्गादेरपि निरस्तत्वात् । ज्ञानेतरमिथ्यात्वं च निरसिष्यते । अनुप-लम्भस्तु बाधकः स्वस्य चेत् असिद्धः ; परस्य त्वबाधकः अन्यथा

आनन्ददायिनी

आदावेवेति । प्रथमसरस्यादौ धर्मधर्मिभावस्य साधनादिति भावः । ननु क्षणिकत्वाद्धर्मधर्मिभावायोग इति बाधमाशङ्क्य क्षणभङ्गस्य निरा-सान्न दोष इत्याह—**प्रत्यभिज्ञातुरिति** । एकत्वाभावे प्रत्यभिज्ञातृत्वं नोपपद्यत इति द्योतयितुं प्रत्यभिज्ञातुरिति विशेषणम् । ननु ज्ञानेतरस्य मिथ्यात्वाद्धर्मधर्मिभावो नेति शङ्कां निराकरोति—**ज्ञानेतरेति** । ननु धर्मधर्मिभावोऽनुपलम्भबाधित इत्याशङ्क्य अनुपलम्भः किं स्वस्य परस्य वेति विकल्प्य आद्य आह—**स्वस्यचेति** । द्वितीय आह—**परस्यचेति** । अन्यथा अन्धस्यानुपलम्भाज्जगदभावप्रसङ्ग इति भावः । परानुपलम्भस्य बाधकत्वाङ्गीकारे परस्याप्यनिष्टमाह—**अन्यथेति** । धीसन्ततेः स्वव्य·

भावप्रकाशः

*आदावेवेति । उक्तं च वाचस्पतिना (न्या. ता. टी) अन्यत्वाविशेषे कथं तस्यैव धर्म इति चेत् अत्र वस्तुस्वभावैरेवोत्तरम् , यथाऽन्यत्वा-विशेषेऽपि कार्यं धूमो हुतभुज एव न बीजस्येति नित्यस्यानित्यधर्मा-धानमेवोपकारो न नित्यस्वरूपकरणं येन तदनित्यं स्यात् । धर्मश्च धर्मिणो भिन्नो न तु धर्मिस्वभावः । यथा च भेदाविशेषे सत्यपि वह्निधूमयोरेव कार्यकारणभावो न वह्निक्रमेळकयोः वस्तुस्वभावनियमात् ; एवं भेदाविशेषेऽप्यात्मनः पुण्यपापयोरेव धर्मधर्मिभावो नात्माकाशयोः पुण्याकाशयोर्वेति' इति च । पूर्वं मतान्तरनिरूपणावसरे 'न च

सर्वार्थसिद्धिः

धीसंततिभेदादेरप्यसिद्धिप्रसङ्गात् । *बुद्धेस्त्वात्मत्वानुमानं इन्द्रियादेरिवायुक्तम् । ननु वर्तमानक्षणविशिष्टतयाऽऽत्मोपलभ्यते । पूर्वापरकालतदुपाध्यादीनामप्रत्यक्षतया तद्विशिष्टवस्तुप्रत्यक्षत्वायोगात्; अन्यथा परभागस्थितवह्निनापि पर्वतस्य विशिष्टोपलम्भप्रसङ्गे अनुमानादिप्रमाणभङ्ग-

आनन्ददायिनी

तिरिक्तेनानुपलम्भादिति भावः । ननु क्षणिकत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेव क्षणावच्छिन्नस्यैव क्षणिकत्वात् । तथा च स्वानन्तरभाविसाधनानुष्ठानजन्यमोक्तृ न किंचिदिति बुद्धेरेवात्मत्वादिति शङ्कते—**नन्विति** । नन्वतीतादिकालीनतयाऽपि प्रतीतिरस्तीति चेतत्राह—**पूर्वापरेति** । विशेषणसन्निकर्षो न हेतुः विशेष्यसन्निकर्षस्तु वर्तत एवेत्यत्राह—**अन्यथेति** । ननु विशेष्यस्य यत्रासन्निकर्षः तत्र प्रमा न स्यादिति चेत्; न; विशेषणसन्निकर्षस्य हेतुत्वे विशेष्यसनिकर्षस्यापि हेतुत्वमविशेषादिति भावः । अनुभवानुरोधेन सामग्रीव्यवस्था । पूर्वकालविशिष्टप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षं च प्रत्य-

भावप्रकाशः

सुषुप्त्यादौ निर्विषयधीसंततिसद्भावे किंचिन्मानम्' इत्यनेन बुद्धेरात्मत्वं दूषितमपि दार्ढ्याय पुनर्दूषयति; *बुद्धेस्त्वित्यादिना । अहं जानामीति प्रतीतिसिद्धज्ञानशून्यत्वेन हेतुना सत्प्रतिपक्षितत्वादिति भावः । एतेन,—

बुद्धिचित्तादिशब्दानां व्यतिरिक्ताभिधायिता ।
नैवैकपदभावेऽपि पर्यायाणां समस्ति नः ॥
अतोऽनैकान्तिको हेतुः न नूक्तं तद्विशेषणम् ? ।
उच्यते; नैव सिद्धं तच्चेतःपर्यायतास्थितेः ॥
अहङ्काराश्रयत्वेन चित्तमात्मेति गीयते ।
संवृत्त्या; वस्तुवृत्त्या तु विषयोऽस्य न विद्यते ॥

सर्वार्थसिद्धिः

स्स्यादिति; तदप्यसत्; प्रत्यभिज्ञायाः प्राक्कालविशिष्टग्रहणस्य*दर्शितत्वात्।

आनन्ददायिनी

क्षसिद्धमिति तदनुरोधात्सामग्रीकल्पनमित्याह—**तदप्यसत्** इत्यादिना।

भावप्रकाशः

इति तत्वसंग्रहे शान्तरक्षितोक्तिरपि समाहिता। बुद्धिचित्तयोरैक्ये चित्तस्याहमर्थत्वे तदभिन्नज्ञानस्य जानामीति भेदेन प्रतीतेरसंभवात्। एकक्षणवर्तिनोर्भेदेन प्रतीतेस्तेनापि वारयितुमशक्यत्वात्। नष्टेन संबन्धानुपपत्त्या पूर्वापरक्षणवर्तिनोराश्रयाश्रयिभावावगाहिप्रतीतेरसंभवेन क्षणिकज्ञानद्वयावगाहित्वासंभवात्। एतदेवाभिप्रेत्य इन्द्रियादेरिवेत्युक्तम्। चित्तं जानाति चक्षुर्जानातीति प्रतीतिविरहेण चक्षुश्चित्तादेस्तादृशप्रतीतिविषयत्वं न संभवतीति भावः। अहमिति प्रतीतेस्सविषयत्वं (६) स्थापयिष्यते। 'आत्मा वा इदमेक एव' इत्यारभ्य 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इत्यादिश्रुतिभिर्बाधोऽपि ज्ञानमात्रस्यात्मात्वानुमाने बोध्यः॥

*दर्शितत्वादिति—आत्मन्यागन्तुकधर्माङ्गीकारे कौटस्थ्यभङ्गात् अन्तःकरणे तद्विशिष्टचिति वा प्रत्यभिज्ञानं नात्मनि इति विवरणानुयायि शङ्कापि; 'वृत्तयो हि वृत्तिमतो भिन्नाः। तेन तासामनित्यत्वेऽपि न वृत्तिमान् कौटस्थ्याच्च्यवते। तथा च प्रत्यभिज्ञाता आत्मैव प्रत्यभिज्ञानान्नित्यस्स्यान्न त्वन्तःकरणं बुद्धिसंज्ञकम्। न हि तत्प्रत्यभिज्ञाने प्रकाशते' (न्या. ता. टी) इति वाचस्पतिनैव समाहिता। तदनेन ग्रन्थेन कूटस्थत्वं सङ्कोचविकासात्मकपरिणामशून्यत्वम् न तु निर्धर्मकत्वं प्रमाणाभावादित्युक्तं भवतीति भावः॥

सर्वार्थसिद्धिः

*नित्यत्वादीनामपि तत्तत्प्रमाणैरुपस्थापनात् । न च नित्योऽहमित्युपलम्भे

आनन्ददायिनी

एवमपि नित्यत्वं न सिध्येदित्यत्राह—**नित्यत्वादीनामिति** । अनु-

भावप्रकाशः

ननु प्रत्यभिज्ञयाऽऽत्मनः पूर्वापरकालसंबन्धसिद्धावपि सर्वकाल-संबन्धित्वरूपं नित्यत्वं न सिध्यति । एवं च नित्यत्वस्य प्रत्यक्षाविषयत्वे आत्मनोऽप्यहमितिप्रत्यक्षतःसिद्धिर्न संभवति । तदुक्तं तत्वसंग्रहे ;—

तदयुक्तमहंकारे तद्रूपानवभासनात् ।
न हि नित्यविभुत्वादिनिर्भासस्तत्र लक्ष्यते ॥
गौरवर्णादिनिर्भासो व्यक्तं तत्र तु विद्यते ।
तत्स्वभावो न चात्मेष्टो नायं तद्विषयस्तथा ॥
यदि प्रत्यक्षगम्यश्च सत्यतः पुरुषो भवेत् ।
तत्किमर्थं विवादोऽयं तत्सत्वादौ प्रवर्तते ॥
तथाहि निश्चयात्मायमहङ्कारः प्रवर्तते ।
निश्चयारोपबुद्ध्योश्च बाध्यबाधकता स्थिता ॥

इति शङ्कामपाकरोति—* **नित्यत्वादीनाम**पीत्यादिना । आदिपदेन अणुत्वशरीरप्रभृतिव्यतिरेकादिपरिग्रहः । पूर्वमेव आत्मनि शरीरादि-व्यतिरेकस्य गौरोऽहमिति प्रतीतेर्भ्रान्तित्वस्य च व्यवस्थापनेन धर्मधर्मि-णोर्भेदेन नित्यत्वादिधर्माणां प्रमाणान्तरेण सिद्धावपि धर्मिण आत्मनोऽहमिति प्रत्यक्षेण सिद्धौ नानुपपत्तिरिति भावः ॥

सर्वार्थसिद्धिः

सर्वकालोपाधिप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः प्रमाणसिद्धिमात्रेण तथा व्यवहारात् । *इष्टं चैतदन्यत्रापीति ॥ ३ ॥

आनन्ददायिनी

मानादिभिरुपस्थापनादित्यर्थः । **प्रमाणसिद्धीति**—अनुमानादिसिद्धिमात्रादित्यर्थः । **इष्टं चैतदिति**—विभज्यवैभाषिकेण स्थिरपदार्थोऽङ्गीकृत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

भावप्रकाशः

*इष्टं चैतदन्यत्रापीति । अन्यत्र—क्षणिकत्वादौ । बौद्धमते हि नीलादेः प्रत्यक्षेण क्षणिकत्वस्यानुमानेन सिद्धावपि नीलादि क्षणिकमिति यथा तद्वदेवात्रापि निश्चयानात्मकं निर्विकल्पकं निरसिष्यते; अतो नीलादिप्रत्ययस्य निर्विकल्पकत्वेन निश्चयत्वाभावेन प्रवृत्तिसमारोपाबाधकत्वेन क्षणिकत्वानुमितेः प्रवृत्तसमारोपबाधकत्वात् प्रामाण्यं विवादसंभवश्च । अहमितिप्रत्ययस्य तु सविकल्पकत्वेन निश्चयत्वात् समारोपबाधकत्वेन नित्यत्वादिविवादासंभव इति भवदुक्तवैषम्यं न संभवति । एवमप्यहमितिप्रतीतेः अहंत्वांशे प्रमाणत्वेऽपि नित्यत्वादेरहमितिप्रतीतौ भानविरहेण नित्यत्वादिप्रतीतेः प्रवृत्तसमारोपबाधकत्वेन प्रामाण्यं नित्यत्वादौ विवादश्च संभवतीति स्थापयिष्यते ॥ ३ ॥

ननु धीनित्यतापक्षो यद्यपि पुरातनः; तथाहि;—'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' इत्यधिकरणे 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादिश्रुत्युक्तापहतपाप्मत्वादि सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वपर्यन्तगुणाष्टकाविर्भावस्सिद्धान्तितः । दहराधिकरणशङ्करभाष्ये तद्गुणाष्टकं प्रस्तुत्य;—अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्ते;अस्मदीयाश्च केचित्' इत्युक्त्या प्राचामयं सिद्धान्त इति प्रतीयते, तत्र अपहत-

भावप्रकाशः

पाप्मत्वादिसत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वाविर्भावो धीनित्यत्वाभ्युपगमे स्वरसः। 'येऽप्याचक्षते' 'मोक्षे विज्ञानान्तरमानन्दान्तरं वाऽभिव्यज्यते' इति शाङ्कर(बृ·६-६-४)भाष्योक्तपक्षोऽप्ययमेव स्यात्। 'य आत्मा' इत्यादिश्रुतौ 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' इत्युपसंहारानुरोधेन—

यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते।

इति स्मार्तनिर्वचनेन च संततधर्मभूतज्ञानवानात्मशब्दार्थो विवक्षित इत्यभिप्रेत्य 'आत्मा प्रकरणात्' इति सूत्रे श्रीभाष्ये धीनित्यत्वं स्थापितम्। उक्तंच शब्दनित्यत्वाधिकरणे शाबरभाष्ये 'बुद्धिकर्मणी अपि प्रत्यभिज्ञायेते; ते अपि नित्ये प्राप्नुतः? नैष दोषः; न हि ते प्रत्यक्षे! अथ प्रत्यक्षे नित्य एव' इति। अत्र बृहतीव्याख्यायां ऋजुविमलायां 'अस्याप्ययमर्थः;—यदि प्रत्यभिज्ञायेते ततो नित्ये एव' इति। 'प्रत्यक्षशब्देन प्रत्यभिज्ञायमानतोच्यते' इति शालिकानाथः। श्लोकवार्तिके शब्दनित्यत्वाधिकरणे;—

बुद्धीनामपि चैतन्यस्वाभाव्यात्पुरुषस्य नः।
नित्यत्वमेकता चेष्टा भेदस्तु विषयाश्रयः॥ ४०४॥
तथैव नित्यचैतन्याः पुमांसो देहवृत्तयः।
गृह्णन्ति करणानीतान् रूपादीन् धीरसौ मता॥ ४०७॥
तेनोपनेतृसंबन्धभङ्गित्वाद्भङ्गिनी मतिः।
न नित्यं दाहको वह्निर्दाह्यासन्निधिना यथा॥ ४०८॥
तत्र बोधात्मकत्वेन प्रत्यभिज्ञायते मतिः।
घटहस्त्यादिबुद्धित्वं तद्भेदाल्लोकसंमतम्॥ ४०९॥
सैवेति नोच्यते बुद्धिरर्थभेदानुसारिभिः।
न चास्य प्रत्यभिज्ञानमर्थभेदेऽनुपाश्रिते॥ ४०१॥

भावप्रकाशः

एतन्मनसि कृत्वाऽऽह नित्ये एवेति भाष्यकृत् ।

इति कुमारिलभट्टश्च ; उभावपि संक्षेपविस्तराभ्यां शाबरभाष्यार्थं प्राकाशयताम् । इत्थं च न्याभाष्यकारवात्स्यायनोद्द्योतकरादिभिः क्लेशेन सांख्यमतेन पूर्वपक्षपरतया विवृतम् ; 'विषयप्रत्यभिज्ञानात् (३-२-२) इति सूत्रमेतन्मतपरत्वेन स्वरसतो योजयितुं शक्यम् । न्यायभूषणकाराश्च बुद्धेरद्रव्यभूतायाः नित्यत्वमाहुरित्यद्रव्यसरे (६४) वक्ष्यते । तेन च न्यायभाष्ये नित्यसुखाभिव्यक्तिपूर्वपक्षस्सिद्धान्तितो भवति । वैशेषिकप्राभाकरादिसंमतनिस्स्वभावानिरानन्दमोक्षपक्षपातिनः पार्थसारथिमिश्रास्तु (न्या+र । शा+दी) शून्यवादभाष्यवार्तिकयोः ज्ञानानुमेयत्वस्य व्यवस्थापनात् 'अथ प्रत्यक्षे नित्ये एवेति भाष्यवार्तिकयोरसांगत्यं पर्यालोचयन्तः चैतन्यस्वभावः प्रमातैव लक्षणया बुद्धिशब्देनोच्यते । स च प्रत्यक्षो नित्यश्चेत्याभिप्रायकं एतद्भाष्यं ज्ञानविकाराभिप्रायकं पूर्वभाष्यम् । वार्तिकं तु पुरुषगतचैतन्यशक्तिगतन्नित्यत्वाभिप्रायकं योजयन्ति। तत्रात्रत्यभाष्यवार्तिकयोरस्वारस्यं न तिरोहितं विदुषाम्।एवं आत्मवादवार्तिके ;—

सुखदुःखाद्यवस्थाश्च गच्छन्नपि नरो मम ।
चैतन्यद्रव्यसत्तादिरूपं नैव विमुञ्चति ॥ २६ ॥
नचावस्थान्तरोत्पादे पूर्वात्यन्तं विनश्यति ।
उत्तरानुगुणत्वात्तु सामान्यात्मनि लीयते ॥ २७ ॥

इत्युक्तम् । अत्र चैतन्यं धर्मः तस्यैव सुखाद्यवस्थाः । तासां चैतन्यात्मनि धर्मे भेदाभेदाभ्युपगमात् धर्मिणि द्रव्ये च लयो विवक्षितः । अयमर्थश्शून्यवादे ;—

कथं चिद्धर्मरूपेण भिन्नत्वात्प्रत्ययस्य तत् ।
ग्राहकत्वं भवेत्तत्र ग्राह्यं द्रव्यादि चात्मनः ॥ ६८ ॥

भावप्रकाशः

कारणानां हि सबन्धः कार्यैः कृतकतोच्यते ।
विभागोऽवयवानां च भवेत् क्वचिदनित्यता ॥ १०१ ॥
बुद्ध्यादेरात्मरूपावस्थानं नाशित्वमुच्यते ।
नित्यत्वं सर्वदा सत्ता वस्तुत्वं सैव कीर्त्यते ॥ १०२ ॥

इति वार्तिकेऽपि व्यक्तः ॥ एवं प्रत्यक्षसूत्रे ;—

व्यापारः कारकाणां हि दृष्टो जन्मातिरेकतः ।
प्रमाणेऽपि तथा मा भूदिति जन्म विवक्ष्यते ॥ ५४ ॥
न हि तत् क्षणमप्यास्ते जायते वाऽप्रमात्मकम् ।
येनार्थग्रहणे पश्चाद्व्याप्रियेतेन्द्रियादिवत् ॥ ५५ ॥
तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते ।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः ॥ ५६ ॥
जन्म चाव्यतिरेकेण भाष्यकारेण वर्णितम् ।
तच्च भूतभविष्यत्त्वात कृतं बुद्धेर्विशेषणम् ॥ ५७ ॥

इति वार्तिके 'व्यापारः कारकाणा' मित्यादिना बुद्धेरनित्यतापक्षे जायमानावस्थाविशेषणप्रयोजनमभिधाय तच्च भूतभविष्यत्त्वात्कृतं बुद्धेर्विशेषणमित्यनेन बुद्धिनित्यतापक्षे प्रयोजनान्तरमभिहितम् । जन्मपदार्थविशेषणेन भूतभविष्यत्कालयोर्बुद्धिसत्त्वेऽपि सा व्यावर्तेत इत्यर्थः सिद्धः । एवं च अर्थापलापभयेन बुद्धेरनुमेयत्वाङ्गीकारेऽपि उदाहृतवार्तिकोक्तरीत्या प्रत्यभिज्ञानसंभवेन मतभेदेन वा धर्मभूतज्ञाननित्यत्वमेव वार्तिककारसिद्धान्तः । अत एव प्रत्यक्षसूत्रे ;—

अतीतानागतेऽप्यर्थे सूक्ष्मे व्यवहितेऽपि च ।
प्रत्यक्षं योगिनामिष्टं कैश्चिन्मुक्तात्मनामपि ॥ २६ ॥

इत्यत्र वेदान्तिनां मते मुक्तानां अतीतानागतादिसर्वपदार्थप्रत्यक्षाङ्गीका-

तत्वमुक्ताकलापः

***धीर्नित्या †यस्य पक्षे प्रसरति बहुधाऽर्थेषु सैवे-**

सर्वार्थसिद्धिः

माभूदस्थिरज्ञानानां प्रतिसंधानाद्यनर्हत्वादात्मत्वम्; यस्य आत्मवत् तद्धर्मभूता धीर्नित्या सा प्रसरणभेदैस्तत्तदर्थान् प्रकाशयतीति पक्षः तस्य किं तदाश्रयभूतेन नित्यात्मना? इति चोद्यमनूद्य प्रत्याह—**धीरिति**।

आनन्ददायिनी

आक्षेपिकीं सङ्गतिमाह—**माभूदिति**। ज्ञाननित्यत्ववादिनोऽपि

भावप्रकाशः

रोक्तिस्संगच्छते। अयमेव पक्षो जैमिनिसंमतश्श्रौतश्चेति स्थापयिष्यते। (पा. मि.) प्राञ्चः सुचरितमिश्राश्च (श्लो. वा. व्या.) काशिकायां 'अत्र केचिद्वेदान्तिनः' इति व्याकुर्वन्तः शून्यवादे (७०) सुखाभिव्यक्तिरूपामेव मुक्तिं समर्थयन्ते। (शा. दी. पा. मि.) एतद्दूषणानि निरसिष्यन्ते। 'क्षणिका हि सा न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यते' इति शाबरं तु बुद्धेरतीताया अभिज्ञाविषयत्वनिरसनपरमिति वार्तिके व्यक्तम्॥

किंच अवस्थानामेवोत्पादविनाशस्य तेनावस्थावत उत्पादविनाशव्यवहारस्य वार्तिक एवोपपादनेन उपनेतृसंबन्धरूपावस्थोत्पादाभिप्रायकतयैतद्भाष्यस्य न बुद्धिनित्यत्वसिद्धान्तविरोधः। तेन (त. सं. व्या.) कमलशीलेन वार्तिककारसिद्धान्ते एतद्भाष्यविरोधोद्भावनं प्रत्युक्तम्। अत्र दूषणाभासोद्भावनं सिद्धान्तापरिज्ञानमूलमिति बुद्धिसरे व्यक्तीभविष्यति। अतो भट्टा अपि नैयायिकैकदेशिवत् धर्मभूतज्ञाननित्यतावादिन एव। तथापि बुद्धिनित्यतापक्षे धर्मधर्मिभावोऽपि बुद्धितदवस्थयोरुपपद्यत एवेत्यात्माङ्गीकारो विफल इत्याह मूले *धीर्नित्येत्यादिना। † यस्य पक्ष इत्यनेन भाट्टनैयायिकैकदेशिपक्षोऽपि कक्षीकृतः। एवम्;—

तत्वमुक्ताकलापः

न्द्रियाद्यैः तेनात्माऽजागळस्थस्तन इव किमिह स्वीक्रियेतेति चेन्न । कल्प्यं चेदात्मतत्वं कथयितु-

सर्वार्थसिद्धिः

* धीतद्वन्तौ तावत् पृथग्दृष्टौ । तत्र † 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो

आनन्ददायिनी

ज्ञानं न स्वरूपेण भोगः । किं तु अवस्थाविशेषमादाय । तथाच तादृशावस्थैव भोगोऽस्तु; तथाच भोक्तृप्रत्यभिज्ञादिकमपि युज्यत इति भावः । **धीतद्वन्ताविति ।** तथाच उभयोर्नित्यत्वेऽवस्थातिरिक्तनित्यधियोऽभ्युपगमस्यावश्यकत्वे धियोऽन्य आत्मा सिद्ध इति भावः । विज्ञातुः—ज्ञानाश्रयस्य ; विज्ञातेः—ज्ञानस्य न विपरिलोपो विद्यते—नाशो नेत्यर्थः ॥

यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः ।
दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनःक्रियते तथा ॥
प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो गुणाः ।
तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः ॥

भावप्रकाशः

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।

इति पाणिनिशिक्षा उदाहृतचरकग्रन्थश्च अस्मिन् पक्ष एव स्वरसाविति ज्ञेयम् । * धीतद्वन्ताविति—एतेन अहं जानामीत्यादिज्ञानाश्रयत्वावगाहिप्रतीतिः ज्ञानतदवस्थाविषयकतया न निर्वहतीति सूचितम् । तेन अन्वारुह्य शङ्केत्यपि सिध्यति । धीनित्यत्वे (श्लो. वा. व्या. का.) सुचरितमिश्रोपात्तामेव श्रुतिमुदाहरति '† न विज्ञातुः 'इत्यादिना । आदिन

तत्वमुक्ताकलापः

मुचितं लाघवं तत्र युक्त्या नित्या सा यस्य तद्वानपि निगमभितो गौरवं नास्य भारः ॥ ४ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

विद्यते' 'तथा हेयगुणध्वंसात्' इत्यादिभिः द्वयोरपि नित्यत्वं यस्य सिद्धं तस्य कल्पनागौरवरूपो भारो नास्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

आनन्ददायिनी

इत्यादिभिः ज्ञानादेर्नित्यत्वोक्त्या आत्मनोऽपि नित्यतेति द्रष्टव्यम्। मूले सा—धीः। तद्वान्—धीमानित्यर्थः ॥ ४ ॥

भावप्रकाशः

तेन भगवद्यामुनमुनिभिश्चोदाहृतानां 'जानात्येवायं पुरुषः ज्ञातव्यं तु न वेद' इत्यादीनां परिग्रहः। अयमत्र श्रुतिक्रमः;—'तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' (२२) 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (२३) इति। एवमेव 'यद्वै तं न जिघ्रति; नरसयते; नवदति; नश्रृणोति; न मनुते; न स्पृशति; न विजानाति' इत्यादिमाध्यन्दिनपाठे तु 'पश्यन्वै तदद्रष्टव्यं न पश्यति; 'विजानन् वै तद्रसं न रसयति इत्यादिर्विशेषः। अन्यत्समम् ॥

अत्र 'पश्यन्नेवायं तस्मिन् काले भवति; नचास्य विशेषज्ञानं प्रादुरस्ति! द्रष्टाऽयं पुरुषो विज्ञानात्मा दृष्टिक्रियायाः कर्ता, ततः परं दृष्टिक्रियाऽभिव्यक्तस्य रूपस्य बुद्ध्योपसंहृतस्य विज्ञाता। एवं तत्फलसंवेदनस्यापि कर्ता (भोक्ता) तत्रापि बुद्धिप्रत्ययस्य घटादेश्च ग्राह्यग्राहकभावेन संबन्धात् क्रियान्तरनिर्वृत्तौ द्रष्टैव। द्रष्टुरिति तृजन्तेन

भावप्रकाशः

कर्तृत्वमेवाचष्टे; दृष्टिरिति भावः क्रियासमाप्त्यर्थः फलाश्रितो निर्दिश्यते। तदेतत्प्रकाशनं ज्ञानं तत्कर्तृत्वं चेति धर्मद्वयं प्रत्येकमुपदिश्यते। यावद्गुणिभाविनो हि गुणाः। यावदग्निस्तावदौष्ण्यम्; यावद्द्रष्टा तावद्दृष्टिरित्यपरिलोपः। न ह्यस्य विनंष्टुं शीलं विद्यते! येन ह्यस्यान्येन द्वितीयेन नाश आशङ्क्येत! न तदस्ति तेनाविभक्तत्वात्तस्य। अविनाशित्वान्नित्यः। तस्य नित्यस्य द्रष्टुर्नित्यो गुणो दृष्टिरवस्थितैवास्ते। भिन्नाभिन्नात्मकं ब्रह्मैव जगदिति द्रष्टव्यासत्त्वम्। एतेन ततोऽन्यदित्यादि व्याख्यातम्। परमात्मनि दृगादिशक्तिभेदाश्चक्षूरूपादिभेदेन परिणमन्ते इति (बृ.-वा-आ.) प्राचीनो ब्रह्मपरिणामवादी भर्तृप्रपञ्चो व्याचख्यौ। एतन्मते च आत्मनिष्ठदृगादिशक्तिः दृष्ट्यादिक्रिया। तदनन्तरकालिकः परिणामो रूपादिविशेषज्ञानम्? तत्फलसंवेदनं चेति त्रयं दृष्ट्यादि। तत्राद्यं नित्यं सुषुप्तावपि वर्तते। अन्यद्द्वयमनित्यं न सुषुप्तौ। दृष्टिक्रिया इत्यत्र न गुणव्यतिरिक्ता पारिभाषिकी क्रिया किंतु धात्वर्थः; तेन संयोगादिवत् गुण एव सः। औष्ण्यदृष्टान्तेन स्वाभाविको गुण एव विवक्षित। अत एव 'या त्वात्मनो दृष्टिरग्न्युष्णप्रकाशादिवत् सा च द्रष्टृस्वरूपत्वान्न जायते न विनश्यति' इति (५-४-२) शङ्कराचार्योक्तिस्संगच्छते॥

अनुद्भवाभिभवाभ्यां सतोऽप्यनुपलब्धिरारम्भवादिनोऽपि संमता। 'सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः' इति सख्यनयः। अतोऽन्तःकरणवृत्तेरनित्यत्वेऽपि आत्मधर्मभूताया दृष्टेर्नित्यत्वमेवेति द्वैताद्वैतवादः वार्तिकोक्तदूषणोद्धारेण परिष्करणीयः॥ विवर्ताद्वैतवादिनश्च न हि दृष्ट्यादिधर्मभेदप्रदर्शनपरमिदं वाक्यं 'यद्वै तादित्यादि! किंतर्हि? सुषुप्ते ज्ञानाभावान्न चैतन्यात्मज्योतिरिति शङ्कानिरसनपरम्। चक्षुषा रूपं जानातीत्यादिलोकप्रसि-

भावप्रकाशः

द्ध्यनुसारेण दृष्ट्यादिशब्दानां ज्ञानमर्थः । 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिभिस्तन्निष्कर्षः । एवं च चक्षुर्द्वारेण जायमानायां बुद्धिवृत्तौ व्यक्तं चैतन्यं दृष्टिः । एवं घ्राणद्वारेण जायमानायां तस्यां व्यक्तं चैतन्यं घ्रातिरिति जाग्रत्स्वप्नयोः चक्षुराद्यनेकोपाधिभेदात्प्राप्तभेदानुवादेन चैतन्यस्याविनाशित्वे वाक्यतात्पर्यम् । यथा आदित्यादयो नित्येन स्वाभाविकेन अक्रियमाणेन प्रकाशयितारः तथा अयमात्मा अविपरिलुप्तस्वभावया दृष्ट्या नित्यया द्रष्टेत्युच्यते । प्रकाशयितेतिवत् तृजन्तप्रयोगः ॥

कथं तर्हि न पश्यतीति? उच्यते;—न तु तदस्ति विषयभूतं द्रष्टुरन्यत्वेन विभक्तं यत्पश्येत् । यद्धि तद्विशेषदर्शनकारणमन्तःकरणं चक्षूरूपं च तदविद्ययाऽन्यत्वेन प्रत्युपस्थापितमासीत् तदेतस्मिन् काले एकीभूतम् । अयं तु स्वेन परेण प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तः तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च तदभावाद्विशेषदर्शनं नास्ति; करणादिकृतं हि तत् नात्मकृतम्! मननविज्ञानयोर्मनोबुद्धिवृत्त्योर्दृष्ट्यादिसहकारित्वेऽपि चक्षुरादिनिरपेक्षाऽतीतादिवृत्तीरागादिवृत्तिश्चास्तीति पृथग्ग्रहणम् इत्याहुः ॥

पार्थसारथिमिश्रास्तु;—'यदि दृष्ट्यादिशब्दानां ज्ञानमात्रमभिधेयमभविष्यत् तर्हि प्रकाश्यासन्निधावपि सवितुः प्रकाशकत्वं यथा नित्यं तथेन्द्रियाभावेऽपि दृष्ट्यादिर्नित्यैवेति समघटिष्यत । न च ज्ञानमात्रं दृष्ट्यादिशब्दवाच्यम् लोकप्रसिद्ध्यभावात्; किं तु चाक्षुषज्ञानादिकम् । तच्च सुषुप्तौ मुक्तौ वा नास्त्येव । अतः 'पश्यन्' 'द्रष्टुर्दृष्टेः' इत्यादौ दर्शनादिशक्तिरेव विवक्षितेति 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यत्रापि ज्ञानशक्तिनित्यतैव विवक्षिता न ज्ञाननित्यता । 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इत्यनन्तरं 'अलं वा अरे इदं विज्ञानाय'

भावप्रकाशः

इति श्रुत्या आत्मतत्वं सर्वास्ववस्थासु विज्ञानाय समर्थमित्यर्थिकया सर्वा विज्ञानश्रुतयः शक्त्यभिप्राया व्याख्याताः। मतिः मानसप्रत्यक्षम्। विज्ञातिः—अनुमितिः इति वदन्ति ॥

अत्रायमाशय आत्मसिद्ध्याद्यनुयायिनामाचार्यपादानाम्;—'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते' 'अकामं रूपं शोकान्तरम्' 'तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' इत्यत्र सुषुप्तौ कामसामान्यस्य तन्मूलकस्य कृत्स्नस्य च शोकस्य विरहः प्रतिपादितः।

एवं 'न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' इत्यत्र शोकमूलकाम-हेतुज्ञानविरहोऽपि। तत्राक्षपादकणाददर्शन इव ज्ञानविरहस्सुषुप्तौ यद्यभिमतस्तर्हि आत्मनस्स्वयंप्रकाशत्वाङ्गीकारेऽपि सुषुप्तौ ज्ञानस्य निरन्वयविनाशेन प्रबोधे असत एव ज्ञानस्योत्पत्तिप्रसङ्गः। न चेष्टापत्तिः! 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा' इति स्वप्नवाक्येन जीववत्तद्धर्मभूतज्ञान-स्यापि स्वयंप्रकाशत्वद्रव्यत्वयोस्सिद्ध्या ज्ञानद्रव्यांशे असत्कार्यवादाभ्यु-पगमस्यानुभवविरोधेनासंभवात्। अतः 'बाह्यम्' 'आन्तरम्' इति पदद्वयम् सुषुप्तौ न ज्ञानस्य धर्मिणो विरहः किंतु बाह्यान्तरविषयसंबन्ध-स्येति बोधनायैव। अत एव 'योऽयं विज्ञानमयः' 'सधीस्स्वप्नो भूत्वा' इत्युपक्रमोऽपि निर्व्यूढः। तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान्' इत्यत्र ज्ञाना-वस्थारूपाणां शोकानां विरहमुपसंहृत्य शोकमूलकाममूलज्ञानावस्थानामेव-विरहः न तु ज्ञानस्येति 'यद्वै तन्न पश्यति' इत्यादिनोपसंह्रियते। तेन 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्युपक्रमोक्तविज्ञानमयत्वं प्रतिष्ठापितं भवति ॥

तत्र 'विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्यादिश्रुतिभिर्धर्मी ज्ञानस्वरूपः प्रतिपाद्यते। तत्र वीत्यनेन इन्द्रियानधीनत्वं बोध्यते। आत्मा न

भावप्रकाशः

दृष्ट्यादिस्वरूपः मानाभावात्। धर्मभूतज्ञानमेव दृष्ट्यादिस्वरूपम्। चक्षुषा रूपं पश्यामीत्यादितुल्यतया चक्षुषा रूपं जानामीत्यादिलोकप्रसिद्धेः ॥

ऐतरेयोपनिषदि च दर्शनश्रवणसंकल्पकामादीनामपि धर्मभूत-ज्ञानावस्थाविशेषरूपत्वं स्पष्टमुक्तम्। तथा हि;—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादिना परमात्मसंकल्पेन सकलप्रपञ्चसृष्टिमभिधाय 'अन्नायुर्वा एष यद्वायुः स ईक्षते कथन्विदं मद्दते स्यात्। यदि वाचाऽ-भिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टम् अथ कोऽहमिति' इत्यनेन इदन्तया प्रतीयमानान् उच्चारणजीवनदर्शनादिकरणभूतान् वाक्प्राणचक्षुरादीन् नियन्तारं जीवात्मानमहमर्थं निरूप्य 'पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति' इत्यादिना गर्भमुपवर्ण्य 'गर्भे नु सन्न-न्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा' इतिमन्त्रे अहन्त्वेन निर्दिष्टस्य वामदेवस्य 'स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतस्समभवत्समभवत्' इत्यनेन परमात्म-वेदनं उत्क्रान्तिसर्वकामावाप्त्यमृतत्वानि प्रतिपादितानि। अत्र अहमर्थ-स्यात्मत्वं ज्ञानकामादिमत्त्वं कणादादिसंमतं यदि विवक्षितं तदाऽऽत्मन आगन्तुकनानाधर्मसंबन्धेन नित्यत्वं मुक्तौ स्वरूपाविर्भावश्च न स्यात्। यदि सांख्यवत् ज्ञानकामादिरन्तःकरणपरिणाम इत्यभिप्रेतं तदा परमा-त्मन उपाधिविगमकाले 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इतीक्षणस्य—जीवस्य स्वर्गलोके सर्वकामावाप्तेश्चानुपपत्तिरितिसन्देहेन 'कोऽयमात्मेति वय-मुपास्महे कतरस्स आत्मा? इति प्रश्न उपक्षिप्तः। अहं वेद्मीति वयं चिन्तयामोऽयमात्मा कः? इत्येकः प्रश्नो जीवविषयकः 'स ईक्षत' इत्यादावीक्षितृत्वादिना प्रसिद्धः परमात्मा कः इत्यपरः परमात्मविषयकः येन वा पश्यति येन वा शृणोतीत्यादि यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्' इत्यनेन

भावप्रकाशः

दर्शनश्रवणादौ मनसो निमित्तकारणत्वम् 'संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिस्संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि' इत्यनेन संकल्पस्य स्मृतिकामादेर्ज्ञानपरिणामत्वेन ज्ञानविशेषरूपत्वं चाभिहितम् । अत्र हृदयमनश्शब्दद्वयप्रयोगेण 'सर्वान् शोकान् हृदयस्य' 'कामस्संकल्पः' 'एतत्सर्वं मनः' इत्यत्र करणत्वमेव विवक्षितमिति बोधितम् ॥

अत्र वाजसनेयके च 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' हृदयेन हि रूपाणि जानाति' इत्यादि । तस्माद्धृदयमनोवाच्यस्य सर्वोपलब्धिकारणत्वं प्रसिद्धमिति अन्तकरणवृत्तयः शुद्धप्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपाधिभूतास्तदुपाधिजनितगुणनामधेयानि भवन्ति संज्ञानानि सर्वाण्येतानि प्रज्ञप्तिमात्रस्य नामधेयानि भवन्ति न स्वतस्साक्षात्; तथाचोक्तं' प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति' इत्यादि' इत्यन्त शंकरभाष्ये यद्यपि संज्ञानादिनाम्नां नौपाधिकत्वमुक्तम्; तथाऽपि तुल्यन्यायतयैषामप्यौपाधिकत्वमुक्तप्रायमिति भावः' इति तट्टीकायां च मनसः करणत्वं संज्ञानादीनां प्रज्ञाननामधेयत्वस्य शब्दस्वरसलब्धस्य प्रहाणं च स्फुटम्। शब्दान्तरं विहाय प्रज्ञानशब्दप्रयोगादिना कतिपयशब्दानां भगवन्नामत्वप्रतिपादने नात्र तात्पर्यमिति व्यक्तम् ॥

अनन्तरम्;—'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यनेन वामदेवेन गर्भदृष्टजन्मनां ब्रह्मादिदेवानां तदन्येषां स्थावरजङ्गमादीनामपि प्रसिद्धपरब्रह्मसंकल्पाधीनव्यापारलयादिमत्त्वं परब्रह्मणः प्रकृष्टज्ञानवत्त्वं 'स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतस्समभव-

भावप्रकाशः

त्समभवत्' इत्यन्तेन उत्क्रमणस्य स्वर्गलोके सर्वकामावाप्तेः अमृतत्वस्य च प्रकृष्टज्ञानाश्रयपरमात्माधीनत्वमुक्तम् अत्र ज्ञानस्य परिणामकथनपूर्वकं जीवस्यामृतत्वं साधितम् ॥

एवमत्र अहमर्थवामदेवस्य पूर्वोक्तमुक्तेरेवात्मशब्देनोपक्रम्योपसंहारेऽपि प्रतिपादनादहमर्थस्यैवात्मत्वम् 'येन वा पश्यति' इत्यादिना सकर्तृकं दर्शनादिकमभिधाय दृष्ट्यादिशब्दानां प्रज्ञाननामधेयत्वोक्त्या सकर्तृकज्ञानस्यैव दृष्ट्यादिशब्दार्थत्वम् प्रज्ञानेत्यत्र प्रशब्दद्योत्योत्कर्षस्य जीवपरोभयज्ञानसाधारणस्य सर्वविषयकत्वरूपस्याश्रयस्य धर्मज्ञानस्य दर्शनादिरूपत्वोक्त्या बन्धमोक्षकालिकज्ञानैक्यलाभेन धर्मभूतज्ञाननित्यत्वम् तेन मुक्तस्य तज्ज्ञानाभिव्यक्तेः स्वरूपाविर्भावरूपत्वं संकल्पकामादेरपि ज्ञानावस्थाविशेषरूपत्वम् मुक्तज्ञानादेरपि परमात्माधीनत्वम् परज्ञानस्य प्रकर्षः मुक्तज्ञानविकासादिहेतुत्वम् सुषुप्तौ धर्मभूतज्ञानस्य विषयसंबन्धाभावेऽपि मुक्तौ सर्वविषयसंबन्धेन सर्वकामावाप्तिरित्यादयोऽर्थाः प्रदर्शिताः ॥

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्य भगवद्यामुनमुनिभिः ऐतरेयोपनिषदपि 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्युक्त्वा 'स एतेन प्राज्ञेनात्मना' इति प्रकृष्टज्ञानवन्तमेवेश्वरं दर्शयतीत्यात्मसिद्धौ प्रकृष्टज्ञानवान् 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यत्र प्रज्ञानशब्दार्थ इति निर्णीतम् ॥

अतः ऐतरेयोपनिषद्वाक्यैः दृष्ट्यादेः सकर्तृज्ञानरूपत्वमेव न तु धर्मिरूपतेति सिद्धम् ॥

अत्रापि 'पश्यन्' 'द्रष्टुः' इत्यादौ दृष्ट्यादेः साश्रयत्वप्रतिपादनात् 'विजानन् वै तद्रसं नरसयति' (मा+पा) इत्यत्र रसयतेः साश्रयज्ञानत्वकथनाच्च दृष्ट्यादिः धर्मभूतज्ञानमेवेति सिद्ध्यति ॥

भावप्रकाशः

एवं च वक्तिरपि वागिन्द्रियव्यापारहेतुभूतज्ञानमेव प्रायपाठात्। एतेन च ज्ञानत्वं व्यवहारजनकत्वमिति सिध्यति। न च लाघवमात्रमवलम्ब्य 'आत्मा वा इदम्' 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इत्यादौ उपाधिनिर्देशाभावेऽप्युपाधिकल्पनं युक्तम्; न वा धर्मिज्ञानताप्रमाणस्य प्रमाणान्तरसिद्धधर्मभूतज्ञानबाधकत्वम्॥

छान्दोग्येऽपि प्रजापतिविद्यायामहमर्थात्मवृत्तित्वं दर्शनादेः तत्करणत्वं इन्द्रियाणामिति व्यक्तमुक्तम्। ततोऽपि सकर्तृकज्ञानमेव दृष्ट्यादिः न तु धर्मी इति सिध्यति। तथाहि;—'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः। अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्। अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्मा अभिव्याहाराय वाक्। अथ यो वेदेदं श‍ृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्। अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः' इत्यन्तसन्दर्भे अमुक्तस्वरूपं कथितम्। अत्र उपबृंहणान्यसितदेवलसंवादवचनानि (१३३) पूर्वमेवोदाहृतानि। (शां+उ) भाष्ये च 'दर्शनादिक्रियानिर्वृत्त्यर्थानि तु चक्षुरादिकरणानि वर्तमानकालविषयाणि चेन्द्रियाणि; अतोऽदैवानि तानि। मनस्तु त्रिकालविषयोपलब्धिकरणं मृदितदोषं सूक्ष्मव्यवहितादिसर्वोपलब्धिकरणं चेति दैवं चक्षुरुच्यते' इत्यन्तेन मनआदीनां करणत्वं स्पष्टमुक्तम्। एवमत्र यो वेद स आत्मा इति वा यो जिघ्रति स आत्मा इति वा या वित्तिः या च दृष्टिः स आत्मा इत्यादिकं वा क्रमं विहाय अन्यथाक्रमनिर्देशेन अहमर्थस्यात्मत्वं, दर्शनादेरहमर्थात्मवृत्तित्वं, वेदनविशेषतातो वेदनावस्थारूपत्वं, वेदनावस्थाया एव दृश्यादिधातुमुख्यार्थता, तां प्रत्येवेन्द्रियाणां करणता, तन्नाशेऽपि वेदनाऽनाशः, अहमर्थस्यात्मन

भावप्रकाशः

इन्द्रियव्यतिरेकः, दर्शनादेरन्तःकरणवृत्तित्वाभावः, आत्मरूपत्वाभावश्चेत्येतेऽर्थास्सिध्यन्ति ॥

'स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैवैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके' इत्युत्तरवाक्ये आत्मसिद्धावुदाहृते मुक्तस्य सर्वद्रष्टृत्वोक्त्याऽपि पूर्वोक्तार्थः प्रतिष्ठापितः ॥

यत्र धातुना ज्ञानविशेषबोधनं तत्र जिघ्राणीत्यत्राख्यातस्य न ज्ञानावस्थारूपकृतिरर्थः। धातुना अभिव्याहराणीत्यत्र ज्ञानविशेषाबोधात् आख्यातस्य ज्ञानावस्थारूपकृतिरर्थः । एवं चात्र सर्वत्र धातुनाऽऽख्यातेन वा आत्मनि ज्ञानवत्ताप्रतीतिरूह्या ॥

यो वेद इत्यत्र प्रत्ययार्थभूतं कर्तृत्वं सापेक्षत्वात् मिथ्या; प्रकृत्यर्थरूपं संविन्मात्रं अनपेक्षत्वात्सत्यमात्मस्वरूपमिति तु (आ+गि) न संभवति; तिङ्प्रकृत्यर्थस्य कर्तृसापेक्षत्वात् । तदुक्तं 'सार्वधातुके यक्' इति सूत्रे महाभाष्ये;—'अस्ति खल्वपि विशेषः तिङभिहितस्य भावस्य कृदभिहितस्य च; तिङभिहितो भावः कर्त्रा संप्रयुज्यते, कृदभिहितः पुनर्न संप्रयुज्यते' इति। अत्र कैयटः; —'घञादिभिस्सिद्धरूपता भावस्याभिधीयते इति तेन रूपेण कर्त्रा योगाभावः। धातुरूपप्रतिपाद्यया तु साध्यतया कर्त्रा योगो भवति' इति ॥

भूवादिसूत्रविचारे हरिरप्याह;—

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ॥

इति। साध्यत्वं च निष्पाद्यत्वमेवेति मञ्जूषायां नागेशेन समर्थितम् । अभ्युपगतं चैतत् लघुचन्द्रिकाविवरणकारैरपि। पचतीत्यादिवैलक्षण्येनानु-

भावप्रकाशः

भवविरुद्धस्य ज्ञाप्यतया साध्यत्वस्योपपादनेऽपि सापेक्षस्यानित्यत्वमात्रेण ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वं न संभवतीति स्थापयिष्यते ॥

यः पुरस्तात्प्रकाशयति स आदित्यः (शं-उ-भा) इत्युदाहरणेऽपि घटः प्रकाशत इतिव्यवहारसिद्धघटादिगतभासमानत्वापरपर्यायप्रकाश-प्रयोजकप्रभाश्रयत्वबोध एवानुभवसिद्धः, न त्वादित्ये प्रकाशस्वरूपत्व-बोधः। एवं वेदेत्यादावपि विषयगतभासमानताहेतुज्ञानक्रियाश्रयत्वमात्मनो बोध्यते । वेदनादेर्दीपाधीनतत्प्रभाया इव आत्माधीनतया साध्यत्वमव-सेयम् ॥

एतेन 'प्रदीपेन प्रकाशितमितिवत् मयाऽवगतमित्यनुभवादात्मैव चित्प्रकाशः । अन्यथा काष्ठेन प्रकाशितमितिवदुपचारप्रसङ्गात्' इति विवरणमपि न प्राचीनसिद्धान्तवैयाकुलीमापादयितुमलम्; दीपवदहमर्थस्य दीपप्रभावदवगतेश्च प्रकाशरूपताया उत्तरश्लोके व्यवस्थापनात्। किं तु सिद्धान्त एवानुकूलो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः । आत्मनो धर्मवत्त्वं धर्मधर्मिणोरुभयोः ज्ञानस्वरूपत्वं भाज्योतीरूपत्वं च बृहदारण्यके व्यक्तम् ॥

'एवं वा अरे अयमात्मा अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव, 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छि-त्तिधर्मा' इत्यत्रात्मनोऽविनाशिधर्मभूतज्ञानवतोऽन्तर्बहिरवयवशून्यस्य कृत्स्नस्य प्रज्ञानघनत्वस्य चाभिधानेन 'यच्चास्य संततो भावः' इति निर्वचनसिद्धं संततज्ञानवत्त्वमात्मत्वं स्थापितम्। 'हृद्यन्तज्योतिः' इत्यत्रा-न्तज्योतिश्शब्देन आत्मनस्स्वयंप्रकाशत्वाभिधानात् अत्राप्यन्तरशब्दस्य धर्मिपरत्वात् । बाह्यशब्दस्य प्रभावद्धर्म्यसंबद्धदेशसंबन्धिनोऽप्यात्मानित्य-संबद्धस्य 'अनुच्छित्तिधर्मा' इतिवक्ष्यमाणस्य धर्मभूतज्ञानस्य समर्प-

भावप्रकाशः

कत्वसंभवाच्च धर्मधर्मिणोरुभयोर्विज्ञानस्वरूपत्वमेवात्र विवक्षितमिति स्पष्टं श्रुतप्रकाशिकायाम् ॥

'स यत्र प्रस्वपिति स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (६—३—९) इत्यत्र एकस्य स्वशब्दस्यात्मवाचितया ज्योतिश्शब्देनात्मनः अन्यस्वशब्दस्य स्वीयवाचितया भाश्शब्देन धर्मभूतज्ञानस्य च प्रतिपादनात्; पूर्वं;—'आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते' इति आत्मनो ज्योतिश्शब्देन निर्देशात् 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा' इत्यत्राप्यात्मैव ज्योतिर्विवक्षितम् ॥

'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः अन्तर्ज्योतिः' इत्युपक्रमे विज्ञानशब्देन 'सधीस्स्वप्नो भूत्वा' (माध्यन्दिने) इत्यत्र धीशब्देन च प्रतिपादितं धर्मभूतज्ञानमेव भाश्शब्देन विवक्षितम् ॥

स्वशब्दद्वयमात्मीयात्मनोर्वाचकमिति (बृ-वा) सुरेश्वराचार्यैरप्युक्तम् । स्वप्ने च 'स्वयं निहत्य स्वयं निर्माय' इति बाह्येन्द्रियादिविरहेऽपि इन्द्रियान्तरसंबन्धकथनेन धर्मभूतज्ञानभासः प्रसर उपपादितो भवति ॥

योऽयं विज्ञानमयः' 'अन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्याद्यनुसारेण 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति' इत्यत्र अयमित्यस्य ज्ञानवानित्यर्थः । स्वप्ने धर्मज्ञानप्रसरसत्त्वेन तेनैवात्मनो भानमित्यपि व्युदस्यति–स्वयमिति । ज्ञानविशिष्टस्य स्वयंप्रकाशत्वविवक्षया धर्मधर्मिणोः स्वयंप्रकाशत्वमनेन बोधितम् ॥

एवमेव 'यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त' इति 'अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' इत्युत्तरवाक्येऽपि जागरस्वप्नयोः स्वप्रकाशत्वसिद्धिरवसेया ॥

भावप्रकाशः

तदेतदभिसंधाय 'स यथा' 'स्वेन भासा' इतिश्रुतिद्वयमुपात्तमात्मसिद्धौ । इत्थं च श्रुतिद्वयेनात्मतद्धर्मभूतज्ञानयोः स्वयंप्रकाशत्वं सिध्यति ॥

एतेन 'न च ज्ञानमात्माश्रयं द्रव्यमिति युक्तम्; तस्यैव प्रकाशगुणत्वेनात्मनो ज्योतिष्ट्वहानात्' इत्येकत्र; तेषां द्रव्यत्वे बहुप्रकाशगुणकल्पनया तद्विशिष्टात्मप्रकाशकल्पनादात्मन एवैकं प्रकाशगुणं परिकल्प्य तदन्वयादितरेषां प्रकाशकल्पनाया लघीयस्त्वात्' इति कर्तृत्वरागद्वेषसुखदुःखादीनां स्वयंप्रकाशतावादिप्राभाकरमतदूषणावसरे विवरणोक्तिरपि समाहिता ॥

'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा' इत्यनेन प्रदीपप्रभयोरिवात्मतद्धर्मज्ञानयोस्संयोगस्संबन्ध इति सूचितम् ॥

अत उदाहृतश्रुतिभिरनुभवाच्च दृष्ट्यादिशब्दवाच्यं धर्मभूतज्ञानमेव ॥

'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्येतावन्मात्रोक्तौ ज्ञानशक्तेरात्मनो वा नित्यत्वपरमिदमिति भ्रमस्स्यात्; तदपनोदनाय 'यद्वै तन्न पश्यति' इत्याद्यारम्भः । दृशिधातोः ज्ञानमात्रशक्तत्वाभावेऽपि चक्षुषा रूपं जानातीत्यत्रेव चक्षुषा रूपं पश्यतीत्यत्रापि धातुना ज्ञानत्वेनैव विशेषज्ञानबोधस्यानुभवेन 'पश्यन्वै तद्द्रष्टव्यं न पश्यति' (मा पा) इत्यत्रापि धातुना ज्ञानत्वेनैव तद्बोधः । 'पश्यन्वै तं न पश्यति' इति काण्वपाठे तच्छब्दस्य जाग्रत्स्वप्नयोः चक्षुस्संबन्धिविषयपरामर्शितया तच्छब्देनैवान्यार्थोपस्थापनेनानुपपत्त्यभावात् । माध्यन्दिनपाठे तच्छब्देन दर्शनकर्मवाचकद्रष्टव्यपदेन च विशेषणीभूतान्यार्थलाभात् । इत्थं च एतद्विवरणरूपे 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यत्रापि दृष्टि-

भावप्रकाशः

शब्देन तथैव बोधः । शक्त्यर्थे क्तिनोऽनुशासनविरहेण क्तिना शक्तिबोधो लक्षणामन्तरा न संभवति । एवं पश्यन् इत्यत्र शत्रा शक्तिबोधोऽपि न युक्तः ॥

तदेतदभिप्रेत्य दूषितं भर्तृप्रपञ्चमतवत् अभिनवमीमांसकपार्थसारथिमतमप्यात्मसिद्धौ ;—

चितिशक्त्या नचात्मत्वं मुक्तौ नाशप्रसङ्गतः ।

नचात्यन्तलुप्तकार्यं वस्तु तत्कार्यजननशक्तमित्यत्र किंचित्प्रमाणं क्रमते । अपि च बोधे सत्येवात्मनोऽनात्मव्यवच्छेदे संभवति कृतं तच्छक्त्याश्रयणेन' इति ; पश्यन् द्रष्टव्यं न पश्यति इति परस्परविरुद्धमिति शङ्कायां तदर्थनिष्कर्षणेनाविरोध उपपाद्यते—न हि द्रष्टुर्दृष्टेरित्यादिना । द्रष्टुरित्यत्र तच्छीलार्थे तृन् । 'आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' इति सूत्रे तच्छीलेत्यत्र शीलशब्दस्य स्वभावार्थकतया स्वाभाविकधर्मविवक्षयैव प्रकाशयितेत्यादिरपि तच्छीलार्थे तृन्नन्तश्शब्दः । एवं द्रष्टुरित्यपि द्रष्टुरविनाशित्वात् दृष्टेर्विपरिलोपो न विद्यते इत्यन्वयः । स्वाभाविकदर्शनाश्रयस्याविनाशित्वेऽभिहिते नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वं दृष्टेरविपपरिलोपे हेतुः पर्यवस्यति । तथा च ज्ञातुरविनाशित्वादेव ज्ञानस्याविनाशमुपपादयन्तीयं श्रुतिर्ज्ञातुस्स्वरूपप्रयुक्तं ज्ञानमिति दर्शयतीत्यात्मसिद्धिविवरणपरं भाष्यम् ; 'ज्ञानं चास्य नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वेन नित्यम्' इति । अस्वाभाविकधर्मः आश्रयसत्ताकालेऽपि नाशकान्तरान्नश्यति । स्वाभाविकस्य तु आश्रयनाशकाल एव नाशः । यस्य तु स्वाभाविकधर्मस्याश्रयो न कदापि नश्यति तस्य न कदाचिदपि नाश इति सिद्धम् । एतेन 'पश्यन्वै' इत्यस्यार्थो निर्धारितः । 'अथ तं न पश्यति' इत्यस्यार्थं निर्धारयन् सुषुप्तौ

भावप्रकाशः

रूपादिदर्शनं स्यादिति शङ्कामपि निरस्यति ;—'न तु तद्द्वितीयमस्ति' इत्यादिना। तत्—जागरितस्वप्नयोश्चक्षुस्सम्बन्धिदृशिकर्मतया द्रष्टव्यम्। द्वितीयं—द्रष्टुर्भिन्नं चक्षुर्द्वारकसम्बन्धवदितियावत ॥

एवं च सुषुप्तौ चक्षुरादिव्यापाराभावस्य 'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदैषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति श्रुत्यानुभवसिद्धतया चक्षुर्द्वारकज्ञानसम्बन्धिविषयाभावाद्रूपादि-दर्शनाभावः न तु धर्मिज्ञानाभावादिति पर्यवसितोऽर्थः। 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' इति पूर्ववाक्यस्यापि विवरणतयैतद्वाक्यस्य 'ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' इत्यत्र तच्छब्देन प्राज्ञःपरामृश्यते। प्राज्ञादन्यस्य ततोऽविभक्तस्यापि दृश्यस्य जागरित-स्वप्नयोः विभक्ततया दर्शनं पापकर्मनिबन्धनम्। सुषुप्तौ तु 'अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन' इति श्रुत्या तादृशदर्शनहेतुकर्मविरह उक्तः। अत्र तु चक्षुरादिद्वारकविषयसम्बन्धाभावात्तद्विषयकदर्शनाभाव इति विशेषः ॥

पूर्वं 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' इत्यत्र नीरन्ध्रसंश्लेषवाचि-संपरिष्वक्तपदप्रयोगेण अत्र विभक्तपदोपादानेन च 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' इत्यत्रापि विभक्तद्वैताभावो विवक्षित इति सूचितम् ॥

अतो 'यद्वै तं न पश्यति' इत्यादेर्यथोक्त एवार्थः। एवमेव जिघ्रन् वै तं न जिघ्रति' इत्यादेरर्थः। घ्रादिधातूनां गन्धादिनिष्ठ-विलक्षणविषयतानिरूपकज्ञानमर्थः। वैलक्षण्यं ज्ञानाप्रयोज्यत्वमित्यादिकं सुधीभिरूह्यम् ॥

इत्थं तत्तादिन्द्रियद्वारकविषयसंबन्धवतो ज्ञानस्य धर्मिणोऽविपरि-लोपमुक्त्वा 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्युपक्रमोक्तं विज्ञानमयत्वं

भावप्रकाशः

ज्ञानसामान्यालोपोपसंहारेण स्थिरीक्रियते 'यद्वै तन्न विजानाति' इत्यादिना। 'य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते' (४-१-१७) इति सुषुप्तिवाक्ये इन्द्रियजन्यज्ञानादानोक्तेः तत्सजातीयात्रत्योपक्रमवाक्येऽपि तदर्थविवक्षाया वाच्यतया तदुपसंहारे 'यद्वै तन्न विजानाति' इत्यत्र अनुमितितात्पर्यकल्पनं न संभवति, विपूर्वकज्ञाधातोरनुमितौ शक्त्यभावात्। ज्ञानत्वेन ज्ञानसामान्यालोपे प्रतिपादितेऽनुमित्यलोपस्यापि सिद्धेः। मनस एकस्यैव बृहदारण्यके तत्रतत्रोपादानात् विपूर्वकज्ञाधातोः प्रयोगप्राचुर्यविरहाच्च बुद्धिवृत्तिरपि नात्र विवक्षिता। अत उपक्रमानुगुण्येन विपूर्वकज्ञाधातुप्रयोगात् ज्ञानसामान्यालोपोपसंहारत्वमेव न्याय्यम्॥

'विज्ञानमयः' इत्युपक्रमादौ वीत्यनेन मुक्तिदशायामाविर्भविष्यन् सर्ववस्तुसंबन्धरूपो विशेषस्सर्ववस्तुसंबन्धयोग्यतापर्यवसितो विवक्षितः। पञ्चमान्ते 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, रातिर्दातुः परायणम्' (५-९-२०) इति वाक्ये रातिर्दातुः परायणमित्यत्रोक्तफलप्रदत्वनिर्वाहाय लिङ्गानुपपत्त्या आनन्दमित्यस्य आनन्दाश्रयार्थकतया च तत्समभिव्याहृतविज्ञानशब्दस्य ज्ञानाश्रयार्थकत्वेन तत्र वीत्यनेन सर्ववस्तुसंबन्धस्य विवक्षितत्वेन षष्ठेऽपि तथा विवक्षाया युक्तत्वात्॥

अस्तु वा 'विज्ञानमानन्दम्' इत्यत्र ज्ञानस्वरूपविवक्षा। अस्तु चेन्द्रियाद्यप्रयोज्यभानकत्वं विशेषः; तथाप्यत्र बद्धज्ञानस्य संकुचितत्वेन स्वरूपयोग्यतायां पर्यवस्यति। 'विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यत्र प्राणपदसमभिव्याहारेण पूर्वमनेकप्रदेशेषूक्तस्य जीवज्ञानगतेन्द्रियाधीनत्वस्य बोधनादपि वीत्यनेन सर्ववस्तुसंबन्धयोग्यत्वविवक्षणस्यैव युक्तत्वात्। एतेन चतुर्थे;—'अलं वा अरे इदं विज्ञानाय' इत्यपि

भावप्रकाशः

निर्व्यूढम् । तत्र पूर्वं देहात्मज्ञानस्य परत्र स्वतन्त्रात्मज्ञानस्य च कथनेन तत्काले सर्ववस्तुसंबन्धरूपविशेषासंभवतात्पर्येणैव अलमिति प्रयोगात् । अत एव—ज्ञानायेत्यनुक्त्वा विज्ञानायेत्युक्तिः । अत एव 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्युत्तरत्र परमात्मनिर्देशः घटते । परमात्मनोऽकर्मवश्यतया तज्ज्ञानस्य सर्ववस्तुसंबन्धस्य सार्वदिकत्वात् । जीवात्मज्ञानस्य तु बन्धककर्मविमुक्तावेव सः । सुषुप्तौ जाग्रत्कालिकज्ञानप्रयोजककर्मणः षष्ठे 'अनन्वागतं पुण्येन अनन्वागतं पापेन' इत्यनेन अनुवृत्त्यभावप्रतिपादनेऽपि इन्द्रियनिरपेक्षज्ञानविकासप्रतिबन्धककर्मणोऽनाशेन जीवज्ञानस्य सर्ववस्तुसंबन्धासंभवात् । अत एव सुषुप्तौ ब्रह्मानुभवो नोक्तः । दहरविद्यायां च 'एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति श्रुत्या स्वयमर्थो दृढीक्रियते ॥

एवं च 'तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान्' इत्यत्र तदेत्यनेन सुषुप्त्यनन्तरं प्राज्ञाद्विभक्तवस्तुज्ञानकामनिबन्धनशोकसत्त्वस्य सूचनमपि युज्यते ॥

उत्तरब्राह्मणे च ;—प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः उत्सर्जन् याति' इति पूर्वब्राह्मणोक्तार्थविशदीकरणार्थं प्रवृत्ते 'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति सविज्ञानो भवति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' 'अणुः पन्थाः तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविदस्स्वर्गं लोकं' एष पन्थाः तेनैति ब्रह्मवित् न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् तस्यैव स्यात् पदवित्' तस्मादेवं वित् आत्मन्येवात्मानं पश्यति' सर्वं पाप्मानं तरति विपापो विरजः' अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' इत्यादौ जीवस्य कर्मसंबन्धः तन्मूलकज्ञानवत्त्वं ब्रह्मवेदनेन सर्वकर्मक्षयः ब्रह्मप्राप्तिरित्यादिकं 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुष-

भावप्रकाशः

श्चक्षुः' 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु । सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' 'स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः' इत्यादौ विज्ञानमयत्वप्राणप्रेरकत्वयोर्जीवसाधारण्येऽपि परमात्मगतयोस्तयोरनन्याधीनत्वं परस्याकर्मवश्यत्वेन तज्ज्ञानस्य कदाऽपि कर्ममूलकसङ्कोचाभावः जीवज्ञानप्रवृत्तिफलानुभवसामान्यप्रयोजकत्वमित्यादिकं चाभिहितम् ॥

एवं छान्दोग्ये दहरविद्यादावपि । निर्गुणविद्यात्वेन पराभ्युपगता भूमविद्याप्रजापतिविद्ययोरन्ते 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' मनसैवैतान् कामान् पश्यन् रमते' इत्यत्र मुक्तस्य सर्वविषयज्ञानवत्त्वं व्यक्तमुक्तम् । अयमर्थस्सर्वोऽपि संक्षिप्त आत्मसिद्धौ । (सु+बृ) वार्तिकमपि तत्रैव ;— 'नच दृष्टिविशेषणतया द्रष्टुरुपादानमिति सांप्रतम् ! पुल्लिङ्गनिर्देशविरोधात्-हेतोश्च साध्यसमत्वापत्तेः । द्रष्टुः स्वरूपनिर्देशपरत्वेऽपि दृष्टिपदस्यासमाधेयमहेतुत्वम् स्वपक्षहानिश्च' इति समालोचितम् । सर्वं चैतत् बुद्धिसरे सङ्ग्राहिष्यते ॥

अतः 'योऽयं विज्ञानमय' इत्यस्योपसंहारभूता 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुतिः विज्ञानमय इति मयडर्थं निर्धारयन्ती धर्मभूतज्ञानस्य नित्यत्वे आत्मनस्तद्वत्त्वे च प्रमाणं भवत्येवेति ॥ ४ ॥

इति जीवतद्धर्मयोस्तन्नित्यत्वस्य चागमिकत्वम् ॥

ननु बृहदारण्यकवार्तिकादौ वृत्तिविरहदशायां अज्ञातो घट इति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या नित्यमेकं ज्ञानं साधितमिति अहमर्थस्यात्मत्ववादिनां आत्मभेदेन भिन्नस्य तद्वृत्तिज्ञानस्य नित्यत्वसिद्धिर्न संभवति ;

सर्वार्थसिद्धिः

*ननु 'द्रष्टा श्रोता' इत्यारभ्य 'विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्यादिषु जीवस्य †ज्ञानस्वरूपत्वं श्रूयते; अतस्तस्य ज्ञानादतिरेको दुस्साधः

आनन्ददायिनी

ननु तद्वानपि निगममित इत्ययुक्तम्; श्रुतिषु ज्ञानमात्रस्यैवात्मत्वोक्तेः। तस्य नित्यत्वेऽपि बुद्ध्यतिरिक्तत्वाभावात् इत्याक्षेपसंगतिं दर्शयति;--**ननु द्रष्टा श्रोतेति**। विज्ञानात्मा—विज्ञानस्वरूपः;

भावप्रकाशः

विषयभेदेन ज्ञानभेदाभावस्याङ्गीकारे पुरुषभेदेन ज्ञानभेदासिद्धिप्रसङ्गात्। ज्ञानमित्यनुगतप्रतीत्या जातिवत् ज्ञानैक्यसिद्धेः। एकस्य नित्यज्ञानस्याङ्गीकारेऽपि अवच्छेदकभेदेन भेदव्यवहारोपपत्तेः। तदुक्तं पञ्चपादिकायाम्;— 'तस्माच्चित्स्वभाव एवात्मा तेनतेन प्रमेयभेदेनोपाधीयमानोऽनुभवाभिधानीयकं लभते। अविवक्षितोपाधिरात्मादिशब्दैः अवधीरितवनाभिधाननिमित्तैकदेशावस्थाना इव वृक्षाः वृक्षादिशब्दैः इत्यभ्युपगन्तव्यमिति, प्रमेयभेदेत्युपलक्षणं प्रमातृभेदस्यापि। न च ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात् तस्य चात्माश्रयत्वात् अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात्' इति (पं—पा)विवरणे विषयानुभवस्यात्मवृत्तित्वाभिधानादात्मत्वं कथमिति वाच्यम्; अन्तःकरणसंपिण्डितस्यात्मनः ज्ञानाकारेण परिणामस्य विवरणे वक्ष्यमाणतया तदभिप्रेत्याकल्पितभेदमङ्गीकृत्य वा आत्माश्रयत्वोक्तेः। तक्षाधिकरणे (२–३–१५)भाष्ये 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्येवंजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वात् यथाप्राप्तमेवाविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदिष्यति' इत्युक्त्या 'एष हि द्रष्टा' इत्यादिपूर्ववाक्यार्थस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वेनानुवाद्यत्वेन कल्पितत्वात्। एतेन पूर्वोदाहृतश्रुतीनामपि नित्यैकज्ञानस्वरूप एव तात्पर्यमित्याशयेन शङ्कते; —*नन्विति। †ज्ञान स्वरूपत्वमिति—'विज्ञानात्मा' इत्यत्र स्वरूपवाच्यात्मशब्दो विज्ञान-

भावप्रकाशः

शब्दस्य भावप्रत्ययान्तत्वग्राहक इति भावः । न च विजानातीति विज्ञानमिति कर्तृकारकपरतया (शं-उ-भा) विवरणात् कथमनेन ज्ञान स्वरूपत्वसिद्धिरिति वाच्यम्; 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यत्र विज्ञानमिति-ज्ञातृत्वमुच्यते न भावार्थ इति चेन्न; भावार्थे प्रसिद्धिविरोधा-च्छब्दस्य' इति विवरणोक्त्या अत्रापि विज्ञानशब्दस्य भावार्थत्वस्यैव युक्तत्वात् ॥

यदि 'विज्ञानात्मा' इत्यत्र विज्ञातृत्वमविवक्षिष्यद्भगवती श्रुतिः तदा 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता' इतिवत् विज्ञाता इति निरदेक्ष्यत; न च तथा निर्दिशति! किं तु 'विज्ञानात्मा पुरुषः' इति । 'बोद्धा' इत्यनेन ज्ञातुर्बोधनात्रापि विज्ञा-तुर्बोधे पौनरुक्त्यप्रसङ्गादपि ज्ञानस्वरूपत्वमेवात्र विवक्षितम् । न च 'मन्ता बोद्धा' इत्यत्र मनोबुद्धिवृत्तिद्वयमेव विवक्षितमिति न ज्ञान_ सामान्याश्रयस्य ततो बोध इति वाच्यम्; 'मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं च अहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च' इति पूर्ववाक्ये वृत्तिचतुष्टयनिर्देशेन अत्र चतुष्टयानुक्त्या वृत्तिद्वयमात्रविव-क्षाया अनुचितत्वात् । वृत्तिभेदेऽपि मनस एकत्वस्य सर्वसंमततया 'मन्ता' इत्यत्रैव वृत्तिचतुष्टयविवक्षाया उचितत्वेन बोद्धा इत्यत्र ज्ञातु-र्विवक्षाया एव युक्तत्वात् । 'बोद्धा कर्ता' इति शब्दक्रमेण ज्ञातृत्व-कर्तृत्वयोः क्रमप्रतिपादनाच्च । 'कर्ता विज्ञानात्मा' इत्यत्र कर्तृत्वप्रति पादनानन्तरं ज्ञातृत्वप्रतिपादने तात्पर्यकल्पनस्य क्रमविरुद्धत्वाच्च । अतो विज्ञानात्मा इत्यत्र ज्ञानस्वरूपत्वमेव विवक्षितम् । तदेतत्सर्वमभिप्रेत्य अस्याश्श्रुतेः ज्ञानगुणकत्वज्ञानस्वरूपत्वप्रतिपादकत्वं जिज्ञासाधिकरणे व्यासार्यैरप्युक्तमिति ॥

तत्त्वमुक्ताकलापः

ज्ञानत्वं वक्ति पुंसश्श्रुतिरिह न पुनर्बुद्धिमात्रस्य पुंस्त्वं प्रत्यक्षादेः प्रकोपात्

सर्वार्थसिद्धिः

इत्यत्राह ;—**ज्ञानत्वमिति । न ह्यत्र** *स्वधर्मतादात्म्यं विधीयते ! अशक्यत्वात् । किं तु धर्मवद्धर्मिणोऽपि विज्ञानात्मत्वं नाम धर्मान्तर-मुपदिश्यते । †ज्ञानानुवादेन ‡आत्मत्वस्य विधिस्स्यादित्यत्राह—**न पुनरिति ।** अन्यथा बाधकमाह—**प्रत्यक्षादेरिति ।** आदिशब्देन

आनन्ददायिनी

ज्ञानमितियावत् । [1]धीरूपत्वे तद्भिन्नरूपत्वं विरुद्धमिति भावः । **न ह्यत्रेति**—स्व[2]धर्मभूतज्ञानेन भेदस्य ज्ञातत्वात् कथं [3]तदभेदो विधातुं शक्यत इति भावः । **किं त्विति**—ज्ञानत्वविधाने न विरोध इति भावः । नन्वा-त्मोद्देशेन ज्ञानत्वविधिरिति कुतः ? ज्ञानोद्देशेन वा तत्त्वविधिः किं न स्यात् ? तथा च धीव्यतिरिक्तात्मसिद्धिर्न स्यादित्यत्राह ;—**ज्ञानानु-वादेनेति । अन्यथा बाधकमिति**—अहं जानामीत्यहमर्थस्य [4]धर्मभूत-

भावप्रकाशः

*स्वधर्मेति—बोद्धा इत्यत्र बोधस्य स्वधर्मता पूर्वमुक्तेति भावः । धर्मधर्मिज्ञानद्वयकल्पने गौरवादात्मन एकस्यैव ज्ञानत्वे लाघवं तर्क इति तदनुगृहीतया श्रुत्या प्रतीत एवार्थो ग्राह्यो न त्वन्य इति भावेनाह ;—†ज्ञानानुवादेनेत्यादि । ‡आत्मत्वस्य विधिरिति । यद्यपि ' वषट्कर्तुः प्रथम-भक्षः ' इत्यादाविवेकप्रसरताभङ्गेन नात्मत्वविधिस्संभवति, किंतु विशिष्ट-विधिरेव ; तथाऽपि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन आत्मत्वविधिः पर्यवस्यतीति भावः॥

[1] विरूपत्वे-**क.** [2] धर्मताज्ञा–**घ.** [3] तद्भेदो-**ग.** [4] धर्मताज्ञा–**ग.**

सर्वार्थसिद्धिः

*अनुमानशास्त्रयोस्संग्रहः । ज्ञानत्वविधानेऽपि †तद्विरोधस्स्यादित्य-

आनन्ददायिनी

ज्ञानाद्भेदप्रत्यक्षादिविरोधादित्यर्थः । **अनुमानेति** । धीरात्मा न तद्धर्मत्वात् । यो यद्धर्मः न स सः, यथा घटरूपम् इत्यनुमानम्; 'न विज्ञातुर्विज्ञातेः' इति शास्त्रम् । ननु ज्ञानत्वं धियोऽसाधारण[1]धर्मः । तद्विधाने धीत्वमप्यापतितमिति[2] धर्मधर्मिभेदधीविरोधः इति शङ्कते;—**ज्ञानत्वेति** ।

भावप्रकाशः

*अनुमानशास्त्रयोरिति—जानामीत्यत्र ज्ञाधात्वर्थः आत्मभिन्नः साध्यत्वेन प्रतीयमानत्वात् इत्यादिकमनुमानम् । तिङन्तधातुना ज्ञाप्यत्वरूपसाध्यत्वेन बोधस्य क्वचिदप्यननुभवेन उत्पाद्यत्वरूपसाध्यत्वेनैव धात्वर्थस्य प्रतीतेः संप्रतिपन्नतया निरुपाधिके आत्मनि धर्मसामान्यानङ्गीकर्तृमते कथंचिदपि साध्यत्वासंभवात् । सोपाधिके तत्संभवेऽपि जीवेश्वरसाक्षिभेदेन विभक्तचिति अस्य ज्ञाधात्वर्थस्यानन्तर्भावेन त्रेधाविभागानुपपत्तिः । पूर्वोक्तदिशा प्रमाणप्रमेयप्रमितीनामन्तःकरणभागावच्छिन्नचिद्रूपत्वाङ्गीकारेण विषयावच्छिन्नचित एव प्रमेयत्वेन प्रथममचेतनस्याध्यारोपः अनन्तरं बाधः इत्यचेतनविषये समानाधिकरणवाक्येषु वैलक्षण्यकल्पनायोगः । 'नञभावेन 'तत्त्वमसि' इत्यादौ आर्थिको बाधः । सामानाधिकरण्यं च अखण्डार्थम्' इति पञ्चपादिकोक्तादिशा अचेतनविषयेऽप्यार्थिकबाधस्य अखण्डार्थसामानाधिकरण्यस्य संभवात् । विवेचयिष्यते चेदं सामानाधिकरण्यविचारावसरे ॥

शास्त्रं च 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' इत्यादिकम् । †तद्विरोध इति;—प्रत्यक्षादिविरोध इत्यर्थः । आत्मनो

[1]धर्मतः तद्वि—क. [2]ति तद्धर्मधर्मि—ख.

तत्वमुक्ताकलापः

अनुगतकथने *ज्ञानमर्थप्रकाशः ।

सर्वार्थसिद्धिः

त्राह—**अनुगतेति** । † कस्याचिदर्थस्य प्रकाशरूपत्वमुभयत्रानुवृत्तं ज्ञानशब्दनिमित्तं तद्विधौ न विरोध इत्यर्थः ।

आनन्ददायिनी

कस्यचिदिति—ज्ञानत्वं [1]धर्मभूतज्ञानमात्रासाधारणधर्मः अपि तु सत्तादिवत् धर्मधर्म्यनुगत इति न विरोध इति भावः

भावप्रकाशः

ज्ञानत्वे रूपवन्तं घटं जानामीतिवत् ज्ञानं मां जानामीति प्रत्यक्षप्रसङ्गः । अहं जानामीतिप्रत्यये आत्मन्यहन्त्वमेव भासते न ज्ञानत्वम् । आत्मा (अहमर्थः) न ज्ञानम् स्वातिरिक्ताप्रकाशत्वादित्यनुमानविरोधः । ज्ञातुर्ज्ञानत्वे 'विज्ञानघन एव' इति शास्त्रविरोधश्च बोध्यः ॥

पञ्चपादिकाविवरणाद्युक्तं ज्ञानपदार्थं दर्शयति मूले ;—*ज्ञानमर्थप्रकाश इति । प्रकाश इत्यत्र प्रपूर्वककाश्धातोः ण्यन्तात् 'एरच्' इत्यच् । 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' इत्यत्र अस्त्रियामित्यनेन उत्सर्गापवादयोरुभयोःस्त्र्यधिकारपठितत्व एव निषेधप्रवृत्तावपि एरचः स्त्र्यधिकारापाठेन निषेधाप्रवृत्त्या च 'ण्यासश्रन्थो युच्' इति युचो वैकल्पिकत्वात् । प्रकाशरूपत्वं व्यवहार्यताहेतुत्वम् । ईक्षत्यधिकरणभाष्यादौ च स्पष्टमेतत् ॥

†कस्यचिदिति—स्वस्य वा परस्यापि वा इत्यर्थः । उक्तं चात्मसिद्धौ ;—'प्रकाशश्च चिदाचिदशेषपदार्थसाधारणः' इत्युपक्रम्य 'व्यव-

भावप्रकाशः

स्थानापन्ने अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानशब्दस्यैकत्रौपचारिकत्वं (२५९) अन्यत्र (७७७) करणप्रत्ययान्तत्वं चोक्तम् ॥

अद्वैतसिद्ध्यादौ 'घटं जानामीत्यनुभूयमानसकर्मकवृत्त्यन्था संवित् घटप्रकाशरूपा घटः प्रकाशत इत्याकारकानुभवसिद्धैव' (४८०)। 'अर्थप्रकाशकत्वमेव ज्ञानत्वं' (७५०) 'ज्ञानं हि वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यम्' (४७१), 'अहमर्थस्य ज्ञप्त्याश्रयत्वायोगेन अहं जानामीत्यादौ ज्ञानपदस्य वृत्तौ गौणत्वात्। दुःखं जानामीत्यादौ दुःखाद्याकाराविद्यावृत्तेरेव विवक्षितत्वाच्च' अनात्मनि अनुभूतिशब्दवाच्यत्वस्यैवाभावात्। वृत्तौ ज्ञानपदस्येव अनुभूतिपदस्य गौणत्वात्। (७७३) 'विज्ञाता प्रज्ञाता इत्यादिश्रुतेः वृत्तिरूपज्ञानाश्रयत्वपरत्वात्'। (७७८) इति (अ-सि)। 'धात्वर्थत्वमुत्पत्तिविनाशवत्त्वं चान्तःकरणवृत्तेरेवेति ज्ञप्तिरूपमुख्यज्ञानस्य सर्वाधिष्ठानत्वेन अन्याश्रयत्वाभावात् न द्वैतापत्तिः' इति (२०७ सि-बि) मधुसूदनसरस्वतीभिरुक्तम् ॥

'ज्ञानत्वं त्वसत्त्वापादकत्वरूपजातिविशेषाश्रयाज्ञानविषयत्वाभावप्रयोजकविशिष्टचित्त्वं' (रत्नावळी १२५) 'अनावृतचिद्रूपस्फुरणक्रियाघटकर्तृका प्रकाशः' ल-चं (४८०)' अर्थप्रकाशकत्वमिति—अर्थव्यवहारजनकतावच्छेदकवत्त्वम्। अर्थेच्छाजनकतावच्छेदकवत्त्वमिति यावत्। उक्तावच्छेदकं च ज्ञानत्वजातिः। सा च तत्तदर्थस्यासत्त्वापादकाज्ञानविरोधिचैतन्यवृत्तिः। चैतन्यस्य तद्विरोधित्वं च घटादौ अविद्यमानसुखादौ च तदाकारवृत्तिविशिष्टत्वेन विद्यमानसुखादौ च तद्विशिष्टत्वेन। विद्यमानसुखादावपि वृत्त्यङ्गीकारे तु वृत्तिविशिष्टत्वेनैव तद्बोध्यम्। यद्यपि उक्तजातिः विशिष्टचिन्निष्ठा ज्ञाधातुवाच्यतावच्छेदिका तथापि तद्विशिष्टभिन्नाया ज्ञानपदलक्ष्यव्यक्तेः मुक्तौ सत्त्वेन ज्ञानस्वरूप-

भावप्रकाशः

मविनाशि' ल-चं (७५०) इति । 'घटादेरिव चितोऽपि व्यवहारो हि चिदधीनः । न चिदन्याधीनः । व्यवहारविषयतामात्रे चित्तादात्म्यस्य प्रयोजकत्वात् । नच चिति तत्तादात्म्यासम्भवः । व्यवहारपूर्वकालोपहितचिति केवलचित्तादात्म्यसत्त्वात् । कार्यपूर्वकालोपहिते कारणसम्बन्धस्यैव कार्येषु प्रयोजकत्वात्' ल चं (१५६) इति । 'व्यवहारश्च स्फुरणाभिवदनादिसाधारणः । तत्र ब्रह्मणः स्फुरणरूपे व्यवहारे नित्यसिद्धे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षा नास्ति' इति (अ-सि) विवरणावसरे 'आदिपदात् इच्छाप्रवृत्त्यादिसङ्ग्रहः । स्फुरणरूपे—असत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचिद्रूपे । नित्यसिद्धे—अनादौ । पूर्णानन्दांशे उक्ताज्ञाननिवृत्तेः तदाकारवृत्त्यधीनत्वेन तदंश एव स्फुरणं सादि न तु चिदंशे; वृत्तिं विनाऽपि चिदस्तीति सर्वदा व्यवहारात् । शुद्धचितोऽज्ञानाविषयत्वे नित्यसिद्धे वृत्तेरप्रयोजकत्वेऽपि अज्ञानाविषयत्वविशिष्टचित एव तत्र क्षेमसाधारणप्रयोजकत्वात् शुद्धचितः तद्विशिष्टत्वेन स्फुरणमिति भावः' इति (ल-चं) ब्रह्मानन्दयतिभिश्चोक्तम् । यद्यपि 'विशेष्ये विशेषणसम्बन्धस्य विशिष्टे प्रयोजकत्वं प्रसिद्धम्, न तु विशिष्टस्योक्तसम्बन्धे प्रयोजकत्वमिति, विपरीतमपि, अप्रसिद्धेः अन्योन्याश्रयापत्तेश्च; तथाऽपि स्वरूपसम्बन्धरूपप्रयोज्यप्रयोजकभाव एव तथा; अयं तु पारिभाषिक इति नोक्तशङ्कावसर इति भावः' इति विट्ठलेशेनोक्तम्, तथाऽपि स्फुरणघटकासत्त्वापादकत्वस्य (ल-चं) परोक्ताखण्डरूपत्वं न कस्याचित्ताम्रिकस्य संमतम्, नापि मानसिद्धम् । अतः अस्तीतिव्यवहारप्रतिबन्धकत्वं नास्तीतिव्यवहारप्रयोजकत्वं वा तद्वाच्यमिति तथाविधस्फुरणघटितत्वे ज्ञानपदार्थस्यातिगौरवम् । शुद्धचितोऽज्ञानाविषयत्वे तद्विशिष्टचितः प्रयोजकत्वस्य कल्पनम-

भावप्रकाशः

प्यनुचितम्। वृत्तिं विना चिदस्तीति व्यवहारस्य सार्वदिकत्वासंप्रातिपत्तेः। स्फुरणरूपप्रकाशपदार्थानङ्गीकारेऽपि व्यवहारादिरूपप्रकाशपदार्थघटितार्थप्रकाशकत्वरूपं ज्ञानत्वं वृत्तिस्थानापन्ने धर्मभूतज्ञानेऽपि मुख्यमेव सम्भवति प्रभायां दीपवृत्तिप्रकाशकतेजस्त्ववत् इति आत्मसिद्ध्याद्यनुयायिनामाशयः । तथाहि ;—घटः प्रकाशते घटं जानाति इत्यत्र अकर्मकसकर्मकभावः पूर्वमेवोपपादितः। स्फुरणातिरिक्तव्यवहारघटितमर्थप्रकाशकत्वं परेषामपि संमतमेव । एवं चित्तादात्म्यातिरिक्तवृत्त्याकाराख्यविषयत्वमपि (ल-चं) (सि. बि. टी) । अत एव ;—'ब्रह्मवित्' 'ब्रह्म वेद' इत्यादिश्रुतिः ;

स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।

इति पञ्चदश्युक्तिः (सि–बिं–टी–१४१) वृत्त्याकाराख्याविषयताघटितजानात्यर्थाभिधानं च सङ्गच्छते । एवं च घटः प्रकाशते इत्यत्र व्यवहारकर्मत्वं भासमानत्वमेव धात्वर्थः, घटः प्रत्यक्षे अनुमितौ शाब्दज्ञाने च भासते इति व्यवहारस्य च सर्वतान्त्रिकसम्मतत्वात् । व्यवहारकर्मत्वस्वरूपादिकं विवेचयिष्यते। परमतेऽपि बहुभिस्सुखादौ वृत्त्यङ्गीकारेण ब्रह्मणीव अस्तीत्यादितद्विषयकव्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वरूपायाः तत्सन्निकृष्टकरणजन्यत्वरूपाया वा (४८३–अ सि) वृत्तिगततदाकारतायाः सम्भवेन चित्तादात्म्यातिरिक्तवृत्त्याकाराख्यविषयतायाः प्रकाशत्वाभ्युपगमेनैव घटः प्रकाशत इति व्यवहारः घटश्चलति इत्यादाविव सर्वानुभवसिद्धानाध्यासिकधर्मधर्मिभावेनैवोपपद्यते इति चितः प्रपूर्वककाशधात्वर्थत्वं न कल्पनीयम् ॥

अनावृतचितः शुद्धायाः प्रकाशपदार्थत्वे तत्र घटकर्तृकत्वस्य स्वरसत उपपादनासंभवात् वृत्तिविरहदशायां घटः प्रकाशते चिदास्ति-

भावप्रकाशः

इति व्यवहारविरहात् ज्ञातत्वस्येव प्रकाशमानत्वस्याप्यज्ञातत्वविरुद्धत्वेनानुभवाच्च लघुचन्द्रिकोक्तदिशा अर्थप्रकाशत्वस्य ज्ञानत्वजातिघटितत्वेन इच्छाया वृत्तिरूपाया जनकतावच्छेदकताया वृत्तावेव युक्ततया वृत्तौ ज्ञानत्वाङ्गीकारेण ज्ञानभेदेऽपि ज्ञानत्वजात्यैव ज्ञानमित्यनुगतप्रतीतेश्च निर्वाहात् शुद्धचितो जातिवदेकस्या ज्ञानपदावाच्यतया विशिष्टचितोऽनेकतया अनुगतप्रतीत्या ज्ञानैक्यासिद्धेः नियतसाकाङ्क्षे जातिन्यायस्य क्वचिदप्यदर्शनेन जानात्यर्थस्य कर्मकर्तृभ्यां नियतसाकाङ्क्षत्वेन जातिन्यायस्यासंभवात् । अतिरिक्तजातिवादिभिर्जातिव्यञ्जकत्वेनावश्यापेक्षणीयसंस्थानेनैव जातिव्यवहारोपपत्तेः श्रीभाष्यादिषु स्थापनेन अत्रापि चैतन्यव्यञ्जकत्वेनावश्यापेक्षितवृत्त्यैव ज्ञानव्यवहारसंभवाच्च ॥

आह च (वै. सि.) मञ्जूषायां नागेशः ;—‘प्रतिबिम्बोऽपि बुद्धेः परिणाम एव न त्वादर्शादाविव प्रतिबिम्बः, उभयोरपि नीरूपत्वादान्तरत्वाच्च । पुरुषोऽपि वृत्तिसंबन्धात्तद्गतविषयीकारभाक् । वृत्तिश्च तत्स्वरूपविषयप्रकाशभाक् स्वभावात् । तथाच पतञ्जलिः सूत्रे ; ‘तदा-द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’ तदा-समाधौ । ‘वृत्तिसारूप्यमितरत्र’ व्युत्थाने याश्चित्तस्य वृत्तयः तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः इति । पुरुषस्य वृत्तिश्च वृत्त्यवच्छिन्नः पुरुष एव । तत्सारूप्यात्तत्र वृत्तित्वव्यवहारः । अवच्छेदकस्थले प्रतिबिम्बव्यवहारस्तु प्रतिबिम्बसादृश्यात् । यथा रव्यादिप्रतिबिम्बं स्वोपाधिजलादिधर्मान् चाञ्चल्यादीन् गृह्णातीव तथा अवच्छेद्यमपि तदन्तर्भावात् तद्धर्मान्’ इत्युपक्रम्य ‘अम्बुवदग्रहणात्तु’ ‘अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्’ इत्यादिव्याससूत्राणि संगमय्य वृत्तिजन्यफलं च वृत्तिद्वारा शुद्धचैतन्यप्रतिबिम्बनम् । एतदेव प्रकटता। तत्संबन्धाच्च परसमवेतक्रियाजन्यफलाश्रयत्वाद्विषयस्य कर्मत्वम् । अन्तः-

भावप्रकाशः

करणद्वारा पुरुषस्य वृत्त्याश्रयत्वात्तत्कर्तृत्वम् । जानातेश्च वृत्तिविशेष एव शक्तिः' इति । अत्र विशेषशब्देन इच्छादिव्यावृत्तिः ॥

एतेन यद्यनुगतप्रतीत्या चैतन्यार्थकत्वं जानातेरङ्गीक्रियते तदा इच्छति दुःख्यतीत्याद्यनुगतप्रतीत्याऽपि इच्छादेः वृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपत्वसंभवेन इच्छादेरनैक्यं स्यादिति सूच्यते । अतश्च इच्छादेरन्तःकरणपरिणामत्ववत् ज्ञानस्याप्यन्तःकरणपरिणामवृत्तिविशेषरूपत्वमेव । तिङ्प्रकृत्यर्थे जातितौल्योत्प्रेक्षणायोगाच्च । अत एवोपदेशसहस्र्यां 'धात्वर्थविक्रियायामुपलब्ध्युपचारात्; यो हि बौद्धः प्रत्ययः स धात्वर्थः क्रियात्मक आत्मन उपलब्ध्याभासफलावसान इत्युपलब्धिशब्देनोपचर्यते । तथा छिदिक्रिया द्वैधीभावफलावसानेति धात्वर्थत्वेनोपचर्यते तद्वत्' इत्यत्र बौद्धप्रत्ययस्य वृत्तेर्धात्वर्थत्वं उपलब्ध्याभासस्य प्रतिबिम्बस्य फलत्वं चोक्तं संगच्छते । एतन्मूलक एव धात्वर्थत्वमुत्पादविनाशवत्त्वं च अन्तःकरणवृत्तेरिति (सि. बिं) ग्रन्थोऽपि ॥

एवं 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' इति कारिकाविवरणतत्वकौमुद्याम् ;—'अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारः । सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति च ज्ञानमिति चाख्यायते । इदं तत्प्रमाणं अनेन यच्चेतनाशक्तेरनुग्रहः तत्फलं प्रमा इत्यत्र । 'द्रष्टा दृशिमात्रश्शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः (१-२०) 'चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारताबुद्धौ स्वबुद्धिसंवेदनम्' (४-२२) इति पातञ्जलसूत्रभाष्ये तत्ववैशारद्यां च बुद्धिवृत्तेः ज्ञानत्वं चित्प्रतिबिम्बस्य फलत्वं च स्पष्टम् ॥

(७७७पं-पा) विवरणेऽपि सांख्यवेदान्तिनस्तु इत्युपक्रम्य अन्तःकरणवृत्तौ करणप्रत्ययान्तो ज्ञानशब्द इत्युक्त्या नित्यसिद्धचितं प्रति वृत्तेः

भावप्रकाशः

करणत्वायोगेन चित्प्रतिबिम्बं प्रत्येव करणत्वं वक्तव्यमिति भावप्रत्ययान्त-ज्ञानशब्दार्थोऽर्थप्रकाशो ज्ञप्तिस्संवेदनमपि चित्प्रतिबिम्ब एव विवक्षितः। अत एव लघुचन्द्रिकायां ज्ञानपदशक्यार्थस्य मुक्तावभावोक्तिः पञ्चदश्याम् ;—

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम्—

ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः सहस्र्यां विश्रुतो यतः । (कू+दी) (१२)
आभास उदितस्तस्मात् ज्ञातत्वं जनयेद्घटे ।
तत्पुनर्ब्रह्मणा भास्यमज्ञातत्ववदेव हि ॥ (१३)
घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥ (१६)

इत्यत्र सुरेश्वरवार्तिकेऽपि उपदेशसहस्र्यनुरोधेन फलं चित्प्रतिबिम्ब एवेति स्थापयित्वा अर्थव्यवहारजनकत्वरूपमर्थप्रकाशकत्वं चित्प्रतिबिम्बस्यैवेति प्रतिपादनं च संगच्छते । सर्वत्र धात्वर्थकरणयोर्भेदाद्वृत्तेरेव करणत्वं न चित इति विवरणकाराशयः प्रतीयते ॥

यदि च वृत्त्यवच्छिन्नचितो विषयसंसृष्टात्मकं विशिष्टरूपमिति विशिष्टरूपे केवलरूपस्य हेतुत्वात् विषयसंसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नरूपत्वेन प्रमात्वम् । प्रमाणत्वं तु विषयासंसृष्टरूपेण (१३४ सि. बि. टी) वृत्तेरेवावरणनाशत्वात् प्रमातृपरागरूपत्वाच्च फलत्वात् तद्विशिष्टरूपेण घटादिचैतन्यं फलम् । न च फलत्वं क्रियारूपवृत्तेरनुपपन्नमिति वाच्यम् ; घटादिसंयोगोपधायकक्रियोपहितरूपेण वृत्तेः क्रियात्वम् तादृशसंयोगोपहित-

भावप्रकाशः

रूपेण फलत्वमिति स्वीकारात्' (ल. चं) इत्येकस्यैव धात्वर्थकरणभावः फलव्यापारभावश्च रूपभेदेन संभवतीत्युच्यते; तदाऽपि करणप्रत्ययान्तो ज्ञानशब्द इति विवरणसामञ्जस्यं कथम्? वृत्त्यवच्छिन्नचित एव करणत्वात्। अवच्छेदकस्यापि करणत्वे प्रमात्वमप्यवर्जनीयमापतति।

किंच अन्यधातुष्वदृष्टप्राक्रियायाः कथंचित्कल्पनमपि निर्बीजमिति मञ्जूषानुयायिनः।

यदि च वृत्तेर्जडत्वेन मिथ्यात्वेन च मोक्षानन्वयित्वादप्रकाशमानसुखरूपमोक्षस्याप्यपुरुषार्थत्वाच्च स्वप्रकाशचिद्रूपत्वं मोक्षस्यावश्यकम्। तथाच तस्य नित्यत्वादेकत्वाच्च वृत्त्युपहितस्स एव ज्ञानम्। ज्ञाने सति जानामि न वा न जानामीति संशयविपर्यययोरनुदयेन संशयविपर्ययायोग्यत्वस्य वृत्तौ संभवेऽपि स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वस्य (अद्वै. सि. २८०) स्वयंप्रकाशत्वस्य चितीव वृत्तावपि कल्पने गौरवम्; स्पष्टं चेदं लघुचन्द्रिकायां (४६९); इति विभाव्यते; तदा सत्येन शुद्धचिता भिन्नाभिन्नस्य वृत्तिविशिष्टस्य तदुपहितस्य च भवन्मते मिथ्यात्वेन नित्यत्वं न संभवति। वृत्त्युपलक्षितस्य नित्यत्वे तत्तद्विषयाविद्याद्युपलक्षितस्य नित्यत्वं संभवतीति श्रुतिषु ज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनं विषयाविद्यादिसंबद्धस्यनित्यत्वाप्रतिपादनं च निर्बीजमेवापद्यते। किंच-वृत्त्युपहितस्य जातिवदैक्यासम्भवेनानुगतप्रतीतिनिर्वाहो न संभवति। एवं वृत्तेर्मोक्षेऽभावेन तदुपलक्षितस्य नित्यत्वं वाच्यम्। इत्थं च वृत्तिसाधारणज्ञानत्वजात्युपलक्षितस्वप्रकाशचितोऽपि नित्यत्वं संभवत्येवेति वृत्तौ जानातेरौपचारिकता कथम्? ॥

किंच मुक्तौ ब्रह्मानुभवदुःखनिवृत्त्यादेः अद्वैतश्रुत्यनन्तरश्रुत्यादिसिद्धतया अनुभवस्य वृत्तिमन्तरा उपपादनासंभवेन वृत्तेर्मोक्षे निवृत्तिर्न

भावप्रकाशः

संभवति। अपिच 'ब्रह्मविदाप्नोति' इत्यादेः औपचारिकत्वमेव कल्पनीयम्। विद्यादिधातुप्रयोगे अन्यत्रप्रसिद्धफलव्याप्यत्वस्यात्रासंभवेन ब्रह्मणः वृत्तिव्याप्यत्वस्यैवाङ्गीकारात्। विद्यादिधातुप्रयोगे वृत्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधानसत्त्वेन अत्र कथमौपचारिकता? कथं वा तदुपहिताचिति मुख्यता? अविद्यावृत्तिप्रतिफलितं चैतन्यं साक्षि (अ. सि. ७५४) इति पक्षे सुखादेः वृत्तिं विना केवलसाक्षिभास्यत्वं न युक्तम्। दुःखं जानाति-इत्यत्र (अ. सि. ७७३) उपपादितदिशा साक्षिपदार्थघटकाविद्यावृत्तेः सुखादौ स्वीकारस्यैव संभवात्। सुखाद्यवच्छिन्नाचिता सुखादेर्भासकत्वस्वीकारे सुखादेः स्वभासकतावच्छेदकत्वमेव न तु स्वभासकत्वमित्यत्र किं विनिगमकम्? अनुगतप्रतीतेर्नियामकतायाः पूर्वमेव निरासात्। चिद्भिन्नस्य घटादेः स्वभासकत्वविरहात् सुखादेरपि तथेति चेत्; घटादेर्वृत्तिविशिष्टचिता फलेन भास्यतावत् सुखादेरपि वृत्तिमन्तरा भानविरहापत्तेः। परभासकचिदन्यस्य स्वभासकत्वं कथमिति चेत्; चित्यपि वृत्त्यधीनमेव परभासकत्वं, तच्च वृत्तावेव विश्राम्यतीत्यन्तःकरणवृत्तेरेव स्वभासकत्वं मुख्यं स्यात् (सि-बिं-टी-१४८) आलोकमनोवृत्त्योरस्तिभातीतिव्यवहारप्रयोजकत्वरूपप्रकाशत्वस्याविशिष्टत्वस्य भवद्भिरेवोक्तेः, प्रभादृष्टान्तेनात्मनि (७८१-अ-सि) स्वप्रकाशत्वसाधनाच्च। ब्रह्मणः स्वप्रकाशेऽन्यापेक्षा भवद्भिरप्यादृता॥

अत एव स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदनपेक्षत्वं (अ. सि. ७६१) इत्यादिस्वप्रकाशत्वलक्षणे संवित्पदं सार्थकम्। तद्धि ब्रह्मातिरिक्ताविद्यासापेक्षत्वादसम्भववारणाय! स्पष्टं चेदं लघुचन्द्रिकायाम् (२८३) स्वसत्तायां संशयाद्ययोग्यत्वादेव ज्ञानवृत्तेरपि स्वप्रकाशत्वं, एवमन्तःकरणवृत्तिरूपसुखस्यापि स्यात्। छिदिक्रियायां द्वैधीभावफलाश्रयत्वविरहेऽपि वृत्तौ

भावप्रकाशः

स्वजन्यव्यवहारफलाश्रयत्वमनुभवानुसारात् । अन्यथा चित्यपि तज्जन्यव्यवहारस्य विलयप्रसङ्गात् ॥

किञ्च प्रभायाः स्वसमानसत्ताकयद्वस्तुसंयोगः तद्भासकत्वम् । तद्वदत्र शुद्धस्य स्वसमानसत्ताकवस्तुसंयोगो न सम्भवति मिथ्याभूतस्य तत्तद्वृत्त्युपहितस्य तदङ्गीकारापेक्षया लाघवात्तत्तद्वृत्तेरेव तदभ्युपगमो युक्तः । एवं च वृत्तिस्थानापन्ने आत्मभिन्ने धर्मभूतज्ञानेऽपि परप्रकाशकत्वं स्वप्रकाशकत्वं व्यवहारप्रयोजक (आवरणविरोधिनिवर्तक) शक्तिविशेषरूपं प्रभाया इव संभवति । आत्मन्यपि स्वप्रकाशकत्वं दीपस्येव संभवति । प्रभायाः स्वसंयुक्तवस्तुप्रकाशनदशायामेव स्वप्रकाशकत्ववत् ज्ञानस्यापि तथा स्वीकारे न किञ्चिद्बाधकम् । अहमर्थे आत्मनि स्वप्रकाशत्वं उत्तरश्लोके साधयिष्यते । अतो व्यवहारकर्मतारूपप्रकाशप्रयोजकशक्तिर्ज्ञाधातुप्रवृत्तिनिमित्तम् । सा च गुरुमते(७८२)लघुचन्द्रिकोक्तदिशा मितिमातृमेयेष्वनुगतैकैव स्यात् । सिद्धान्ते तु (अ. सि. ७८३) अननुगतैव सुषुप्तावहमर्थमात्रानुभवात् । व्यवहारकर्मतारूपं भासमानत्वमात्मसिद्ध्युक्तदिशा त्रिष्वेकजातीयं लाघवात् । स्वीयाकाराख्यविषयता स्वतादात्म्यं स्वतादात्म्याश्रयतादात्म्यं चेत्याद्यन्यतमप्रयोजकं यन्मनः तद्विशिष्टसाक्ष्येव जानात्यर्थः । अत्र मनसो न मनस्त्वेन निवेशः किन्तु ईशोपाधिमनोऽन्यतरत्वादिना (सि. बिं टी.) इति रत्नावल्युक्तानुगमप्रकारेऽपि अन्यतमप्रयोजकमनोवृत्तिचिदन्यतरत्वं ज्ञानत्वमित्यभ्युपगमेन वृत्तौ ज्ञाधातोरौपचारिकत्वानङ्गीकारेऽपि न क्षतिः । अधिकमग्रे यथावसरं विवेचयिष्यते । अतः अर्थप्रकाशकत्वं धर्मधर्म्युभयानुगतमेव इति ॥

आत्मसिद्धिश्रीभाष्यादिष्वेव निर्विकल्पकस्य निर्धर्मकात्मानुभवस्य निराकरणपूर्वकं आत्मानुभवस्य सगुणविषयकत्वमेवेति स्थापनेन आत्म-

तत्वमुक्ताकलापः

स्वस्यैवात्मा तु सिद्धिं मतिरनुभवति स्वान्ययो-

सर्वार्थसिद्धिः

अर्थप्रकाश इत्युक्तं विषयतोऽपि विभजते—**स्वस्येति** । *स्वासाधारणेन केनचित्स्वभावेन विशिष्ट इह स्वशब्दार्थः । धर्मभूतज्ञाने तु तावदतिरिक्तग्राहित्वं विशेषमाह—**मतिरिति** ।

आनन्ददायिनी

प्रकाशरूपत्वं धर्मधर्मिसाधारणम्, न तु धर्मस्यैवासाधारणमिति दर्शयति—**अर्थप्रकाश इत्युक्तमिति** । ननु स्वस्यैवेत्यसिद्धम्, अहन्त्वादेराति[1]रिक्तस्यापि प्रकाशात् इत्यत्राह—**स्वासाधारणेनेति** । [2]यद्यपि धर्माणामपि

भावप्रकाशः

न्यपि स्वातिरिक्तप्रकाशत्वात् ज्ञानत्वमक्षतमित्यभिप्रेत्य विवृणोति ;— *स्वासाधारणेनेत्यादि । स्वभावविशेषः अहन्त्वरूपं प्रत्यक्त्वम् । यथा गोत्वाज्ञानदशायां गोर्न ज्ञानं नापि व्यवहारः, एवमहन्त्वाज्ञानदशायामहमर्थधर्मिणो न ज्ञानं नापि व्यवहारः लौकिकानां परीक्षकाणां चानुभवाभावादिति भावः ॥

अत्र स्वभावपदेन (२९३) 'अहमाकारवृत्तिरेका जीवन्मुक्तानां शुद्धचिन्मात्रविषया । अन्या संसारिणां चिदाभासविशिष्टाहङ्कारविषया । अप्पात्रमिवादित्यं आदर्श इव मुखं विषयीकरोत्यात्मानम् । तज्जन्योऽहमित्यभिलापोऽपि द्विविधः पूर्ववत् । यथा घट इत्यनुभवे विशेषणतया भासमानं सत् घटत्वं घटव्यक्तिं विकल्पयद्व्यवहारगोचरं करोति तद्वदहमित्यनुभवे विशेषणतया भासमानमन्तःकरणं स्वविशेष्यं निर्वि-

---

[1] रिक्तस्यैव प्र—ग. [2] यद्यपि पूर्वं धर्माणां—क. ख. ग.

भावप्रकाशः

कल्पमात्मचैतन्यं विकल्पयद्विशिष्टव्यवहारगोचरं करोति । घटे घटत्वमिवाहन्त्वमपि आत्मनि आध्यासिको धर्मः । अहन्त्वमन्तःकरणम् ' इति ब्रह्मसूत्रवार्तिकोक्तमयुक्तमिति बोधितम् । क्वचिदप्याध्यासिकधर्मस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वे अहन्त्वस्याध्यासिकत्वे च प्रमाणविरहात् । अहन्त्वान्तःकरणयोर्भेदेनानुभवस्य सर्वलोकसाक्षिकत्वात् तद्बाधकसम्प्रतिपन्नश्रुत्यादेश्चादर्शनात् । परिमितत्वं चात्मनः ' देहान्तर्मात्रदृष्टेः '(२२) इति श्लोके स्थापयिष्यते इति ' अहमिहैवास्मि सदने जानानः इति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या नाहमर्थस्यात्मता ' इति भामत्युक्ताक्षेपस्यापि नावसरः ॥

विभ्वात्मवादिनोऽपि वैशेषिकादयः शरीररूपकारणविरहेणान्यत्राप्रतीतिरिति समादधते । उच्चारयिता अहमर्थ इति सर्वसंमतमित्युच्चारयितृसामान्येऽपि तत्तदीयोच्चारणनिबन्धनोऽहमिति शब्दः प्रवर्तत एव । अतो घटशब्दाभिलप्यविशेषणघटत्ववदस्मच्छब्दाभिलप्यविशेषणमप्यहन्त्वं स्वाभाविकधर्म एव । घटत्वादिधर्मसामान्यस्य विकल्पासिद्धत्वेनापारमार्थिकतेति वैभाषिकप्रक्रिया ; न कस्यचित्तान्त्रिकस्य तदभ्युपगमोऽतो न युक्त इति (श-दू) निर्विकल्पकवादे व्यक्तम्—

उदाहृतपञ्चदश्यादित एव प्रतिबिम्बे बिम्बवाचिशब्दस्य गौणता स्फुटा । आदित्यमुखादिशब्दा हि सर्वत्र प्रतिबिम्बाविवक्षयैव प्रयुज्यमानाः क्वचित्प्रतिबिम्बे गौणाः प्रयुज्यन्ते । अस्मच्छब्दस्तु बिम्बे शक्त्या क्वचिदपि न प्रयुज्यते इति नादित्यादिशब्दनयसंभवः । प्रतिबिम्बमात्रे शक्तिग्राहकं मानं नास्ति । एवं चान्तःकरणविशिष्टचित्प्रतिबिम्बस्य अस्मच्छब्दशक्यार्थत्वाभिधानमप्यनुचितम् । नच शुद्धचितोऽसङ्गत्वेन स्वतस्संबन्धासंभवेन वृत्तिद्वारक एव संबन्धो वाच्य इति ज्ञाधात्वर्थे अहमर्थे च प्रतिबिम्बस्य विवक्षणमावश्यकम् ; सुरेश्वरमते

भावप्रकाशः

प्रतिबिम्बस्य स्वरूपेणासत्यत्वेऽपि विवरणकारमते प्रतिबिम्बत्वेनासत्यत्वं स्वरूपेण सत्यत्वमिति व्यवहारोपपत्तिरिति वाच्यम्; बृहदारण्यकवार्तिककारमते प्रतिबिम्बस्यावस्तुत्वेन तन्निबन्धनव्यवहारप्रक्रियोपपादनस्यानुचितत्वस्य भास्करादिभिरेवोक्तेः। अन्तःकरणवृत्तिभागरूपावच्छेदकभेदेन चितो भेदव्यवहारोपपादनेऽपि अहं जानामीत्यादौ अहमर्थतया ज्ञाधात्वर्थतया च चितो द्वेधा भानाङ्गीकारे अनुभवविरोधः। एवं ममान्तःकरणमित्यत्राप्यन्तःकरणस्य द्वेधा भानेऽपि 'अस्मन्मते तु कथञ्चित्प्रदर्शयिष्यामीत्याह' इति (पं. पा. ३५८) विवरणवाक्येऽपि कथञ्चिदित्यनेन स्वमतेऽपि स्वरसतो निर्वाहो न संभवतीति बोधितम्॥

अहं जानामीति प्रतीतौ (अ-सि) ज्ञानं वृत्तिरूपमित्यङ्गीकारे अहमर्थोऽन्तःकरणमित्येव युक्तम्। अहमिति प्रतीतेः अन्तःकरणासंवलितात्मविषयकत्वेन अहमित्यत्रान्तःकरणान्तर्भावेन द्वैरूप्यानङ्गीकारेऽपि न क्षतिरित्युत्तरश्लोके निरूपयिष्यते। संबन्धानुपपत्तिश्च (८) निरसिष्यते। प्रभास्थानापन्नधर्मभूतज्ञानसंबन्धस्य दीपस्थानापन्ने चेतने संभवात् प्रतीतेस्तद्विषयकत्वं स्वरसत उपपद्यते अतोऽहन्त्वं प्रत्यक्त्वरूपं स्वाभाविकधर्म एव नान्तःकरणमिति सिद्धम्॥

एवमनुकूलत्वैकत्वप्रकारेणात्मा भासते तथा सर्वलोकानुभवात् इति स्वातिरिक्तप्रकाशत्वेनात्मनि ज्ञानत्वमप्रत्यूहमेवेति॥

यद्यपि 'निरवयवस्यानौपाधिकानेकधर्मवत्त्वे न दृष्टान्तोऽस्ति (बृ ६-३-२४ शंभा) न च निरवयवं विक्रियमाणं दृष्टं क्वचिदनित्यगुणाश्रयत्वं वा!' (बृ, ३. ४.) इत्युक्तम्; तथाऽपि निरवयवस्य प्रतिबिम्बाङ्गीकारेऽपि दृष्टान्तविरहात् शास्त्रतस्तत्साधने निरवयवेप्यहमर्थात्मनि शास्त्रेणानुभवाच्चानेकधर्मवत्तायाः श्रीभाष्यादिषु साधनेन धर्मधर्मिणोर्भे-

तत्वमुक्ताकलापः

स्सिद्धिभावं ज्ञातुर्जाड्यप्रसक्त्युदसनविषया ज्ञानमात्रोक्तयोऽपि ॥ ५ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

'विज्ञानघन एव' इत्यादिभिः ज्ञानमात्रत्वोक्त्या ज्ञातृत्वनिषेधात् कथमुभयत्रानुवृत्तधर्मक्लृप्तिः? इत्यत्राह—**ज्ञातुरिति**। नात्रावधारणमन्ययोगव्यवच्छेदार्थम्; किं तु 'विज्ञानघन' इत्यादिपूर्ववाक्यपराम-

आनन्ददायिनी

स्वप्रकाशत्वो[1]क्तेः धर्मिणैव धर्मभानोक्तौ विरोधः; तथाऽपि मतभेदेन तस्य प्रवृत्तेर्न दोषः। आत्मोद्देशेन ज्ञानत्वविधौ श्रुतिविरोधं परिहरति— **विज्ञानघन इति**। आदिशब्देन 'प्रज्ञानघन एव' इत्यादिसंग्रहः। नन्वात्मनो ज्ञानात्मकत्वे ज्ञानमहमितिधीः किमिति न स्यात्? इति चेत् न; ज्ञानत्वं किं प्रकाशात्मकत्वम्? उत प्रकाशकत्वम्? नाद्यः प्रकाशात्मकत्वेनाप्रतीयमानत्वात्। ज्ञानादिशब्दानां धियि प्रसिद्धेः प्राचुर्यात् सास्नादिमति गोशब्दस्येवात्मनि ज्ञानमिति प्राचुर्येण व्यवहाराभावः। क्वाचित्कव्यवहारस्तु भवत्येव। अत एव परमात्मनि

भावप्रकाशः

देन धर्माणामागमापायित्वेऽपि धर्मिनित्यत्वाक्षतेः ज्ञानानुकूलत्वैकत्वादीनामात्मनि सार्वदिकानामन्येषामागन्तुकानामप्यङ्गीकारे क्षतिविरहात्॥

तत्र अहन्त्वानुकूलत्वैकत्वानि धर्मिज्ञानेनैव भासन्ते इति न्यायसिद्धाञ्जनव्याख्याने उपनिषद्भाष्यकारा रङ्गरामानुजमुनयः सारव्याख्यापञ्चककारादयश्च वदन्ति॥

---

[1] क्तेरिदानीं धर्मिणैव—ग. घ.

सर्वार्थसिद्धिः

र्शात् अंशतोऽपि *ज्ञानत्वायोगव्यवच्छेदपरामिति भावः ।

आनन्ददायिनी

'सत्यं ज्ञानम्' इति व्यवहारः । ननु अहमर्थस्य ज्ञानत्वेन प्रत्यक्षत्वे-ज्ञानत्वविधिर्न युक्तः । अत्यन्ताप्राप्त एव विध्यङ्गीकारात् इति चेन्न; ज्ञानत्वेन भानेऽपि नीलादिबुद्धिवत् परम्परासम्बन्धेन भानसम्भवात् तद्व्युदासार्थं साक्षात्संबन्धो विधीयते इति न दोषः । न चैवं 'तद्गुण-सारत्वात्तद्व्यपदेशः' इति सूत्रवैयर्थ्यमिति वाच्यम्; तद्गुणसारत्वाद-पीत्यर्थात् । अन्यथा प्राज्ञस्यापि तत्त्वाभावापत्तेरिति । नन्वात्माऽस्ती-त्युक्तम् । तथा च आत्मनः प्रकाशात्मकत्वं स्वप्रकाशत्वेन वाच्यम् ।

भावप्रकाशः

अत्र पक्षे अहमित्येकशब्दाभिलप्यप्रतीतिस्वारस्यम् ।

(२२-जड-सरे) आनन्ददायिनीकारा नृसिंहराजाचार्याः सारास्वा-दिनीकाराः साक्षात्स्वामिनश्च प्रत्यक्त्वादीनामपि स्वयंप्रकाशत्वमेवाभ्युप-गच्छन्ति । पक्षे चात्र ज्ञानात्मनोः स्वयंप्रकाशत्वेऽपि अहं जानामीति विशेष्यविशेणभावो यथा तथा प्रत्यक्त्वादीनां धर्मिणश्च विशेष्यविशेषण-भावः । अभ्युपगतश्च ज्ञानद्वयविषयतयोः निरूप्यनिरूपकभावः द्वे द्रव्यमित्यत्र नैयायिकैः इदं रजतमित्यत्र प्राभाकरैरिति । स्पष्टं चेदं व्युत्पत्तिवादप्रामाण्यवादयोः । इदं रजतं पर्वतो वह्निमान् इत्यादौ धर्म-धर्मिणोर्वृत्तिद्वयमिति नव्याद्वैतिभिस्साधितम् ॥

एवमेव सुरभि चन्दनखण्डं इत्यत्रापीति न्यायकुलिशेऽपि व्यक्तमिति दिक् ॥

* ज्ञानत्वायोगव्यवच्छेदपरामिति—ब्राह्माधिकरणश्रीभाष्ये च स्फुट-मेतत् । तत्वटीकायां तु;—'प्रज्ञानघन एव' इति (बृ-६) वाक्ये

भावप्रकाशः

अस्तु वा सैन्धवन्यायात् गुणवत्त्वोक्तिरात्मनः ।

इति पक्षान्तरमप्युक्तम् । एवमेव न्यायसिद्धाञ्जनेऽपि ॥

तदनेन श्लोकेन धर्मधर्मिणोरुभयोः ज्ञानत्वसाधनेन अपरिणामिनित्यव्यतिरिक्ते ज्ञानत्वानङ्गीकारे धर्मज्ञानव्यतिरिक्तस्य चेतनस्य न ज्ञानत्वमिति वैशेषिकाद्यर्धवैनाशिकमत इव मुक्तावीश्वरस्य नियमनासंभवेन अनीश्वरतया निरीश्वरवादपर्यवसानापरिहारः 'स ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव' इतिश्रुतिस्मृत्यनुभवविरोधश्च ख्यापितः । पूर्वं बौद्धमतदूषणावसरे 'नित्यत्वादीनामपि तत्तत्प्रमाणैरुपस्थापनात्' इत्यनेन विशेषणविशेष्ययोरेकभासकभास्यत्वनियमविरहस्थापनेन अत्र धर्मधर्मिणोः ज्ञानत्वप्रतिपादनेन च ;—

प्रत्यग्वस्तु पराग्बुद्धिगम्यैरिच्छादिभिः कथम् ? ।
विरुद्धत्वाद्विशेष्यं स्यात् तमसा दिनकृद्यथा ॥ ४७२ ॥
एकबुद्ध्यादिगम्यत्वं विशेषणविशेष्ययोः ।
नीलोत्पलादिवद्दृष्टं न तद्दृष्टं विरुद्धयोः ॥ ४७३ ॥

इति बृहदारण्यकवार्तिके सुरेश्वरोक्तं दूषणमपि परिहृतम् ॥

कामादीनां अवस्थाविशेषविशिष्टधर्मभूतज्ञानरूपत्वेन पराक्त्वेऽपि धर्मिवत् धर्मभूतज्ञानस्याप्येकस्य स्वयंप्रकाशत्वेन विरोधाभावत् । पञ्चपादिकाविवरणे कामसुखादीनां बहूनां स्वयंप्रकाशत्वाङ्गीकारेण प्राभाकरमते उद्भावितस्य गौरवस्य कामादीनां धर्मभूतज्ञानावस्थात्ववादिसिद्धान्तेऽप्रसरात् । धर्मधर्मिणोरुभयोर्ज्ञानत्वसाधनेन स्वयंप्रकाशत्वसिद्धेश्च विशेषणविशेष्ययोरेकबुद्ध्यधिगम्यत्वानियमोऽपि नास्ति सुरभि चन्दनमित्यादावदर्शनात् ॥

तत्वमुक्ताकलापः

आत्मा स्वेनैव सिध्यत्यहमिति निगमैर्यत् स्वयंज्योतिरुक्तः

सर्वार्थसिद्धिः

सिध्यतु देहादिभ्योऽन्य आत्मा; स कथमनन्यसाधनः? स्वानुभवबलात् इति चेन्न; धर्मतोऽपि तदुपपत्तेः। आत्मत्वादित्यनुमानादिति चेन्न; युष्माभिः केवलव्यतिरेक्यनभ्युपगमात्।

आनन्ददायिनी

तदेवासिद्धमित्याक्षेपसंगतिमभिप्रेत्याह—**सिध्यतु** इत्यादिना। **अनन्यसाधनः**—स्वप्रकाशः। **स्वानुभवः**—स्वस्य आत्मनः–स्वात्मनः प्रकाशः। आत्मनोऽनुभूयमानत्वमात्रात् स्वप्रकाशत्वं स्वधर्मभूतज्ञानेनाप्यनुभूयमानत्वसंभवात् इत्याह—**धर्मतोऽपीति**। धर्मभूतज्ञानेनेत्यर्थः। आत्मा स्वप्रकाशः आत्मत्वात् इति व्यतिरेकेण घटवदिति साधने अपसिद्धान्त इत्याह—**युष्माभिरिति**। यन्मते व्यतिरेक्यभ्युपगमः तन्मतेऽप्यसाधारण्यं दोष इत्याह—

भावप्रकाशः

तदेवम्;—'देहेन्द्रियमनःप्राणधीभ्योऽन्यः' इति भगवद्यामुनमुन्युक्तार्थः प्रतिष्ठापितः॥

अथ;—

स्वयंज्योतिष्ट्वसिद्धिश्च श्रुतिन्यायपुरस्सरा।
कामाद्याश्रयतोक्त्यार्थात् सा त्वया बाधिता भवेत्॥ ४७९॥
(बृ-वा)

इति निर्गुणात्मवादिनामाक्षेपे; न हि निर्गुणं द्रव्यमुपलभ्यते! इति (कि-आ) न च किञ्चिदपि स्वयंप्रकाशमिति (न्या. वा. ता. टी) इति च वदद्भिः

भावप्रकाशः

सगुणात्मवादिभिः पाषाणकल्पमोक्षपक्षपातिभिः इष्टापत्त्या स्वयंज्योतिष्ट्वस्य भाक्तस्याङ्गीकारोऽनुचितः । किं तु 'प्रत्यगात्मग्राह्यता चात्मनोऽहमिति मीमांसकपक्षः प्रत्युक्तः' इति (बृ. भा. ६-३-७) शङ्कराचार्यैर्दूषितोऽपि वृत्तिकारपक्ष एव साधीयान् । तदुक्तं शबरस्वामिना;— 'स्वसंवेद्यस्स भवति' इति । एवं कुमारिलेनापि ॥

चैतन्यस्वभावस्यात्मनः अहंप्रत्ययेन हि अस्तित्वमवगम्यते ! इति' इत्याशयेन प्रवृत्तां 'अनन्यसाधनः' इति यामुनमुन्युक्तिं स्थापयन् धर्मधर्मिणोर्ज्ञानत्वं प्रतिष्ठापयति ;—'आत्मा स्वेनैव सिध्यति' इति श्लोकेन । उक्तमीमांसकसिद्धान्ते नैयायिकमतेन तार्किकसिंहः स्वयमेव शङ्कामुत्थापयति—स कथं इत्यादिना । (सु)वार्तिकोक्तं न्यायं शङ्कते— **आत्मत्वादितीति** ॥

मूले आत्मा स्वेनैव **सिध्यतीति** अत्र आत्मशब्देन स्वशब्दस्य चेतनावाचिपदससभिव्याहारे चेतनबोधकत्वं अनात्मा स्वेन न सिद्ध्यति 'वायुश्चलति स्वयं' इत्यादौ तु अचेतनबोधकत्वमेवेति व्यञ्जितम् । 'स्वयं ज्योतिः' इत्यत्र स्वयमिति 'स्वयं आत्मना' इति कोशात्; 'स्वयं क्तेन' इति सूत्रे 'स्वयमेतदव्ययमात्मनेत्यस्यार्थे वर्तते' इति काशिकायां कर्मवत्सूत्रे ; 'स्वयंशब्दस्यात्मनेति तृतीयान्तार्थे वर्तनात्' इति कैयटे चोक्तेरात्मनेत्यर्थकम्—

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोस्सह ।
प्रयोगो नास्त्यतस्स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥ (चि. दी. ४३)

इत्यादिना पञ्चदश्यां स्वशब्दस्य चेतनपर्यायत्वाभिधानपूर्वकं अहमर्थस्य कल्पितत्वसाधनेऽपि स्वशब्दस्य न चेतनवाचकात्मशब्दपर्यायता । आत्मशब्दस्य समभिव्याहृतपदनिरपेक्षार्थकत्वात् । स्वशब्दस्य तत्सा-

भावप्रकाशः

पेक्षार्थकत्वात् अचेतनेऽपि स्वशब्दप्रयोगाच्च । नचाचेतने प्रयोग औपचारिक इति वाच्यम् आत्मशब्दस्येव स्वशब्दस्य चेतनसामान्ये प्रयोगविरहेण चेतनमात्रे शक्त्यसिद्ध्या अचेतने औपचारिकत्वकल्पना-योगात् । अतो मृदात्मको घट इत्यादाविव 'स्वयमात्मना' इति कोशेऽप्यात्मशब्दः स्वरूपवाची । आत्मशब्दस्य; 'आत्मा यत्नः स्वभावो ब्रह्म' इति कोशात् स्वभाववाचित्वात् 'स्वरूपं च स्वभावश्च' इति स्वरूपस्वभावशब्दयोः पर्यायत्वात् । अतश्च समभिव्याहृतपदार्थ-स्वरूपं स्वशब्दार्थः । तदेतदभिप्रेत्य; शक्तिवादे 'स्वशब्दस्य समभि-व्याहृतपदोपस्थाप्ये शक्तिः' इत्यारभ्य 'साक्षात्परम्परया यस्स्वार्थस्य विशेष्यः यश्च समभिव्याहृतक्रियाकारकपदार्थः तदुभय एव स्वपदस्य शक्तिः' इत्यादिगदाधरपरिष्करणम् । मञ्जूषायां (११६८) स्वशब्दस्य तद्धितवाक्यघटकक्रियान्विते स्वसमभिव्याहृतपदोपस्थापे शक्तिरित्यादि नागेशपरिष्करणमपि ॥

अतः 'अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' इति श्रुतिघटकस्वयं-शब्दस्य स्वेनेत्यर्थतया तत्र स्वशब्दार्थोऽपि समभिव्याहृतपुरुषपदार्थः आत्मा स चाहमर्थविव । तथा हि—

अयमत्र श्रुतिक्रमः ;—कूर्चब्राह्मणान्ते(६-२) ; 'अयमहमस्मि' इति ; ज्योतिर्ब्राह्मणे (६-३) 'किंज्योतिरयं पुरुषः ? आदित्यज्योतिः' किंज्योतिरेवायं पुरुषः ? चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवति, अग्निरेवास्य ज्योतिर्भवति । वागेवास्य ज्योतिर्भवति आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति आत्मनैव ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपर्येति । कतम आत्मा ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः 'स समानस्सन्नुभौ लोकावनुसंचरति । स हि सधीः (माध्यं·पा) स्वप्नो भूत्वा 'स वा

भावप्रकाशः

अयं पुरुषो जायमानश्शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिस्संसृज्यते । स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति । तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्। स यत्र स्वपिति स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति । अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति ' इति ॥

अत्र जनकेन 'अयमहम्' इत्युक्ताहमर्थ एव 'अयं पुरुषः' इत्यत्र पुरुषशब्दार्थः तेनैव किंज्योतिरिति पृच्छ्यते । प्रश्ने अयमहमिति निर्देशो यदि स्यात् तदा प्रश्नो जीवात्मसामान्यविषयो न भवेत् । स्वात्ममात्रप्रश्ने कृते तत्प्रतिवचनेन जीवविशेषस्य अन्यज्योतिस्संभावनाया अनिवृत्त्या जीवानामैकरूप्यानिर्णयस्स्यात् ॥

अतः जीवात्मसामान्यप्रश्नोपक्षेपार्थमयं पुरुष इति निर्देशः । अयमित्यस्य अहं इदं जानामीति प्रतीतिसिद्धपराग्भूतधर्मभूतज्ञानवानित्यर्थः । अत्राहमर्थ एव विवक्षित इति-शाङ्कर (उ) भाष्य (बृ) वार्तिकयोर्व्यक्तम् ॥

अनेन प्रश्नमूलसंशयस्य बीजमुपक्षिप्तम् । अहं जानामीत्यत्र अहमर्थस्य ज्योतिः—धर्मभूतज्ञानं उत धर्मी? इति धर्मज्ञानभासकसामग्र्यैव धर्मिणो भानं उत नेति पर्यवसितः संशयोऽवसेयः । जनकस्य देहाद्यात्मविवेकाभावं मन्वानेन याज्ञवल्क्येन दिवारात्रौ स्थूलोऽहमित्यादिदेहात्मचाक्षुषप्रतिबन्धकतमोनिरासकादित्यचन्द्रमोऽग्नीनां अतीन्द्रियेन्द्रियात्मज्ञानप्रयोजकवाचोऽपि ज्योतिष्ट्वमभिहितमिति प्रतीयते । अत एव उत्तरत्र 'कतम आत्मा' इति देहाद्यात्मविवेकप्रश्नस्तत्प्रतिवचनं च उपपद्यते (२८१) (२९४) बृ-वार्तिकेऽपि देहाद्यात्मविवेकोऽत्र विवक्षित इति स्पष्टम् ॥

भावप्रकाशः

अत्र सर्वत्र प्रश्नप्रतिवचनघटकप्रथमान्तषष्ठ्यन्तेदंशब्दा एकार्थकाः। एवं तच्छब्दा अपि। 'आत्मैवास्य ज्योतिः' 'आत्मनैव ज्योतिषास्ते' इत्यत्र आत्मशब्दः स्वशब्दपर्यायः। स्वमेव ज्योतिः स्वेनैव ज्योतिषा इत्येवार्थः 'स्वेन ज्योतिषा स्वपिति' इत्युत्तरवाक्यानुसारात्। अत एव शाबरे—'तेन सर्वे स्वेन स्वेनात्मना आत्मानमुपलभमानास्सन्त्येव–अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति इति पूर्वोपात्तश्रुत्युदाहरणं संगच्छते अत्र—स्वशब्दात्मशब्दयोस्सहप्रयोगादपर्यायताभासते ॥ श्रुताच पुरुषादिशब्दसममभिव्याहारात्स्यशब्दश्चैतनैकान्तः ॥

एतेन तत्तदात्मनः तत्तदात्मैव ज्योतिरित्युक्तं भवति। तेन च अहमर्थस्य ज्योतिष्ट्वं पर्यवस्यति। तत्तदात्मनस्तेनतेन प्रयुक्तास्मच्छब्देन अन्यव्यावर्तकरूपेण बोऽधनेऽपि परात्मनस्तदन्यात्मना प्रयुक्तास्मच्छब्देन बोधनं न संभवतीत्थं वाचो भङ्गी। मास्तु वा 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यादावात्मशब्दस्य स्वशब्दपर्यायता। अथाऽपि 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यादौ षष्ठ इव परमात्मलिङ्गाभावात् जीवात्मलिङ्गसद्भावाच्च जीवात्मवाच्येवायमात्मशब्दः 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा' 'विज्ञानमयं इत्यादिवक्ष्यमाणानुसारात् संततधर्मभूतज्ञानवानेव आत्मशब्दार्थोऽत्र विवक्षितः। आदित्यादीनां प्रभादिद्वारेव परिच्छिन्नस्याप्यात्मनः धर्मभूतज्ञानद्वारा स्वान्यज्योतिष्ट्वमिति हृदयम्आदित्यादोरिव स्वज्योतिष्ट्वं साक्षात् ॥

अत एव 'ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्' इति श्रुतिरनुसंधानवाक्यरूपा संगच्छते। अहमितिप्रतीतिविषयता देहादेरप्यविशिष्टेति देहादिव्यतिरिक्तात्मनिर्णयार्थमनन्तरं कतम आत्मेति प्रश्नः 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' इति तत्प्रतिवचने अयं पुरुषः अन्तर्ज्योतिः इति पदैः 'किं ज्योतिरयं पुरुषः' इत्यादिप्रश्न-

भावप्रकाशः

भगवद्यामुनमुनयश्च इमां श्रुतिम् ;—' अत्र योऽयं सर्वलोकानुभवसिद्धो विविधविषयवेदनप्रचुरः प्राणेषु प्रेरकतया स्थितो हृदयायतने अन्तर्ज्योतिरहमिति प्रत्यक्त्वेन प्रकाशते स पुरुषः ' इति व्याचख्युः ॥

अत्र योऽयमिति सर्वलोकानुभवसिद्धमहमर्थमात्मानमनूद्य तस्य इन्द्रियप्राणव्यतिरेकादिकं प्रतिपाद्यत इत्यहमर्थ एवात्र विवक्षितः। उक्तंच शाङ्कर (उ) भाष्येऽपि ' योऽयमित्यात्मनः प्रत्यक्षत्वान्निर्देशः इति। विज्ञानशब्दस्य भावप्रधानत्वादिकं पूर्वमेव (१८४–१७८) निरूपितम्। प्राणेष्विति वहुवचनात् इन्द्रियाण्येव प्राणाः। सप्तम्या तद्व्यतिरेकः। हृदि अन्तर्ज्योतिः इत्युभाभ्यां परिच्छिन्नत्वं चात्मनस्सिध्यति। आदित्यादीनां प्रभाद्वारेव परिच्छिन्नात्मनोऽपि धर्मभूतज्ञानद्वारा ज्योतिष्ट्वमिति ' विज्ञानमय ' इत्यनेन बोधितम्। देहाद्यात्मविवेकानन्तरमेव ' आत्मैवास्य ज्योतिः ' इत्युक्तार्थनिर्णयः न त्वन्यथा इति सूचयत्यन्तर्ज्योतिःपुरुष इत्यनेन। तत्रापि ' कतम आत्मा ' इति प्रश्नघटकात्मशब्दं विहाय पुरुषशब्दप्रयोगेण तस्य ज्योतिश्शब्दसमभिव्याहारेण च ' किं ज्योतिरयं पुरुषः ' इति प्रश्नप्रतिवचनपूर्तिरिदानीमेव न त्वितः प्राक् इति बोधितम् ॥

अनन्तरं श्रुतिवाक्येषु समान इत्यत्र गर्वसाहित्यं ' अनुसञ्चरति ' इत्यत्र कर्तृत्वं ' स हि स्वप्नः ' इत्यत्र अर्शआद्यजन्तस्वप्नशब्दार्थस्वप्नाश्रयत्वं ' शरीरमभिसंपद्यमानः ' इत्यादौ शरीरसंबन्धपापसबन्धोत्क्रमणादिकं इत्येतानि अहमर्थात्मन्येव तात्पर्यलिङ्गानि ॥

अतः ' स यत्र स्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ' इत्यत्रापि तदिदं पुरुषशब्दार्थोऽहमर्थजीवात्मैव ॥

भावप्रकाशः

ननु 'स्वयं निर्माय' इत्यत्रोक्तं स्वाप्नपदार्थनिर्मातृत्वम् 'न तत्र रथाः+स हि कर्ता, इत्युत्तरवाक्ये च वक्ष्यमाणं परमात्मन एवेति संध्याधिकरणे स्थापितमिति 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यादौ परमात्मैव जीवात्मनः ज्ञानहेतुत्वेन ज्योतिर्विवक्षितम् । स्पष्टं चेदं बृहद्भाष्यादाविति वाच्यम्; 'सर्वावतः' इत्यत्र सर्वमवतीति योगेन परमात्मनो विवक्षितत्वेन परमात्माधीनताया लाभेन 'स्वयं निर्माय' इत्यत्र परमात्मेतरानधीनत्वं विवक्षितमिति 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यादौ जीवात्मविवक्षासंभवात् 'किं ज्योतिरयं पुरुषः' अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' इति प्रश्नप्रतिवचनस्थेदंपुरुषशब्दयोरेकार्थतायाः स्वरसतः प्रतीतायाः बाधकल्पनायोगाच्च ॥

'किं ज्योतिरयं पुरुषः इत्यत्रेदंशब्देन सूचितायाः अहं-जानामीतिप्रतीतौ ज्ञानभासकत्वेन या सामग्री अपेक्षिता तस्या एवाहमर्थभासकत्वम् । अन्यथा अहमर्थस्य स्वयं प्रकाशत्वे सहैव ज्ञानभानानुपपत्तिः इति शङ्कायाः परिहारः 'विज्ञानमयः' 'अन्त-र्ज्योतिः' इति पदद्वयेन पूर्वं विरचितः । अत्र 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा' इत्यनेन आदित्यचन्द्रमोऽग्नितत्प्रभयोरिव अहमर्थतद्धर्मज्ञान-योरपि स्वप्रकाशत्वसंभवबोधनपूर्वकं 'अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' इत्यनेन स्फुटीकृतः । तत्र 'किं ज्योतिः' इत्यत्र किं ज्योतिर्यस्य स इति बहुव्रीहिः । 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्युत्तरानुसारात् । 'अन्त-र्ज्योतिः' 'स्वयंज्योतिः' इत्यत्रापि बहुव्रीहिरेव विवक्षितः । ज्योति-श्शब्दश्च अवभासकपरः 'वाचैवायं ज्योतिषास्ते' 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' इत्यत्रासनादिव्यवहारहेतुताया जडेप्यभिधानात् । 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति' इत्यत्रापि हेतुत्वस्यैव प्रतिपादनात् ॥

सर्वार्थसिद्धिः

ज्ञानस्य च सपक्षस्याभ्युपगमात् । स्वयंज्योतिष्ट्वश्रुतेरिति चेन्न; ज्योतिश्शब्दस्यात्र भाक्तत्वात् । चक्षुस्सहकारिणि तेजोविशेषे हि तन्मुख्यता! 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति तु औपाधिकरूपनिवृत्तिपरम् । इष्टं च भवतामपि स्वधर्मेणात्मनो भानम् । तावतैव अन्यत्राद्दष्टेन स्वयंप्रकाशत्ववादोऽस्त्विति । एतत्प्रत्याह;— **आत्मेति**[1] । * एवकारोऽत्र परप्रकाश्यत्वनियमनिवृत्तिपरः । यद्यहन्त्वादि-

आनन्ददायिनी

ज्ञानस्य चेति—

सपक्षे सति चाभासः स्यादसाधारणस्त्वसौ ।

इत्युक्तेरिति भावः । **ज्योतिश्शब्दस्य चेति**—ज्योतिश्शब्दो हि तेजोवचनः! न च तस्य ज्ञाने लक्षणा मानाभावात्; अपि तु स्वधर्मे प्रकाशकत्वे उपचार इति भावः । मुख्यतैवास्त्वित्यत्राह—**चक्षुस्सहकारिणीति** । आदित्यादितेजसीत्यर्थः । ननु स्वेन रूपेण—स्वात्मना अभिनिष्पद्यते—प्रकाशते इति श्रुतिबलात् स्वप्रकाशत्वसिद्धिरित्यत्राह— **स्वेनेति** । स्वेन रूपेण—स्वरूपेण—अनौपाधिकस्वरूपवत्तयेत्यर्थः । स्वयंप्रकाशशब्दः तत्र तत्रात्मनि कथं प्रयुज्यते इत्यत्राह—**तावतैवेति**। स्वधर्मेण प्रकाश एव स्वयं प्रकाश इत्यर्थः । स्वेन सिध्यत्येवेति एवकारोऽत्र भिन्नक्रम इत्याह—**एवकारोऽत्रेति** । स्वरूपमात्रप्रकाशे मायिमतप्रसङ्ग इत्याह;—**यद्यहन्त्वादिरहितः** इति । अहमित्येव

भावप्रकाशः

एवं च स्वयं—आत्मना ज्योतिः-प्रकाशक यस्य सः इति बहुव्रीह्यर्थाङ्गीकारे प्रकाशजनकस्य द्वेधा भानमनुचितमिति स्वयमित्यनेनैव जनकार्थोपस्थित्या ज्योतिःपदमत्र प्रकाशपरमेवेति तात्पर्येण तदर्थः स्वेनैव सिध्यतीत्यनेनोक्तः । * एवकारोऽत्रेत्यादि;—ननु स्वेनैव

---

[1] २०८ तमे पृष्ठे द्रष्टव्यम्.

भावप्रकाशः

सिध्यतीति मूले एवकारस्य सिध्यतीति क्रियासङ्गतत्वमङ्गीकृत्य अत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थकतया विशेष्यसंगतैवकारवत् अन्ययोगव्यवच्छेदार्थकत्वाभावेन आत्मनः स्वभास्यत्वस्य स्वान्यधर्मभूतज्ञानभास्यत्वस्य चाङ्गीकारोऽनुचितः । 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते' 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' इति श्रुतिविरोधात् । 'स्वयंज्योतिः' इत्यत्रापि 'आत्मनैव ज्योतिषा' इत्युपक्रमानुसारेण स्वयमेव ज्योतिर्यस्येत्यर्थविवक्षायाः वाच्यत्वात् । अत्राप्येवकारस्य क्रियासंगतत्वकल्पनाया अयुक्तत्वात् इति चेत्;

नात्र व्यवहारसामान्यनिमित्तता आत्मातिरिक्तस्य व्यवच्छिद्यते एवकारेण; 'आदित्येनैव ज्योतिषास्ते' 'अस्तमित आदित्ये किंज्योतिरेवायं पुरुषः? चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवति' इति पूर्ववाक्येषु तथा विवक्षाया असंभवात् । एकैकस्यास्तमये अन्यस्य ज्योतिष्ट्वप्रतिपादने आदित्यादीनां सर्वेषामनस्तमयकाले ज्योतिष्ट्वमिति विवक्षितमिति प्रतीयते । तेन च आदित्यादेः स्वस्वान्यानधीनव्यवहारनिमित्तत्वमात्रं विवक्षितम् न तु तादृशव्यवहारसामान्यनिमित्तत्वमिति 'आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति' इत्यत्राप्यात्मान्यानधीनस्वव्यवहारनिमित्तत्वमात्रमेव विवक्षितमित्यात्मव्यवहारनिमित्ततायाः धर्मभूतज्ञाने सत्त्वेऽपि बाधकविरहात् ॥

किंच आदित्यादीनां व्यवहारनिमित्तधर्मभूतज्ञानप्रसरहेतुप्रभाद्वारकमेव व्यवहारनिमित्तत्वरूपं ज्योतिष्ट्वं वाच्यमिति धर्मभूतज्ञानस्य व्यवहारनिमित्तता कथं व्यवच्छिद्यते?

किमस्य पुरुषस्य ज्योतिः? येन ज्योतिषा व्यवहरति इति (शं-उ) भाष्ये व्यवहारनिमित्तत्वमेव ज्योतिष्ट्वं इति स्पष्टम् । अत एव

भावप्रकाशः

'ज्योतिषास्ते' इत्यादिकमुपपद्यते । उक्तं च नृसिंहाश्रमिणा अद्वैतदीपिकायाम् (४०७);—'उपक्रमेऽपि व्यवहारनिमित्तप्रकाशविषय एव प्रश्नः' नच एवं परम्परानिमित्तेषूक्तेषु साक्षाद्व्यवहारनिमित्तप्रश्नस्योत्तरं 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इति । तथाच आत्मैवात्मादिव्यवहारनिमित्तं प्रकाश इत्येवार्थः । आत्मैवास्येति भेदनिर्देशोऽप्यहमर्थातिरिक्तात्मा प्रकाश इति न विरुध्यते इत्युत्तरत्र (अ. दी.) नृसिंहाश्रमिणा आदित्यादिज्योतिषः स्वतो व्यवहाराजनकस्य वृत्तिद्वारा व्यवहारजनकत्वेन यथा ज्योतिष्ट्वं तद्वदात्मनोऽपीत्यादिशङ्कानिवृत्त्यर्थं 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इति ; व्यवहर्तुरहमर्थस्यैव इदं शब्दार्थत्वात् तद्भिन्नाकरणात्मनो ज्योतिष्ट्वोपपत्तिरिति । (अ+दी+वि) तच्छिष्येण नारायणाश्रमिणा च अहमर्थातिरिक्तात्मनस्साक्षाज्ज्योतिष्ट्वं विवक्षितमित्युक्त्या कथमहमर्थस्य पूर्वोक्तरीत्या ज्योतिष्ट्वसिद्धिरिति वाच्यम् ; 'किंज्योतिरेवायं पुरुषः? अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' इत्युभयत्रापीदंशब्दार्थता अहमर्थस्यैव वाच्या एवं च 'अयं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति' इत्यत्र स्वयमेव ज्योतिर्यस्येति विग्रहस्य (ल. चं) 'संमततया अहमर्थातिरिक्तस्य ज्योतिष्ट्वनिषेध एवाकामेनापि स्वीकरणीयस्स्यात् । अत एव 'कतम आत्मा' इति प्रश्नप्रतिवचने 'योऽयं विज्ञानमयः' इति 'सधीः स्वप्नो भूत्वा' इत्यत्र 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यत्रोक्तस्यात्मनो ज्ञानवत्त्वाभिधानं संगच्छते ॥ बृहदारण्यकवार्तिकेऽपि च ;—

वासनोपाधिरात्मैकः स्वयंज्योतिरितीर्यते । (६, ३-८०३)

इति सोपाधिकस्यैव ज्योतिष्ट्वमभिहितम् । वृत्तिमन्तरा चितो व्यवहारहेतुत्वं न संभवतीति पूर्वमेवोपपादितम् । अत एवात्मचैतन्यस्य व्यवहारनिमित्तमस्मदर्थः (२०१) इति विवरणोक्तं संगच्छते । स्वप्ने चाहमर्थसद्भावस्तद्भानं च परैरप्यङ्गीक्रियते ।

भावप्रकाशः

एवं आत्मनोऽस्वप्रकाशत्वे अहमनहं वेति संशयविपर्ययप्रसङ्गस्य बाधकस्याद्वैतसिद्धौ (७७९) उद्भावनेनाहमर्थस्य स्वप्रकाशत्वमविरुद्धम् ।

अतश्चाहमर्थस्यैव ज्योतिष्ट्वमत्र विवक्षितम् न तु तदतिरिक्तात्मनः । 'कतम आत्मा हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्यत्र हृदि अन्तर्ज्योतिः इति पदद्वयेन च अहमर्थस्यैव ज्योतिष्ट्वं प्रदर्शितमिति पूर्वमेवोक्तम् । अन्तर्ज्योतिः इत्यनेन 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यत्रोक्तमात्मनस्स्वज्योतिष्ट्वं धर्मभूतज्ञाननिरपेक्षमिति 'योऽयं विज्ञानमयः' 'सधीस्स्वप्नो भूत्वा' इत्यनेन च 'आत्मनैव ज्योतिषास्ते' इत्यत्रोक्तमासनादिज्येतिष्ट्वं धर्मभूतज्ञानद्वारकमित्यपि व्यञ्जितम् ।

इत्थं च आदित्यादेः आसनादिहेतुत्वं यत्पूर्वमुक्तं तदपि प्रभाद्वारा । सापि प्रभा आसनादिव्यवहारहेतुभूतधर्मभूतज्ञानप्रसरनिमित्तमिति परम्परयैव व्यवहारनिमित्तम् । अतोऽहमर्थात्मनः स्वव्यवहारनिमित्तत्वं धर्मभूतज्ञानस्य स्वस्वान्यव्यवहारहेतुत्वं च साक्षात् अन्यस्यादित्यप्रभादेश्च परम्परयेति सिध्यति ।

अयमर्थः 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति' इत्यत्र आत्मतद्धर्मज्ञानयोः ज्योतिर्भारूपत्वस्य स्वापहेतुत्वस्य च कथने दृढीकरिष्यते ।

एवंच 'अत्रायं पुरुषस्स्वयं ज्योतिर्भवति' इति तदुत्तरवाक्येऽपि अयमित्यस्य आसनादिव्यवहारप्रयोजक (अहं जानामीति प्रतीतिसिद्ध) ज्ञानवान् इत्यर्थेन ज्ञानविशिष्टपुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्वं विवक्षितम् ।

अतः पूर्वोक्तं धर्मधर्मिणोः यथार्हं स्वस्वान्यव्यवहारहेतुत्वमुपसंहृतमिति धर्मभूतज्ञानस्यासनादिहेतुताया एतत्प्रकरणप्रतीताया 'आत्मनैव ज्योतिषास्ते' इत्यत्रैवकारेण न व्यवच्छेदः । सामान्यनिषेधानन्तरं

भावप्रकाशः

विशेषाभिधाने निषेधस्य संकोचः (३-२-२१) व्यासेन व्यवस्थापितः। तन्न्यायेनैवकारार्थव्यवच्छेदोऽपि संकोचयितव्यः। ज्योतिर्विशेषवाचिपदसमभिव्याहृतैवकारस्य स्वसमभिव्याहृतपदार्थतदपृथक्सिद्धान्यसंबन्धव्यवच्छेदपरत्वस्याभ्युपगमात्। अन्यथा 'आदित्येनैव ज्योतिषास्ते' इत्यादावेवकारार्थबाधापत्तेः। तत्रापि प्रभाद्वारकमेवादित्यस्य ज्योतिष्ट्वमित्यत्राप्यात्मनो धर्मभूतज्ञानद्वारकमेवासनादिव्यवहारहेतुत्वरूपं ज्योतिष्ट्वम्॥

विशेषस्तु धर्मभूतज्ञानस्य आत्मनश्च यथार्हं स्वस्वेतरव्यवहारहेतुत्वं साक्षात् आदित्यप्रभादेस्तु परम्परया धर्मज्ञानप्रसरणविरोधितमोनिवृत्तिद्वारा अहमर्थातिरिक्तविषयव्यवहारहेतुत्वं न त्वहमर्थव्यवहारहेतुता॥

न चैवं 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यत्रापि आत्मनो धर्मभूतज्ञानभास्यत्वविवक्षाङ्गीकारस्संभवति एवकारार्थाबाधात्। तथाभ्युपगमे च;—

अन्तर्ज्योतिः स्वयं ज्योतिरात्मज्योतिरिति श्रुतिः।

इति तत्वटीकायां 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इति श्रुतेरप्यात्मनस्स्वयंप्रकाशकत्वसाधकत्वेनोपन्यासः कथमिति वाच्यम्; 'चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवति' इत्यादौ इदमर्थस्य चन्द्रमसो भिन्नतया उभयोः प्रभाद्वारकस्संबन्धो वाच्यः; तद्वत् परात्मनः परेणाभेदासंभवेन धर्मभूतज्ञानद्वारकसंबन्धावश्यकत्वेऽपि स्वात्मन इदमर्थाभेदेन धर्मभूतज्ञानद्वारकसंबन्धो नापेक्षितः इति स्वयंप्रकाशत्वविवक्षाया एव युक्तत्वात्॥

भावप्रकाशः

'अन्तर्ज्योतिः' इत्यनेन धर्मभूतज्ञानाद्वारकज्योतिष्ट्वस्य प्रतिपादनात् 'स्वयं ज्योतिः' इत्यत्र स्वप्रयोज्यप्रकाशकत्वसिद्धेश्च तत्वटीकायां 'अन्तर्ज्योतिः स्वयंज्योतिः' इत्यनन्तरं शाबरभाष्यस्थैवकाराघटितमाध्यन्दिनपाठानुसारेण 'आत्मज्योतिः' इत्युक्त्या तत्र एवकारानिर्देशेन च 'अन्तर्ज्योतिः स्वयंज्योतिः' इत्यत्र वक्ष्यमाण एवार्थः 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यत्र विवक्षितः न तु तदन्य इति सूच्यते ॥

एवं च यस्मिन्नंशे धर्मभूतज्ञानप्रसरप्रयोजकसामग्रीविरहेऽपि संशयाद्यनुदयोऽनुभवसिद्धः तस्मिन्नंशे स्वयंप्रकाशता युक्त्यनुगृहीतया श्रुत्या सिध्यति । अतः आत्मनस्साक्षात्परम्परया च ज्योतिष्ट्वस्य आत्मतद्धर्मभूतज्ञानयोः ज्योतिर्भारूपतायाश्च प्रतिपादनात् ज्योतिर्विशेषवाचिसमभिव्याहृतैवकारस्य स्वान्यसामान्ययोगव्यवच्छेदकत्वाभावाच्च परात्मनः स्वात्मनश्च यस्मिन्नंशे संशयादिप्रवृत्तिः तमन्तर्भाव्य धर्मभूतज्ञानभास्यत्वाङ्गीकारो नानुपपन्नः ॥

एवं 'किं ज्योतिरयं पुरुषः' इत्यत्रेव 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यादावपि ज्योतिषो विशेष्यतया विशेषणवाच्यात्मशब्दसंगतैवकारेण अयोगव्यवच्छेद एवात्र प्रतीयत इति (ल-च.) पक्षेऽप्युपपत्तिस्सुधीभिरूहनीया ॥

'अगृह्यो न हि गृह्यते' इति श्रुतिः परेण न गृह्यत इत्यभिप्रायेण प्रवृत्तेति स्पष्टं शाबरभाष्ये । उक्तं च वार्तिके आत्मवादे ;—

शान्तायां वाच्यशक्तायामात्मा केन प्रकाश्यते ।
आत्मनैव प्रकाश्योऽयमात्मा ज्योतिरितीरितम् ॥ २४२ ॥
अग्राह्य इति सामान्यात् सर्वेणेति प्रतीयते ।
आत्मज्योतिष्ट्ववचनात् परैरित्यवतिष्ठते ॥ २४३ ॥ इति ।

तत्वमुक्ताकलापः

*अहमिति निगमैर्यत् स्वयंज्योतिरुक्तः

सर्वार्थसिद्धिः

रहितः स्वयं प्रकाशते तदा *परमतं स्यादित्यत्राह—**अहमिति ।** अहमर्थ आत्मेति सेत्स्यति । अतः तत्प्रकाशे कथं परेष्टावकाश इति भावः । प्रतिज्ञाते मानमाह—**निगमैरिति ।** बहुवचनेन ज्ञानत्ववादि-

आनन्ददायिनी

प्रकाशोऽत्र विवक्षितः स तु सधर्मप्रकाश इत्याह—**अहमर्थ आत्मेति। प्रतिज्ञात** इति—स्वप्रकाशत्व इत्यर्थः । ***ज्ञानत्व वादिन इति**— ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वादिति भावः । ननु 'सत्यं ज्ञानम्' इति अन्तोदात्तबलात् युजन्तत्वं अर्शआद्यजन्तत्वं वा वाच्यम् । तथाच ज्ञानत्वस्य तदाश्रयत्वस्य वा सिद्धिः । तथा 'विज्ञानमयः' इत्यत्र

भावप्रकाशः

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्योक्तं मूले अहमितीति—***परमतमिति**—विशेषण-विशेष्ययोरुभयोर्जडत्वमिति नैयायिकमतवत् विशेषणस्य जडत्वं न तु विशेष्यस्य चित आत्मन इति मतमपि परमतमेव । उदाहृतश्रुतिवाक्येषु स्वप्नप्रकरण एव स्वयंप्रकाशत्वप्रतिपादनेन अहन्त्वविशिष्टस्य स्वयं-प्रकाशत्वसिद्धेः स्वप्ने च अहन्त्वविशिष्टानुभवस्याविप्रतिपन्नत्वात् । यद्यहन्त्वविशिष्टस्य न स्वयंप्रकाशता सुषुप्तावहमर्थो न भासत इति च भगवती श्रुतिरभिप्रैष्यत् तदा तदर्थख्यापनाय सुषुप्तिप्रकरण एव स्वयंप्रकाशतां प्रत्यपादयिष्यत् । न च तथा प्रतिपादयति ! अतोऽहन्त्व-विशिष्टस्य स्वयंप्रकाशत्वमेव श्रुतिसंमतमिति भावः ॥

* ज्ञानत्ववादिन इति—'विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्यादय इति शेषः ।

भावप्रकाशः

बाह्यार्थापह्नवयुक्तयो विज्ञानवादिनां बुद्धिसरे निरसिष्यन्ते । तेन आत्मस्वरूपज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकभावाङ्गीकारे बाह्यार्थापह्नवभीतेर्नावसरः । उक्तं च शाबरभाष्ये ;—'स्वसंवेद्यस्स भवति' इति ॥

अत्र ऋजुविमला ;—(१७७) स्वसंवेद्यस्स भवतीति वदता एक एवात्मा अहंप्रत्ययेन कर्तृकर्मरूपतयाऽवलम्ब्यत इत्यभ्युपगतं भवतीति । वृत्तिकारग्रन्थेऽपीत्थमर्थमभ्युपगम्यैव एददुपरि पूर्वपक्षस्सिद्धान्तश्च कृत इति ऋजुविमलायामेव व्यक्तम् ॥

बृहतीकारश्च (१७५) 'तस्मादसंभिन्नेदंप्रत्यय एवाहंप्रत्यय आलम्बनं' इत्यनेन अहमर्थस्येदमानिदंरूपता अनुभवविरुद्धेति ख्यापयति ॥

यद्यपि श्लोकवार्तिके शून्यवादे ;—

नैतदस्ति त्वयैकं हि ग्राह्यं ग्राहकमिष्यते ।
नचैकस्यैवमात्मत्वे दृष्टान्तः कश्चिदस्ति ते ॥ ६४ ॥

इति विज्ञानवादिमतदूषणानन्तरम् ;—

कथंचिद्धर्मरूपेण भिन्नत्वात् प्रत्ययस्य तत् ।
ग्राहकत्वं भवेत्तत्र ग्राह्यं द्रव्यादि चात्मनः ॥ ६८ ॥
यस्तु नात्यन्तभेदोऽत्र क्व वासाविष्यते मया ?
प्रत्यासत्तिनिमित्ता तु प्रत्यगात्मप्रवर्तिता ॥ ६९ ॥

इत्यत्र ज्ञानात्मनोर्भेदाभेदाभ्युपगमेन आत्मनो ज्ञानत्वेन ग्राहकत्वं द्रव्यत्वेन ग्राह्यत्वमित्युक्तम् । अतः अहमर्थस्येदमनिदंरूपत्वमेव वार्तिककारसंमतम् ॥

पञ्चपादिकायां च (३०२) 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्वाभिमतोऽहङ्कारः । स च इदमनिदंरूपवस्तुगर्भः सर्वलोकसाक्षिकः । तमवहितचेतस्तया निपुणतरमभिवीक्ष्य रूपकपरीक्षकवत् स्वानुभवमप्रच्छादयन्तो

भावप्रकाशः

वदन्तु भवन्तः परीक्षकाः किमुक्तलक्षणो न वेति' इत्युपक्रम्य बृहतीकारसिद्धान्तो दूषितः। अत्र विवरणम्;—'तत्र सर्वतो विप्रसृतस्य सवितृप्रकाशस्याकाशे विशेषाभिव्यक्तिनिमित्तदर्पणादिवदात्मचैतन्यस्य सविकल्पकतया स्फुटीकरणव्यवहारनिमित्तं भास्वरद्रव्यमात्मन्यध्यस्तमन्तःकरणमस्मत्प्रत्यय इत्याह —अस्मत्प्रत्ययविषयत्वाभिमतोऽहङ्कार इति। नन्विदं रजतमितिवदध्यस्तत्वे अहमिति द्वैरूप्यावभासो वक्तव्य इत्याह—स चेदमनिदमिति। अयो दहतीति दग्धृत्वविशिष्टस्याग्नेरयसश्च द्वैरूप्यावभासवत् अहमुपलभे इत्युपलब्धृत्वविशिष्टस्यात्मनोऽन्तःकरणस्य चास्त्येव द्वैरूप्यावभासोऽसाधारणक्रियोपरक्तमात्मादिद्रव्यमेव वस्त्वन्तरमवभासत इति भावः। दुःखिप्रेमास्पदरूपेण परिणामितदागमापायद्रष्टृरूपेणाहङ्कारविषयादिष्वनुस्यूतरूपेणाहमिति च व्यावृत्तरूपेण च सर्वलोकसाक्षिकं द्वैरूप्यमित्याह—सर्वलोकसाक्षिक इति' इति॥

एवम् —'अन्तःकरणोपरागनिमित्तं मिथ्यैवाहङ्कर्तृत्वमात्मनः स्फटिकमणेरिवोपरागनिमित्तो लोहितिमा' इति; 'तेन लक्षणत इदमंशः कथ्यते न व्यवहारतः। व्यवहारतः पुनर्यदुपरागादनिदमात्मनोऽहङ्कर्तृत्वं मिथ्या तदात्मनस्तद्व्यापारेण व्याप्रियमाणस्येव व्यापारपूर्वको यस्य परिच्छेदः स एवेदमात्मको विषयः। अत एव 'असंभिन्नेदमात्मकोऽवभासः' इति विभ्रमः केषांचित्। दृष्टश्च लक्षणतस्तद्व्यवहारार्होऽपि तमननुपतन्। तद्यथा अङ्कुरादिफलपर्यन्तो वृक्षविकारो मृत्परिमाणपरम्परानिष्पन्नोऽपि वृक्षवल्मीकवत् न मृन्मयव्यवहारमनुपतति। व्युत्पन्नमतयस्तु तद्व्यवहारं नातीवोल्बणं मन्यन्ते। अत एव निपुणतरमभिवीक्ष्य रूपकपरीक्षकवदहङ्कारं निरूपयतां संभिन्नेदं रूपस्स इत्यभिहितम्' (प. ३०) इत्यन्तग्रन्थेन बृहतीकारस्य तदनुयायिनां च विभ्रमः प्रकाशितः॥

भावप्रकाशः

अत्र विवरणम्;—नन्वात्मन एव विज्ञानक्रियापरिणामशक्ती किं न स्यातामिति निरवयवसर्वगतासङ्गस्य परिणामानुपपत्तेः पारिणाम्यन्तःकरणसंनिधानाच्च प्रतिभासस्यान्यथासिद्धेरिति सदृष्टान्तमाह—अन्तःकरणोपरागनिमित्तमिति ॥

ननु साक्षिस्वरूपवद्विज्ञानक्रियाव्यवधानमन्तरेणाहङ्कारस्य सिद्धौ कथमिदमंशतेति तत्राह—तेन लक्षणत इति। अर्थस्वभावत इत्यर्थः। अर्थतश्चित्स्वरूपताऽनिदमंशता चैतन्यकर्मता चेदमंशतेति न ज्ञानक्रियाव्यवधानेनेत्यर्थः। व्यवहारतः पुनः कथंभूतस्येदमंशतेति तदाह—व्यवहारतः पुनरिति। यदुपरागात् यस्याहङ्कारस्योपरागादित्यर्थः। तदात्मन इति—तदात्मतामहङ्कारात्मतामापन्नस्येत्यर्थः। तद्व्यापारेणाहङ्कारव्यापारेणेति वृत्तिव्यवधानसिद्धिरेव शरीरेन्द्रियविषयाणां इदमिति प्रतिभासिता नाम तदव्यवधानसिद्धिरेवानिदंप्रतिभासितेति भावः। नन्वज्ञानव्यवहितोऽहङ्कारः कथमव्यवधानादिदन्तावभासाभावः स्यात्? इत्यत्राह—अत एवाहमिति। अनिदन्ताप्रतिभासादेव—अज्ञानमात्रव्यवधानादेवेत्यर्थः। नन्वर्थतो युष्मदर्थत्वे तथा प्रतिभासाभावो न युक्त इत्यत्राह—दृष्टश्च लक्षणत इति। ननु तत्र विमर्शेऽपि मृन्मयव्यवहारो न जायते इह तु विमर्शे युष्मदर्थता व्यवह्रियते। अतो नायं दृष्टान्त इत्यत आह—व्युत्पन्नमतयस्त्विति। अत एव निपुणतरमभिवीक्ष्येत्यादिः स्पष्टार्थः इति ॥

तथापि श्लोकवार्तिके 'कथं चित्' इति श्लोकद्वयानन्तरम्;—

अस्मत्प्रयोगसंभिन्ना ज्ञानस्यैव तु कर्तरि।
भवन्ती तत्र संवित्तिर्युज्येताप्यात्मकर्तृका ॥ ७० ॥

इत्युक्तम्। अयं श्लोकः न्यायरत्नाकरे इत्थं व्याख्यातः; यद्यपि सर्वात्मनैक्यं

भावप्रकाशः

तथाऽपि न दोष इत्याह—अस्मत्प्रयोगेति। अस्मत्प्रयोगसंभिन्ना अहमिति संवित् स्वयमात्मकर्तृकाऽपि सती ज्ञानकर्तयात्मन्येव भवतीति तत्र युज्यते प्रतिभासबलादस्मदर्थ एव हि ज्ञाता तत्र प्रतिभासते नान्य इति। अत्र;—

अहं प्रत्ययविज्ञेयस्स्वयमात्मोपपाद्यते।
आत्मनैव प्रकाश्योऽयमात्मा ज्योतिरितीरितम्॥

इति आत्मवादे वक्ष्यते। तत्र च शाबरभाष्योदाहृता 'स्वयं ज्योतिः' 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इति श्रुतिर्मूलमिति स्पष्टम्॥

नचेयं श्रुतिः भेदाभेदमादाय निर्वोढुं शक्या!;—

सद्गुणद्रव्यरूपेण रूपादेरेकतेष्यते।
स्वरूपापेक्षया चैषां परस्परमभिन्नता॥

इत्युक्तदिशा भेदाभेदस्य सर्वत्रापि संभवेन परस्यात्मनः स्वशब्देन स्वरसतो निर्देशविरहात्। अहमितिप्रत्यये द्रव्यत्वेनात्मनो भानस्यानुभवविरुद्धत्वेन कस्याप्यसंप्रतिपत्तेश्च। अत एव शाबरभाष्ये 'स्वसंवेद्यस्स भवति' इत्युपक्रम्य 'तेन सर्वे स्वेनस्वेनात्मना आत्मानमुपलभमानास्सन्त्येव' इत्युक्त्वा; 'अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति' इत्यादिना पूर्वोदाहृतश्रुतिरुपात्ता। अत एव वृत्तिकारेण कर्मकर्तृभावोऽहमर्थस्याङ्गीकृतः। ऋजुविमलायां भाष्यं कर्मकर्तृभावपरमित्युक्तमित्यभिप्रायः॥

यच्च तदनन्तरं (बृहतीव्या) ऋजुविमलायां (१७८) शालिकानाथेन 'इदमत्राकूतम्;—अर्थान्तरमनुभवन्नात्मा भासते न पुनः केवल एव। तत्रार्थान्तरविषयं यत् विज्ञानं तत्रात्मा कर्तैव। अर्थान्तरमेव तु कर्म। तदेव तु ज्ञानमर्थान्तरविषयं संवेदनं जनयदात्मानमपि प्रकाशयति। सेयं विषयविषयिणोरेका प्रकाशावस्था। न हि ज्ञानशून्यं कदाचिदपि ज्ञेयमवभाति। न हि तदेवं स्यात् मयेदं विदितमिति! इदं

भावप्रकाशः

विदितमित्येव स्यात् । तदा च स्वपरवेद्ययोरनतिशयस्स्यात् । तथा ज्ञाताऽपि ज्ञेयाप्रतिपत्तौ सुषुप्तिमदमूर्छादिषु न प्रकाशेत । तेन नियत-सहोपलम्भौ विषयविषयिणौ । तत्र सत्यपि ज्ञानजन्यप्रकाशलक्षणक्रिया-फलयोगित्वे आत्मा न कर्मतयाऽनुभूतः संयोगफलयोगी गन्तेव । यथा च तत्र परस्थक्रियाजन्यफलभागितया देश एव कर्म तथेहाप्यर्थान्तरं कर्मेति' इत्युक्तं तु पार्थसारथिमिश्रेण (शा. दी–१२२) दूषितम् । तथा हि व्यवहारयोग्यतारूपक्रियाजन्यफलस्यार्थात्मनोरविशेषे आत्मनोऽ-कर्मतेत्युक्तिरयुक्ता । गन्तुर्गमनकर्मत्वस्य प्रयोगविरहादसंभवेऽपि 'स्वसंवे-द्यस्स भवति' इति भाष्ये 'आत्मानमुपासीत' 'आत्मानं वेद, 'आत्मा ज्ञातव्यः' इति वेदे लोके च प्रयोगात् ज्ञातुः कर्मत्वमभ्युपगम्यते । 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' इति श्रुत्या मानसप्रत्यक्षविषय एवात्मा इति ॥

यद्यपि शालिकानाथादिभिः ज्ञानस्य स्वयंप्रकाशत्वाभ्युपगमेऽप्या-त्मनोऽर्थवित्तिवेद्यतैव स्वीक्रियते । आत्मन एकरूपेण ज्ञानकर्तृकर्मतयोः कुमारिलेनाङ्गीकारेऽपि ज्ञानस्यानुमेयत्वमुच्यते स्वप्रकाशत्वं नाभ्युपेयते । यथोक्तं तेन शून्यवादे ;—

प्रमाणान्तरसिद्धत्वादन्यत्रानेकशक्तिता ।
न त्वत्र कारणं तादृक् शक्तिभेदकृदस्तिते ॥ १७८ ॥

इति । अत्र न्यायरत्नाकरे 'नन्वेवमात्मनो न ग्राह्यग्राहकशक्तिः वस्तु-त्वात् घटादिवत् अत आह—प्रमाणान्तरेति । प्रत्यग्वृत्तिस्वभावेन अहंप्रत्ययेन मानसप्रत्यक्षसिद्धं ग्राह्यग्राहकत्वं नानुमानेन शक्यं निरा-कर्तुमिति । ज्ञानस्य तु नैवं प्रमाणान्तरमस्ति यतश्शक्तिद्वयं स्यादि-त्याह—न त्वत्रेति । तद्धीदं नीलमिति पराग्वृत्तिस्वभावमेव सर्वदोदेतीति' इति पार्थसारथिमिश्रविवरणम् ॥

भावप्रकाशः

एवमात्मनः स्वातिरिक्तज्ञानविषयत्वाभ्युपगमेऽपि स्वभास्यता नाभ्युपेयते स्वप्रकाशाभ्युपगमे दृष्टान्तो नास्तीत्यपि तेनैवोक्तम्; तथाऽपि बाह्यार्थापह्नवभीत्या विज्ञानवादिमतदूषणावसरे यया कया च विधया ज्ञानातिरिक्तबाह्यार्थस्य अहमर्थात्मनश्च कुमारिलेन साधनेऽपि उदाहृतश्रुतिभिरात्मनो धर्मभूतज्ञानस्य च स्वभास्यत्वे न किंचिद्बाधकम्। आत्मनि अहमनहं न वेति संशयादिप्रसङ्गः ज्ञानोत्पत्तिसमनन्तरं ज्ञानं तदर्थविषयकं न वेति संशयप्रसङ्गश्चानुग्राहकस्तर्कः ॥

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।
दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

इति वदतः कुमारिलस्य उदाहृतश्रुत्यादिभिरहमर्थात्मत्वस्थापनप्रकारस्संमत इति प्रतिभाति ॥

अतः प्रभाकरस्येव कुमारिलस्याप्यहमर्थस्येदमनिदंगर्भता नैव संमता ।

नचैकस्य भास्यभासकभावानुपपत्तिः! यस्य सत्ताकाले नियमेन संशयाद्यनुत्पत्तिरनुभवसिद्धा तस्यानुभवानुरोधेन भास्यभासकभावाङ्गीकारेऽप्यदोषात्। तदुक्तं मञ्जूषायां नागेशेन;—अभेदेऽपि कर्मकर्तृभावस्य विषयविषयिभावस्य च स्वप्रकाश इत्यादिव्यवहारानुरोधेन स्वीकारे बाधकाभावादित्यन्यत्र विस्तरः इति । तत्वटीकायां च (४०) दशभिश्श्लोकैः धर्मभूतज्ञानस्य स्वकर्मकत्वेऽनुपपत्तयः परिहृताः। कर्मवत्सूत्रे णेरणौ इति सूत्रे च हन्त्यात्मानमित्यत्र शरीरात्मा अन्तरात्मा चेति बुद्धिपरिकल्पितावस्थाभेदेन कर्मकर्तृभावो महाभाष्ये उपपादितः। एवं च अत्रापि अहन्त्वेन ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं तु ज्ञानत्वेनात्मनः। धर्मभूतज्ञानस्यापि शुद्धज्ञानत्वार्थात्मसंबन्धविशेषितज्ञानत्वादिना भास्यभासकभावः इति वक्तुं शक्यते । न हि बौद्ध आर्हतः अन्यो वा वैदिको दार्शनिकः

भावप्रकाशः

अस्मच्छब्दमुख्यार्थघटकतां चिदचितोरङ्गीकरोति ! (बृ-६-३) वार्तिके चार्वाकमतदूषणावसरे—

नचाहंबुद्धिनिर्ग्राह्यमिदंधीग्राह्यगोचरः ।
विरोधान्न हि शीतत्वमुष्णस्याग्नेर्विशेषणम् ॥ २०४ ॥

इत्यादिना देहाद्यात्मविवेकसाधनमप्यस्मदर्थस्यानिदंरूपतां द्रढयति । पञ्चपादिकायामपि 'अवहितचेतस्तया निपुणतरमभिवीक्ष्य रूपकपरीक्षकवदहङ्कारं निरूपयतां केषां चिदेव संभिन्नेदंरूपोऽहमर्थः प्रतीयते । सर्वेषां व्यवहारतोऽनिदमात्मक एव' इत्युक्त्या अहमर्थस्येदमनिदङ्गर्भत्वे सर्वलोकसाक्षिता नास्तीति ज्ञायते ॥

एवं अङ्कुरादिफलपर्यन्तवृक्षविकारे विमर्शेऽपि मृन्मयव्यवहारो नास्तीति विवरणोक्त्या तत्र बीजोपादानकत्वमेव न तु मृदुपादानकत्वमिति प्रतीयते ॥

अयो दहतीतिवत् अहमुपलभे इति द्वैरूप्यावभासः इति विवरणवाक्यं अयःपिण्डव्यतिरेकेण वह्नेर्दहनक्रियाश्रयत्वदर्शनवदहङ्कारव्यतिरेकेणात्मनि ज्ञानक्रियाऽदर्शनादहम एवात्मत्वमिति तदुत्तरविवरणवाक्येनैव कदर्थीकृतम् । एतेन 'स्फटिकमणेरिवोपधाननिमित्तो लोहितिमा' इति दृष्टान्तोऽपि न प्रकृतानुरूप इति ख्यापितम् ॥

किञ्च अयोवह्न्योः स्फटिकजपाकुसुमयोस्समानसत्ताकयोस्तात्त्विकसंबन्धनिबन्धनप्रतीत्युपपत्तावपि अपरिणामिचितः परिणाम्यन्तःकरणस्य च विभिन्नसत्ताकतया तद्दृष्टान्तेन प्रतिभासस्यान्यथासिद्धिः कथम् ?

अपरिणामिचितः शब्दावाच्यतया असङ्गतया च अहमुपलभे इति प्रतीतिविषयता न संभवति । उपलम्भाहमर्थयोरुभयोः जडाजडमिश्रताकल्पनादपि अन्तःकरणस्याहमर्थत्वस्य तद्वृत्तेरुपलम्भतायाश्च

भावप्रकाशः

कल्पनं वरम् । 'अहं कामी' इति दण्ड्यादिवत्संबन्धप्रत्ययः' इति विवरणोक्तदिशा 'दुःखित्वमपि दुःखाकारपरिणाम्यन्तःकरणसंयोगित्वं परमप्रेमास्पदत्वं अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वम्। तच्चोपाहितस्य इति (७५२) लघुचन्द्रिकोक्त्या शुद्धचितो न संभवति । सिद्धान्ते च दुःखत्वावस्था धर्मभूतज्ञानस्यैवेति दुःखं धर्मभूतज्ञानमेव दीपसदृशात्मनः प्रभारूपं सौरालोकसदृशान्तःकरणपरिणामस्थानापन्नम्; तस्य चात्मनश्च संयोग एव संबन्ध इति दुःखित्वं प्रतिकूलत्वप्रकारकत्वविशिष्टज्ञानसंयोगित्वम् । ज्ञाने प्रतिकूलत्वप्रकारकत्वं कर्मनिबन्धनम् । प्रेमास्पदत्वं च अनुकूलत्वप्रकारकज्ञानरूपत्वम् ।

अतो दुःखित्वमौपाधिकं स्वाभाविकं प्रेमास्पदत्वं चात्मनो न विरुद्धम् । मणिद्युमण्यादेर्यथावस्थितवस्त्ववभासकतावत् अनुकूलत्वप्रकारकज्ञानरूपस्याहमर्थस्यात्मनोऽनुकूलत्वप्रकारकज्ञानसंयोग एव स्वाभाविकः । वस्त्रतमआदिना सम्यक् मात्रया वा छन्नस्य मणिद्युमण्यादेः यथावद्वस्त्वप्रकाशकत्वायथावद्वस्तुप्रकाशकत्ववत्कर्मबद्धस्य दुःखिता युज्यते ॥

आत्मनो नित्यत्वं स्थापयिष्यते । अवच्छेदप्रतिबिम्बवादौ दूषयिष्येते । सुखदुःखाद्याकारेण परिणाम आत्मनो नाभ्युपेयते । अपितु धर्मभूतज्ञानस्यैव। उत्पत्तिविनाशावपि ज्ञानावस्थाविशेषावेव । तत्तदवस्थज्ञानसंयोगित्वमेव ज्ञानस्य स्वयंप्रकाशतया तद्द्रष्टृत्वम् ॥

अनुवृत्ततया प्रतीतस्य चैतन्यस्य परमार्थत्वेन अहमिति व्यावृत्ततया प्रतिभासेन अहमर्थस्य घटादेरिव मिथ्यात्वस्य भवत्संमततया घटादेरिव आद्रिरूपत्वस्येदमानिदंगर्भत्वाभावस्य च संभवेनान्तःकरणमात्रस्याहमर्थत्वं प्रसज्यते ॥

आनन्ददायिनी

रसघनदृष्टान्तस्वारस्यात् ज्ञानव्याप्तिः प्रतीयते । 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिषु तद्गुणसारत्वादिति सूत्रोक्तगतिरिति न कुत्रापि ज्ञानत्वाभिधानमिति चेत्? अत्रोक्तमाचार्यैः ;—'एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्यत्र विज्ञानात्मशब्दस्वारस्यात् विशेषतस्सामान्यतश्च प्रपञ्चितस्य ज्ञातृत्वस्य पुनर्वचने प्रयोजनाभावात् ज्ञानस्वरूपत्वे सिद्धे 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादावपि सूत्रोक्तैव

भावप्रकाशः

लक्षणतः चित्स्वरूपत्वं अनिदन्त्वम्। तदभावात् चिद्भास्यत्वरूपचैतन्यकर्मत्वेनेदन्त्वमेव (पं-पा-वि) उपपाद्यते ॥

व्यवहारतः इदन्त्वं वृत्तिव्यवधानेन सिद्धिः। वृत्तिश्चेन्द्रियसंप्रयोगजं ज्ञानम्। तद्व्यवधानविरहेण सिद्धिरनिदन्त्वमिति व्यवहारतोऽनिदन्त्वं लक्षणत इदन्त्वमिति द्वैरूप्यमिति तु कल्पनामात्रमेव; अहमर्थस्य स्वातिरिक्तचिद्भास्यत्वस्यैवासिद्धेः। ज्ञानक्रियाव्यवधानमन्तरेण सिद्ध्या अनिदन्ताया एव युक्तत्वात् ।

भूमविद्यायाम् 'अथातोऽहङ्कारादेशः । अथात आत्मादेशः अहमेवाधस्तात्, आत्मैवाधस्तात्' इति पृथगुपदेशेन यथाऽहमर्थात्मनोर्भेदो न सिध्यति तथा पूर्वमेव निरूपितम्; निरूपयिष्यते च । अतः अहमर्थस्य स्वातिरिक्तचिद्भास्यत्वाभावेन ज्ञानक्रियाव्यवधानमन्तरा सिद्धेरनिदन्त्वमप्रत्यूहम् । अयमहम् वयमिमे इत्यादिप्रयोगाश्च रूपान्तरस्य ज्ञानक्रियाव्यवधानेन सिद्ध्या सूपपादाः । न च तावता इदमनिदंरूपवस्तुगर्भत्वमहमर्थस्य! तथा सति 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिप्रयोगैरात्मनोऽपीदमनिदंरूपवस्तुगर्भत्वप्रसङ्गात् । स्वयं प्रकाशस्य चितो वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्ववदहमर्थस्यापि पुरुषभेदेन रूपभेदेन

सर्वार्थसिद्धिः

नोऽपि निगमास्तत्परा इति व्यज्यन्ते । यद्यपि 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इत्यत्रापि *ज्योतिश्शब्दो भाक्तः । तथापि स्वप्रकाशे प्रदीपादिवल्लोकदृष्ट्या अन्यानिरपेक्षत्वं स्वरसावगतं न बाध्यम् । स्वधर्मेणान्यप्रकाशकत्व[1]-

आनन्ददायिनी

गतिरिति । 'प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' इति न ज्ञानवचनो नापि स्वप्रकाशवचनः । उपचारे च अन्यनिरपेक्षप्रकाशकत्वं स्वेन प्रकाशत्वं वोपचारनिमित्तमित्यत्र न नियामकम् । स्वधर्मेणान्यप्रकाशकत्वस्योपचारनिमित्तस्य विद्यमानत्वादिति शङ्कते — **स्वधर्मेणेति** । स्वधर्मनिरपेक्ष-

भावप्रकाशः

ज्ञानान्तरवेद्यत्वस्य—दृष्टान्तविरहेऽपि निरवयवस्य प्रतिबिम्बवत् अभेदेऽपि विषयविषयिभावस्य च संभवेन अहमर्थस्य बोधाबोधरूपता (ब्र-वा) चिदचिद्ग्रन्थिरूपता (अ-सि) चानुभवविरुद्धा न कल्पनीया । अत उक्तदिशा अहमर्थस्य स्वप्रकाशत्वं निष्प्रत्यूहम् । अत एव 'चित्सदाऽहम्' इति (कै-उ) श्रुतिर्विशिष्टपरा संगच्छत इति ॥

* ज्योतिश्शब्दो भाक्त इति—यद्यपि ज्योतिरधिकरणे शंकरभाष्ये श्रुतप्रकाशिकायां च अवभासकत्वं ज्योतिश्शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति पक्षोऽप्युक्तः; तथापि भगवता भाष्यकृता दीप्तियुक्तस्य ज्योतिश्शब्दार्थत्वाभिधानात् ॥

ज्योतिश्शब्दस्तु रूढ्या प्रथयति पुरुषं दिव्यतेजोविशिष्टम् । (अ-सा)

इत्याचार्यैस्तत्पक्षस्यैव सर्वसंमतस्याभ्युपगमात् अत्रापि स एव पक्ष आदृतः । अत एव 'ज्योतिर्दर्शनात्' इति सूत्रे अयमेव पक्षोऽङ्गीकृतश्शङ्कराचार्यैः । अहमर्थस्यात्मनः स्वयंप्रकाशत्वे पञ्चपादिका-

[1] प्रकाशत्व—**क. ग.**

सर्वार्थसिद्धिः

मुपचारनिमित्तं स्यादिति चेन्न; बाह्यज्योतिषि स्वधर्मनिरपेक्षप्र[1]काशस्यापि स्वतः प्रतीतेः। स्वधर्मेण भासमानत्वमेव ज्योतिश्शब्दोपचारनिमित्तमिति चेन्न; बाह्ये तदभावात्। स्वधर्मतः [2]प्रकाशकत्वं च 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति पदान्तरसिद्धतया पुनरुक्तं स्यात्। उपचारनिमित्तव्यञ्जनमात्रं पदान्तरकृत्यमिति तु मन्दम्। * स्वयंप्रकाशत्वे

आनन्ददायिनी

प्रकाशत्वस्य लाघवेन शीघ्रोपस्थितिकत्वात् तदेव निमित्तमित्याह— **बाह्यज्योतिषीति**। ननु तर्हि ततोऽपि लाघवात् स्वधर्मेण प्रकाशमानत्वमेव निमित्तं स्यादिति शङ्कते—**स्वधर्मेणेति। बाह्येति**—बाह्यज्योतिषः स्वेनैव प्रकाशमानत्वेन स्वधर्मेण प्रकाशमानत्वाभावाच्च। विद्यमाना प्रभा न स्वधर्मेण प्रकाशते प्रभायाः प्रभान्तराभावात्। नापि दीपः तन्निरपेक्षत्वात्। तथाच स्वेन प्रकाशमानत्वमेव लघ्विति भावः। स्वधर्मेण प्रकाशमानत्वं न निमित्तमित्यत्र युक्त्यन्तरमाह— **स्वधर्मत इति।** ननु 'विज्ञानमय' इत्यस्य प्रचुरविज्ञान इत्यर्थतया तेन ज्ञानवत्त्वलाभेऽपि तज्ज्ञानेन प्रकाश्यत्वं 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इति विवक्षितमितिचेत् मैवम्; तेनैव प्रकाश्यत्वस्यापि तत एव लाभात्। तर्हि 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इत्यस्यार्थो 'विज्ञानमय' इत्यनेन व्याख्यायत इत्यत्राह—उपचारेति। तदा वैयर्थ्यमिति भावः॥

ननु स्वयंप्रकाशस्य सर्वदा सत्त्वे सर्वदा प्रकाशप्रसङ्गात् कदाचित्प्रकाशे स्वयंप्रकाशत्वबाध इति बलादपि पदद्वयस्य एकार्थत्वं वाच्यमिति शङ्कते;—**स्वयं प्रकाशत्वे** इति। ननु स्वयंप्रकाशत्वे स्वाप-

भावप्रकाशः

द्युक्तदोषो दुरुद्धर इत्याह—* स्वयं प्रकाशत्वे इत्यादिना।

तत्वमुक्ताकलापः

स्वापेऽप्यस्य स्वसिद्धावशयिषि सुखमित्यक्षता प्रत्यभिज्ञा ।

सर्वार्थसिद्धिः

सुषुप्त्यादावपि *प्रकाशेतेत्यत्राह—**स्वापेऽपीति** । अयं भावः—

आनन्ददायिनी

कालेऽपि प्रकाशे आपादिते स्वापानन्तरप्रत्यभिज्ञाया इष्टापादनमयुक्तं इत्यत्राह—**अयं भाव इति** । प्रत्यभिज्ञायास्सुषुप्तिकालेऽपि प्रकाशेन

भावप्रकाशः

*प्रकाशेतेति—न चेष्टापत्तिः ; सुषुप्तावहमर्थाभानस्य सर्वदार्शनिकसंप्रतिपन्नत्वात् । तथा हि—योगाचारमतेऽपि सुषुप्तावालयविज्ञानं नास्तीत्येव सिद्धान्तः पञ्चपादिकोक्त इति (५८ सि. बि. टी.) ब्रह्मानन्देन व्यवस्थापितम् । अत एव ;—

निरालम्बन एवायमहङ्कारः प्रवर्तते ।
नित्यालम्बनपक्षे तु सर्वाहङ्कृतयस्ततः ॥
सकृदेव प्रसूयेरन् शक्तहेतुव्यवस्थितेः । २७८
अनित्यालम्बनत्वेऽपि स्पष्टाभास्स्युस्ततः परे ।
आलम्बनार्थसद्भावं व्यर्थं पर्यनुयुञ्जते ॥ २७९

इति अहंप्रत्ययस्य व्यामोहरूपत्वोपपादनपरतत्वसंग्रहविवरणे पञ्जिकायां नचैक एवायमहङ्कार इति शक्यं वक्तुम्! कादाचित्कतयाऽनेकत्वसिद्धेः । तथा हि ;—गाढस्वापमदमूर्छासु नाहङ्कारस्संवेद्यते पुनरन्यदा च संवेद्यते इति सिद्धमस्य सर्वदानुपलम्भात्कादाचित्कत्वं कादाचित्कत्वाच्चानेकत्वमपि सिद्धमिति सर्वा अहङ्कृतयस्तद्भावमात्रभाविन्यो युगपत्प्रसूयेरन्नित्युक्तिस्संगच्छते । सगुणाहमर्थात्मवादिकणादाक्षपादादिदर्शन-

सर्वार्थसिद्धिः

* प्रत्यभिज्ञाबलात् सुषुप्तावप्यहमर्थोऽस्तीति सिद्धम् ।

आनन्ददायिनी

भाव्यम् । अन्यथा सुखमहमस्वाप्समिति स्वापकालीनपरामर्शायोगात् । नचायमानुमानिकः स्मृतिरूपत्वात् । **प्रत्याभिज्ञाबलात्** स्मृतिबलादित्यर्थः ।

भावप्रकाशः

योरात्मनो मानसप्रत्यक्षविषयत्वस्य ज्ञानादिगुणप्रकारेणैव भानस्य चाङ्गीकारेण सुषुप्तौ मनोव्यापारस्य ज्ञानादिगुणानां चाभावेनात्मनः प्रत्यक्षं न संभवति ॥

त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिप्राभाकरमते अहमर्थात्मनोऽर्थवित्तिवेद्यत्वाङ्गीकारेण सुषुप्तावर्थवित्तेरभावेन प्रत्यक्षत्वं न युज्यते ॥

एतद्दोषभियैव शालिकानाथेन अहमर्थस्य स्वयंप्रकाशता निराकृता । कुमारिलमतेऽप्यात्मनो मानसप्रत्यक्षविषयत्वव्यवस्थापनपूर्वकं सुषुप्तौ भानविरहः शास्त्रदीपिकायां पार्थसारथिमिश्रैः प्रतिष्ठापितः ॥

अहमर्थस्य सुषुप्तावभानेनैव सांख्ययोगादिभिरहमर्थातिरिक्तः निर्गुण आत्मा स्थापितः । तदुक्तम् (ल-चं) ('५९६) 'अहमर्थस्य सुषुप्तौ साधकाभावात्' इति । अत्र च 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मि' इति श्रुतिः; मामप्यहं न ज्ञातवानित्यनुभवश्च मानम् । अतोऽत्रेष्टापत्तिर्न संभवतीति भावः ॥

* प्रत्यभिज्ञाबलादिति— अयमाशयः ;—'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः' (३-२) इतिसूत्रे अनुस्मृतिः सुषुप्तप्रबुद्धयोरैक्ये प्रमाणतयोपात्ता योऽहं सुप्तस्सोऽहं जागर्मि इत्यादिप्रत्यभिज्ञा । इयं च

भावप्रकाशः

योऽहं घटं नाद्राक्षं सोऽहं तं पश्यामीतिवत् अहमर्थस्यैकरूप्य एव स्वरसा । न तु सुषुप्तौ कारणात्मनावस्थितस्य प्रबोधे उत्पत्त्यङ्गीकारे । प्रबोधकाले कारणात्मनाऽवस्थिताहमर्थस्य कस्याप्यसंप्रतिपत्त्या तथा निर्वाह्यप्रत्यभिज्ञाया एवाभावात् । यदि किंचित्प्रमाणं अहमर्थस्य विनाशं कारणात्मनावस्थानरूपं प्रत्यपादयिष्यत् तदैवमभ्यूहितुमशक्ष्यत न च तथाविधं प्रमाणमस्ति! 'अथ हैतत्पुरुषस्स्वपिति' इत्यारभ्य 'गृहीतं चक्षुः गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः' इत्यादिश्रुतौ मन आदीनामेवोपरतव्यापारत्वप्रतिपादनेनाहमर्थस्य सुषुप्तौ विनाशप्रतिपादकश्रुतेरभावात् । अहमर्थस्य द्विरूपतायाः पूर्वं निराकरणेन कर्तृत्वस्य ज्ञानावस्थारूपतया अनुभवाम्यहं कर्ता इति प्रत्ययोपपत्त्या अहमर्थस्य चिदचित्संवलनात्मकत्वासिद्धेः ॥

अभ्युपगम्यते च योगाचारैरप्यालयविज्ञानं सुषुप्तौ ; तथाहि ; तत्वसंग्रहे ;—

क्षणभङ्गिषु भावेषु प्रत्यभिज्ञा च दुर्घटा ।

इत्याक्षेपस्य ;—

केषांचिदेव चित्तानां विशिष्टा कार्यकारिता ।
नियता तेन निर्बाधास्सर्वत्र स्मरणादयः ॥

इति समाधानमुक्तम् । अत्र पञ्जिका—'यत्र सन्ताने पटीयसाऽनुभवेन उत्तरोत्तरविशिष्टतरतमक्षणोत्पादात् स्मृत्यादिबीजमाहितम् तत्रैव स्मरणादयस्समुत्पद्यन्ते । नान्यत्र । प्रतिनियतत्वात्कार्यकारणभावार्थस्य इति समासार्थः' इति । कार्यकारणभावप्रक्रिया च ;—

यस्मिन्नियतसद्भावो यस्स हेतुरितीष्यताम् ॥ ५३२ ॥
पूर्वकेभ्यस्स्वहेतुभ्यः विज्ञानं सर्वमेव हि ।

भावप्रकाशः

समांशकालरूपादिबोधरूपं प्रजायते ॥ ५३५ ॥

इति तत्वसंग्रहे प्रदर्शिता । एवं च सुषुप्तावालयविज्ञानाभावे प्रबोधकाले प्रत्यभिज्ञा कथं घटते ? संतानैक्यासंभवात् ॥

किंच प्रबोधक्षणे अहमाकारालयविज्ञानस्य वा कथमुत्पादः ? तत्पूर्वं सुषुप्तौ कारणविरहात् । एवं च सुषुप्तावालयविज्ञानानङ्गीकारे प्रत्यभिज्ञा दुर्घटैव ॥

एतेन 'प्रत्यभिज्ञात्मकाहंप्रत्ययो न भ्रान्तिः बाधकाभावात्' इति कुमारिलोक्तेः (त-सं) 'नित्यालम्बनपक्षे तु' इत्यनेन यद्दूषणमुक्तम् तत्परास्तम् । गाढस्वापमूर्च्छादावहंकारसंवेदनाभावे प्रत्यभिज्ञाया दौर्घट्येन अहंकारस्यानेकत्वसाधककादाचित्कत्वस्यासिद्ध्या अनेकत्वस्याप्यसिद्धेः ॥

योगाचारमतानुयायी वसुबन्धुश्च त्रिंशतिकाविज्ञप्तिकारिकासु ;—

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते ।
विज्ञानपरिणामोऽसौ परिणामस्स च त्रिधा ॥
विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च ।
तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकस्सर्वबीजकम् ॥ २ ॥
तदालम्बं मनो नाम विज्ञानं मननात्मकम् ॥५॥
द्वितीयः परिणामोऽयं तृतीयष्षड्विधस्य या ।
विषयस्योपलब्धिस्सा . . . . ॥ ८ ॥

इत्यत्रोक्तम्—आत्मोपचारस्य विपाकस्यालयविज्ञानस्य सर्वबीजत्वम् ;—

पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः ।
विज्ञानानां सह न वा तरङ्गाणां यथा जले ॥ १५ ॥
मनोविज्ञानसंभूतिस्सर्वदाऽसंज्ञकादृते ।
समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्छनादप्यचित्तकात् ॥ १६ ॥

भावप्रकाशः

इत्यादौ प्रकाशयति । कारिकाव्याख्याने स्थिरमतिश्च ‘मिद्धमस्वतन्त्रवृत्तिचेतसोऽभिसंक्षेपः । वृत्तिरालम्बने प्रवृत्तिः । साऽस्वतन्त्रा चेतसो यतो भवति तन्मिद्धम् । अभिसंक्षेपश्चेतसश्चक्षुरादीन्द्रियद्वारेणाप्रवृत्तिः । (३२) अचित्तकं मिद्धम् । गाढमिद्धोपहतत्वादाश्रयस्य । तावत्कालं मनोविज्ञानाप्रवृत्तेरचित्तकमित्युच्यते । अचित्तका मूर्छा (३४) एवमासंज्ञकादिषु मनोविज्ञाने निरुद्धे तदपगमे पुनः कुत उत्पद्यते । यत्तस्य कालक्रिया न भवति तत्पुनरालयविज्ञानादेवोत्पद्यते । तद्धि सर्वविज्ञानबीजकम् (३५) ।’ इत्यनेन चक्षुरादिविज्ञानव्यतिरिक्तमालयविज्ञानमस्ति तदेव सर्वबीजकम् न चक्षुरादिविज्ञानमिति । कुत एतत्? आगमाद्युक्तितश्च । उक्तं हि भगवता अभिधर्मसूत्रे ;—

अनादिकालिको धातुस्सर्वधर्मसमाश्रयः ।
तस्मिन् सति गतिस्सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपि वा ॥

न चालयविज्ञानमन्तरेण संसारप्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा युज्यते! इत्युपपाद्य एवमालयविज्ञाने सति संसारप्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च नान्यथेत्यवश्यं चक्षुरादिविज्ञानव्यतिरिक्तमालयविज्ञानम् । तदेव सर्वधर्मबीजानुगतम् । न चक्षुरादिविज्ञानमित्यभ्युपगन्तव्यम् । विस्तरविचारस्तु पञ्चस्कन्धकोपनिबन्धाद्वेदितव्यः’ इत्यनेन आलयविज्ञानस्य सर्वधर्मबीजत्वं विशदीचकार ॥

अत्र सुषुप्तिमूर्छादावालयविज्ञानमभ्युपगतमिति व्यक्तम् । एवं च परमार्थविनिर्णये वसुबन्ध्वनुयायितां (त. सं. २०८४) प्रतिजानतश्शान्तरक्षितस्य मतेऽपि सुषुप्त्यादावालयविज्ञानमभ्युपेत्यमिति तच्छिष्येण कमलशीलेन गाढस्वापमूर्छादावहङ्कारसंवेदनाभावोक्तिरयुक्ता । ज्ञानस्य सविषयकत्वेन सुषुप्तावहंकारानालीढं ज्ञानमित्यत्र न मानमिति (१५६) उक्तम् ॥

भावप्रकाशः

निराकारस्य प्रवृत्तिविज्ञानस्य सुषुप्तावनभ्युपगमादप्यालयविज्ञानं साकारमेव । अत एवात्मतत्वविवेकव्याख्याने रघुनाथशिरोमणिना 'स्यादेतत् आलयभेदाग्रहात्प्रतिसंधानम्' इत्यादिप्रघट्टकविवरणावसरे 'सुषुप्तिषु प्रवृत्तिविज्ञानानामुच्छेदात्' इति । तदयं संक्षेपः ' इत्यादिना क्षणिकालयविज्ञानाहमर्थतावादिमतदूषणदशायां 'सुषुप्तौ प्रवृत्तिविज्ञान-संतानोपरमेऽपि आलयविज्ञानसंतानोऽनुवर्तते । सर्व एवालयोऽनुभूयते स्वमात्रसाक्षिणा स्वेन केनचित्परेणापि । स चोपादानं प्रवृत्तिविज्ञानस्यापि । एकस्यापि ज्ञानद्वयोपादानत्वे विरोधविरहात् । अनुपादानस्यापि प्रवृत्ति-विज्ञानस्य ज्ञानान्तरनिमित्तत्वात् नासत्त्वं न वा संतानानन्त्यम् । आश्रयाश्च प्रवृत्तिविज्ञानस्य सुखादेश्च । अत एवालय इत्युच्यते । गृह्यते चाहं जाने अहं सुखीत्यादिना स्वोपादेयेन प्रवृत्तिविज्ञानान्तरेण ' इति पूर्वपक्षिमत-निष्कर्षणं संगच्छते ॥

पञ्चपादिकायामपि 'विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके' इति मात्र-ग्रहणेन नाहमित्यकारादिवर्णत्रयातिरिक्तं किंचिदवभासते यदहंप्रत्ययस्य विषयः कल्प्येत । तेन विज्ञानमेव स्वरसभङ्गुरमविरतोदयमखिललोक-यात्रानियमनभवभग्नपक्षान्तरमहमित्युत्पद्यते इत्यन्ये मन्यन्ते' इत्यत्र अहमिति विज्ञानस्याविरतोदयत्वोक्त्या सुषुप्त्याद्यावहमितिज्ञानं विज्ञान-वादिसंमतमिति स्फुटम् । 'अत्र वर्णत्रयशब्देन वर्णत्रयाभिधेयविज्ञान-मात्रमुच्यते । तेन च विज्ञानाश्रयस्यात्मनोऽभाव उच्यते । कथं तर्हि प्रत्यभिज्ञानेनैकत्वावगम इति ? तदाह—अविरतोदयमिति ज्वालायामिव संततविज्ञानोदये सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञेत्यर्थः' इति विवरणेऽपि सुषुप्त्यादौ विज्ञानसंतानाभ्युपगम एव प्रबोधे प्रत्यभिज्ञोपपद्यते न त्वन्यथेति विवक्षितमिति प्रतीयते ॥

भावप्रकाशः

'अनन्तरं शून्यमित्यपरे' इति सुषुप्ते विज्ञानलेशस्याप्यभावादकस्मादेवाहमितिसमुदयदर्शनादकारणस्य कादाचित्कत्वस्य परमार्थवस्तुत्वाभावादसदवभास एवाहङ्कार इत्यपरे संगिरन्ते' इति पञ्चपादिकायाम् अकस्मादेवाहमितिसमुदयदर्शनात् इत्यनेन कार्यकारणभावापलापिमाध्यमिकमत एव सुषुप्तौ विज्ञानलेशस्य आलयविज्ञानस्याप्यनङ्गीकारस्संभवदुक्तिकः न तु कार्यकारणभावमङ्गीकुर्वतां मते इति सूचितम् । अतो योगाचारमते सुषुप्तावालयविज्ञानं नास्तीति पञ्चपादिकातो न सिद्ध्यति ॥

अत्रापि पूर्वम् (१५६) 'न च सुषुप्त्यादौ निर्विषयधीसंततिसद्भावे किंचिन्मानम्! यदृच्छयैव वा जागराद्यज्ञानोपपत्तेः' इत्यत्राप्ययमर्थोऽनुसंधेयः । एतेन 'बौद्धाधिकारादौ सुषुप्तावप्यालयविज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानरहितं पक्षान्तरमालम्ब्य स्वीकृतं । पञ्चपादिकायां तु आलयविज्ञानं सुषुप्तौ नास्तीत्येवोक्तम्' इति (सि. बि. टी. ५८) योगाचारमतनिरूपणावसरे ब्रह्मानन्दोक्तेराशयो न ज्ञायते इति बोद्धव्यम् ॥

अनन्तरं (पं. पा. विवरणे) अहमुल्लेखप्रत्यभिज्ञानाभ्यां शून्यक्षणिकविज्ञानव्यतिरिक्तात्मा साधितः; एवमात्मतत्वविवेकादावपीत्याशयेन पूर्वमत्र सिद्धान्ते (१५९) 'आलयविज्ञानक्लृप्तिश्च निष्प्रमाणिका' इत्युक्तिः । अतस्सुषुप्तावहमितिज्ञानं योगाचारसंमतम् ॥

अतो माध्यमिकव्यतिरिक्तबौद्धाद्यवैदिकानां वैदिकानां च दार्शनिकानां मते निर्गुणात्मवादिव्यतिरिक्तो न कोऽपि सुषुप्तावहमर्थस्य विनाशं कारणात्मनावस्थानमङ्गीकरोतीति ॥

अहमर्थस्य सुषुप्तौ भानं केचिदभ्युपयन्ति केचिन्नेत्येतावान् विशेषः ॥

सर्वार्थसिद्धिः

* श्रुतिस्वारस्याच्च प्रकाशमानत्वमपि ग्राह्यम् ।

भावप्रकाशः

तत्र स्वयंप्रकाशज्ञानवादिनो बौद्धास्सुषुप्तौ नाहमर्थभानमभ्युपगच्छन्ति । एवं सांख्यादिमतदूषणावसरे विद्यानन्दिना श्लोकवार्तिके;—

सुषुप्तस्यापि विज्ञानस्वभावत्वं विभाव्यते ।

प्रबुद्धस्य सुखप्राप्तिस्मृत्यादेः स्वप्नदर्शिवत् ॥ २३५ ॥

इति उक्त्या सुषुप्तावहमर्थभानं जैनैरप्यङ्गीकरणीयम् । त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनां स्वयंप्रकाशधर्मभूतज्ञानवादिनामपि प्राभाकराणां मते सुषुप्तावर्थवित्तिविरहेणात्मनो भानानङ्गीकारेऽपि भट्टमते सुषुप्तावहमर्थभानमङ्गीक्रियते । यथोक्तम् (श्लो. वा. व्या.) सुचरितमिश्रेण काशिकायाम् मुक्तौ सुखाभिव्यक्तिवादिना ;—'सुष्वापेऽपि संविदस्त्येवेति केचित् । अत एव सुषुप्तः प्रतिबुद्धः सुखमहमस्वाप्समित्यात्मानं प्रतिसंधत्ते (१३०) इति ॥

यद्यपि प्रभाकरसंमतज्ञानादिगुणोच्छेदलक्षणमोक्षपक्षपातिना पार्थसारथिमिश्रेण (शा. दी. १२४) 'स्वप्रकाशानभ्युपगमेन सुषुप्तावहमर्थात्मभानं नाङ्गीकृतम् । एवं ज्ञानादिगुणप्रकारेणैवात्मनो भाननियमवादिभिः नैयायिकैर्वैशेषिकैश्च ; तथाऽपि उदाहृतस्वप्रकाशश्रुतिविरोधान्न तद्युक्तम् इति भावेनाह—* श्रुतिस्वारस्याच्चेति । चशब्दो बाधकाभावं समुच्चिनोति । धर्मपुरस्कारेणैव धर्मी भासते गुणपुरस्कारेणैव गुणी भासत इति वा नियमस्संप्रतिपन्नः ; न तु ज्ञानादिप्रकारेणैवात्मा भासत इति वा स्ववृत्तिधर्म (गुण) सामान्यप्रकारेणैव धर्मी (गुणी) भासत इति वा नियमः । तत्तद्धर्मभासकसामग्रीविरहेण तत्तदभानोपपत्तौ तदितरभासकसत्त्वेऽपि तदितरन्न भासत इत्यस्य शपथमात्रत्वात् ।

भावप्रकाशः

सुषुप्तावहमर्थस्य प्रत्यक्त्वैकत्वानुकूलत्वप्रकारेण भानसंभवात् 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' (छां ८. ११) इति श्रुतिरपि न बाधिका। अत्र एवमित्यस्य जाग्रत्स्वप्नज्ञातप्रकारबोधकतया तेन प्रकारेण ज्ञानादिना आत्मनः सुषुप्तौ ज्ञा(भा)नं नास्तीत्येव सिध्यति। न त्वहमिति भानं नास्तीति। अयमर्थः 'अयमहमस्मि' इत्यत्र अयं अस्मि इति पदद्वयप्रयोगेण दृढीक्रियते। अतो विशेषविज्ञानविरहपरैवेयं श्रुतिः। अत एव दहराधिकरणे शङ्कराचार्यैः इमां श्रुतिमुदाहृत्य 'सुषुप्तावस्थायां विशेषज्ञानाभावमेव दर्शयति न विज्ञातारं प्रतिषेधति। यत्तु तत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति तदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्। 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इति श्रुत्यन्तरात्' इत्युक्तम्॥

अत्र 'विनाशमेवापीतो भवति' इति श्रुतिर्नाहमर्थविनाशपरेति स्पष्टम्। सुषुप्तौ करणव्यापारविरहेण धर्मभूतज्ञानस्य विषयसंबन्धो नास्ति; न तु निरन्वयविनाशः इत्यादिकं पूर्वमेव निरूपितम्॥

एवं च धर्मभूतज्ञानस्य परिणामित्वेऽपि सुषुप्तावहमर्थस्य सूक्ष्मरूपेण परिणामो नास्तीति सिद्धम्॥

न च भूमविद्यायां 'अथातोऽहङ्कारादेशः' अथात आत्मादेशः' इति पृथक् सार्वात्म्योपदेशः आत्मानमहमर्थाद्भिन्नमावेदयति। जीवब्रह्मणोर्भेदेन प्रतिपन्नयोः सार्वात्म्योपदेशस्तु एकत्वसिद्ध्यर्थः। अहमर्थस्य तु पूर्वमेवात्मैकत्वप्रतिपत्तेः भेदासिद्ध्यर्थमेव सार्वात्म्योपदेशः। स्पष्टं चेदं विवरणे (३२७) इति वाच्यम्; देहादावपि स्थूलोऽहमित्यादिप्रतीतिविषयतासत्त्वेन पूर्वमहमर्थस्य देहाद्यतिरिक्तात्माभेदनिश्चयो

भावप्रकाशः

न संभवतीति शङ्कराचार्यैरुपनिषद्भाष्ये प्रतिपादनेन एकत्वनिश्चयार्थ एव पृथक् सार्वात्म्योपदेश इत्यस्यैव युक्तत्वात् ॥

'स एवाधस्तात्' 'आत्मैवाधस्तात्' इति पूर्वापरवाक्यप्रतिपन्नयोर्भूमात्मनोस्सार्वात्म्योपदेशस्यैकत्वसिद्ध्यर्थत्वमङ्गीकृत्य 'अहमेवाधस्तात्' इति मध्यवाक्यस्य भेदसिद्धितात्पर्यकल्पनस्यानुचितत्वाच्च ॥

किञ्च अत्र अहम् आत्मा इति शब्दौ विशिष्टपरौ उतोपलक्षितपरौ? आद्ये आत्मत्वविशिष्टस्योपहितस्य च मिथ्यात्वमहमर्थस्यापरमार्थात्मत्वं च भवत्संमतमेव । द्वितीये आत्मत्वेनेवाहन्त्वेन उपलक्षितस्यापि परमार्थात्मतापि भवत्संमतैवेति न भूमविद्याश्रुत्या अहमर्थस्यात्मान्यता सिद्ध्यति श्रुत्यर्थस्तु श्रीभाष्यादाववसेयः । अतस्सुषुप्तावहमर्थप्रकाशे न किञ्चिद्बाधकमिति ॥

ननु अहमितिधीविषयता विशिष्ट एव न तु शुद्धे । तथाच अहमितिधीविषयो नात्मा सुषुप्तावात्मप्रकाशेऽप्यप्रकाशात् (५९५ ल. चं) इत्यनुमानानुगृहीतया स्वयंप्रकाशत्वश्रुत्या सुषुप्तावहमर्थातिरिक्तस्यात्मनो निर्विकल्पकं ज्ञानं सिध्यति न सविकल्पकमहमिति ज्ञानम् । तदुक्तम्;—(सि. बि. १९५) अहङ्काराभावाच्च नैका विशिष्टवृत्तिः सुषुप्त्यभावप्रसङ्गाच्च' इति ॥

न च सुखमहमस्वाप्समिति सविकल्पकप्रत्यभिज्ञानुरोधात् सौषुप्तिकानुभवस्य सविकल्पकत्वसिद्धिरितिवाच्यम्; सविकल्पकस्मृत्यादौ सविकल्पकानुभवस्यैव हेतुताया अन्यत्र क्लृप्ताया भङ्गभिया सुषुप्तौ निर्विकल्पकानुभवापलापे अहमर्थभूतज्ञानस्य नित्यतया नाशाभावे संस्कारासंभवेन तत्तोल्लेखविरहेण च सुखमहमस्वाप्समिति प्रत्ययस्य स्मृतित्वप्रत्यभिज्ञात्वयोरपि विलयप्रसङ्गात् । न ह्यन्यत्र क्वचिदपि

भावप्रकाशः

ज्ञानावस्थानाशस्य तत्तोल्लखस्य च विरहेऽपि स्मृतित्वप्रत्यभिज्ञात्वे अभ्युपगम्येते !

अत एव जडात्मवादिभिः सुषुप्तौ जन्यज्ञानं नाङ्गीक्रियते । उक्तं च सुरेश्वराचार्यैः ; —(बृ. वा. ३००)—

न सुषुप्तिगविज्ञानं नाज्ञासिषमिति स्मृतिः ।

इति ॥

अतः प्रलयोपमैव सुषुप्तिरिति सुखमहमस्वाप्समितिज्ञानं सर्वांशेऽनुभवात्मकमेव । पद्मपादाचार्यैरपि (पं. पा ३२९) अहङ्कारं प्रस्तुत्य 'स च सुप्ते समुत्खातनिखिलपरिणामायामविद्यायां कुतस्त्यः'? इति सुषुप्तावविद्यापरिणामसामान्यविरहप्रतिपादनेन वार्तिकसरणिरेवानुसृता ॥

किञ्च न तत्स्वापे सुखानुभवसंस्कारजं स्मरणम् ; किं तर्हि ? सुखावमर्शो दुःखाभावनिमित्तः । यत्पुनस्सुप्तोत्थितस्याङ्गलाघवेन्द्रियप्रसादादिना सुखानुभवोन्नयनमिति ; तदसत् ; अनुभूतं चेत्सुखं स्मर्येत न तत्र लिङ्गेन प्रयोजनम् । जागरणे कार्यकरणानि श्राम्यन्ति । तदपनुत्तये व्यापारोपरमस्स्वापः । तत्र यदि सम्यग्व्यापारोपरमस्स्वापः तदाऽङ्गानि लघूनि इतरथा गुरूणि' इति तैरेवोक्तम् ॥

अत्रायमाशयः ; सुषुप्तौ ब्रह्मण्यहङ्कारस्य (जीवस्य) लयः प्रतिपाद्यते न स्वकारणे येनाविद्यावृत्त्युत्प्रेक्षणं स्यात् । अविद्यापरिणामाङ्गीकारे ब्रह्मणि लयासम्भवादविद्यालयोऽपि विवक्षितः । स्वप्नादिवद्दृष्टिसृष्टिमाश्रित्य सुषुप्तपुरुषदृष्ट्यभिप्रायेण सर्वस्य तत्र लयसम्भवात् । सुषुप्तप्राणशरीरादिदर्शनस्य पुरुषान्तरस्य विभ्रमत्वात् (पं. पा. वि.)

किञ्च—प्रबोधकाले सुखमवसम् सुखमगच्छम् इत्यादौ स्वरूपसुखव्यतिरिक्तवृत्तिरूपसुखस्यैव भानमनुभवसिद्धम् ॥

भावप्रकाशः

किञ्च 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' (१-१०) इति योगभाष्ये, सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदी करोति दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनः भ्रमत्यनवस्थितं इत्यादिप्रबुद्धप्रत्यवमर्शानुरोधेन सुषुप्तौ चित्तवृत्तिस्साधिता । तत्र दुःखस्यात्मस्वरूपत्वासम्भवेन सुखमप्यात्मस्वरूपभिन्नमेव वाच्यम्; तस्य च 'कामस्सङ्कल्प' इत्यादिश्रुत्या मनःपरिणामताबोधनेन सुषुप्तौ मनोव्यापारविरहस्य 'गृहीतं मनः' इत्यादिश्रुतिसिद्धतया;—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतस्सुखरूपमेति । (कै. उ. १३) इत्यत्र सकले विलीने इत्यनेन अविद्यावृत्तेरपि विलयस्य प्रतिपादनेन तमोऽभिभूतः इत्यत्र तमोवृत्तिविवक्षानिर्णायकप्रमाणविरहेण च 'तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्' इति प्रलयवाक्य इव वृत्तिसामान्यविरहप्रयोजकस्यैव विवक्षितत्वात् 'सुखरूपमेति' इत्यत्र वृत्तिविरहनिबन्धनदुःखाभावप्राप्तिरेव विवक्षितेति सुषुप्तिकालिकसुखावमर्शो दुःखाभावनिमित्त एव ॥

अत एव पार्थसारथिमिश्रैः (शा. दी.) सुखावमर्शस्य दुःखाभावनिमित्ततोक्तिः सङ्गच्छते । दुःखमहमस्वाप्समिति तु करणव्यापारोपरमरूपसुषुप्तेरसम्यक्त्वेन अङ्गगौरवेण प्रबोधकालिकदुःखजनकतद्विषयकत्वेन निर्व्यूढा। अतस्सुखांशे अस्मरणलिङ्गजन्यानुमित्यात्मकमेव सुखमहमस्वाप्समिति ज्ञानमिति स्वरूपांशेऽप्यनुभवात्मकमेव न स्मृतिरूपमिति वार्तिकपञ्चपादिकयोरैकरस्यमिति ॥

प्रकाशात्मयतयस्तु;—'पञ्चपादिकोक्तं तु परमतमाश्रित्य । वस्तुतस्तु स्वरूपसुखसाक्ष्यवस्था ज्ञानाकारा निर्विकल्पकवृत्तिस्सुषुप्तिः । ज्ञानाभावस्तु सुषुप्तावज्ञानाकारवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या प्रबोधसमयेऽर्था-

भावप्रकाशः

पत्त्यावसेयः। एवं दुःखाभावोऽपि सुखाकारवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या ज्ञेयः। ग्रामं गच्छतः पथि तृणादिस्पर्शेऽप्यस्मरणदर्शनेन अस्मरणादिलिङ्गेन ज्ञानाभावानुमित्यसंभवादिति (पं. पा.) विवरणे निरूपयन्ति ॥

सर्वेऽप्येते सुषुप्तावहमर्थनाशेन सविकल्पकं तद्नुभवं नेच्छन्ति ॥

विवरणप्रक्रियापरिष्करणमित्थम् (लं चं ५५९) 'आकाशादिपदात् शुद्धाकाशशक्तत्वेन ज्ञातात् शुद्धाकाशस्मृतिर्मणिकारादिभिरुक्तेति निर्विकल्पकानुभवस्य साविकल्पकानुभवस्येव स्मृतिजनकत्वे बाधकाभावः' इत्यत्र अनुभवस्य निर्विकल्पकत्वेऽपि स्मृतिजनकत्वं (सि. बि. १९६)। अन्तःकरणोपरागकालीनानुभवजन्यत्वाभावाच्च न तत्तोल्लेखाभावेऽपि स्मरणत्वानुपपत्तिरित्यादि। (अत्र. टीका;) अन्तःकरणेति–अहङ्कारेत्यर्थः। अहङ्काराभावेन कालदेशविशिष्टरूपेणाज्ञानादेरननुभवात् तेन रूपेण न स्मरणम्, इत्यादि ॥

सुषुप्तिकाले योऽयमविद्यावच्छिन्नोऽनुभविता स एव स्मर्ता; स्मृतिकाले अहङ्कारस्य सत्त्वेऽपि परामृश्यमानस्यात्मनः सविकल्पकत्वेन स्पष्टव्यवहारोपलक्षकत्वमात्रमेव (वि. प्र. सं)। अहङ्कारस्तु उत्थानसमय एवानुभूयते। सुषुप्तौ लीनत्वेन तस्याननुभूतत्वेन स्मरणानुपपत्तेः। मुखप्रतिबिम्बाश्रये दर्पणे जपाकुसुमलौहित्याध्यासेन रक्तं मुखमिति प्रतीतिवदहङ्काराश्रयतया साक्षिचैतन्यस्य स्मरणाश्रयत्वादहमस्वाप्समिति सामानाधिकरण्यप्रतीतिः। न पुनरहं सुखीतिवदाश्रयतया स्मृतिसंशयविपर्ययाणां साक्षिचैतन्याश्रयत्वनियमादहङ्कारस्य प्रमाणचैतन्याश्रयत्वनियमात् (सि. बिं. १९७);

सर्वार्थसिद्धिः

तथा च सुखमहमस्वाप्समिति प्रबुद्धपरामर्शस्वारस्यं च न बाध्यमिति ।

भावप्रकाशः

इति शङ्कामपाकरोति ;—*स्वारस्यं च न बाध्यमिति । अहमित्यंशेऽपीति शेषः । अयमाशयः ;—(३-२-९ ब्र. सू.) शङ्कराचार्यैः सोऽहमित्यनुस्मृत्या सुप्तप्रबुद्धयोरैक्यं साधितम् । एवं [२-२-२५] य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्यस्मरामीत्यनुस्मृत्या वैनाशिकसमयो दूषितः (१-३१९) । किंच अहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं नेदानीं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे। द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति य एवाहं स्वप्नमद्राक्षं स एवाहं जागरितं पश्यामीति ' इत्यत्र प्रत्यभिज्ञाविषयतया आत्मनः स्थिरत्वं साधितम् ॥

(पं. पा) विवरणे च ;—-अन्तःकरणविशिष्टतया आत्मनो ज्ञातृत्वम् पूर्वापरकालविशिष्टतया च ज्ञेयत्वम् इत्युपाधिभेदादविरोध इति सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञायाः स्वानुभवसिद्धत्वात् ' इत्युपक्रम्य प्रत्यभिज्ञायां विषयित्वेन नात्मनः स्थायित्वमिष्यते किंतु आश्रयतया इति वदतः प्रभाकरस्य मतं पूर्वापरकालविशिष्टस्यात्मनः क्षणमात्रवृत्तिप्रत्यभिज्ञानाश्रयत्वायोगात् इत्यादिना दूषयित्वा सिद्धं तर्हि प्रत्यभिज्ञानमात्मविषयम् ॥

किंच अनुभूतं मयेत्याश्रयविशिष्टपूर्वसंविदनुस्मृतेः स्वानुभवसिद्धत्वात् स्मर्यमाणतयैव पूर्वानुभूतात्मसिद्धिः इत्यादिनोपसंहृतम् ॥

जागरकाले अहमाकारान्तःकरणवृत्तिनाशात् संस्कारेण अहमर्थस्य स्मृतिरपि (पं. पावि ३२१) साधिता ॥

इत्थं च प्रबोधकालिकानुभवजन्याहमर्थानुस्मृतिसजातीया दहराधिकरणभामत्युपात्ता (अत्र—१४०) योऽहं सुप्तस्सोहं जागर्मि इत्यनुस्मृतिरप्यहमर्थांशे स्मृतिरेव ॥

भावप्रकाशः

एवं अहं मन्दमागामिति जाग्रत्कालिकानुभवमूलकस्मृतिसदृशी सुखमहमस्वाप्समिति स्मृतिरपि अहंशब्दाभिलप्यत्वात् ॥

न च जागरे अहमर्थस्य कालसंबन्धितयाऽनुभवेन स्मृतिस्संभवति सुषुप्तौ तु कालाननुभवेन अहमर्थविरहेण तदनुभवाभावान्न स्मृत्यादिरिति वाच्यम्; ऐन्द्रियकज्ञाने कालभाननियमेऽपि अहमर्थस्य स्वातिरिक्ताभासकत्वेन सुषुप्तौ करणव्यापारविरहेण धर्मभूतज्ञानप्रसराभावेन कालानुभवासंभवात् । सुषुप्तावहमर्थलयग्राहकप्रमाणविरहेण भवन्मते अज्ञानसुखांशे कालाभानेऽपि प्रबोधे तदंशे स्मृतित्ववदहमर्थांशेऽपि स्मृतित्वसंभवात् । अन्यथा अज्ञानादौ कालानुभवविरहेण प्रमाणजन्यस्य सविकल्पकस्यैव अनुभवस्य यथार्थस्मृतिं प्रति हेतुत्वेन क्लृप्तत्वेन च निर्विकल्पकवृत्तेः स्मृतिं प्रति हेतुत्वायोगेन अज्ञानाद्यंशेऽपि स्मृतित्वाभावः प्रसज्यते अन्तःकरणोपरागकालीनानुभवजन्यस्स्मृतावेव तथा नियमइति कल्पने मानाभावात् ॥

प्रकाशात्मयतिमधुसूदनसंमतमज्ञानांशे सौषुप्तिकानुभवस्य निर्विकल्पकत्वं दूषितं ब्रह्मानन्दयतिभिः । 'यथा भावस्य प्रतियोग्यनुयोगिविशिष्टत्वाभावत्वरूपाभ्यामेव ज्ञातस्य सविषयकत्वज्ञानत्वाभ्यामेव प्रत्यक्षे भानम् तथैवाज्ञानस्य सविषयकत्वाज्ञानत्वाभ्यामेव प्रत्यक्षे भानम् । किंच तदुभयविशिष्टत्वेनाज्ञानस्य स्मृतिस्तादृशीमेव स्वकारणीभूतामविद्यामतिं कल्पयति अज्ञानत्वादिसंसर्गान्यसंसर्गवृत्तावेवाहङ्कारस्य हेतुत्वम्' (१९६. सि. बिं. टी) इत्यत्र ॥ 'एकैव निर्विकल्पकवृत्तिर्विशिष्टकेवलाज्ञानस्वरूपद्वयविषयका विशिष्टांशे स्मृतिः केवलांशे त्वनुभवः' इति वार्तिककारमतपरिष्करणावसरे (५५८ ल. चं) च ॥

भावप्रकाशः

एतन्मते सुखमहमस्वाप्सामिति स्मृतौ अज्ञानांशे भूतकालस्य पूर्वमननुभवे भानासंभवात् तद्भानार्थं सुषुप्तावहङ्कारोऽभ्युपेय इत्यहमर्थांशेऽपि स्मृतित्वं युक्तम् 'सुखमहमस्वाप्स'मित्यत्र भूतकालांशेऽनुभवत्वाभ्युपगमे स्वापेऽपि तदापत्तिः ॥

अभिलापकशब्दैक्ये विशिष्टकेवलांशभेदेन निर्विकल्पकत्वसविकल्पकत्वस्मृतित्वानुभवत्वकल्पनमपि न कार्यम् । ज्ञानाभावातिरिक्तमज्ञानं विवरणकारेभ्यः प्राचीनानामपि न संमतामिति निरूपयिष्यते । कालरूपविशेषणस्य पूर्वमनुभवायोगेन तदंशे स्मृत्यसंभवादनुमेयतैव वाच्येति तद्विशिष्टसुषुप्तेरप्यनुमेयतैव युक्तेत्यभिप्रेत्य ;—

अस्वाप्सं सुखमित्यादौ कालाद्यंशेऽनुमास्थितिः ।

इति (न्या. सि) निष्कर्षःकृतः ॥

स्मर्तुं योग्यस्यास्मरणमननुभवमेव साधयति इत्यादिकमन्यत्र स्पष्टम् । करणव्यापारोपरमस्सुषुप्तिरिति (पं-पा) पक्षेऽपि साऽनुमेयैव ॥

अतः सुषुप्तावविद्यावृत्त्यङ्गीकारे मानाभावः । सुषुप्तौ मनसोऽविद्यादौ लयादिप्रतिपादकश्रुत्यादिविरहात् जन्यज्ञानं नास्तीत्यत्र नैयायिकादीनां संप्रतिपत्तेश्च ॥ (सि. बिं. २०३) अवस्थात्रयस्यापि त्रैविध्याङ्गीकारेण सुषुप्तौ—सुखं—दुःखं—मूढं—अस्वाप्सामितिसात्विकराजसतामसवृत्तित्रयाङ्गीकारपक्षेऽपि ॥

योगसूत्रानुरोधेन;—

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।

इत्यादि तद्वार्तिकस्थस्मृतिभ्यश्च चित्तवृत्तिरेव सुषुप्तावङ्गीकरणीया ; नाविद्यावृत्तिः ।

एवं च चित्तवृत्त्यैव स्मृत्युपपादनप्रकारो योगभाष्यादिनिर्णीत एव युक्तोऽभ्युपगन्तुम् ॥

भावप्रकाशः

अस्तु वा अविद्यावृत्तिः तस्याः स्मृतिं प्रति हेतुता च । तत्र वृत्तेः स्वावच्छिन्नचिद्भास्यत्वमभ्युपेत्य तदधीनसंस्कारेण स्मरणमुपपादनीयम् वृत्तिविषयकवृत्त्यङ्गीकारे अनवस्थापत्तेः । अहमर्थविषयकवृत्त्यभावेऽपि घटाद्याकारवृत्त्यात्मना परिणतस्वावच्छिन्नसाक्षिणा अहमर्थस्य भानात् तन्नाशे संस्कारेण स्मृतिः अहमाकारवृत्त्यभ्युपगमेन वेति पक्षद्वयम् (सि-ले. सं) ॥

एवं च सुषुप्तावहमाकारान्तःकरणवृत्त्यभावेऽपि सुखाज्ञानाकाराविद्यावृत्त्यवच्छिन्नचिता-अहमाकारवृत्त्यवच्छिन्नचिता वा अहमर्थानुभवसंभवेन सुखमहमस्वाप्समित्यस्याहमंशेऽपि स्मृतित्वकल्पनं युक्तम् । 'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तद्वेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथैतत्पुरुषस्स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुः गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः' (बृ-४-१-१७) इति श्रुतौ सुषुप्तिकाले मन आदीन्द्रियव्यापारविरहः इन्द्रियव्यापारमूलकधर्मभूतज्ञानावस्था (अन्तःकरणवृत्ति) विरहः परमात्मनि लयश्च इत्येतावदेव प्रतीयते ; न तु मनसः स्वप्रकृतौ लयः न वा अहमर्थनाशः । तत्तदिन्द्रियजन्यज्ञानग्रहणमेव तत्तदिन्द्रियग्रहणमिति स्फुटप्रतीतेः अनन्यथासिद्धप्रमाणमन्तरा स्वेच्छया अर्थकल्पनस्यासंभवात् ॥

किंच अत्र शाङ्कर (उ) भाष्यवार्तिकयोरिन्द्रियवृत्तिविरहमात्रमेवोक्तम् नाविद्यावृत्तिः । न च वार्तिककारमते अविद्यावृत्तिरभ्युपेया ;—

न चेदनुभवव्याप्तिस्सुषुप्तस्याभ्युपेयते !

नावेदिषं सुषुप्तेऽहमितिधीः किंबलाद्भवेत्? (५-४-१०३)

इति वार्तिकात् (अ-सि ५५९,) इति स्थापितमितिवाच्यम् ; एतद्वार्तिकं

भावप्रकाशः

हि 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इतिश्रुतौ लौकिकदृष्टिव्यतिरिक्तपारमार्थिकदृष्टि-रात्मस्वरूपा विवक्षितेति भाष्यसिद्धान्तस्थापनार्थं प्रवृत्तम् ॥

अत्र पूर्वं अज्ञातत्वं प्रमाणवृत्त्या न ज्ञातुं शक्यम्; अपि तु नित्यानुभवेनैवेति साधितम् । अतोऽत्राप्यनुभवशब्दो नित्यानुभवपरः नाविद्यावृत्तिपरः । नावेदिषं सुषुप्तेऽहमितिशब्दाभिलप्या धीरित्यर्थः । अहं सुषुप्ते नावेदिषमितिधीः इति पर्यवसितम् । सुषुप्ते इत्येतद्धीरि-त्यत्रान्वेतीत्युक्तिस्तु न युक्ता; इतिशब्देन व्यवधानात् । एतन्मते अज्ञानोपहितस्य नित्यानुभवापरपर्यायाचित. एव साक्षितया तत्राज्ञान-पूर्वकालावध्यस्तौ प्रबोधकाले नावेदिषमित्यनुभूयेते इत्येवार्थः ॥

न सुषुप्तिगविज्ञानं नाज्ञासिषमितिस्मृतिः । (३-४ ३००)

इति वार्तिकाविरोधात् । स्पष्टं चेदं वार्तिकद्वय(आ गि)टीकायाम् । अतः सुषुप्तौ अविद्यावृत्तिर्न वार्तिककृतां संमता ॥

अत एव (सि-बि-टी १६) 'सुषुप्तावविद्याकारवृत्तिं विनापि न किंचिदवेदिषमित्यनेकविषयकाज्ञानस्यैवोल्लेखात् तन्नाशादेव तदवच्छिन्न-चिन्नाशरूपसंस्कारोत्पादेन स्मृतिसंभवात् । नाज्ञासिषमितिस्मृतिरिति मूलाज्ञानस्मृतिनिषेध' इति ब्रह्मानन्दोक्तिस्संगच्छते ॥

पञ्चपादिकायां च 'करणव्यापारोपरमस्स्वाप' इत्येवोक्तम् । अतः सुषुप्तौ करणव्यापारतद्धेतुकज्ञानावस्थयोरेव लयः प्रतिपाद्यतेऽस्यां श्रुतौ ॥

सुषुप्तौ मनसस्सत्वेऽपि करणव्यापारविरहादेव न मम मनः इति प्रतीतिः। अहमर्थस्य स्वमात्रभासकत्वात् । जागरे मम मन इति प्रतीतेः सार्वदिकत्वस्यासंप्रतिपत्त्या सुषुप्तौ मनस्सद्भावमात्रेण तत्प्रतीत्यापाद-नायोगाच्च ॥

भावप्रकाशः

अतः सुषुप्तौ न मनसस्स्वकारणे लयो न वाऽहङ्कारस्य 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' इति श्रुतिरपि न मनसः स्वकारणे लयं प्रतिपादयितुमलम् । जाग्रत्स्वप्नभोगयोः पूर्वप्रस्तुतयोः लयमात्रप्रतिपादनपरत्वात् । अनन्यथासिद्धप्रमाणमन्तरा लयसृष्टिकल्पने गौरवात् । प्राकृतप्रलये च तथाविधश्रुतिबलात् मनसः स्वकारणे लय इति भेदः । विवरणेऽपि सृष्टिदृष्टिपक्षे सुषुप्तौ ज्ञानशक्तिविशिष्टस्यैवान्तःकरणस्य नाशः न तु क्रियाशक्तिविशिष्टस्यान्तःकरणस्येत्युक्तम् । ततोऽप्यहमर्थस्य न लय इत्युक्तिर्ज्यायसी । किंच मनःप्राणयोरेकद्रव्यत्वस्य प्रमाणविरहादसंभवः पूर्वमेवोपपादितः ॥

अतः 'सकले विलीने' इति श्रुतिसंकोचस्य परैरप्यवश्यं वाच्यतया पूर्वप्रस्तुतजाग्रत्स्वप्नभोगलयपरैवेयं श्रुतिः । सुषुप्तौ मनसः स्वकारणे लयं न कापि श्रुतिः प्रतिपादयति ॥

अत एव 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कं चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद नान्तरम्' इत्यादौ ज्ञानावस्थाविरह एवोक्तः ;—

जाग्रत्स्वप्नस्सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।
तासां विलक्षणो जीवस्साक्षित्वेन व्यवस्थितः ॥

इति (यो-वा) वचनस्य प्रमाणत्वेऽपि तत्र बुद्धिपदं धर्मभूतज्ञानपरम् । सुषुप्ते तस्य स्वरूपेणावस्थानमेव वृत्तिः साक्षित्वं साक्षाद्द्रष्टृत्वं तेन सुषुप्तौ धर्मभूतज्ञानस्य न प्रलय इत्युक्तं भवति ॥

ज्ञानानामुपसंहारे बुद्धेः कारणता स्थितिः ।
वटबीजे वटस्येव सुषुप्तिरभिधीयते ॥

इति । (यो-त-वै-टी) वचनस्य प्रमाणत्वेऽपि नोदासीनबालरामाभीष्ट-

भावप्रकाशः

सिद्धिः। अत्र उपसंहार इत्येतत् वटबीजे इति स्थानापन्नतया उपसंहारकारणार्थकम्। ज्ञानपदं बुद्धिपदं च बाह्याभ्यन्तरविषयकज्ञानपरम्। धर्मभूतज्ञानस्य विषयासंबन्धेन स्वरूपेण स्थितिरेवात्रापि विवक्षिता ॥

एतेन 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुत्यर्थ उक्तः। अत्र ज्ञानस्यालोपे आश्रयालोपस्य हेतुत्वेनोक्तेः सुषुप्तावहमर्थस्य न नाश इति सिद्धम्। अयमर्थः पूर्वमेवोपपादितः ॥

अहमर्थस्य नित्यत्वं भगवताऽपि गीतम्;—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

इति। अत्र निरन्वयविनाशं दूषयित्वा सत्कार्यवादस्साधयिष्यते। अतः स्वरूपपरिणामेऽपि नित्यत्वस्य न क्षतिरिति न युक्तम्। 'अन्तवन्त इमे देहाः' 'अविनाशि तु तद्विद्धि' इत्यहमर्थात्मनो देहवैलक्षण्यप्रकरणात्। अतः सुषुप्तावहमर्थात्मनो नाशे न किञ्चित्प्रमाणम् ॥

तदेतदभिप्रेत्योक्तमात्मसिद्धौ;—'उद्भूतेन तमसा उपरतव्यापारेषु करणेषु निर्वृत्तिकसांसिद्धिकबोधस्वरूपेणावस्थानमात्रमात्मनः' इति'। अनन्तरम्;—'तात्कालिकशरीरेन्द्रियमनोऽवस्थाविशेषपर्यालोचननिमित्ता आनुमानिकाः एवंरूपा हीमे! यतः प्रसन्नं मे मनः सम्यगाहारपरिणामवशाल्लघूनि चाङ्गानि अतस्सुखमहमस्वाप्समिति स्वापावस्थायां वेन्द्रियोपरमतारतम्यवशादविशदतात्कालिकतत्तदनुकूलप्रतिकूलविषयानुसन्धाननिबन्धनतयाऽपि स्मरणमुपपद्यत इति न वृत्त्यन्तरत्वं निद्रायाः' इत्यनेन 'सुखं दुःखं मूढं अस्वाप्समिति योगभाष्योक्तस्मरणोपपत्तिप्रकारः; ततः 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' इति योगसूत्राशयश्च वर्णितः ॥

भावप्रकाशः

अत्र प्रथमं 'उद्भूतेन तमसा' इत्यादिना गाढनिद्रावस्थोक्ता। ततः प्राक्कालावस्थानिबन्धना सुखं दुःखं मूढं अस्वाप्समिति प्रतीतिः 'स्वापावस्थायां वा' इत्यादिना प्रतिपादितेति बोध्यम् ॥

विवरणोक्तं 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति परामर्शमूलसौषुप्तप्रत्ययस्य स्वरूपसुखविषयकत्वं (श्रु. प्र.) व्यासार्योक्तदिशा ;—

प्रत्यक्स्वयंप्रभसुखे नित्यं पुंसि व्यवस्थिते। (न्या. सि)
अस्वाप्सं सुखमित्यादौ कालाद्यंशेऽनुमास्थितिः ॥

इत्यत्र गाढनिद्रायामहमर्थस्यैव स्वरूपसुखस्यापि स्वप्रकाशत्वेनोपपादितम्।

ननु विवरणमते सुषुप्तावविद्यावृत्त्यङ्गीकारात् तन्नाशात्संस्कारसंभवेन स्मरणमुपपद्यते; सिद्धान्ते कथम्? इति चेत्; वार्तिककारमत इव सिद्धान्तेऽप्युपपत्तिसंभवात् ? तदुक्तम् (त. टी. ३५);—

अहंभानस्य संस्कारमनुत्पादयतोऽपि नः।
त्वदुक्तधीभाननयात् स्यात्परामर्शहेतुता ॥

इति। अयं भावः;—यथा वार्तिककारमते साक्षिणस्स्वयंप्रकाशतया सर्वदा भानेन चित्स्वरूपस्यैव सुखत्वेन तस्यापि सर्वदा भानावश्यकतया तदंशे अनुभवरूपं बिन्दुटीकोक्तदिशा अनेकविषयकाज्ञानांशे स्मरणात्मकं ज्ञानं तद्वत् अहमर्थस्वरूपसुखांशयोः स्वयंप्रकाशतया तदंशे अनुभवात्मकं अतीतकालस्वापांशयोरनुमितिनाशात्संस्कारसंभवेन स्मरणात्मकं च सुखमहमस्वाप्समिति ज्ञानमिति। उक्तं च व्यासार्यैः;—स्वतोऽनुकूलतयाऽवभासमानस्याहमर्थस्य आनुमानिककालस्वापवैशिष्ट्यागोचरप्रत्यभिज्ञाविशेषोऽयं परामर्शः सुखमहमस्वाप्समितीति'।

भावप्रकाशः

अयमर्थः साख्याख्यापञ्चककारैः (यं. सि. ले. सं) अभ्युपगतः।

यदि च;—विवरणोक्तदिशा स्वरूपसुखांशेऽपि स्मृतित्वं वक्तव्यम्; मन्दमागां मधुरमगायमिति (श्रु-प्र) (न्या सि) दृष्टान्तयोः मान्द्यमाधुर्ययोरप्यंशयोः स्मृतित्वस्य संप्रतिपन्नत्वात् स्वरूपसुखांशे स्मृतित्वानङ्गीकारे स्वरूपसुखस्य धर्मिणा सर्वदाऽपि भानसंभवेन सुषुप्त्युत्तरमेव सुखमासमिति प्रतीतिरित्यत्र बीजाभावः। अत एव वार्तिकमतेऽपि स्वरूपसुखाकारा वृत्तिरङ्गीकरणीयेति (ल-चं) ५५९ वक्तव्यं; एतत्तात्पर्येण (पं. पा) (शा. दी) 'सुखावमर्शो दुःखाभावनिबन्धन' इत्युक्तम् इति विभाव्यते; तदा धिय आत्मस्वरूपभूतायाः नित्यायाः संस्काराजनकत्वेऽपि अविद्यावृत्त्युपश्लिष्टायाः संस्कारजनकत्वं यथा एवमहंभानस्य नित्यस्य संस्काराजनकत्वेऽपि जाग्रद्भोगप्रयोजककर्मणः करणव्यापारस्य चोपरतिकालिकविषयासंसृष्टधर्मभूतज्ञानविशिष्टात्मनोऽनित्यत्वेन तस्य संस्कारजनकत्वं संभवति। प्रबोधकाले विक्षेपबाहुल्ये धर्मिज्ञानेन स्वरूपसुखभानेऽपि सुखमासमिति प्रतीतिविरहेण रागद्वेषदुःखाद्यभावकाल एव तत्प्रतीतिसत्त्वेन तत्र मूलभूतस्सुखप्रत्ययविशेषो वाच्यः। सुषुप्तौ च जीवस्य परमात्मपरिष्वङ्गश्शोकविरहश्श्रुत्यनुभवसिद्धः। एवं च शोकाद्यभावकालिकसुखानुभवस्यैव तत्स्मृतिजनकतया उक्तदिशा संस्कारसंभवेन सुखमहमस्वाप्समित्यस्य स्वरूपसुखांशेऽपि स्मृतित्वमुपपद्यते। तदेतदभिप्रेत्य रङ्गरामानुजमुनिभिः (न्या-सि-व्या) स्वरूपसुखांशेऽपि संस्कारोऽङ्गीकृतः॥

वस्तुतस्तु शोकविरहकालावच्छेदेन सुखमेव तत्प्रतीतिविषयः। सुखं वसामि इत्यत्र वर्तमानकालः सुखमासमित्यत्र पूर्वकालः इत्यङ्गीकारेणोपपत्तौ स्वरूपांशे संस्कारानभ्युपगमेऽपि सुखमहमस्वाप्सामिति प्रतीतिरुपपद्यत इति पूर्वयोजनायां न दोषः। सुखमहमस्वाप्समिति

भावप्रकाशः

प्रतीत्यनन्तरं मां स्मरामीत्यात्मविषयकस्मृतिप्रत्ययश्च सिद्धान्ते अहमर्थज्ञानतद्धर्मज्ञानविषयतयोर्निरूप्यनिरूपकभावादुपपद्यते घटमहं जानामीतिवत् ॥

रङ्गरामानुजमुनयस्तु स्वापकालयोरानुमानिकसंस्काराङ्गीकारे विलम्बमसहमानाः तदंशेऽनुमितिरूपता इति ; कुत्रापि संस्कारमनभ्युपगम्य चण्डमारुतोक्तः परामर्शापलापपक्षोऽनुभवविरुद्धतया अचार्याननुमत इति चाभिप्रयन्तः स्वरूपसुखांशे संस्कारमङ्गयकार्षुः ॥

ननु मधुरमगायम् इत्यत्र गाने मधुराभेदवत् स्वापे सुखाभेदोऽत्र बोध्यते न त्वात्मनीति कथं स्वरूपसुखावगाहिता सुखमहमस्वाप्समिति प्रतीतेरिति चेत् ; अत्र व्यासार्याः ;—'क्रियायाः सुखाश्रयत्वायोगेन पुरुषद्वारा क्रियाविशेषणत्वस्य युक्तत्वात्' इत्याहुः । अत्र सुखाश्रयत्वायोगादित्यत्र अभेदेन सुखसंबन्धित्वायोगादित्यर्थः । स्तोकं पचतीत्यादौ 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकता च' इत्यनुशासनेन व्युत्पत्तिवादे गदाधरेण अभेदान्वयबोधस्यैवाङ्गीकारात् ; विक्लित्तिरूपफलस्यापि व्यपदेशिवद्भावेन फलाश्रयत्वात्तत्त्वम् ; अत एव तत्समानाधिकरणे स्तोकं पचतीत्यादौ कर्मत्वमिति मञ्जूषायां नागेशेन च फलाभिन्नस्यैव क्रियाविशेषणत्वप्रतिपादनात् । अकर्मकधातुस्थलेऽप्येतद्रीतिर्भैरवमिश्रेण (चं. क) उपपादनात् । अयमाशयः ;—ज्ञानमेव ह्यनुकूलमानन्द इत्युच्यते ! 'अतः सुखव्यतिरिक्तस्य क्रियादेरनुकूलत्वं न संभवति' इति श्रीभाष्योक्त्या अनुकूलत्वं स्वत इष्टत्वम् । तच्च इष्टप्राप्त्यनिष्टनिवृत्तिसाधनत्वमन्तरापीष्टत्वमिति सुखरूपस्य पुरषस्यैव तत् ; स्वापस्य तु सुखरूपपुरुषभानप्रयोजकत्वेनैवेष्टत्वं वाच्यमिति पुरुषद्वारकमेवामुख्यं सुखत्वम् ; तच्च स्वापे सुखरूपपुरुषभानमन्तरा नोपपद्यते इति स्वापे सुखरूपपुरुषभानं सिद्धमिति॥

भावप्रकाशः

अवश्याभ्युपेया चेयमेव सरणिः ;—'तत्र ते न्यवसन् सुखम्' (त. टी) इत्यादौ दुःखप्रतिकोटिधर्मभूतसुखभानस्थले सुखदुःखादेर्धर्मभूतज्ञानावस्थाविशेषरूपताया वेदार्थसंग्रहान्ते व्यवस्थापनात् सुखाभेदस्य वासे बाधात् । 'त्रिषु द्रव्ये पापपुण्यसुखादि च' इति कोशानुसारेण सुखशब्दस्य सुखाश्रयात्मभिन्नसुखजनकद्रव्येषु प्रयोगात् । सुखं स्वपितीत्यादौ सुखशब्दस्य सुखजनकार्थकत्वं वैयाकरणसंमतमिति खण्डदेवेन भाट्टरहस्येऽभिधानाच्च ॥

यद्यपि खण्डदेवेन (भा-र) वैयाकरणमतं दूषयित्वा स्तोकं पचतीत्यादिक्रियाविशेषणस्थले 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इत्यनेन द्वितीयामात्रमेव । न तु स्तोकादेः कर्मत्वम् । स्तोकपदं लक्षणया शक्त्यैव वा स्तोकत्वोपस्थापकम् द्वितीयायाश्च लक्षणया आश्रयत्वमर्थः । तस्य स्वनिरूपकफलजनकव्यापारानुकूलत्वादिसंबन्धेन कृतावन्वयः ; अभेदबोधस्तु 'अरुणयैकहायन्या' इत्यादाविव पार्ष्ठिकः न तु शाब्दः । सुखं स्वपिति इत्यादौ जनकत्वं द्वितीयार्थः । सुखजनकस्स्वापः इत्यर्थ इत्युक्तम् ॥

तथाऽपि आनन्दमयाधिकरणश्रीभाष्ये अरुणयैकहायन्या' इत्यादौ समानाधिकरणपदोपात्तविशेषणविशेष्यान्वयाबाधेनैव क्रियान्वयबोधः ; 'अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोः' इत्यादिजैमिनिसूत्रतात्पर्यपर्यालोचनान्निर्णीतः ॥

मञ्जूषायां नागेशेन 'कटं भीष्मं कुरु, इत्यत्र महाभाष्योक्तपक्षत्रयशोधनपूर्वकं जैमिनिसूत्रस्य श्रीभाष्योक्त एवार्थ आदृतः । न तु कबन्धमीमांसकपरिकल्पित इति स्तोकं पचतीत्यादौ स्तोकाभेदबोध एवानुभवसिद्धोऽभ्युपेयः । खण्डदेवोक्तदूषणानामाभासतया विदुषां

भावप्रकाशः

व्यक्तत्वात्। 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इत्यनेन द्वितीयाङ्गीकारेऽपि क्रियाविशेषणस्थले सर्वत्र एकप्रकारेण बोधोऽनुभवसिद्धो नापलापमर्हतीति ॥

कृष्णताताचार्यास्तु (न्या. सि. व्या) स्वरूपसुखेन संस्कारे जननीये स्वापकालस्य सहकारितामभ्युपेत्य रङ्गरामानुजमुन्युक्तादिशा सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शमुपपादयन्तः सुखपदं सुखवृत्त्यर्थकमिति वदन्ति ॥

अत्र च पक्षे स्वापे योगक्षेमसाधारणस्वरूपसुख(भान)प्रयोजकत्वानभ्युपगमेऽपि न दोषः। पूर्वकल्पे तु वासधर्मसुखयोः अन्वयव्यतिरेकयोरिव स्वापधर्मिसुख(भान)योरप्यन्वयव्यतिरेकसत्त्वात् योगक्षेमसाधारणप्रयोज्यप्रयोजकभावमभ्युपेत्य स्वापे सुख(भान)प्रयोजकाभेदबोध उपपादनीयः। अभावनित्यतापक्षे सुखशब्दस्य दुःखाभावपरत्वाभ्युपगन्तृमते अत्र निर्दुःखमहमस्वाप्सामित्यत्र च योगक्षेमसाधारणप्रयोज्यप्रयोजकभावाङ्गीकारेणैव प्रतीतिव्यवहारयोर्निर्वाह्यत्वात् ॥

अनन्तार्यास्तु—स्वापस्य ज्ञानाभावरूपत्वेन अधिकरणभूतात्मस्वरूपतया स्वापे सुखाभेदभानेऽपि आत्मन्येव तत्पर्यवस्यति इत्याहुः (सि–सि) ॥

अतोऽहमर्थस्य लयग्राहकप्रमाणविरहात् सुखमहमस्वाप्सामित्यत्र अहमंशेऽपि परामर्शत्वं स्वारस्यलब्धं न प्रत्याख्यातुं शक्यते। पूर्वं सुखमहमस्वाप्समित्यत्र पक्षद्वयनिरूपणेऽपि अहमंशे स्मृतित्वपक्ष एव स्वरससिद्ध आचार्याभिमत इति श्रीअनन्तार्य श्रीकृष्णताताचार्यप्रभृतिभिर्बहुभिरादृतः ॥

कालरूपविशेषणांशे परामर्शत्वस्य कस्याप्यसंप्रतिपत्त्या विशेष्यांशेऽपि तस्य नावकाशः। अहं निर्दुःख आसम् विषयज्ञानशून्य

भावप्रकाशः

आसम् इति सुषुप्तिकालिकाभावावगाहिप्रत्यये परमते विशेषणविशेष्योभयांशे यथा न स्मृतित्वं तद्वत् ॥

परमते सुषुप्तावहमर्थानङ्गीकारेण सुखमहमस्वाप्समित्यत्र अहमर्थस्यातीतकालिकस्वापाश्रयताभानानुपपत्तिः स्मरणमूलानुभवानाश्रयतया अहमर्थस्य स्मृत्याश्रयत्वानुपपत्तिश्च । अहं जानामि अहं सुखी अहं स्मरामि अहं विशेषज्ञानविधुरः अहमस्वाप्सम् इत्यादिप्रतीतिषु सर्वत्र आश्रयत्वस्याहमर्थ एव प्रतीतेः सुषुप्तावहमर्थसत्त्वेन प्रतीतेः स्वरसत उपपत्तिसंभवे 'यत्र मुखं दर्पणस्थं पूर्वमदृष्ट्वा रक्तरूपस्य दर्पणे आरोपः तत्र मुखे न रक्तत्वारोपसंभव इति तत्र मुखप्रतिबिम्बाश्रये दर्पणे जपाकुसुमलौहित्याध्यासेन रक्तं मुखमितिप्रतीतौ एकत्र दर्पणे रक्तरूपमुखयोर्भानवत् अहङ्काराश्रयतया साक्षिचैतन्यस्य स्मरणाश्रयत्वादहमस्वाप्सामिति प्रतीतिः' इत्यादिक्लिष्ट (सि. बि. १९७) कल्पनमपि निरवकाशम् ॥

किंच शक्तिवादे गदाधरेण गुणाटिप्पण्यां रूपग्रन्थे दीधितिकारेण 'अत्रेदं तत्वम्' इत्यादिना गोत्वशब्दाश्रयत्वयोरविशेषप्रदर्शनेन आकाशपदस्य शब्दाश्रयत्वविशिष्ट एव शक्तिरष्टद्रव्यातिरिक्तत्वविशिष्टाकाशस्य तत्पदेन लक्षणयोपस्थितिरिति मणिकारसंमतः पदान्निर्विकल्पकस्मरणपक्षो दूषितः । एवं ब्रह्मानन्दयतिभिरपि (सि. बि. टि. १६) 'यद्यपि शब्दाश्रयत्वाद्यंशे शक्तिर्न गृह्यते तथाऽपि शब्दाश्रयत्वेनोपस्थिताकाशव्यक्तौ शक्तिग्रहस्यैव विशिष्टशक्तिग्रहहेतुत्वसंभवेन विशिष्टशाब्दबोधसंभवात् । अथवा पदान्निर्विकल्पकमेव स्मरणम् शाब्दबोधे च शुद्धाकाशस्य सुबर्थोपरागेण भानम्' इति मणिकाराद्याशयं प्रदर्श्य तदत्र कल्पद्वये मणिकारोक्तेऽपि आद्ये शब्दाश्रयत्वाद्यंशे

भावप्रकाशः

शक्यग्रहात् तद्विशिष्टस्य स्मृत्या शाब्दबोधासंभवः यदंशे वृत्तिः पूर्वं ज्ञायते तत्स्मृतेरेव शाब्दबोधजनकत्वात् । द्वितीये शुद्धस्य पूर्वाननुभूतत्वेन स्मृत्यसंभवः; तथापि तत्कल्पनेव मन्मतेऽपि युक्तं पूर्वोक्तकल्पनमिति ' इत्यनेन कल्पद्वयदूषणं कृतम् ॥

विशिष्टज्ञानसामान्ये अहङ्कारस्य हेतुत्वेन मधुसूदनसंमतं सुखमहमस्वाप्समित्यत्र अज्ञानांशे निर्विकल्पकत्वं परित्यज्य अज्ञानत्वादिसंसर्गान्यसंसर्गवृत्तावेव अहंकारस्य हेतुत्वेन अज्ञानत्वसविषयकत्वाभ्यां रूपाभ्यामज्ञानस्य भानमङ्गीकृतम् । एवं च पदान्निर्विकल्पकस्मरणस्य अज्ञानांशे निर्विकल्पकस्य च परैरपि दूषिततया सुखमहमस्वाप्समित्यस्य मूलभूतस्य सुषुप्तप्रत्ययस्य सर्वांशे निर्विकल्पकत्वस्य च तेन स्मृतिजननस्य च नैव संभवः ॥

अज्ञानत्वेनाज्ञानस्य सौषुप्तिकानुभवे भानाङ्गीकारे तत्र सुखत्वेन सुखस्य भानमप्यङ्गीकरणीयम् । एवमहन्त्वेनाहमर्थस्यापि । विशिष्टवृत्तिसामान्ये अहमर्थस्य हेतुत्वे लाघवात् । अज्ञानत्वादिसंसर्गान्यत्वस्य संसर्गे निवेशे गौरवात् । निष्प्रकारकज्ञानमेव खपुष्पतुल्यमिति बुद्धिसरे स्थापयिष्यते ॥

एतेन ' साक्षिमात्राश्रितत्वं स्मरणादेर्यदुक्तं तदविद्यागताचिदाभासस्साक्षीति वार्तिकमतमवलम्ब्यैव । बिम्बप्रतिबिम्बानुगतशुद्धचित्साक्षीति विवरणमते तु स्मृत्यादिकार्यं न साक्षिमात्राश्रितम् किंत्वविद्याविशिष्टचिदाभासाश्रितामेति (सि. बि. टि. २०१) उक्त्या विवरणमते सुखमहमस्वाप्समित्यत्र क्लिष्टकल्पनपरिहारेऽपि निर्विकल्पकानुभवस्य स्मृतिजनकत्वासंभवान्न सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शमूलसौषुप्तिकानुभवोपपादनसंभव इति सिद्धम् ॥

तत्त्वमुक्ताकलापः

चेतश्चान्यानपेक्षं मतिषु न हि भवेत्

सर्वार्थसिद्धिः

*ननु यदि सुषुप्तावात्मा प्रकाशते तन्मनसैवास्तु कृतं स्वप्रकाशत्वेनेत्यत्राह—**चेत** इति । अयं भावः—बाह्यविषयेषु तावत् चक्षुरादीन्यनुमानागमसंस्कारान्वा संगृह्य प्रवर्तते । आत्मनि च तत्तदुपहितं

आनन्ददायिनी

ननु बहिरर्थग्रहणे चेतसः स्वातन्त्र्याभावेऽपि आन्तरग्रहणे स्वातन्त्र्यमस्त्विति शङ्कायामाह ;–**अयं भाव** इति । तदुपहितं—अनुमानाद्युपहितम् । [1]जनितं वा । ननु तदभावेऽपि मनोवृत्तिरस्तु मनसः करणत्वात् 'मनसा तु विशुद्धेन' 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इत्यादिना

भावप्रकाशः

'सुषुप्तावहमर्थभाने अहमित्येव स्मृतिस्स्यात्' (प. वि.) इति तु नापादनीयम् ; अनुकूलत्वरूपसुखत्वस्यापि स्वरूपांशे सुषुप्तौ भानेन तत्स्मृतेरवर्जनीयत्वात् । स्वापकालयोऽस्तु सामग्रीसमवधानाद्भानम् । एतावन्तं कालं अहमित्यभिमन्यमान एवासमिति प्रतीत्यापादनं (आ. सि) न संभवतीति चण्डमारुते स्पष्टम् । मामप्यहं न ज्ञातवानिति प्रतीत्युपपत्तिः प्राचीनग्रन्थेष्वेव व्यक्तेति दिक् । योगसूत्रभाष्यमभिप्रेत्य सुचरितमिश्रमतमालम्ब्य शङ्कते ;—*नन्वित्यादि मनसैवास्त्वित्यन्तम् ॥ ६ ॥

इति जीवधर्मपरीक्षायां स्वयंप्रकाशत्वसमर्थनम् ॥

---

[1] जनितं ज्ञानं संस्कारं वा—**ग.**

तत्त्वमुक्ताकलापः

किंच वेदान्तदृष्ट्या ज्ञानत्वादेष[1] धीवत् स्वविषय-धिषणानिर्व्यपेक्षस्वसिद्धिः ॥ ६ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

जनितं वा किञ्चिदुपधायैव । स्वापे तु दृष्टविरुद्धमनोवृत्तिकल्पनाद्वरं श्रुतिस्वारस्यानुरोध इति । अनुमानरुचीनां तदप्यस्तीत्याह—**किंचेति । वेदान्तदृष्ट्येति**—ज्ञानत्वहेतोरसिद्धिपरिहारः । ज्ञानस्य [2] स्वप्रकाशत्वं साधयिष्यते इति तद्दृष्टान्तोक्तिः ॥ ६ ॥

इति जीवधर्मपरीक्षायां स्वयंप्रकाशत्वसमर्थनम् ॥

आनन्ददायिनी

करणत्वाभ्युपगमात् । नाहमीश्वर इत्यादिबुद्धीनां मनःकरणकत्वाच्चेति चेत्; तत्राह—**स्वापे त्विति** ॥

ननु सुषुप्तिकाले मनोवृत्तिर्यदि न स्यात् तदा स्वरूपज्ञानस्य [3] सूक्ष्मरूपसंस्कारत्वानुपपत्तेः नैयायिकव[4]दात्मधर्मान्तराभावान्न परामर्शस्स्यादिति चेत्[5]; अत्र केचित्—स्वरूपज्ञानेन धर्मभूतज्ञानस्य सूक्ष्मरूपो विकारस्संस्कारो नाम जायत इत्याहुः ॥

अपरे तु सुषुप्तिर्हि ज्ञानाभावरूपो धर्मभूतज्ञानस्यात्मस्वरूपमात्रगोचरोऽवस्थाविशेषः । स चात्मरूपानुकूलवस्तुगोचरतयाऽनुकूलसुखरूपत्वात् सुषुप्तेरेव सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शश्चोपपन्न इति वदन्ति ।

---

[1] देव–क [2] प्रकाशत्वम्–ख. [3] सूक्ष्मरूपस्संस्कारः अवस्थारूप–ग. [4] वत्तज्जन्यधर्मा–क. [5] स्वरूपज्ञानेन धर्मभूतज्ञानस्य सूक्ष्मावस्थारूपसंस्कारोत्पत्त्यङ्गीकारात्–ग.

तत्वमुक्ताकलापः

*प्रत्यक्त्वं पुंसि केचित् स्वविषयधिषणाधारतामात्रमाहुः

सर्वार्थसिद्धिः

'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' इत्यादावात्मनः प्रत्यक्त्वं गम्यते तत्किमिति विमर्शे 'प्रत्येतुः प्रत्येतव्यादव्यतिरेकः' इति †कैश्चिदुक्तं तावदाह—**प्रत्यक्त्वमिति** । स्वप्रकाशत्वपक्षे तु

आनन्ददायिनी

स्वविषयधिषणानिर्व्यपेक्षस्वसिद्धिरितिमूलस्य स्वव्यतिरिक्तज्ञाननिरपेक्षप्रकाश इत्यर्थः ॥ ६ ॥

इति जीवधर्मपरीक्षायां स्वयंप्रकाशत्वसमर्थनम् ॥

प्रासङ्गिकीं सङ्गतिमाह—कश्चिद्धीर इति ।

भावप्रकाशः

एतावता अहमर्थस्य पराक्त्वमेव; न स्वयंप्रकाशत्वरूपं प्रत्यक्त्वमिति परेषां शङ्का समाहिता । अथ प्रत्यक्त्वं न स्वयंप्रकाशत्वं किंतु प्रकाशफलित्वरूपं अहन्त्वमेवेति प्रसाधनमुखेन अहमर्थस्यात्मत्वं प्रतिष्ठापयति–*प्रत्यक्त्वमित्यादिश्लोकेन । केचित्—जडात्मवादिनो नैयायिकादयः । तन्मते प्रतिवृत्त्या अञ्चतीति प्रत्यक् आत्मा (न्या. वा. ता. ३-२-३५) । इति व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । †कैश्चिदिति—उदयनाचार्यैरित्यर्थः । 'प्रत्येतुः प्रत्येतव्यादव्यतिरेकादहमिति स्यात्' इत्यात्मतत्वविवेकग्रन्थः । एतद्व्याख्याने शिरोमणिः—'नैयायिकानां सामान्यतोऽहन्त्वमात्मत्वमेव । तत्तदहन्त्वं तु तत्तदात्मत्वमेव' इत्याह ॥

तत्वमुक्ताकलापः

स्वस्मै स्वेनैव भानं तदिति समुचितं तत्स्वतस्सिद्धिसिद्धेः । [1]प्रत्यङ् स्वापेक्षयाऽसौ [2]त्वमयमिति मितः स्वेतरैः स्वस्वबुद्धया

सर्वार्थसिद्धिः

* प्रत्यक्त्वद्वै[3]विध्यमाह—**स्वस्मा** इति । यदि प्रत्यक्त्वमात्मनः स्वभावः तदा परेणापि गृह्यमाणोऽहमिति गृह्येतेत्यत्राह—[4]**प्रत्यङ्ङिति** ।

आनन्ददायिनी

प्रत्यक्त्वद्वैविध्यमिति—स्वस्मै भासमानत्वमेकं स्वेनैव स्वस्मै भासमानत्वमपरम् इति विशिष्टाविशिष्टभेदेन भिदा ॥

भावप्रकाशः

यद्यपि अध्यासभाष्यभामत्यां अनिर्वचनीयेभ्यो देहेन्द्रियादिभ्य आत्मानं प्रतीपं—निर्वचनीयं अञ्चति—जानातीति प्रत्यङ् । स चात्मेति प्रत्यगात्मा' इत्युक्तम् । तथाऽपि तत्र जानातीत्यर्थे अञ्चतीतिप्रयोगविरहात् अञ्चतीत्यस्य भासत इत्येवार्थः । परार्थभूतविषयप्रतीपता च स्वार्थत्वेन वाच्या इति स्वस्मै भासमानत्वं प्रत्यक्त्वं भासमानता स्वरूपतः धर्मभूतज्ञानेन चेति द्विधा इति स्वस्मै भासमानत्वमित्यत्र उभयविधं भासमानत्वं विवक्षितम् । तदुक्तं तत्वटीकायां—प्रतीपमञ्चन्—प्रत्यक् तस्य भावः प्रत्यक्त्वम् । स्वतोऽन्यतो वा स्वस्मै भासमानत्वमित्यर्थः इति । अत्रान्यत् धर्मभूतज्ञानमेव विवक्षितम् । अयमर्थः अत्रैवोत्तरत्र 'स्वापेक्षया तु स्वबुद्ध्या स्वरूपेण वा भासमानतया प्रत्यङ्ङित्युच्यते' इत्यत्र स्फुटः । तदेतदाह—*प्रत्यक्त्वद्वैविध्य-

[1] प्रत्यक्-**क.** [2] I त्वयमितिगमितः-**क.** II गमितं-**क.** III. गमिते-**घ.** [3] वैविध्य-**ख. घ.** [4] प्रत्यगिति-**ग.**

आनन्ददायिनी

केचित्तु स्वस्मै भासमानत्वं स्वेनैव भासमानत्वं चेति वदन्ति। तत्पक्षे धर्मभूतज्ञानादावपि प्रत्यक्त्वमस्ति[1]। न चैवमहमिति प्रकाशप्रसङ्गः! तत्रात्मत्वाभावात् तत्सहितस्यैवाहंप्रत्ययविषयत्वादिति केचित्॥

अपरे तु अहमिति भासत एव; सौभर्यादौ तत्तच्छरीरावच्छेदेनाहमितिभासमानस्य ज्ञानत्वात्। आत्मनस्सर्वशरीरेऽप्यभावात्। न चाहंप्रत्ययाभावश्शरीरान्तरे इति समस्ति! इति वदन्ति॥

ननु यत्किञ्चिदस्तु प्रत्यक्त्वम्! इदं च सर्वात्मानुवृत्तमिति स्वस्मिन् प्रत्यगिति व्यवहारवत् परस्मिन्नपि दर्शनात्। तथाच देवदत्तस्य स्वस्मिन्निव यज्ञदत्तेऽप्यहमिति व्यवहारस्स्यात् अविशेषात् इति चेत्; अत्रोक्तमस्मदाचार्यैः—यद्यपि सर्वेषां प्रत्यक्त्वमस्त्येव; तथापि स्वस्य सर्वगतत्वात् साधारण्येऽपि 'स्वेनेदं भासते कृतम्' इत्यादौ यथा प्रतियोगिनियतव्यवहारः तथा स्वस्मै भासमानत्वादेरपि प्रत्यक्षतया[2] भान एव तथा व्यवहारः॥

किञ्च[3] [4]आत्मशब्दपर्यायो नास्मच्छब्दः। अन्यथा देवदत्त आत्मेतिवत् अहमिति व्यवहारप्रसङ्गः। न चास्ति देवदत्त एवाहं तदीयमेव मदीयमिति! तस्याचेतनसाधारण्येन स्वस्मिन्नध्यासरूपत्वात्। अन्यथा देवदत्ते गच्छति यज्ञदत्तस्याहं गच्छामीति प्रयोगप्रसङ्गात्। तथाच यदेवास्मच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् तदेव प्रत्यक्त्वम्।

---

[1] तत्रात्मत्वं नास्तीति द्रष्टव्यम्. [2] ननु स्वापेक्षया स्वबुध्या स्वेनवा गृह्यमाणत्वं प्रत्यक्त्वमस्तु इदं च सर्वात्मानुवृत्तमिति स्वस्मिन् प्रत्यक्त्वव्यवहारवद्यज्ञदत्तेऽपि व्यवहारदर्शनात् तथाहमिति व्यवहारस्स्यादिति चेत्—**ग.** [3] भासमान एव—**ग.** [4] अस्मच्छब्दः प्रत्यक्षशब्दो वा नास्मच्छब्दपर्यायः—**ग.** अन्यथा देवदत्त आत्मेतिवदहमिति व्यवहारप्रसङ्गः न चास्ति देवदत्त एवाहं तदीयमेव मदीयमितिवाच्यम्; तस्याचेतनसाधारण्येन स्वस्मिन्नध्यासरूपत्वात्। अन्यथा देवदत्ते गच्छति यज्ञदत्तस्याहंगच्छामीति प्रयोगप्रसङ्गात्—**क. ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

स्वेतरबुद्ध्या गृह्यमाणत्वं न स्वस्मै भासमानत्वम् । अतस्त[1]द्बुद्ध्या

आनन्ददायिनी

तच्च साधारणमपि साक्षात्कृतमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति यदा यस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्तं तदा तस्मिन् प्रयोग इति नातिप्रसङ्गः । तथाचायं निर्गलितार्थः—अपरोक्षताविशिष्टं स्वस्मै स्वयं भासमानत्वादिकं प्रवृत्तिनिमित्तमहंप्रयोगस्येति ॥

ननु अपरोक्षता प्रयोक्तृसंबन्धिनि वाच्या; अन्यथा सर्वत्रापि तत्तदपरोक्षत्वात् प्रत्यक्त्वस्य; एवं चैतादृशापरोक्षताविशिष्टमात्मत्वमेवाहंप्रयोगनिमित्तमस्त्विति चेत्; [2]अत्राप्याहुः—आत्मत्वं नाम ज्ञातृत्वं विवक्षितम् ततोऽन्यद्वा? नाद्यः सुषुप्तिकाले ज्ञातृत्वाभावेन[3] अहन्त्वाभावे तात्कालिकतया तथा परामर्शाभावापत्तेः; द्वितीयं चेत् अस्मदुक्तमेवेति । **स्वेतरेति**—प्रवृत्तिनिमित्ताभावान्नाहंशब्दप्रयोग इति भावः । **अत इति**—इदन्त्वमेवाभिमुख्यविशिष्टं युष्मच्छब्दप्रवृत्ति-

भावप्रकाशः

माह इति । नैयायिकमते स्वप्रकाशानभ्युपगमात् प्रत्यक्त्वमेकविधम् । सिद्धान्ते त्वात्मनस्स्वयंप्रकाशतया धर्मभूतज्ञानभास्यतया च द्विविधं प्रत्यक्त्वमिति भावः । स्वस्मै भासमानं प्रत्यक् इति न्यायसिद्धाञ्जनम् । एतेन 'स्वस्मै स्वेनैव भानं तदिति' इति मूले स्वेनैवेति जडात्मवादिमतव्यावृत्त्यर्थमुक्तं न तु प्रत्यक्त्वशरीरप्रविष्टमिति सिद्धम् । स्वस्मै भासमानत्वं स्वप्रकाशफलित्वम् । फलं च व्यवहारः संशयादिनिवृत्तिर्वा । (अहमनहं वा न वा) अहमेको न वा इति संशयस्य कदाप्यनुदयेन अहमर्थप्रकाशः सदाभ्युपेय इति स्वनिष्ठसंशयाभावप्रयोजकविषयत्वमेव

[1] व्यक्तम्—क. [2] वन तात्कालिकतया—ग. [3] द्बुद्ध्या स्वरूपेण वा—ग.

सर्वार्थसिद्धिः

गृह्यमाण आभिमुख्ये[1] त्वमिति अन्यदा त्वयमिति [2] गृह्यते। स्वापेक्षया तु स्वबुद्ध्या स्वरूपेण वा भासमानतया [3]प्रत्यङ्ङित्युच्यते। *तेन[4]रूपेणाहमर्थ

आनन्ददायिनी

निमित्तमिति तेन तथा व्यवहार इति भावः। तथा च स्वगतमेवेदन्त्वं स्वेन गृह्यमाणमहन्त्वं आभिमुख्येन गृह्यमाणं त्वन्त्वमिति वदन्ति ॥

[5]अन्ये तु अयमहमिति भेदेन ग्रहणादाभिमुख्यादिविशिष्टं त्वंशब्द-प्रवृत्तिनिमित्तं स्वस्मै भासमानत्वमात्रं †अहंपदप्रवृत्तिनिमित्तमिति मन्यन्ते। **तद्बुद्ध्या**—अन्यदीयबुद्ध्या [6]गृह्यमाणः पुरुषः प्रत्यक्त्वेन न भासत इत्यर्थः। यद्वा तद्बुद्ध्या—स्वस्मै भासमानत्वविषयिण्या [7]बुद्ध्या। त्वमिति प्रत्यक्त्वरूपं स्वस्मै भासमानत्वं विशिष्ट एव गृह्यते। अन्यदा—स्वस्मै भासमानत्वग्रहणाभावकाले। **स्वापेक्षया त्विति**—सर्वदा प्रत्यक्त्वस्य भासमानत्वादहमिति व्यवह्रियत इति भावः। **तेन रूपेण**—स्वसाक्षात्कृतस्वस्मैभासमानत्वेन। **अहमर्थः**—अहंपदवाच्यः ॥

भावप्रकाशः

सामानाधिकरण्यप्रयोजकत्वोभयसंबन्धेन संशयाभावविशिष्टविषयत्वपर्य-वसितं प्रत्यक्त्वमित्युक्तं भवति ॥

*तेन रूपेणाहमर्थ इतीति—एतेन नैयायिकानां सामान्यतोऽ-हन्त्वमात्मत्वमिति शिरोमण्युक्तिरसंगतेति व्यञ्जितम्। स्वातिरिक्तात्मनि अयमात्मेति स्वीयव्यवहारवत् अहमिति स्वीयव्यवहारविरहादहन्त्वं नात्मत्वमिति भावः †अहन्त्वं च सर्वात्मानुवृत्तमिति—एतेन अह-

---

[1] ख्येन त्वमिति—ख. [2] ह्यते—क. [3] प्रत्यगित्यु—ग. [4] तेन स्वरूपेण—ग. [5] तथा सति अयमहमिति भेदेन ग्रहो न स्यात्। तस्मादाभिमुख्यादिविशिष्टं त्वंशब्द—ग. क. ख. ग. घ. [6] ऊह्यमानः—ग. [7] अन्यदायामिति च—मु. पु.

सर्वार्थसिद्धिः

[1]इतीदृशाहन्त्वं च सर्वात्मानुवृत्तम् । *त्वंभावादिना तु न तस्य

आनन्ददायिनी

नन्वहन्त्वंपदयोर्न पर्यायत्वम् नियतप्रयोगवत्त्वात् तथाच त्वंपद-विषयस्याहंपदप्रवृत्तिनिमित्ताभावात् कथं सर्वात्मसाधारण्यमित्यत आह— **त्वंभावेति** । प्रत्यक्त्वमेवाभिमुख्यादिविशेषितं प्रवृत्तिनिमित्तमिति न दोष इत्यर्थः ॥

यद्वा त्वंपदप्रयोगेण तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तमवगम्यते । न तेन प्रत्यक्त्वस्य बाधः विरोधाभावात् । नचैवं त्वमहमिति व्यतिकरप्रसङ्गः ! प्रयोग[1]स्यान्यतोऽवगतत्वादिति । ननु विरोधाभावे पराक्त्वमपि स्यादिति

भावप्रकाशः

मर्थस्य नात्मत्वं व्यावर्तमानत्वादित्युक्तिरपाकृता । नैयायिकादिसंमता जातिरपाकरिष्यते । *त्वंभावादिना त्विति—त्वं अहमिति मन्यसे अयं अहमिति मन्यते इति व्यवहारादिति भावः । एतेन (पं-द) चित्रदीपे—

इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ।
तथा स्वं च स्वतः पश्यन् अहमित्यभिमन्यते ॥
इदन्त्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथेष्यताम् ।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ॥
देवदत्तः स्वयं गच्छेत् त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥
इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ।
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ॥

[1] इति दृशा अहन्त्वं—**मु. पु.**

तत्वमुक्ताकलापः

[1] **भातं नित्यं**

सर्वार्थसिद्धिः

बाधः *तर्हि तत्र पराक्शब्दोऽपि किं न प्रवर्तेत इत्यत्राह—**भातमिति।**

आनन्ददायिनी

ननु विरोधाभावे पराक्त्वमपि स्यादिति शङ्कते—**तर्हि तत्रेति ।** ननु

भावप्रकाशः

इत्युपक्रम्य—

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोस्सह ।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥
तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परम् ।
प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥
अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव ।
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥
तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥

इत्युक्तिरपि समाहिता ॥

येन पुरुषेण संबोध्यतेऽन्यः तदीयाहमितिस्वप्रकाशप्रत्यक्षाविषय इत्येतावन्मात्रेण त्वन्ताहन्तयोः प्रतिद्वन्द्विता । न च तावता युष्मदर्थे स्वीयाहन्त्वमपैति ! स्वशब्दस्य चेतनवाच्यात्मशब्दपर्यायता न संभवतीति व्यावृत्तस्य कल्पितत्वेनानुवृत्ताद्भेदाङ्गीकारे आत्मनस्सद्रूपेणैवानुवृत्ततया चिदानन्दयोः कल्पितत्वेन ततो भेदप्रसङ्गश्च इत्यादिकं प्रागेवोक्तम् । ननु अहन्त्वस्य त्वन्तादिना बाधानङ्गीकारे सिद्धान्ते तत्रतत्र अहन्त्वेदन्त्वाभ्यां प्रत्यक्पराग्वस्तुविवेचनविरोधः प्रतीचि पराक्शब्दप्रयोगापत्तिश्चेति शङ्कते—* तर्हीत्यादिना।

---

1 ख्यातं—क ग घ

तत्वमुक्ताकलापः

परस्मै जडमजडमपि स्यात्परागर्थ एव ॥ ७ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

जडमजडं वा यन्नित्यं परस्मै भासते तत्परागर्थ एव । न तस्य स्वस्मै भासमानत्वप्रसङ्गः *व्यपदेशनियमश्च तत एवेति ॥ ७ ॥

इति जीवधर्मपरीक्षायां प्रत्यक्त्वसमर्थनम् ॥

आनन्ददायिनी

तर्हि सर्वस्यापि पराक्त्वात् परागिति व्यवस्थितव्यपदेशो न स्यादित्यत्राह—व्यपदेशनियमश्चेति । प्रत्यक्त्वविधुराणां[1] पराचां पराक्त्वेनैव व्यपदेशः प्रमेयत्वेन यथा प्रमाणताविधुराणामेव व्यपदेशः इति ॥ ७ ॥

इति जीवधर्मपरीक्षायां प्रत्यक्त्वसमर्थनम् ॥

भावप्रकाशः

* व्यपदेशनियमश्चेति—अहमर्थे पराक्शब्दो न प्रयुज्यते इति तदनुरोधेनैव चार्थो वाच्यः । प्रयुज्यते चेदंशब्द इन्द्रियाजन्यधर्मभूतज्ञानविषयत्वविवक्षया । अहमिदं जानामीत्यत्र तु इन्द्रियजन्यज्ञानविषयस्य परागर्थतया तत्राहन्त्वेदन्त्वाभ्यां प्रत्यक्पराग्विवेचनस्य न विरोध इति भावः ॥ ७ ॥

इति जीवधर्मपरीक्षायां प्रत्यक्त्वसमर्थनम् ॥

---

1 णां पराक्त्वेनैव—क.

सर्वार्थसिद्धिः

अत्र केचिदाहुः– *'ज्ञातृत्वादिकमन्तःकरणस्यैव । आत्मनस्तु

आनन्ददायिनी

ननु भोक्तृत्वादिविशिष्ट आत्मा; अतोऽस्ति धीतो भेद इति साधितम् । तन्न युज्यते इत्याक्षेपसंगतिमाह—अत्र केचिदित्यादिना । **ज्ञातृत्वादिकमिति** मिथ्यावादिनो मतम् । 'पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्' प्रकृतिगतभोक्तृत्वादि चिच्छायापत्त्या

भावप्रकाशः

एतावता सगुणात्मवादिषु जडात्मवादिनैयायिकमतं निरस्य अहमर्थस्य स्वप्रकाशत्वेन प्रत्यक्त्वात् आत्मत्वं प्रतिष्ठापितम् । अथ निर्गुणात्मवादिसांख्यमतनिरसनमुखेन ज्ञातुरहमर्थस्यात्मत्वं स्थापयति ;– बोद्धा कर्ता इति श्लोकेन ॥

* ज्ञातृत्वादिकमिति । तदुक्तं (सां–त–कौ५) वाचस्पतिना ;– 'सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति' इति । त्रिगुणं—प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् (११) इत्यत्र 'तदनेन सुखादीनामात्मगुणत्वं पराभिमतमपाकृतम्' इति च ॥

विज्ञानभिक्षुश्च (सां-प्र भा) ननु प्रकाशस्वरूपत्वेऽपि तेजोवद्धर्मधर्मिभावोऽस्ति न वा? तत्राह—निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा (१–१४६) सुगमम् । पुरुषस्य प्रकाशरूपत्वे सिद्धे तत्संबन्धमात्रेणान्यव्यवहारोपपत्तौ प्रकाशात्मकधर्मकल्पनागौरवमित्यपि बोद्धव्यम् । तेजसश्च प्रका-

भावप्रकाशः

शाख्यरूपविशेषाग्रहेऽपि स्पर्शपुरस्कारेण ग्रहात् प्रकाशतेजसोर्भेदः स्सिध्यति। आत्मनस्तु ज्ञानाख्यप्रकाशाग्रहकाले ग्रहणं नास्तीत्यतो लाघवात् धर्मधर्मिभावशून्यं प्रकाशरूपमेवात्मद्रव्यं कल्प्यते; तस्य च न गुणत्वम् संयोगादिमत्त्वात् अनाश्रितत्वाच्चेति। तथाच स्मर्यते—

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः पूर्णस्सदा शिवः॥

इति।

ननु निर्गुणत्व एव का युक्तिः? इति चेत्; उच्यते;— पुरुषस्येच्छाद्यास्तावान्नित्या न संभवन्ति जन्यताप्रत्यक्षात्। जन्यगुणाङ्गीकारे परिणामित्वापत्तिः। तथाचोभयोरेव प्रकृतिपुरुषयोः परिणामहेतुत्वकल्पने गौरवात्। आन्ध्यपरिणामेन कदाचिदज्ञत्वस्यापत्त्या ज्ञानेच्छादिगोचरसंशयापात्तिश्च। तथा जडप्रकाशायोगस्योक्तत्वादपि न नित्यस्यानित्यज्ञानसंभव इति। इच्छादिकमन्वयव्यतिरेकाभ्यां मनस्येव लाघवात्सिध्यति। मनस्संयोगस्यात्मनश्चोभयोस्तद्धेतुत्वे गौरवात्। गुणशब्दश्च विशेषगुणवाचीत्युक्तमेव। अत आत्मा निर्गुणः। अपि च ये तार्किका आत्मनः कर्तृत्वमिच्छन्ति तेषां मोक्षानुपपत्तिः अहं कर्तेति बुद्धेरेव गीतादिष्वदृष्टोत्पत्तिहेतुत्वात्। तस्याश्च तन्मते मिथ्याज्ञानत्वाभावेन तत्वज्ञाननिवर्त्यत्वासंभवात्। अतः श्रुत्युक्तमोक्षानुपपत्त्या आत्मनोऽकर्तृत्वमस्माभिरिष्यते। अकर्तृत्वाच्चादृष्टसुखाद्यभावः। ततश्च मनसः कृत्यादिहेतुत्वे कल्पनीये लाघवादन्तर्दृश्यगुणत्वावच्छेदेनैतत्कल्प्यते अत आत्मा निर्गुण इत्याह॥

सर्वार्थसिद्धिः

*साक्षितामात्रम् । †यद्वा प्रकृतेः कर्तृत्वं आत्मनो भोक्तृत्वमात्रम् ।

आनन्ददायिनी

आत्मनि भासते इति सांख्यसप्ततिटीकाद्युक्तं सांख्यमतमाह—**यद्वेति** ।

भावप्रकाशः

*साक्षितामात्रमिति । अन्तःकरणप्रतिबिम्बितत्वमात्रमित्यर्थः । यथोक्तमीश्वरकृष्णेन (सां-स)—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥

इति ॥ अत्र तत्वकौमुदी—'साक्षी च दर्शितविषयो भवति । यस्मै प्रदर्श्यते विषयस्स साक्षी । तथा हि—लोके आर्थिप्रत्यर्थिनौ विवाद-विषयं साक्षिणे प्रदर्शयतः; प्रकृतिरपि स्वचरितं पुरुषाय दर्शयतीति पुरुषस्साक्षी' इति । सुखी हि सुखेन तृप्यन् दुःखी हि दुःखं द्विषन् मध्यस्थो न भवति । तदुभयरहितस्तु मध्यस्थ इत्युदासीन इति चाख्यायते इति । अत्र वंशीधरविवरणम्—'साक्षित्वं च साक्षा-द्द्रष्टृत्वम्—अव्यवधानेन द्रष्टृत्वमिति यावत् । साक्षात्संबन्धश्च बुद्धि-तद्धर्माणामेव । अन्येषां तु तद्द्वारेति । अतो बुद्धितद्धर्माणां साक्षी पुरुषः अन्येषां तु द्रष्टृमात्रं' इति शास्त्रीयविभागः इति । अयमर्थः—'साक्षात्सम्बन्धात्साक्षित्वम्—१—१६१' इति सूत्रविज्ञानभिक्षुभाष्ये व्यक्तमुक्तः । अत्र कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं साक्षिण्यात्मन्यारोपितम् न तात्विकमिति पक्षोऽपि विवक्षितः । कर्त्रधिकरणे शङ्कराचार्यैरपि साङ्ख्य-मतस्य निरस्ततया तदधिकरणं परायत्ताधिकरणं च निर्गुणात्मवादस्य श्रुतितात्पर्याविषयतां साधयतीत्यभिप्रेत्य 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इत्यत्र पूर्वपक्षक्रममनुसृत्याप्याह—†यद्वा प्रकृतेः कर्तृत्वमित्यादि ।

तत्वमुक्ताकलापः

बोद्धा कर्ता च भोक्ता दृढमवगमितः प्रत्यगर्थः प्रमाणैः

सर्वार्थसिद्धिः

गीतं च तत् *'कार्यकारण' इत्यादिना' इति; तान् प्रत्याह—**बोद्धेति** । †त्रिभिरपि प्रमाणैः ज्ञातृत्वादिप्रकारत्रयवानात्मा

आनन्ददायिनी

त्रिभिरपीति–अहं जानामि अहं भुञ्जे अहं करोमीति प्रत्यक्षेण; आत्मा ज्ञातृत्वादिमान् तद्वत्तथा अबाधितोपलम्भविषयत्वात् इत्याद्यनुमानेन;

भावप्रकाशः

यथोक्तमीश्वरकृष्णेन—

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् . . . . . ।

इति च (१७) । एवं विज्ञानभिक्षु(सां+प्र)भाष्यमूलभूतानि 'चिदवसानो भोगः (१-१४) 'अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्' 'अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुः फलागमः' 'उपरागात्कर्तृत्वम् चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात्, इति सूत्राण्यप्यनुसंधेयानि । *कार्यकारणेत्यादि—

कर्तृत्वे हेतुरुच्यते ।

पुरुषःसुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।

इत्यादिशब्दार्थः ॥

†त्रिभिरपीत्यादि–प्रत्यक्षम्; बोधकृतिभोगानामबाधितोपलम्भादिति लिङ्गम्; 'एष हि द्रष्टा' इत्याद्युदाहृतश्रुतिश्चेति प्रमाणत्रयं बोध्यम् । अत्र सांख्यसंमतं प्रमाणत्रयमेव सिद्धान्तिसंमतमिति तावन्मात्रमुक्तम् । सांख्यवत् निर्गुणात्मवादिभिरपि सर्वैरभावप्रमाणं

सर्वार्थसिद्धिः

* निस्संशयं बोधितः । अतो न तत्रैकमपि निह्नोतुं शक्यम्;

आनन्ददायिनी

'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिश्रुत्या चेत्यर्थः । **न तत्रैकमपीति**--ज्ञातृत्वादिषु न किंचिदपीत्यर्थः । प्रत्यक्षादिष्वेकमपीत्याहुः । नन्वबाधितैरेव प्रत्यक्षादिभिरर्थसिद्धिर्वाच्या; अन्यथा शङ्कपीतिमभ्रमेणापि तत्वप्रसङ्गात्;

भावप्रकाशः

नाभ्युपगन्तव्यम् असङ्गत्वादेरात्मस्वरूपत्वाङ्गीकारे लाघवात् । सर्वत्राभावस्य प्राभाकरसांख्यवत् अधिकरणरूपत्वाभ्युपगमस्यैव युक्तत्वात् । 'असङ्गो ह्ययं पुरुष' इत्युक्तासङ्गत्वादेरात्मातिरिक्तत्वे निर्गुणवादविलयप्रसङ्गात् । अभावत्वप्रकारकज्ञाने योग्यानुपलब्धेस्सहकारित्वेन अधिकरणज्ञानार्थं सर्वैरपेक्षणीयस्येन्द्रियस्य करणताया युक्तत्वात् इति निगूढाभिसन्धिः ॥

* निस्संशयमिति—इदं च; इत्याह+दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन' इति कुमारिलवार्तिकश्लोकप्रत्यभिज्ञापनार्थं मूलोपात्तस्य दृढमित्यस्य विवरणम् । वार्तिकस्य शास्त्रदीपिकोक्तं तात्पर्यं पूर्वमेव (४४-८८) प्रदर्शितम् ॥

अत एव शङ्कराचार्यैः—'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इत्यत्र (२-३-३३ सू. भा) यजेत जुहुयात् दद्यात् इत्येवंविधं विधिशास्त्रमर्थवद्भवति तथेदमपि शास्त्रमर्थवद्भवति 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता भोक्ता विज्ञानात्मा पुरुषः इति' इत्यत्र वेदपूर्वोत्तरभागश्रुत्यर्थपरिशीलनेन; 'शक्तिविपर्ययात्' इति सूत्रे—'सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहंप्रत्ययविषयत्वमभ्युगन्तव्यम्' इत्यादिना कर्तृकरणवस्तुद्वयमङ्गीकृत्य प्रकृतेः कर्तृत्वं पुरुषस्य भोक्तृत्वमिति वदतः

भावप्रकाशः

सांख्यस्य मतं निरस्तम् । तत्र (र-प्र) सत्यां च बुद्धेरिति—योऽहंधीगम्यः स कर्ता स एव जीवः यत्तदपेक्षितं करणं तन्मन इति जीवकर्तृत्वसिद्धिरिति भावः' इति व्याख्यानं च संगच्छते ॥

'यथा च तक्षोभयथा' इत्यत्र 'तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम् । तथाच श्रुतिः 'ध्यायतीव लेलायतीव' इति—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।

इति चोपाधिसंपृक्तस्यैवात्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति । न हि विवेकिनां परस्मादन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते! 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रवणात् । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इति अविद्यावस्थायां कर्तृत्वभोक्तृत्वे दर्शयित्वा विद्यावस्थायां ते एव कर्तृत्वभोक्तृत्वे निवारयति 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येदिति' इत्युपक्रम्य 'तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तते 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इत्येवंजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वाद्यथाप्राप्तमेवाविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदति । उपलब्ध्यपेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वम्; सा च आत्मनः । न च तस्यामप्यस्य कर्तृत्वमस्ति! नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात् । अहंकारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति अहंकारस्याप्युपलभ्यमानत्वात् । नचैवं सति करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः! बुद्धेः करणत्वोपगमात्' (शा-सू-भा) इत्यन्तेन सिद्धान्तः कृतः । एवं 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्येवमादीनामन्यार्थासंभवात् 'द्रष्टा श्रोता मन्ता' इत्येवमादीन्यक्षराणि यथाप्राप्तलौकिकवाक्यानुवादित्वात् नात्मतत्वनिर्धारणार्थानि' (बृ-५-४-शां-भा) इत्यन्यत्रोक्तम्

सर्वार्थसिद्धिः

* किंपुनस्त्रितयम्! † कुतर्कैस्तु । किं नाम दुरपलपमिति भावः ।

आनन्ददायिनी

तथाच तर्कबाधितत्वान्नैतत्सिद्धिरित्यत्राह—**कुतर्कैस्त्विति** । तर्काभासानां

भावप्रकाशः

इति शङ्कायामाह; * किंपुनस्त्रितयम् इति । अनुमानमात्रासिद्धेऽर्थे लाघवस्य पुरस्कारेऽपि प्रत्यक्षशब्दसमधिगम्ये लाघवस्य व्यवस्थापकत्वाभावात् । प्रत्यक्षेण सिद्धेऽर्थे ज्वालाभेदानुमानेन ज्वालैक्यप्रत्यभिज्ञावत् अतीन्द्रियार्थस्यानुमानतस्सिद्धिं वदद्भिस्सांख्यैः आत्मकर्तृताप्रत्यक्षे कुतर्कैः कलुषीकृते 'एष हि द्रष्टा—कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इति श्रुतिः आत्मनः ज्ञानस्वरूपस्य ज्ञानवत्त्वकर्तृत्वादीनि प्रतिपादयन्ती प्रत्यक्षसिद्धमर्थं द्रढयतीत्यात्मतत्वनिर्धारणार्थैव । सुषुप्तौ धर्मभूतज्ञानाग्रहणेऽपि धर्मिग्रहणमुपपादितम् । अतः तेजस्तत्प्रकाशयोरिव ज्ञानात्मनोर्धर्मधर्मिणोरुभयोरङ्गीकारो न दुष्यति । आत्मा प्रतिबिम्बा(म्बशून्यः)-योग्यः निरवयवत्त्वात् तत्तद्गतस्वप्रतिबिम्बशून्यः तत्तत्सन्निकृष्टत्वात्—इत्यनुमानेन आत्मनः प्रतिबिम्बासंभवेन प्रतिबिम्बनिबन्धनज्ञातृत्वभोक्तृत्वयोरसंभवात् । पराभिमतप्रतिबिम्बश्रुतयस्तु अन्यपरा इति निरूपयिष्यते इति भावः ॥

लाघवमात्रपुरस्कारे आत्मनां भेदस्य औपाधिकत्वाभ्युपगमस्यैव युक्ततया सांख्यमते स्वाभाविकपुरुषबहुत्वं न स्यात् । एवं वेदान्तिनये आकाशस्य सावयवत्वेन निरवयवस्यानेकधर्मवत्त्वे नित्यस्यानित्यगुणाश्रयत्वे च (बृ. शं. भा. ३–४–७ ॥ ६–३–२७) परोक्तदृष्टान्तविरहवत् निरवयवस्यावच्छेदे-प्रतिबिम्बे च दृष्टान्तविरहस्य तुल्यतया भ्रमजनकदोषादेरधिष्ठानस्य च समानसत्ताकत्वस्यैव सर्वत्रानुभवसिद्धतया विवर्तवादिमते अधिष्ठानपारमार्थ्यासिद्धया च एकोऽ-

आनन्ददायिनी

सर्वत्र सुलभत्वा[1]त्तैरेव तद्बाध इति भावः । ननु कठवल्ल्याम्—जीवस्य 'न जायते म्रियते' इत्यादिना जन्मजरामरणादिकं प्रतिषिध्य हननादि-क्रियासु कर्तृत्वमपि प्रतिषिध्यते —

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

इति । तेन सामान्यतः कर्तृत्वाभावस्सिद्धः । तथाच गीतायाम्—

प्रकृतेःक्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
नान्यं गुणेभ्यःकर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥
पुरुषस्सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।

इत्यनेन पुरुषस्य भोक्तृत्वमेव प्रकृतेः कर्तृत्वमेवेति प्रतिपादनात्तद्विरोधः इत्याशङ्क्य गीतायामेव —

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधा च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं च यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

इति सांसारिककर्तृत्वस्य प्रकृत्याद्यनुबन्धिनः केवलात्मानुबन्धित्वाभावात्

[1] I त्वात्तादृशैरेव बाधकत्वेनोपन्यस्ततर्काणां बाधः -ग. II त्वात्तैरेव तर्कबाध-घ.

तत्वमुक्ताकलापः

कर्तृत्वाभाववादे स्वयमिह भगवान्

सर्वार्थसिद्धिः

* शास्त्रैरात्मनः कर्तृत्वनिषेधे का गतिरित्यत्राह—**कर्तृत्वेति । स्वयमिति—**
† कर्तृत्वनिषेधक एव स्ववाक्यतात्पर्यमाहेति भावः । भगवानित्याप्ततमत्व-

आनन्ददायिनी

तथा पश्यतो भ्रान्तत्वोक्त्या कर्तृत्वनिषेधस्य केवलात्मानुबन्धित्वनिषेध-परत्वाभिप्रायस्य स्फुटमवगमात् न दोष इत्याह[1]—**शास्त्रैरित्यादिना ।**

भावप्रकाशः

यतीव' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिशास्त्रविरोधमाशङ्कते—
*शास्त्रैरित्यादिना । उक्तं च सांख्यैः—(सां. प्र. सू.) 'श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात्' (१-१४७) 'निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः' (६-१०) इति 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादिश्रुतयः तद्भाष्योदाहृताः । एवं 'असङ्गत्वश्रुतेः विकारहेतुसंयोगाभावश्रवणात् तं विना च गुणाख्यविकारासंभवात्' इति भाष्यं च ॥

† कर्तृत्वनिषेधक एवेत्यादि—एतेन श्रुतिष्वपि कर्तृत्वनिषेधस्यापातप्रतीतावपि तात्पर्यनिर्णायकपर्यालोचनायां परायत्तकर्तृत्व एव तात्पर्यमिति सूचितम् । तथा हि—'स समानस्सन् उभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव' (६-३ ७) इत्यत्र समशब्दं विहाय समानशब्दप्रयोगात् साम्यप्रतियोगिवाचकतृतीयाषष्ठ्यन्यतरान्तपदाप्रयोगात् अनुसंचरतीत्यत्र तिङुपस्थाप्यकर्तृत्वस्य 'स्वतन्त्रः कर्ता'

---

[1] (ननु कठवल्ल्यामित्यादरेतदन्तस्य स्थाने)—ननु गीताशास्त्रे कर्तृत्वनिषेधः कथमित्याशङ्क्य तस्मिन्नेव शास्त्रे निषेधशास्त्रस्य संसारदशायां तत्करणकलेबरात्मकप्रकृतिविकाराधीनं अन्यतः प्रकृतिसंबन्धवशात् सङ्कुचितमित्येवंपरतया प्रतिपादितत्वान्न दोष इत्याह—शास्त्रैरित्यादिना इति पाठः—**ग, घ, ङ.** पुस्तकेषु.

भावप्रकाशः

इत्यनुशासनेन स्वातन्त्र्यरूपतया स्वातन्त्र्याभिमानविवक्षाया युक्तत्वाच्च समानशब्दस्य स्वातन्त्र्याभिमानवानित्यर्थः। एवं 'ध्यायतीव' इत्यत्र इवशब्दस्य 'इवोपमायामल्पत्वे' इति कोशादल्पत्ववचन इति (ल. च. ६१०) ब्रह्मानन्दोक्त्या कर्तृत्वगतं अल्पत्वमर्थः। तच्चान्यापेक्षत्वमेव ॥

अत एव निर्गुणविद्यात्वेन पराभिमतप्रजापतिविद्यायां 'स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः' इत्यत्र मुक्तस्य मनोविरहकाले मनोऽनधीनकर्तृत्वप्रतिपादनं उपचारमन्तरैव संगच्छते ॥

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति श्रुतिः मनस एव कर्तृत्वं नात्मन इति निर्गुणवादेनात्मन एकत्वं न साधयितुमलम्। पूर्वं 'यो मनसि तिष्ठन् यो मनोऽन्तरो यमयति' 'य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानमन्तरो यमयति' 'अदृष्टो द्रष्टा' इति परमात्मनः मन आत्मनोर्नियमनकर्तृत्वस्य दर्शनकर्तृत्वस्य च प्रतिपादनात्। तेन च मनोगतं कर्तृत्वमात्मन्यध्यस्तमित्याद्युत्प्रेक्षणस्याप्यसंभवात्। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यत्र उपाध्यनिर्देशेन शुद्धात्मनियामकत्वस्य 'अदृष्टो द्रष्टा' इत्यत्राप्युपाध्यनिर्देशेन दर्शनकर्तृत्वस्यापि शुद्धे परमात्मनि प्रतिपिपादयिषायाः स्पष्टत्वात्। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यत्रापि अतश्शब्देन पूर्वोक्तनियन्तृत्वद्रष्टृत्वविशिष्टस्य परामर्शस्य सर्वैरप्यभ्युपेयतया नियन्तृत्वादिविशिष्टान्यस्य दर्शनकर्तुर्निषेधस्यैव ततःप्रतीतेः। तेन चान्तःकरणादेः दर्शनश्रवणादिकर्तृत्वं नास्ति। किं तु परमात्मन इत्यर्थस्य सिद्ध्या निर्गुणवादोच्छेदात् ॥

न चात्र स्वतन्त्रातिरिक्तपरतन्त्रकर्तृनिषेधोऽभिप्रेतः। 'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' तं अन्त-

भावप्रकाशः

र्यामिणं ब्रूहि इत्येतावन्मात्रस्य पूर्वं प्रश्नकरणेनापृष्टोत्तरत्वप्रसङ्गात् । परमतेऽपि जीवेशयोरङ्गीकारात्—

सूत्रादप्यन्तरतमस्त्वन्तर्याम्यधुनोच्यते ।
कार्यकारणभावोऽयं यस्मिन्नुक्ते समाप्यते ॥ २५ ॥
प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासं स्वकार्यनियमात्मकम् ।
तदुपाधिर्नियन्तैष परःप्रोक्तो न तु स्वतः ॥ ४३ ॥
स एषोऽभ्यन्तरो देवस्सर्वकारणकारणः ।
नियच्छति . . . . ॥

इति सुरेश्वरवार्तिके प्रश्नप्रतिवचनयोरानुरूप्यप्रदर्शनाच्च । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा ' इत्यनन्तरं ' एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः अतोऽन्यदार्तम्' इत्युपसंहाराच्च नात्र परतन्त्रकर्तुर्निषेधः । 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति वाक्यं पूर्वमेव पृथिव्यादिप्रतिपर्यायमभ्यस्तम् (२१) तत्र च 'शब्दविशेषात्' इति सूत्रोक्तदिशा जीवान्तर्यामिणोर्भेद एव विवक्षितः । न त्वन्तर्यामिणि जीवस्वरूपता । द्वाविंशतिकृत्वोऽभ्यस्तयोः षष्ठी—आत्मशब्दयोः स्वारस्यभङ्गे कारणाभावात् प्रश्नवैषम्याच्च । 'अतोऽन्यदार्तम्' इत्यत्र अन्तर्यामिव्यतिरिक्ते जीवे दुःखित्वाभिधानाच्च । आर्तशब्दस्य चेतन एव प्रचुरतरप्रयोगेण दुःखिवाचकत्वात् । एष ते....अमृतः इति पूर्ववाक्ये 'अमृतः' इत्यत्र प्रतियोगिसमर्पक मृतशब्दस्यापि चेतन एव प्रचुरप्रयोगाच्च । 'स उत्क्रामन् म्रियमाण' इति श्रुतेश्च । एतेन 'नान्योऽत' इत्यस्या अत इत्यनुषङ्गेण अतोऽन्यत् अत आर्तमिति योजनया अतो ब्रह्मणो विनाशीत्यर्थलाभेन ब्रह्मणोऽखण्डाकारवृत्त्यभिव्यक्तस्यैव ब्रह्मान्यसर्वविनाशकत्वात् ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वलाभः । (८४२ ल. चं.) इति अस्य वाक्य-

भावप्रकाशः

स्याचेतनपरत्वोक्तिः हठात् स्वापेक्षितार्थवर्णनमेवेति सिद्धम् । पूर्वं (न वेद इति) अवेद्यत्वस्य (२१) अभ्यासेन अन्तर्याम्यवेदनहेतुकमार्तत्वमिति बोध्यम् ॥

निर्गुणैकात्मवादे 'नान्योऽतोऽस्ति' इत्येतावन्मात्रेणालम्; द्रष्टा इत्यादिपदानां अतोऽन्यदार्तं इत्यादेश्च वैयर्थ्यम्। 'अदृष्टो द्रष्टा' इत्यादौ द्रष्ट्रादिपदेषु कर्तृप्रत्ययार्थबाधः अपृष्टोत्तरत्वमित्यादिदोषानालोच्य 'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि' इति प्रश्नगतद्वितीयान्तानुषङ्गेण द्रष्टा इत्यत्रान्वयेन। 'समानमितरच्छ्येनेन' इत्यत्र इतरशब्दस्सदृशार्थस्यापि बोधक इति 'अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्थे ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेस्तद्वाचकं समानं स्यात्' (७, १, १६) इति सूत्रे जैमिनिनिर्णीतन्यायेन 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यत्रान्यशब्दस्यापि भिन्नसदृशार्थतया वा 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति श्रुतेः नियन्तुर्नियन्त्रन्तरनिषेधपरता प्राचीनवृत्तिकारैरादृता (शङ्कराचार्यैरशङ्किता) 'उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' (१, २, २१) इति सूत्रयितुर्व्यासस्याभिमतेत्यन्तर्याम्यधिकरणश्रीभाष्यतट्टीकयोर्व्यक्तम् । एवं 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' इत्यत्रापीत्यक्षराधिकरणे स्पष्टम् । शङ्कराचार्यैरपि उपनिषद्भाष्ये—'इयदामननात्' (३-३-३४) इति सूत्रे च 'द्वासुपर्णा' (मुं ३-१-१) 'ऋतं पिबन्तौ' (३–१–२) समाने वृक्षे (श्वे: ४-७) इत्यत्र जीवपरमात्मद्वयं विवक्षितमित्युक्तम् । तदुत्तरसूत्रे च 'उभयोस्सर्वान्तरत्वं न संभवति किंतु एकस्यापेक्षिकमान्तरत्वं अन्यस्य सर्वान्तरत्वं घटते' इति 'तथाऽन्यप्रतिषेधात्' (३-२-३६) इत्यत्र सर्वान्तरश्रुतेश्च न परमात्मनोऽन्यः अन्तरात्मास्तीत्यवधार्यते' इति 'असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः' (२-३-९) इत्यत्र 'न चास्य

भावप्रकाशः

कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे ६-९) इति च ब्रह्मणो जनयितारं वारयति' इति चोक्तम् ॥

एवं निरङ्कुशं सर्वनियन्तृत्वं श्रौतम् । न च तादृशसर्वनियन्तरि भेदः! इति (आ. गि. १-२-१८) टीकाकारैरपि. अतो 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यस्य प्राचीनसंमतोऽर्थो न प्रत्याख्यानमर्हतीति श्रीभाष्यानुयायिनः ॥

ननु माध्यन्दिनपाठे 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यस्य स्थाने काण्वपाठे 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इति पठ्यते । तत्र च वागादिकरणात्मप्रवाहपाठात् अन्तःकरणोपाधिको जीव एव विवक्षितः (सि. सि. अं.) एवं 'य आत्मा' इत्यत्राप्यात्मशब्दस्य मनोवाचितया मनउपाधिक एव विवक्षितः न तु शुद्धः । तस्य च मायोपाधिकः परमात्मा नियन्ता इत्यर्थः । एवं 'द्वासुपर्णा' इत्यादौ सोपाधिकात्मैव विवक्षितः न तु शुद्धात्मा इति न निर्गुणैकात्मवादानुपपत्तिः इति चेत्; तथा सति 'यो मनसि तिष्ठन्' इत्यादिनैवोक्तार्थलाभे 'य आत्मनि' 'यो विज्ञाने' इत्यनयोर्वैयर्थ्यमेव प्रसज्यते । विज्ञानात्मशब्दयोः बुद्ध्यवस्थमनसि प्रसिद्ध्यभावेन बुद्ध्यवस्थमनउपाधिकजीवविवक्षया कथंचित् सार्थक्यकल्पनस्याप्ययुक्तत्वात् । एतदध्यायान्ते 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यत्र विज्ञानशब्दस्य प्रसिद्धिप्राचुर्यात् भावार्थकत्वस्य विवरणे प्रतिपादनेन एतदुत्तराध्याये 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यत्र आत्मशब्दस्य परमात्मवज्जीवात्मप्रसिद्धिप्राचुर्येण जीवार्थकत्वस्य परसंमतत्वेन च 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्युपक्रमे पञ्चभूतानां पृथगुक्त्या 'यस्सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' इत्यत्र चेतनमात्रनियामकत्वसिद्धौ पुनरात्मपर्यायो ब्राह्मणा आगता वसिष्ठोऽप्यागत इतिवत् उत्कृष्टयोगसिद्धचेतनाभिप्राय इति (ब्र.वि.आ.)

भावप्रकाशः

उक्तावपि आत्मशब्दस्य वसिष्ठशब्दवद्विशेषवाचित्वाभावेन उपाध्यनिर्देशेन पाठद्वयैकरस्येन च शुद्धस्यैव ग्राह्यताया युक्तत्वात् 'नान्तरिक्षे न दिवि' इत्यस्य 'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यः' इत्येतद्दृष्टान्ततावत् यं पृथिवी न वेद इत्यादेः यमात्मा न वेद इत्येतद्दृष्टान्ततया बहूनां पृथिव्यादिशब्दानां रूढ्यर्थाङ्गीकारेणानौपचारिकत्वेन निर्वाहे संभवति पृथिवीवागादिशब्दानां विज्ञानात्मशब्दयोश्च रूढ्यर्थपरित्यागस्यानुचितत्वेन च करणात्मप्रवाहपाठस्यासिद्धेश्च । अतो निरुपाधिकयोर्नियाम्यनियामकभावस्य 'य आत्मानमन्तरो यमयति' इत्यत्र प्रतिपादनात् 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति द्वाविंशतिवारमभ्यासेन जीवपरयोर्भेदाभिधानात् । 'अतोऽन्यदार्तम्' इति जीवस्य दुःखित्वकथनात् प्रश्नानुरूप्याच्च 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यत्र नियन्तुर्नियन्त्रन्तरं निषिध्यते न तु स्वतन्त्रपरतन्त्रकर्तृद्वयम् । अत एव—

'एष आत्मेति होवाच—एतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तानि ह वा एतानि त्र्यक्षराणि सत् ति यमिति तद्यत्सत् तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति' (छां ८-३-४) इत्यादिश्रुतयश्च संगच्छन्ते इति प्राचीनानामाशयः ॥

अत एव—'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इति (मूर्तामूर्तमैत्रेयी) ब्राह्मणोक्तयोः पुरुषात्मनोरैक्यनिरूपणपरे मधुब्राह्मणे 'स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानां राजा अस्मिन्नात्मनि सर्व एत आत्मानस्समर्पिताः' इत्यत्र परमात्मनः स्वतन्त्रत्वादिकं सर्वेषां जीवात्मनां तदधीनसत्ताकत्वं च प्रतिपादितं संगच्छते॥

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इति (मू+मै) ब्राह्मणोक्तार्थस्य सर्वान्तरत्वनिरूपणपरे उषस्तब्राह्मणे 'न दृष्टेर्द्रष्टारं

भावप्रकाशः

पश्येः' इत्यपि जीवात्मोपासननिषेधेन सर्वान्तरपरमात्मोपासनपरैव। अत्र दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातिशब्दाः मैत्रेयीब्राह्मणवद्दर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनार्थकाः—

दृष्टेर्जडस्वरूपायाः परार्थायास्स्वतश्चितिम्।
न पश्येः प्रत्यगात्मानं द्रष्टारं दृश्ययाऽनया॥

(बृ—वा) इति परपक्षे द्रष्टारमित्यत्र प्रत्ययार्थस्य कर्तुरविवक्षायां निदानं मृग्यम्। मैत्रेयीब्राह्मणवाक्यादिविरोधश्च। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' इत्यनन्तरं 'एष त आत्मा सर्वान्तरः अतोऽन्यदार्तम्' इत्यत्र परस्य आत्मनः 'अन्तःप्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा' इत्युक्तदिशा जीवं प्रत्यात्मत्वं सर्वान्तरत्वं च जीवस्य दुःखित्वं च प्रतिपाद्यते इति॥

एवं 'दृष्ट्वैव पुण्यं पापं च स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिरपि न जीवस्याकर्तृत्वं साधयितुमलम्। दृष्ट्वा पश्यतीति दर्शनकर्तृत्वस्य प्रतिपादनात्। अकर्तृत्वनिर्गुणत्व निर्धर्मकत्वबोधकपदस्य कस्याप्यभावाच्च; असङ्गत्वं च संबन्धसामान्याभावरूपं सांख्यैरपि नाभ्युपेयते; 'प्रकृतिपुरुषतत्संयोगा नित्यानुमेयाः। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतस्सर्गः' इति तदुक्तेः॥

विज्ञानभिक्षुणाऽपि पुरुषे प्रकृतिसंयोगमङ्गीकृत्य असङ्गश्रुतेः विकारहेतुसंयोगाभावपरत्वाभ्युपगमात्। वंशीधरेण तत्स्थापनाच्च॥

यद्यपि 'दृष्ट्वैव पुण्यं पापं च' इत्यत्र एवकारेण कर्तृत्वं व्यवच्छिद्यते (शं-उ-भा) (सु-वा) इति असङ्गत्वं संबन्धसामान्याभावरूपं (सि-बि-टी ९,३) इति चोक्तम्। तथाऽपि तैरारोपितकर्तृत्वस्याध्यासिकसंबन्धस्य चाङ्गीकारात् सामान्यतो निषेधो न संभवतीति परमार्थतः स्वभावतो वा तयोर्निषेधो वाच्यः। परमार्थतो निषेधतात्पर्यनिर्णायकं

भावप्रकाशः

च न किंचिदस्ति । 'उतेव स्त्रीभिस्सह मोदमानः' इत्यादाविव-शब्दस्य 'इवोपमायामल्पत्वे' इति लघुचन्द्रिकोदाहृतकोशादल्पत्वार्थकत्वात् । अल्पत्वस्य चाल्पकालसंबन्धित्वरूपत्वात् ॥

पूर्वं 'न तत्र रथा-भवन्ति अथ—रथान् सृजते स हि कर्ता' इत्यत्र स्वप्ने अस्थायिनामर्थानां स्रष्टृत्वं कर्तृत्वं भगवतः प्रतिपादितम् । एवं कठोपनिषदादौ । अतो दृष्ट्वैव 'पुण्यं पापं च' इत्यत्र एवकारेण जीवस्य दर्शनकर्मस्वाप्निकपदार्थस्रष्टृत्वं व्यवच्छिद्यते तेन च 'सृजते स हि कर्ता' इत्यत्र स्रष्टृत्वं परमात्मन इति निर्धारितं भवति । श्रुतौ अविद्यावासनामूलकत्वं स्वाप्निकपदार्थेषु न प्रतिपादितम् । किंच 'दृष्ट्वैव पुण्यं पापं च' इत्यत्र पुण्यपापशब्दयोस्तत्फलपरत्वं (शं. उ. भा)(सु. वा) उक्तम् । पुण्यपापयोरपूर्वद्वारा न फलजनकत्वं किं तु ईश्वरस्यैवेति (बृ. ५-८ शं) भाष्ये उक्तम् । एवं फलाधिकरणभाष्यभामत्यादौ । एवं च स्वाप्नपदार्थानां जीवपुण्यपापानुगुण्येन ईश्वरसृष्टत्वं सिद्धम् । पुण्यपापशब्दौ स्वाप्निकानुभवप्रयोजकपुण्यपापमात्रपरौ न तु पुण्यपापसामान्यपरौ स्वप्ने कर्मसामान्यफलानुभवस्याभावात् । 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यत्र स्वाभाविकसङ्गनिषेधस्तु सिद्धान्तेऽपि सुवचः । स्वाप्निकपदार्थानां तदनुभवस्य च पुण्यपापौपाधिकतया जागरे तदुपक्षये स्वाप्निकपदार्थासङ्गेन दर्शनानुवृत्त्यभावसंभवात् । किं च अनन्वागतवाक्यं हेतुः असङ्गवाक्यं प्रतिज्ञा इति पक्षोऽपि (बृ) वार्तिके उक्तः । तत्पक्षेऽपि जागरे स्वप्नदृष्टपदार्थानुवृत्त्यभावात् स्वप्नदर्शनहेतुभूतपुण्यपापसङ्गाभाव इत्यर्थः । अयमाशयः—यदि जीवः स्वाप्निकपदार्थस्रष्टा स्यात् स्वाप्निकान् जागरस्थायिनोऽपि सृजेत् ।

तत्वमुक्ताकलापः

आन्यपर्यं त्वगायत्

सर्वार्थसिद्धिः

व्यञ्जनम् । **अगायत्**—* 'पञ्चैतानि' इत्यारभ्य 'न स पश्यति दुर्मतिः'

भावप्रकाशः

न च तथाविधा अर्थाः क्वचिद्दृष्टाः ! अतः जीवकर्मानुगुण्येन स्वाप्निकानर्थान् परमात्मा सृजतीति स कर्ता इति । एवमेव स्वप्ने जागरानुभूतपदार्थदर्शनाभावात् जाग्रदनुभवविषया अर्था जीवकर्मानुगुणमीश्वरसृष्टा इति परमात्मनि स्रष्टृत्वस्य कर्तृत्वस्य विश्रान्तिरिति जीवकर्तृत्वमपि परमात्माधीनमेवेति । निर्गुणश्रुतेरर्थः—

हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म हित्वा शुभाशुभम् ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः ॥

(शां प-मो-प ३६१-११) इति ब्रह्मरुद्रसंवादवचनेन निर्णीतस्सगुणात्मवादमेव साधयति इति (ह शि र-भू) निरूपितम् । 'साक्षी चेता' इत्याद्युक्तं साक्षित्वं साक्षाद्द्रष्टृत्वमेव । यथाभिमतवक्तरि प्रमातर्येव साक्षिशब्दस्य लोके रूढिः क्लृप्ता(सि.बिं.टी. ७७)इति परैरप्युक्तेरिति बोध्यम् ॥

ननु गीतायां 'य एनं वेत्ति हन्तारं' 'नायं हन्ति' (२-१९) इत्यनेन 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्' नायं हन्ति न हन्यते । इत्यादि श्रुत्यर्थमुपक्रम्य 'प्रकृतेः क्रियमाणानि+कर्ताहमिति मन्यते' ३-२७ 'सर्वकर्माणि मनसा+नैव कुर्वन्न कारयन्' (५ १३) 'प्रकृत्यैव च कर्माणि+आत्मानमकर्तारं स पश्यति' (१३-२९) 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्+न करोति न लिप्यते' (१३ ३१) 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्+मद्भावं सोऽधिगच्छति' (१४-१९) इत्यादौ प्रकृतिगतमेव कर्तृत्वं नात्मगतमित्युक्तशङ्कायां गीतायामेवात्मनः कर्तृत्वानिर्धारणप्रकरणवचनानि संगृह्णाति—* 'पञ्चैतानि' इत्यारभ्य इत्यादिना ।

भावप्रकाशः

'य एनं वेत्ति हन्तारम्—नायं हन्ति न हन्यते' इत्युपक्रम्य 'पञ्चैतानि महाबाहो! कारणानि' पञ्चैते तस्य हेतवः'॥ 'ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। इत्यादिकं वदतो गीताचार्यस्य 'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्' इत्यादि 'ऋतं पिबन्तौ, 'यस्सेतुरीजानानाम्' 'आत्मानं रथिनं विद्धि' आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' 'अव्यक्तात्पुरुषः परः' पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा' 'य इदं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ईशानं भूतभव्यस्य' 'या प्राणेन संभवति' अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। इशानो भूतभव्यस्य' 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' इत्यादिश्रुतयोऽत्र मूलभूता विवक्षिता इति प्रतीयते। तत्र विषयाणां बुद्धेश्च वशीकार्यत्वाय पृथग्गणनं कृतम्। विषयविषयकज्ञानवान् जीवः कर्तृताप्रयोजक एकोऽत्र विवक्षितः। 'या प्राणेन' इत्यत्र प्राणवायुरुक्तः। 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्रोक्तस्य परमात्मनः 'ईशानं भूतभव्यस्य' इत्यादौ प्राधान्यं व्यक्तमिति जीवः परमात्मा शरीरं इन्द्रियाणि प्राणश्चेति पञ्च कारणानि श्रुतावभिप्रेतानि—'स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः।' इति (छां॰) श्रुतिस्तु संक्षेपोऽस्येति बोध्यम्॥

'य एनं वेत्ति हन्तारं' 'नायं हन्ति न हन्यते' 'न जायते न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इत्युभयत्राप्यन्ते न हन्यते इत्युक्त्या जीवे हननकर्मत्वनिषेध एव प्रधानः। हन्तारमित्यत्र हनधातोः कर्मसाकाङ्क्षत्वेन एनमित्यस्य वैयधिकरण्येनान्वयः। एवं 'नायं हन्ति' इत्य-

भावप्रकाशः

त्रापि एनमित्यस्यानुषङ्गेन तथैवान्वयः । एनमित्यस्य 'अविनाशि तु' इत्यत्रोक्तविनाशयोग्यत्वाभाववन्तमित्यर्थः । तेन 'एनं हन्तारं' इत्यत्र हननकर्मत्वमपि स्वरूपयोग्यत्वं विवक्षितम् । हन्तारं हन्ति इत्यत्र कर्तृप्रत्ययेन चेतनाचेतनसाधारणहननप्रयोजकव्यापाराश्रयत्वं बोध्यते । 'अविनाशि तु' 'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति' 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' नित्यस्सर्वगतः' इति पूर्वं परत्र च तथैवोक्तेः । अतो 'नायं हन्ति न हन्यते इत्यत्र हननकर्मत्वस्वरूपयोग्यत्वाभावात्फलाश्रयत्वाभाव इत्येव विवक्षितम् । आत्मनः कर्तृत्वेऽपि अविकार्यत्वस्य नानुपपत्तिः । 'अविकार्योऽयमुच्यते' इत्यत्र अविकार्यः यथा क्षीरं दध्यातञ्चनादिना विकार्यं भवति तथा अयमात्मा (शं-गी-भा) इति विवरणेन अविकार्यत्वस्य स्वरूपपरिणामशून्यत्वरूपत्वात् । अत एव 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं नायं हन्ति न हन्यते' इत्यनन्तरम् ॥

'अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

इत्यादिना परमात्मनः अन्तर्यामित्वादिमत्ताज्ञानेन जीवस्य शोकनिवृत्तिप्रतिपादनं सङ्गच्छते ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात्स न पश्यति दुर्मतिः ॥

इत्यत्र केवलशब्दार्थासङ्गोदासीनस्वभावस्याकर्तृत्वं विवक्षितमिति परपक्षमसहमानाः केचिदेवमाचक्षते—'साक्षी चेताऽकेवलोऽनिर्गुणश्च' इति श्रुतौ अकेवलः अनिर्गुणः इति छेदः । 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यत्र

भावप्रकाशः

क्षेत्रज्ञशब्दो भगवद्वचनः। अतश्चात्र कर्तारं परमात्मानं केवलं—परसंमता-सङ्गोदासीनस्वभावं यःपश्यति स दुर्मतिः न पश्यति अकृतबुद्धित्वादित्येव विवक्षितम्। दुर्मतित्वं च 'अतत्त्वमसि' अकेवलः अनिर्गुणः' इति श्रुत्यर्थापरिज्ञानेन स्वेच्छया तच्छ्रुत्यर्थज्ञानवत्त्वम्। अकृतबुद्धित्वं च निर्गुणब्रह्मभावनायाः परमार्थत ईशेशितव्यविवेकाभावनिश्चयस्य चान-न्तरमीश्वरप्रसादविरहेण पूर्वं परमात्मनि सगुणब्रह्मभावनया ईश्वरप्रसादेन उत्पन्नाया बुद्धेः विरहः। 'न पश्यति' इत्यत्र 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् इत्यादिश्रुतिर्विवक्षिता। श्रुतौ चास्यां द्वैतदर्शनप्रशंसा अद्वैत-दर्शननिन्दा च क्रियते इति॥

भक्तेर्भगवद्गीताशास्त्रसारार्थतावादिभगवद्यामुनमुन्यनुयायिनस्तु—

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः (२-५)
'नियतं कुरु कर्म त्वम् . . . . . . ' (८)

इत्युक्तार्थः—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसःपरिकीर्तितः॥ १८-७
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। ११
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेतत्स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६

भावप्रकाशः

इत्यनेन विशदीकृतः। अत्र विदुषामविदुषां च कर्मत्यागो मोहमूल इति स्पष्टम्। 'अधिष्ठानं तथा कर्ता' इत्यत्र अधिष्ठानकरणचेष्टाः—देहेन्द्रियप्राणरूपाः प्रकृतिपरिणामा अचेतनाः। कर्ता जीवः 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इत्यत्र व्यासेन जीवस्य कर्तृत्वस्थापनात्। दैवं—पुरुषोत्तमः। 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इत्यत्र तेनैव जीवकर्तृत्वस्य मुक्तसाधारण्येन प्रकृतिनियामकपरायत्तत्वस्थापनात्॥ अत्रापि—

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
क्षरस्सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।
ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति॥
भ्रामयन् सर्वभूतानि।

इत्यत्र परमात्मनः बद्धकूटस्थमुक्तजीवनियामकत्वप्रतिपादनात्। 'कर्तारमात्मानं केवलं तु यः' इत्यत्र केवलशब्दः—

निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः॥

इतिकोशादेकार्थकं प्रसिद्धिप्राचुर्यात्। 'पञ्चैतानि' 'पञ्चैते' इत्येकत्वान्यसंख्यावाचकपदसमाभिव्याहाराच्च। अतश्च पञ्चानां सप्तमोपक्रमोक्तेषु त्रिषु प्रकृतिजीवपुरुषोत्तमेषु पर्यवसानम्। एवं च 'हेतुत्वं त्रिषु कर्तृभाव उभयोः' इति सिद्धान्ते पर्यवसानेन जीवात्मानमेकमेव कर्तारं यः पश्यति स दुर्मतिरकृतबुद्धित्वान्न पश्यतीत्यर्थः। 'सर्वस्य चाहं' 'यो लोकत्रयमाविश्य' 'ईश्वरस्सर्वभूतानां' इत्यादेरेतन्मूलभूतानां 'य आत्मानमन्तरो यमयति' 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' 'स ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय' इत्यादिश्रुतीनां

भावप्रकाशः

चार्थस्य परमात्मनोऽविद्याद्यहेतुकसर्वजीवनियन्तृत्वस्याज्ञानेन दुर्मतित्वम्। अकृतबुद्धित्वं च भक्तिमूलभगवत्प्रसादाधीनज्ञानविरहः। अकृतबुद्धित्वादित्यत्र भूतार्थकक्तप्रत्ययप्रयोगेण जातमप्यात्मदर्शनं प्रच्युतं भवतीत्यपि विवक्षितम्। तदुत्तरम् —

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ १८२४॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते॥ १६॥

इत्यत्र साहङ्कारस्य राजसकर्तृत्वस्य निरहङ्कारस्य सात्विककर्तृत्वस्य च प्रतिपादनपूर्वकम्; 'न तदस्ति पृथिव्यां वा' (४०) इत्यत्र प्रकृतिमण्डले सत्वरजस्तमोगुणशून्यचेतनविरहप्रतिपादनेन जीवात्मन इतराधीनं कर्तृत्वं प्रकृतिमण्डले प्रकृतीश्वरोभयनिबन्धनं प्रकृतेरूर्ध्वं मुक्तानां तु परमात्ममात्राधीनामिति सिद्ध्यति नाकर्तृत्वमिति व्यक्तं विदुषाम्॥ तदुत्तरम्—

यद्यहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

इत्यन्तेन परमात्मनस्सर्वनियन्तृत्वप्रकरणात् अहङ्कारः इतरानधीनकर्तृता-(स्वतन्त्रात्म)भ्रमो विवक्षितः। 'स्वतन्त्रोऽहं किमर्थं परोक्तं करिष्यामि' इत्यत्रत्यशङ्करभाष्येऽप्ययमर्थःस्फुटः॥

एवं च 'पञ्चैतानि—कारणानि निबोध मे' 'पञ्चैते तस्य हेतवः' 'तत्रैवं सति कर्तारम्—न स पश्यति' दुर्मतिः इत्यनन्तरं

'यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

भावप्रकाशः

इत्यत्र पूर्वार्धे इतरानधीनहननकर्तृत्वभ्रमो नास्तीति ; उत्तरार्धे इतराधीन हननकर्तृत्वाभिमानजन्यादृष्टवत्तया तत्फलसंबन्धयोग्यहन्त्रन्तरविलक्षण इत्यर्थ एव विवक्षित इति न्याय्यम्। अकर्त्रात्मनो निर्गुणस्य नात्र विवक्षा; 'यस्य नाहङ्कृतो भावः' इति विशेषणवैयर्थ्यात्। अविदुषोऽन्यस्यापि तन्मते कर्तृत्वाभावात् । तस्मिन्नपि च कर्मफललेपस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात् । आत्मकर्तृत्वस्याविद्यकत्वेन आरोपितत्वस्य क्वापि गीतायामप्रतिपादनात् । प्राकृतगुणत्रयहेतुकत्वस्य परमात्महेतुकत्वस्य च तत्र तत्र प्रतिपादनाच्च । 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसः—कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तः (३-२५) इत्युक्तविद्वदविद्वद्विशेषप्रदर्शनमुखेन उभयोः कर्मकर्तृत्वनिर्धारणावसरे 'प्रकृतेः क्रियमाणानि—अहङ्कारविमूढात्मा' इत्यत्र अहङ्कारः प्रकृत्यात्मविभ्रमः । आत्मशब्दः स्वरूपवाची । इत्थं च प्रकृत्यात्मभ्रमोऽत्र विवक्षितः । 'तत्ववित्' इत्यत्र प्राकृतगुणविभक्तात्मस्वरूपवेदनं प्रकृतिविलक्षणात्मवेदनपर्यवसितं विवक्षितम् । प्रकृत्यात्मभ्रमवान् स्वरूपमात्रनिबन्धनं कर्तृत्वमिति जानाति । प्रकृत्यात्मविवेकवांस्तु स्वातिरिक्तप्रकृतिनिबन्धनं कर्तृत्वमिति मन्यते इत्येतावदेव प्रतीयते । पञ्चानां कारणत्वनिर्धारणग्रन्थपर्यालोचनायां प्रकृतिपुरुषविवेकवान् प्रकृतिजीवोभयनिबन्धनं कर्तृत्वमिति मन्यत इति पर्यवस्यति । अत्रापि 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः' 'तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्, इत्यत्र कृत्स्नशब्दे अयमर्थो विवक्षितः अतो नात्मनोऽकर्तृत्वं सिध्यति । अनन्तरम् ;—

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ॥ ३० ॥

इत्यादौ जीवकर्तृत्वस्य परमात्माधीनतां फलसङ्गकर्तृत्वत्यागपूर्वकं कर्मणः प्रकृत्यात्मविवेकवता विदुषाऽवश्यानुष्ठेयतां च प्रदर्श्य ;—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

भावप्रकाशः

सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥

इति फलसङ्गकर्तृत्वत्यागपुरस्सरं कर्माननुतिष्ठतां मौढ्यप्रतिपादनेनात्मनोऽकर्तृत्वस्यापि व्युदासाच्च । अत्र अध्यात्मचेतसा अहं कर्ता ईश्वराय भृत्यवत्करोमि (शं. भा.) इति 'अहं कर्ता अन्तर्याम्यधीनः तस्मा एवेश्वराय राज्ञ इव भृत्यः कर्माणि करोमीत्यनया बुद्ध्या' (म. सू. व्या.) इति परैरपि विवरणं कृतम् ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ४-१९ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ ४-२० ॥

इत्यत्र (संकल्प) प्रकृत्यात्मभ्रमवर्जितस्य फलसङ्गकर्तृत्वत्यागपूर्वककर्मानुष्ठातुः कर्तृत्वस्य स्वातिरिक्तप्रकृतिनिबन्धनताज्ञानेन 'नैव किञ्चित्करोति' इत्युक्तम् ॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ५-१० ॥
सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी ॥
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥
. . . . . स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

इत्यत्र (देहिनः) देहाद्विवेकं जानतः तत्वविदः इन्द्रियदेहाकारेण परिणतप्रकृतिनिबन्धनं कर्तृत्वमिति ज्ञानेन नवद्वारे पुरे सन्न्यस्य फलसङ्गकर्तृत्वत्यागपूर्वकं कर्माणि कुर्वतः पापलेपाभावः । कर्तृत्वादिकं (प्रभोः)

भावप्रकाशः

नाकर्मवश्यपरिशुद्धस्वरूपनिबन्धनम् किं तु प्रकृतिवासनानिबन्धनमिति 'नैव किञ्चित्करोमि' 'नैव कुर्वन् न कारयन्' इत्युक्तम् । 'प्रकृत्यैव कर्माणि क्रियमाणानि' 'आत्मानमकर्तारं च पश्यति' (१३-२९- 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' 'न करोति न लिप्यते' (१३-३१) इत्यत्रापि प्रकृतिनिबन्धनं कर्तृत्वं न परिशुद्धजीवात्मस्वरूपनिबन्धनमित्येवोक्तम् । 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' (१४ १९) इत्यनेन गुणत्रयविनिर्मुक्तपरिशुद्धजीवस्वरूपेण अकर्तृत्वमुक्त्वा ;—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् . . . . ॥ १४-२६ ॥

इत्यनेन जीवस्य गुणत्रयात्यये भगवद्भक्तिरेव प्रधानहेतुरित्युक्तम् । अतः अष्टादशोक्तस्य बद्धजीवकर्तृत्वं हेतुपञ्चकनिबन्धनमिति जीव एक एव स्वतन्त्र इति ज्ञानं भ्रम इति गीतासिद्धान्तस्य च न कश्चिदुपद्रवः । 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' 'न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकम्' इति शोकाश्रयतया ज्ञातस्य युष्मदस्मदर्थजीवस्य 'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वम्' इत्युपक्रमे नित्यत्वम्; सप्तमे चिदचितोरवरयोश्शेषत्वं भगवतश्शेषित्वस्रष्टृत्वादिना परत्वम्;

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १३ ॥

इत्यत्र ज्ञानकर्तुरेव जीवत्वम्; पञ्चदशे पुरुषोत्तमस्य मुक्तामुक्तनियन्तृत्वम्; 'ईश्वरस्सर्वभूतानां' 'तमेव शरणं गच्छ' १८ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य--अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' इत्युपसंहारे सर्वभूतेश्वरस्यैव ईशितव्ययुष्मदर्थजीवसर्वकर्मनिवर्तकत्वं चोपदिशन् गीतोपनिषदाचार्यः जीवस्य ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिकं परायत्तमेवेति व्यवस्थापयतीति ॥

भावप्रकाशः

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

इत्यत्र रवेः प्रभाद्वारेव जीवस्य धर्मभूतज्ञानद्वारा प्रकाशकत्वं विवक्षितम्। एवम् ;—

यथा प्रदीपश्शरणं दीप्यमानः प्रकाशयेत् ।
एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतनः ॥ १९ ॥

इत्यनुगीतावचनेऽपि । तथाचैतत्समानार्थकमेव जडप्रकाशायोगात्प्रकाशः (१-१४५) इति सूत्रे विज्ञानभिक्षूदाहृतम् ;—

यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान् ।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यात्पुरुषं सर्वजन्तुषु ॥

इति वचनमपि । श्रुतिभिरात्मनो ज्ञानवत्त्वं पूर्वमेव स्थापितम् । एवं च तदुत्तरसूत्रे (वि. भि.) उदाहृतस्य ;—

ज्ञानं नैवात्मनोधर्मो न गुणो वा कथं चन ।

इति वचनस्य प्रमाणत्वेऽपि आत्मनः अधर्म इति छेदः । प्रथमपादेन निर्गुणात्मवादः प्रतिक्षिप्तः । 'न गुणो वा कथं चन' इत्यनेन वैशेषिकादिसंमतसगुणात्मवादः प्रतिक्षिप्यते । ज्ञानस्य प्रभावद्द्रव्यत्वमेव नाद्रव्यत्वरूपगुणत्वमिति भावः । प्रकाशाख्यविशेषाग्रहेऽपि स्पर्शपुरस्कारेण तेजसो ग्रहवत् सुषुप्तौ धर्मभूतज्ञानाग्रहेऽपि आत्मनः सुखमहमिति ग्रह उपपादितः । अयमर्थः ;—

ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यःपूर्णस्सदाशिवः ।

इति तदुत्तरार्धे सदाशिव इत्यनेन व्यञ्जितः । आत्मतद्धर्मज्ञानयोरुभयोः स्वयंप्रकाशत्वं धर्मज्ञानस्य सङ्कोचविकासात्मकपरिणामवत्त्वेऽपि धर्मिणः सङ्कोचविकासात्मकपरिणामविरहः इत्यादिकं श्रुतिभिः पूर्वमेव

तत्वमुक्ताकलापः

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् कृतिषु च स पराधीन आभाषि सूत्रैः

सर्वार्थसिद्धिः

शारीरके च कर्तृत्वं प्रसाध्य तस्य पराधीनतामात्रं स्थापितमित्याह—**कर्तेति** । यदि कर्तृत्वमात्मधर्मः [1]स चेश्वराधीनः तस्य

आनन्ददायिनी

एवमनभ्युपगमे शारीरकशास्त्रेण विरोधोऽपीत्याह—**शारीरके चेति** । 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इत्यनेनेति शेषः । ननु 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इति सूत्रे पराधीनत्वप्रतिपादनात् [2]अचेतनवदकर्तृत्वमित्यत्राह ;—**तस्य पराधीनतामात्रमिति** । ननु 'स्वतन्त्रः कर्ता' इत्युक्तेः कर्तृत्वं पराधीनत्वं च विरुद्धमितिचेन्न ; [3]राजभृत्यादीनामपि लोके[4] तत्तद्व्यापारे कर्तृत्वदर्शनात् । 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' इति कर्तुरेव प्रयोज्यत्वोक्तेश्च । पराधीनत्वं च परस्य निवर्तनेच्छायां कर्तृत्वस्य निवृत्तेरितिध्येयम् । **स चेश्वराधीन इति**—स्वाधीनत्वे [5]स्वेच्छानु-

भावप्रकाशः

साधितम् । श्रुतिविरोधेन लाघवतर्कः अप्रयोजकः । आत्मनि ज्ञानकृत्योरनङ्गीकारे मोक्षानुपपत्त्यादिकं वक्ष्यते । स्रष्टुरीश्वरस्य दुःखमूलसर्वपापनिवर्तनपूर्वकमुक्तनियन्तृत्वेन सगुणात्मवादेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गासंभवेन मुक्त्युपपत्तिः ; अन्यथा निरीश्वरवादे पर्यवसानं स्यादिति दिक् ॥

---

[1] स चेत्पराधीनः—**क. ख.** [2] अचेतनवत्कर्तृत्वं—**क. ख.** [3] त्यादेरपि—**ग. क.** [4] लोके कर्तृत्वदर्शनात्—**क.** [5] स्वेच्छानुरोधि—**ग. घ. ङ.**

तत्वमुक्ताकलापः

चित्रैः कर्मप्रवाहैर्यतनविषमता सर्वतन्त्राविगीता ॥

[1]**यद्भव्यं तन्न न स्यात् यदभवितृ न तद्यत्नकोट्याऽपि सिध्येत् द्वेधाऽपि व्यर्थयत्ना नर इति यदि न स्वोक्तियत्नादिबाधात् ।**

सर्वार्थसिद्धिः

तर्ह्यात्मत्ववदेकरूपः किं न स्यादित्यत्राह ;–**चित्रैरिति** । नात्र केनापि चोदनीयमिति भावः ॥ ८ ॥

इति जीवधर्मपरीक्षायां कर्तृत्वभोक्तृत्वसमर्थनम्

अथ—

'यदभावि न तद्भावि यद्भावि न तदन्यथा'

इति मन्यमानैरुक्तं यत्ननैष्फल्यम्; तदिदमनूद्य परिहरति—**यद्भव्यमिति** । **नर** इति बहुवचनम् । हेतुमाह—**स्वोक्तीति** । सर्वयत्न-

आनन्ददायिनी

रोधेन वैषम्यं शङ्क्यं [2]ईश्वराधीनत्वे तस्य समतया वैषम्यं न स्यादिति शङ्कते ;–तर्हीति ॥ ८ ॥

इति जीवधर्मपरीक्षायां कर्तृत्वभोक्तृत्वसमर्थनम्

जीवस्वरूपादिनिरूपणस्योपासनार्थतया तस्याश्च मोक्षार्थत्वात् मोक्षस्यायत्नसिद्धत्वे [3]तन्निरूपणमसंगतमित्याशङ्कापरिहारार्थत्वेनोपोद्धातसंगत्या यत्नसाफ[4]ल्यमाह—'**अथ यदभावीति** । व्यर्थयत्ना नर' इत्येकवचनबहुवचनयोः कथं सामानाधिकरण्यमित्यत्राह ;—**नर इति** । फलशब्देन साध्यमात्रं विवक्षितं उत पुरुषार्थः? नाद्य

---

[1] भाव्यं—**क. ख.**　[2] ईश्वरस्य वैषम्याद्यभावा त्तदधीनस्य न तारतम्यं युक्तमिति भावः—**ग. घ. ङ.**　[3] णस्यप्रयोजनाभावइत्याशङ्क्य तत्व—**ग.** [4] ल्यमित्याह—**ग.** ल्यमाहेत्याह.

तत्वमुक्ताकलापः

यद्यत्नेनैव [1]भव्यं भवति यतनतस्तत्स्वहेतूपनीतात् दुस्साधाऽयत्नलभ्ये प्रति यदि यतते तत्र नैष्फल्यमिष्टम् ॥ ९ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

नैष्फल्यं वदन् किमिति साफल्यवादिनं क्षेप्तुमीहते? नैष्फल्यवाक्यं च किमर्थं प्रयुङ्क्ते? किमर्थं च [2]स्वयं भीतो बुभुक्षुर्वा धावति? [3]अतोऽन्वयव्यतिरेकावसितं फलमप्रणोद्यम्। आदिशब्देन प्रमाणत्रयसंग्रहः। बाधं सिद्धसाध्यतां च वक्तुं सफलनिष्फलयत्नौ विभजते;—**यद्यत्नेनेति**। [4]यतनमयत्नतस्सिद्धमिति शङ्कां परिहर्तुं स्वहेतूपनीतादित्युक्तम्। प्राचीनयत्नजनितादृष्टतो हि तत्सिद्धिरिति भावः। दुस्साधेत्यादिना दुष्कर्ममूलनिष्फल[5]यत्नानुवादः। **तत्र नैष्फल्यमिष्टम्**—तस्मिन्नंशे नैष्फल्यं त्वया न साध्यं[6] साध्यमपि तद्विषयमिति भावः॥ ९ ॥

आनन्ददायिनी

इत्याह—**साफल्यवादिनामिति**। ईहाया यत्नस्य [7]क्षेपे करणत्वाभावात्। न द्वितीय इत्याह—**नैष्फल्यवाक्यं चेति**। [8]उन्मत्तस्य तथा प्रवृ[9]त्त्ययोगादिति भावः। किंच यत्नस्य कारणत्वाभावे समीहितसाधनत्वा[10]भावात् धावनादियत्नेन धावनादेरनुत्पत्तेः अहेतुकोत्पत्त्यादिप्रसङ्ग इत्याह—**किमर्थं चेति**। यत्नस्य समीहितसाधनत्वे मानं नास्तीत्यत्राह—**अत इति**। प्रत्यक्षादिप्रमाणावसितमित्यर्थः॥

किंच—[11]यत्नमात्रं पक्षीकृत्य साध्यते? [12]तद्विशेषमात्रम्? इति विकल्प्य आद्ये बाधोऽन्त्ये सिद्धसाधनमिति दूषयति—**बाधमिति**।

---

[1] भाव्यं—**क. ख.** [2] स्वयमभीतो—**क.** [3] ततोऽन्वय—**क.** [4] यत्नमयत्नतः—**ख.** [5] यत्नाद्यनुवाद. [6] साध्यं अपित्विष्टमितिभावः—**ख. ग** [7] क्षेप कारण—**ग.** II क्षेपकारण—**क.** I [8] उन्मत्तादन्यस्य—**ग.** [9] त्तियोगा—**ख.** [10] त्वाभावे

आनन्ददायिनी

यत्नेन [1]भव्यं यत् तद्यतनतस्सिध्यतीति मूलस्यार्थः। ननु [2]यत्नादेरयत्न[3]लभ्यत्वे कार्यं सर्वमहेतुकं स्यादित्युक्तमयुक्तम्; यत्नस्यायत्नसाध्यत्वात्; अन्यथा अनवस्थाप्रसङ्गादित्यत्राह—**यतनमिति**। तदपि स्वहेतुसाध्यम् न तु निर्हेतुकमित्यर्थः॥ ९॥

भावप्रकाशः

इत्थं वृत्तिकारसंमतं अहमर्थस्यात्मत्वं देहाद्यतिरिक्तत्वं स्वयंप्रकाशत्वं ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च साधितम्। अथ जीवानां मोक्षार्थप्रवृत्त्युपपादनाय देहभेदवत् परमात्मभेदः परस्परभेदश्च साधनीयः। स च 'एष हि द्रष्टा—विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते' (प्र. ४-९)इत्यादिश्रुतिसिद्धः वृत्तिकारसंमतश्च। अत एवापूर्वाधिकरणे तन्त्रवार्तिके 'चैतन्यात्मकत्वाद्यविभागाच्चोपनिषत्स्वैकात्म्यव्यवहारः' इत्यात्मनानात्वनिर्धारणं संगच्छते; तत्र बृहदारण्यक(शं)भाष्ये (४-१-२०) सेश्वरवादं वृत्तिकारसंमतं दूषयित्वा 'यानि लिङ्गानि आत्मभेदसाधनाय नामरूपान्युपन्यस्यन्ते तानि नामरूपगतान्युपाधय एवात्मनः घटकरकापवरकभूच्छिद्राणीवाकाशस्य' इति; प्रश्न(शं)भाष्ये 'एष हि द्रष्टा' 'स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते' (प्र ४-९) इत्यत्र 'स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जलाद्याधारशोषे परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते' इति चोक्तम्। 'जीवः पुनः प्रतिबिम्बकल्पः (३४२) इत्यादि (पं. पा) विवरणे च सुषुप्तस्वप्नजागरेषु अविद्याऽन्तःकरणस्थूलदेहानामुपाधित्वं सुषुप्तौ जीवब्रह्माविभागस्याविद्यानुपादानकस्याविद्यातन्त्रत्वं च साधितम्। परिणामाद्वैतिभिरपि 'आत्मा प्रकरणात्' (४-४-३२) इति सूत्रे (भास्करभाष्ये) यथा च भिन्ने घटे

[1] भाव्यम्—**क.** [2] धावनादेर—**क. ग.** [3] साध्यते—**क.**

सर्वार्थसिद्धिः

जीवः परस्य ब्रह्मण औपाधिकांशः। घटाकाशमहाकाशवत्तयोर्भेदः। जीवानां भेदस्तु घटकरकाद्याकाशवदिति पक्षं दूषयति—

आनन्ददायिनी

ननु जीवस्वरूपस्यातिरि[1]क्तस्य वादिविप्रतिपत्त्या अनेकविरुद्धाकारग्रस्तत्वात् वस्तुनो [2]द्वैरूप्याद्यसंभवात् इदमित्थमिति निर्णयासंभवेन देहातिरिक्तपक्षस्य दुष्टत्वात् देहस्यैवैकरूपेण प्रत्यक्षसिद्धस्यात्मत्वमस्तु? इत्याशङ्क्य [3]तन्निर्णयार्थं पर[4]पक्षान् दूषयिष्यन् प्रथमं भास्करपक्षं दूषयति;—जीव इति। अखण्डचिद्रूपमेकं वस्तु सन्मात्रं परं ब्रह्म। अपरं चोपाधिरूपं अचिद्वस्तु। तद्द्वयव्यतिरिक्तं[5] च नास्ति। [6]तद्द्वयं च सत्यमेव। अचिद्रूपोपाधि[7]श्च सांशः। अंशाश्चानन्ताः। तदवच्छि[8]न्ना जीवाः। अनवच्छि[9]न्नं ब्रह्म। तत्स्वरूपोपासनेनोपाधिविगमो मोक्षः। स [10]एवोपाधिर्महदादिविकारवान् प्रकृत्यादिशब्दवाच्यः' इति भट्टभास्करमतम्। तदिदमाह—**जीव** इति। उपाध्यैक्ये जीवभेदः कथमित्यत्राह;—**जीवानामिति**।

भावप्रकाशः

घटाकाशो महाकाश एव भवति दृष्टत्वात्; एवमत्रापि। जीवपरयोश्च स्वाभाविकोऽभेदः औपाधिकस्तु भेदः इत्युक्तम्। एवं च निर्गुणात्मवादिनामपि सांख्यानाम्; —

जननमरणकारणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।

---

[1] क्तावयवादि—**ख**. [2] नैरूप्या—**ख**. [3] तन्निराकरणार्थं—**क. ख**. [4] क्षान् क्रमतो—**क. ख**. [5] क्तंतुनवस्त्वन्तरमस्ति—**ग. घ. ङ**. [6] तदुभयं—**क. ख**. [7] धिस्तु—**ग. घ. ङ**. [8] न्ना एव—**ग. घ. ङ**. [9] न्नं परं—**ग. घ. ङ**. [10] स उपाधि—**ग**.

तत्वमुक्ताकलापः

***भिन्ना जीवाः स्वतस्स्युः प्रतिनियततया धीस्मृतीच्छासुखादेः**

सर्वार्थसिद्धिः

भिन्ना इति । स्वतः—न तूपाधितः । हेतुमाह—प्रतिनियततयेति ।

आनन्ददायिनी

उपाध्यंशानां बहुत्वादिति भावः । **न तूपाधित इति ।** [1]एकस्य देवदत्तस्यैवानुभवेच्छा [2]स्मृतीनां [3]भेदः आश्रयभेदको न दृष्ट इति भावः ॥

भावप्रकाशः

पुरुषबहुत्वं सिद्धम् . . . . ॥

इत्युक्तिरनुचिता इति शङ्कायां अनुमानश्रुतिभ्यां जीवानां स्वाभाविकं भेदं साधयति ; * भिन्ना जीवाः स्वतस्स्युः इति श्लोकेन । यद्यपि विवर्ताद्वैतिभिः (शं) घटाकाशजलसूर्यादिनिदर्शनयोः प्रस्थानत्रये बहुत्र प्रदर्शनेन अवच्छेदवादः प्रतिबिम्बवादश्चेत्युभयोस्तेषां संमतत्वप्रतीतावपि अंशाधिकरणे 'आभास एव च' (२-३) इति सूत्रभाष्यपर्यालोचनायां प्रतिबिम्बवाद एव नैर्भर्यं प्रतीयते । अत एव तच्छिष्यैः पद्मपादाचार्यैः (प-पा) प्रतिबिम्बवाद आदृतः । एवं सुरेश्वराचार्यैरपि (बृ-वा) । सुरेश्वरमते प्रतिबिम्बस्यासत्यत्वाभ्युपगमादाभासवाद इति व्यवहारः । वस्तुतोऽयमपि प्रतिबिम्बवाद एव । 'तस्य च प्रतिबिम्बस्य

---

[1] एकस्मिन्नपि देवदत्तस्यैवा—**ग.** [2] स्मृत्यादीनां—**क. ख.** [3] भिन्नानां भेदः—**ग.** I भेदो नाश्रयभेदको—**ख.** II

भावप्रकाशः

सत्यत्वमेवेति प्रतिबिम्बवादिनः । मिथ्यात्वमित्याभासवादिनः । स्वरूपे तु न विवादः (सि-बिं-८) स्वरूपतो मिथ्याभूतं प्रतिबिम्बमितिवादः आभासवादः (सि-बि-टी- ११४) इति सिद्धान्तबिन्दुतट्टीकयोरुक्तेः । 'आभासा एव च' इति सूत्रे भास्करभाष्ये 'परमात्माभासो जीवः प्रतिबिम्बात्मा संसार्यविद्यापरिकल्पितः' इति सुरेश्वराचार्यमतमनूद्य 'आभासस्यावस्तुत्वाभ्युपगमात् अवस्तुनश्शशविषाणकल्पस्याचेतनस्य कुतो बन्धो मोक्षो वा कर्माधिकारो वा' इति दूषणाच्च । सुरेश्वराचार्या-संमतं प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वं बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यं पद्मपादाचार्योक्तं साधयन्तः प्रकाशात्मयतयस्तु (पं.पा विवरणे २८१) 'मुखचित्स्व-रूपयोः प्रतिबिम्बेषु नावस्तुत्वमिष्यते । मुखचित्स्वरूपयोश्च बिम्बा-त्मतां प्रमिमीमहे मिथ्यांशपर्युदासेन । न च मिथ्यांशस्य बन्धमोक्षौ ! किं तु स्वरूपस्यैव । तस्मात् परसिद्धान्तापरिज्ञानाविलसितोऽयं सर्व-संकरवादिनो विभ्रमः प्रतिविम्बस्यावस्तुत्वाभ्युपगमात्' इति भास्कर-भाष्यं खण्डयन्तः स्वरूपतस्सत्यं प्रतिबिम्बत्वरूपेण मिथ्याभूतं विम्बमेव प्रतिबिम्बमिति सिद्धान्तयन्तः 'ननु घटाकाशवदुपाध्यव-च्छिन्नो जीवः किं न स्यात्? न; सामान्यविशेषाभ्यामुपाधिभिर-ण्डान्तर्वर्तिब्रह्मणः सर्वात्मना जीवभावेनावच्छिन्नत्वादनवच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽण्डाद्बहिरेव सद्भावप्रसङ्गात् । तत्र सर्वगतत्वसर्वनियन्तृत्वादि ब्रह्मणो न स्यात् । अवच्छिन्नप्रदेशेष्वनवच्छिन्नस्य द्विगुणीकृत्य वृत्त्य-योगात् । स्वरूपापेक्षया तत् सर्वं न बहिस्स्थितब्रह्मापेक्षया इति चेत्; न, यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादौ जीवव्यतिरिक्तस्यैव ब्रह्मणो जीव-सन्निधानेन विकारान्तरवस्थानश्रवणात् । प्रतिबिम्बपक्षे तु जलगत-स्वाभाविकाकाशे सत्येव प्रतिबिम्बाकाशदर्शनादेकस्यैव द्विगुणीकृत्य

सर्वार्थसिद्धिः

ननु कोऽयं प्रतिनियमः? न तावत् बुद्ध्यादीनां स्वरूपभेदः; एकस्मिन्नप्यात्मनि तदुपगमात्। नापि भिन्नाधारत्वम्; तस्यैव साध्यत्वात्। अत एव नासाधारण्यम्; तत्खल्वाश्रयभेदसापेक्षम्! नापि

आनन्ददायिनी

तस्यैवेति—साध्याविशेषादिति भावः। आश्रयभेदेति;—

भावप्रकाशः

वृत्त्युपपत्तेर्जीवावच्छेदेषु ब्रह्मणोऽपि नियन्तृत्वादिरूपेणावस्थानमुपपद्यत इति प्रतिबिम्बपक्ष एव श्रेयान्' इति अवच्छेदवादं दूषयित्वा घटाकाशोदाहरणं असङ्गत्वस्य स्पष्टीकरणार्थम्'(३५४ प. पा) इति सिद्धान्तं प्रत्यष्ठिपन्। सर्वज्ञात्ममुनयोऽपि (सं. शा) प्रतिबिम्बवादमेवाङ्गचकार्षुः॥

वाचस्पतिमिश्रास्तु;—अध्यासभाष्यभामत्यां पूर्वपक्षे नीरूपस्य प्रतिबिम्बं दूषयन्तोऽपि 'आभास एव च' इति सूत्रभाष्यभामत्यां प्रतिबिम्बवादमेवाभ्युपागमन्। अतो भास्करमतमात्रनिरसनपरोऽयं श्लोक इति प्रतीयते; तथाऽपि विवर्ताद्वैतिभिःप्रतिबिम्बवादाङ्गीकारेऽपि जीवेश्वरभेदस्य जीवानां परस्परभेदस्यौपाधिकताया अभिधानात् तन्मतमपि कटाक्षयत्ययं भास्करमतदूषणप्रधानोऽपि श्लोकः। अत एव(न्या-अ) चैत्रात्मा इत्याद्यनुमानस्य दूषणार्थं (अ-सि) अनुवादस्संगच्छते। अपि च अवच्छेदपक्ष एव तेषां नैर्भर्यं वाच्यम्; 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्; इति (३-२-१९) सूत्रे (शं. भा.) 'सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते तत्र युक्तस्सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः; न चात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः! सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च। तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्तः' इति ग्रन्थेन॥

'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (३-२-१८) इति पूर्वसूत्रार्थ-

सर्वार्थसिद्धिः

परस्परप्रतिसंधानाभावः ; परस्परभावस्यैवासिद्धेः इति ; अत्र ब्रूमः ;— यथैकशरीरावच्छिन्नबुद्ध्यादीनां एकाश्रयतयैव प्रतिसंधानम् ; न तथा शरीरान्तरजानाम् ; अन्यथा गुरुशिष्यभावादयोऽपि न स्युः ।

आनन्ददायिनी

[1]तदन्यावृत्तित्वे सति तद्वृत्तित्वमित्यादिना साधारण्यं निर्वाच्यमित्याश्रयभेदसापेक्षमित्यर्थः । **परस्परप्रतिसंधानाभाव इति**—देवदत्तयज्ञदत्तयोर[2]न्योन्यधर्मवत्तया प्रतिसंधानाभाव इत्यर्थः[3] । ननु धीस्मृतीच्छादीनामेकाश्रयगतानामपि कदाचित्प्रतिसंधानाभावसत्त्वाद्व्यभिचार - इति चेत् ; न ; एकाश्रयगतत्वाभाव[4]वत्त्वेन प्रतिसधा[5]नाविषयत्वादित्यर्थः । न चैवं एकाश्र[6]यभाववत्त्वेन प्रतिसंधानविषयीभूतैकधर्मिकरूपरसादौ व्यभिचारः ! न च धीस्मृतीच्छात्वं वा आत्मगुणत्वं वा विवक्षितुं शक्यम् ? तथा भूतधीस्मृत्यादौ व्यभिचारात् व्याप्यत्वासिद्धेश्चेति वाच्यम् ; तादृशलौकिकप्रत्यक्षविशेष्य[7]त्वस्य विवक्षितत्वात् । न च [8]स्वधीस्मृती[9]च्छादौ स्वापेक्षया [10]स्वस्य तथा प्रति[11]संधानम् । अन्यधी[12]स्मृत्यपेक्षयैव स्वधीस्मृत्यादीनां तथाधीविषयत्वात् ; तदेवाह ;— **न तथेति । अन्यथेति**—[13]भिन्नाश्रयत्वेन प्रतिसंधानाभावेनैकाश्र[14]यत्वेन प्रतिसंधाने शिष्यस्य चाचार्यस्य च परस्पर[15]गतज्ञानादावेकाश्रय-

---

[1] तत्तद्धर्मानाधिकरणाधिकरणत्वं तदधिकरणान्याधिकरणत्वम् इत्यादिना साधारण्यं वाच्यम् तद्द्वयस्याश्रयभेदसापेक्षत्वादित्यर्थः. [2] रन्योन्यप्रतिसंधाना–**ग.** [3] **यथेति**—एकाश्रयतया प्रतिसंधाना (भाव) विषयत्व इत्यर्थः–**ग.** [4] भावपरत्वेन–**क. ख.** [5] धानवि–**ग. घ.** [6] श्रयत्वाभाव–**क. ग.** [7] विशेषत्वस्य–**क. ख.** [8] न चधी–**ख.** [9] स्मृत्यादौ–**ख.** [10] या स्वस्य प्रतिसंधानम्–**ख.** यातथास्वस्य परस्य च प्रतिसं–**क.** [11] प्रतिसन्धानं संभवति अन्य–**ख.** [12] स्मृताद्य–**क. ख.** [13] भिन्नाश्रयत्वेप्रति–**घ.** [14] श्रयकत्वेन–**ख. घ.** [15] गन्तव्य–**क.**

सर्वार्थसिद्धिः

तदेवं गम्यते ;—*चैत्रात्मा मैत्रतादात्म्यरहितः तदनुभव[1]जन्मस्मृत्य-

आनन्ददायिनी

त्वज्ञानस्य स्वगतप्रतिसंधानरूपतया ज्ञानार्थं गुरूपसदनं[2] बोधार्थमुप-
देशश्च न स्यातामित्यर्थः। ननु जीवाः भिन्नाः धीस्मृत्यादीनामेका-
श्रय[3]गतत्वेन प्रतिसंधानाविषयत्वात् इत्यादिरूपप्रयोगोऽनुपपन्नः[4] हेतु-
साध्ययोर्वैयधिकरण्यादित्यत्राह ;—**तदेवमिति। मैत्रतादात्म्यरहित. इति**—मैत्रात्मतादात्म्यरहित इत्यर्थः। **तदनुभवेति**—नन्वसिद्धोऽयं
हेतुः मैत्रस्य चैत्राद्भेदसिद्धेः पूर्वं[5] तस्य संदिग्धत्वादिति[6] चेत्;
अत्राहुः ;—तदनुभवजन्यस्मृतिसमानकाली[7] नतद्गोचरस्मृतिसामान्याभा-
ववत्तया प्रतिसंधान[8]वत्त्वात् [9]एतच्छरीरान्यधर्मावच्छेदेन तदनाधार-

भावप्रकाशः

माक्षिप्य 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्' (३-२-१८)
इति सूत्रे जलसूर्यादिदृष्टान्तीकरणं न प्रतिबिम्बनेन किं तु उपाधिनिमित्त-
कवृद्धिह्रासभाक्त्वेनेति उपाध्यवच्छेदेनान्तर्भावतात्पर्येण समाधानकरणेन
आभास एव च' इति सूत्रस्याभ्युपेत्यवादतया उक्तविधया प्रतिबिम्ब-
सादृश्यपरतया वा नेयत्वात्। समर्थितश्चायमर्थोऽप्पदीक्षितैः (भा. क-
परिमले १·१:४) (सि. ले. संग्रहेऽपि) इति।

*चैत्रात्मेति—चैत्रशब्दो न शरीरमात्रवाची किं तु शरीर-
संयुक्तात्मवाचीति प्रदर्शनाय आत्मेत्युक्तम्। चैत्र इत्येव पक्षनिर्देशः।
अत एव मैत्रतादात्म्यरहित इत्यत्रात्मशब्दो न प्रयुक्तः। 'चराचर-

---

[1]जन्य—क. [2]सदनमुपदेशश्च—क. ख. [3]श्रयविषयत्वेन—क. [4]न्नः वैयधि—क. ख. [5]पूर्वं संदिग्ध—ग. घ. ङ. [6]दिति चेन्न—ग [7]कालीनतद्गतसुखदुःखादिसाक्षात्काररहितत्वादित्यर्थः. [8]धानाविषयत्वा—क. [9]तच्छरीर—क. ख.

सर्वार्थसिद्धिः

नाधारत्वात् कदाचिदपि तद्गतसुखादिप्रतिसंधानरहितत्वादित्यादि ।

आनन्ददायिनी

त्वाद्वा तदनुभवजन्यस्मृतिमत्तया कदाऽपि प्रतिसंधानविषयत्वाभावाद्वे-त्यर्थः । **कदाचिदपीति**—तद्गतसुखादिसाक्षात्काररहितत्वादित्यर्थः । तदीयसुखसमानकालीनसुखाभाववत्तया प्रतिसंधानविषयत्वादिति वाऽर्थः ।

भावप्रकाशः

व्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्' इति सूत्रशङ्कर-भाष्ये चैत्रादिशब्दानां जीवबोधकत्वं स्फुटम् । अत्र देवदत्तयज्ञदत्त शब्दौ विहाय चैत्रमैत्रशब्दप्रयोगेण 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' (४-४) इति पातञ्जलसूत्रे 'अस्मितामात्रं (अहंकारमात्रम्) चित्तकारण-मुपादाय निर्माणचित्तानि करोति' इति भाष्यतत्ववैशारद्यां 'यद्यावज्जीव-च्छरीरं तत्सर्वं एकैकासाधारणचित्तान्वितं दृष्टम् । तद्यथा चैत्रमैत्रादि-शरीरं तथा च निर्माणकायाः इति सिद्धं तेषामपि प्रातिस्विकं मन इत्यभिप्रायेणाह ;—अस्मितामात्रमिति' इति वाचस्पतिवाक्यं प्रत्यभिज्ञा-प्यते । तेन अन्तःकरणरूपोपाधिभेदेन हेतुसत्तानिर्वाहे अनौपाधिक-भेदो नानेन हेतुना सिध्यतीति शङ्का प्रत्युक्ता । योगिशरीराणां एकैकासाधारणचित्तान्वितत्वेऽपि जीवैक्येनैवान्यशरीरावच्छिन्नानुभवजन्य-स्मृत्यादेरितरशरीरावच्छेदेनोत्पत्तेरुपपादनीयतया अन्तःकरणभेदेनोक्त-हेतुनिर्वाहासंभवात् । अयं च योगसूत्रार्थः 'प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति' (४-४-१५) इति सूत्रे 'एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेक-शरीरयोगप्रक्रिया' इति शङ्कराचार्यैरादृतः । एवं तत्र भामत्यां वाचस्पतिनाऽपि देवताधिकरणे ॥

भावप्रकाशः

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि मनुजेश्वर! ।
योगी कुर्याद्बलं प्राप्य . . . . ॥

इत्यादिस्मृतौ स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयस्य विवक्षाया असङ्कोचतस्सिद्ध्या सूक्ष्मशरीरस्य चक्षुरादिवदन्तःकरणमन्तराऽप्यसंभवात् (४-४-१५) (वे. सू. मु) ब्रह्मानन्दयातिभिः योगिनो मनोभेदस्य प्रतिपादनाच्च ।

एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः ।
भूत्वा यस्माचु बहुधा भवत्येकःपुनस्ततः ॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि ।
एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः ॥
योगीश्वरश्शरीराणि करोति विकरोति च ।
प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ॥
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ।

इति (४-५ यो. त. वै) वाचस्पत्युदाहृतपुराणवचनेषु योगिनो मनोभेदस्य स्फुटत्वाच्च । अत्रत्यान्तिमवचनं देवताधिकरणशङ्करभाष्येऽप्युपात्तम् ॥

एतन 'अन्तःकरणभेदो योगिनां नास्त्यैव । तेन तत्रानुसंधानम्। चैत्रमैत्रयोश्चास्तीत्यननुसंधानम् । योगिजातिस्मर्तॄणामन्तःकरणैक्यात्' (अ. सि. ८१६) इत्युक्तिः प्रतिज्ञामात्रमिति सिद्धम् ॥

ननु 'प्रवृत्तिभेदेप्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्' (४. ५.) इति योगसूत्रे नानाशरीगतनानाचित्तप्रवृत्तिभेदप्रयोजकत्वमनादिचित्तस्योक्तम् । एवं च स्वतन्त्रानादिमनस एव जीवोपाधित्वमङ्गीक्रियते । तद्भेद एव जीवभेदः न तु तदनुवर्तिमनोभेदे । (आ. गि)—वस्तुतस्तु 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' छां. (७-२६-२) इति श्रुतिबलादेव पूर्वस्थितमनस एव नानादेहेन्द्रियादिरूपेण परिणामाः कल्प्यन्ते (वे. सू. मु.) इति नात्मै-

भावप्रकाशः

क्येऽनुपपत्तिरिति चेत् ; 'स एकधा भवति' इत्यादिश्रुतेः जीवस्यानेकशरीरयोगमात्रपरायाः अन्यत्राद्दष्टस्य पूर्वस्थितमनसो नानादेहेन्द्रियादिरूपेण परिणामस्य कल्पकत्वस्यासंभवात् ;

'एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः ।'
'आत्मनोवै शरीराणि . . . . . ॥
योगी कुर्याद्बलं प्राप्य . . . . . ॥

इत्यत्र प्रभुशक्तिबलशब्दाभ्यां निमित्तकारणमात्रोक्त्या अन्यत्र प्रसिद्धस्य मनोऽव्यतिरिक्तस्यैव नानादेहेन्द्रियादिरूपेण परिणामस्य सिद्धेः । 'एकमनोऽनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसंकल्पत्वात् स्रक्ष्यति । सृष्टेषु च तेषूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते' इति (शं) भाष्येऽपि पूर्वस्थितमनोऽनुवर्तित्वं एकाभिप्रायाविरोधित्वं (आ.गि.) इति । एकमनोऽनुवर्तीनि—एकाभिप्रायवन्तीत्यर्थः (भा)' इति व्याख्यानात् । अपि च ;—किं योगिनोऽनादिमनसो नानाशरीरव्यापिताऽभ्युपगम्यते ? उत अयोगिमनस इवैकशरीरमात्रवृत्तिता ? आद्ये योगिनः प्रतिशरीरं मनोऽङ्गीकारो विफलः ; द्वितीये योगिनोऽनादिमनस एव जीवोपाधित्वं न योगजमनस इत्यत्र स्वेच्छैव विनिगमिका वाच्या । 'सृष्टेषु च तेषूपाधिभेदादात्मानोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते' (शं) इति वाक्येन स्रष्टमनोभेदोऽप्यात्मभेदव्यवहारप्रयोजक इत्यर्थः प्रतीयते । एवंचात्मभेदप्रयोजकविभिन्नमनसां अनुसंधानाबाधकत्वं कथं संभवति ? नच अनादिसिद्धाविद्यावच्छिन्नानन्तजीवनिर्भासास्पदमेकरसं ब्रह्मेति (पं. पा. २६९) विवरणे अनादिसिद्धजीवविभागाभ्यासप्रवाहस्यानाद्यविद्यैव कारणं नान्तःकरणम् इति साधितम् । अतश्च सर्वज्ञात्ममुनिभिः ?—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।

भावप्रकाशः

इतिश्रुत्यनुसारेण अन्तःकरणस्य जीवोपाधित्वाङ्गीकारेण तन्मते तथाऽभ्युपगन्तृसुरेश्वराचार्यमते च उक्तदोषसंभवेऽप्यविद्याया जीवोपाधित्वाङ्गीकर्तृविवरणानुसारिमते न दोषः; अविद्याया विभुत्वेन कायव्यूहस्थले प्रतिसंधानसंभवात्। (सि. ले. सं.)। यद्वा योगप्रभावादन्तःकरणस्य वैपुल्यमङ्गीकृत्यानेकशरीरव्यापकत्वमुपपादयितुं शक्यते। एषैव योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरयोगप्रक्रिया इति (शं) भाष्ये एवकारस्य भिन्नक्रमतया योगशास्त्रेष्वेवैषा प्रक्रिया (सि. ले. सं. व्या.) इत्यर्थेन सिद्धान्ते तथाऽङ्गीकारेऽपि क्षतिविरहात् इति वाच्यम्। 'नन्वज्ञानं जीवावच्छेदोपाधिरिति पुरस्तादुक्तम् तत्कथमहङ्कारोपाधिता जीवस्याभिधीयते? नैष दोषः; अन्तःकरणस्यावच्छेदकविकल्पतारतम्येन व्यवहारविकल्पतारतम्यात्; तथा हि;—निर्विकल्पकं चैतन्यमेकरसं अविद्याऽन्तःकरणान्तःकरणसंसृष्टदेहोपरागात् सुषुप्तिस्वप्नजागरेषु ईषद्विकल्पस्थूलतरस्थूलतमव्यवहारालम्बनं संभवति। नचोपाधिभेदाज्जीवभेदप्रसङ्गः पूर्वपूर्वोपाध्यवच्छिन्नस्यैवोत्तरेणावच्छेदात्। निरपेक्षोपाधिभेदे हि जीवभेदः!' इति (पं.पा.वि ३४९) उत्तरग्रन्थे अन्तःकरणस्यावच्छेदकत्वप्रतिपादनात्। एवं 'जाग्रत्स्वप्नयोरहमुल्लेखरूपेण सुषुप्ते तत्संस्काररञ्जिताग्रहणाविद्याप्रतिबद्धप्रकाशत्वेन' इत्यस्य (पं. पा.) विवरणे अहङ्कारतत्संस्कारोपरक्ताज्ञानोपाधिकस्यैवात्मनोऽवस्थात्रयेऽपि बाह्यबहुविधोपाध्यान्तरनिमित्तोऽयं व्यपदेशः (४०४) इत्यत्रापि। उक्तं च मधुसूदनसरस्वतीभिरेतन्मतमपि प्रस्तुत्य;—'बुद्धिभेदाज्जीवनानात्वम्' इति (सि. बि. ११४) 'अन्तःकरणाविद्ययोर्जीवविभाजकोपाधिता पक्षद्वयेऽपि। आत्मन एकत्वेऽपि सुखदुःखाद्याश्रयाणामन्तःकरणानां भेदाद्व्यवस्थोपपत्तेः' (सि. बिं. ६६), इति च॥

भावप्रकाशः

अत्र अविद्याया जीवविभाजकत्वे 'यत्र मनसि तत्वदर्शनं तदुपादानभूताया एव तेनोच्छेद इति व्यवस्थोपपत्तेः' इति ब्रह्मानन्दविवरणे अविद्याया जीवविभाजकत्वेऽपि मनोभेदानां व्यवस्थापकत्वं स्पष्टम्। अतः अविद्यानां बहुजीवविभाजकोपाधित्वं न युक्तम्, तत्पक्षेऽपि मनसोऽवश्यमङ्गीकरणीयतायाः (सि. बि-टी.) स्थापनेन मनोभेदेनैव बद्धमुक्तव्यवस्थासंभवात्। येनोपाधिना यस्य चैतन्यस्य परिच्छिन्नत्वं तस्मिन् चैतन्ये तदुपाध्यपगमस्यैव मुक्तित्वात् (अ.सि ८१८) 'अविद्या नानात्वे मानाभावात्। अत एव बहुभिः (बृ.वा) (सं.शा) (पं-पा-वि) निबन्धकारैरन्तःकरणनानात्वात् जीवनानात्वमुक्तम्' इति (सि. बिं) स्पष्टम्॥

योगिमनसो वैपुल्यमेकत्वं चेति तु न युक्तम्; वाचस्पत्युदाहृतपुराणवचनविरोधात्। योगिनो देहभेदवच्चक्षुरादिभेदवन्मनोभेदस्याप्यवर्जनीयत्वात्। (वे-सू-मु ४-४-१५) ब्रह्मानन्ददूषितत्वाच्च॥

किंच; परसंमताविद्या अप्रामाणिकीति नायकसरे निरूपयिष्यते। अतो न तस्याः जीवविभाजकत्वप्रत्याशेत्याशयेन भास्करमतसाधारण्याभिसंधिना चात्र चेतोमात्रस्योपाधित्वशङ्का कृता॥

अनुमानं चेदं 'नानात्मानो व्यवस्थात' इति न्यायसूत्रमवलम्ब्य प्रयुक्तम्॥

किरणावल्यामुदयनेन 'कश्चिदपवृक्तः कश्चित्संसरति कश्चिदीश्वरः कश्चिदनीश्वरः इति कश्चित्सुखी कश्चिद्दुःखी इति यतो व्यवस्था तत एवात्मा तत्वतो भिन्न इति स्थितिः' इति सूत्रतात्पर्यवर्णनावसरे हस्तावच्छिन्नसुखदुःखयोः पादावच्छेदेनानुत्पत्तावपि योऽहं हस्ते सुखी सोऽहं पादे दुःखी इति प्रतिसंधानवत् आत्मैक्यं योऽहं देवदत्तस्सुखी सोऽहं यज्ञदत्तो दुःखी इति प्रतिसंधानं स्यात्' इत्युक्तम्। तद्वदेवात्र हेतुघटकं

तत्वमुक्ताकलापः

चेतोभेदाद्व्यवस्था न तु भवति

सर्वार्थसिद्धिः

अत्र परोक्तामन्यथासिद्धिं परिहरति — चेतोभेदादिति । [1]तुरवधारणे । *अस्ति हि कल्पभेदेन चेतोभेदः !

आनन्ददायिनी

ननु प्रतिसंधानमत्र प्रत्यक्षं वाच्यम् अन्यथा सुखकालेऽपि तदभाववत्तया प्रतिसंधानसंभवात्; एवं च घटादौ तादृशप्रतिसंधानासंभवेन व्याप्त्यभाव इति चेत्; अत्र केचित्; [2]योग्ययद्वत्तया यत्र प्रतिसंधीयते तत्तद्वतो भिन्नम् यथा पटत्ववत्तया न प्रतिसंधीयमानो घटः पटाद्भिन्न इति [3]सामान्यव्याप्तिरित्याहुः । [4]परे तु ; यथाश्रुतमेवास्तु

भावप्रकाशः

प्रतिसंधानं विवक्षितम् । योगिनश्च मनोभेदेऽपीदृशं प्रतिसंधानं दृष्टमिति सर्वत्रात्मैक्यम् मनोभेदेऽपीदृशं प्रतिसंधानमापादयितुं शक्यते । योगिमनसामेकाभिप्रायता अयोगिमनसां तु न तथा इतीयान्विशेषः । न च तावतोभयत्र अवच्छेदकयोर्व्यापकतदेकदेशविलक्षणयोर्वस्तुभेदकत्वाभावरूपवैषम्यं स्वेच्छयाऽन्यत्रादृष्टं कल्पयितुं शक्यम् ! कल्पकाभावात् । अयमर्थः नायकसरे 'सौभर्यादौ व्यवस्था न कथमुपधिभिः' (३१) इत्यत्र कण्ठत एव वक्ष्यत इति । 'कार्योपाधिरयं जीवः' इति श्रुत्यनुसारेणान्तःकरणस्य जीवविभाजकोपाधित्वे महाप्रलये कार्यसामान्यनाशेन प्राकृतसर्गादौ जातिस्मरानुपपत्तिरनुभवितुर्नाशात् इत्यभिप्रेत्याहुः—*अस्ति हि कल्पभेदेन चेतोभेद इति । अन्तःकरण-

---

[1] तुशब्दोऽवधारणे–ग. [2] योग्ययदभाववत्तया वा यत्प्र(यं)प्रतिसंधते–क. ख. [3] सामान्यव्याप्ति–क. [4] यद्वा–क.

आनन्ददायिनी

नचैवमप्रसिद्धिः ; प्रतिसंधानराहित्यं हि संशयेन निश्चीयते ; देवदत्तो यज्ञदत्तीयप्रतिसंधानरहितः तत्कालीनतद्गोचरसंशयवत्त्वात् यो यत्कालीनयद्गोचरसंशयवान् स न तत्कालीनतन्निर्णयवान् यथा घटसंशयवान्[1] देवदत्त इत्याहुः । अन्ये तु तदनुभवजन्येत्यादि यथाश्रुतमेव सम्यक् ; नचासिद्ध्यादिः ! देवदत्तशरीराद्यवच्छेदेन तदनुभवस्य सिद्धत्वात् । तत्राभेदस्य संदिग्धतया भेदसिद्धेर्न व्याप्यवृत्त्यभावन्यायेन साधकत्वाभाव इति

भावप्रकाशः

संस्कारोऽप्यविद्यातिरिक्तो बहुविधो महाप्रलये नाभ्युपगन्तुमर्हः ; 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' 'न कर्माविभागादितिचेन्नानादित्वात्' इत्यत्र प्रवाहतोऽनादीनां कर्मणां कल्पादावन्तःकरणशक्तिवैषम्यं प्रत्यपि प्रयोजकतोक्तेः 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' 'समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधः' इत्यत्र प्रलये नष्टान्तःकरणसदृशस्यैव कल्पादावुत्पत्त्यभिधानात् । तस्य च नित्यस्य महाप्रलये सद्भावे मानाभावात् । अनित्यस्य च महाप्रलये क्षयावश्यंभावात् । सषुप्तौ जीवब्रह्मविभागं प्रस्तुत्य तत्र विभागस्य कार्यत्वे सुषुप्तिप्रलयादावभावात् ब्रह्मण्येवाविद्यादिसाङ्कर्यं स्यात् (३४९ प.वि) इत्युक्तेः । महाप्रलये प्राकृतस्य कार्यस्य केनापि दार्शनिकेनानङ्गीकारात् । अवस्थावद्विषय एव सत्कार्यवादः नावस्थाविषयेऽपीति जडसरे साधनाच्च । अन्तःकरणसंस्कारस्याविद्यारूपत्वाभ्युपगमे अविद्याया एवोपाधित्वमुक्तं स्यात् । तथा सति वाचस्पतिव्यतिरिक्तमते अविद्याया एकत्वाज्जीवनानात्वं कथम् ? परिणामवादिभास्करमते उपाधिनिबन्धनो जीवभाव इत्युक्तिर्न संभव-

---

[1] वानिति द्रष्टव्यम्—**ग.**

भावप्रकाशः

तीति समन्वयाधिकरणश्रीभाष्यादौ निरूपितम्। विवर्तवादिमते घटाकाशादिदृष्टान्तो न घटत इति—

> घटाकाशादिनीतिश्च त्वया संविदि दुर्भणा।
> तत्तत्संयोगविश्लेषतुल्यागन्तुगुणोज्झनात्॥

इति तत्वटीकायां व्यक्तम्। यस्य चैकस्य वस्तुनः स्वसमानसत्ताकेन येनोपाधिना तथाविधस्संबन्धः तद्भेदकत्वं तदुपाधेर्घटाकाशादिस्थले लोके दृष्टम्। दर्पणादेरपि स्वसमानसत्ताकस्वपरावर्त्यमाननयनरश्मिवन्मुखादिभेदकत्वात्। नचैवं चिति संभवति! चिदुपाध्योर्विभिन्नसत्ताकत्वात्। अत एव घटाकाशदृष्टान्तः असङ्गत्वविशदीकरणार्थः (पं.पा.) इत्युक्तिः। जागरे अविद्यावच्छेदो विभ्रममात्रम्। सुषुप्तौ तु भ्रमासंभवेऽपि अविद्यावच्छेदानिबन्धनजीवब्रह्मविभागानङ्गीकारे ब्रह्मण्येवाविद्यादिसाङ्कर्यापत्तावपि अनाद्यविद्याविशिष्टचैतन्यस्यानादिजीवभावेन काल्पनिकभेदाश्रयत्वमङ्गीक्रियते न स्वरूपेण; तस्यैकत्वात्। विशिष्टाश्रयो विभागः स्वरूपेणाप्युपरज्यमानोऽविद्यानुपादानोऽप्यविद्यातन्त्रः। अविद्यातन्त्राणां चानादित्वमनिर्वचनीयत्वमात्माविद्यासंबन्धवन्न विरुध्यते (पं.पा.वि.) इत्युक्तिश्च संगच्छते 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वत्' इतिसूत्रे (शं.) भाष्ये जीवस्य ब्रह्मप्रतिबिम्बत्वासंभव उक्तः इति पूर्वमेव निरूपितम्। अतोऽवच्छेदवादिभिर्जलसूर्यकादिदृष्टान्तस्य प्रतिबिम्बवादिभिः घटाकाशदृष्टान्तस्यान्यथानयनकरणेन 'वृद्धिह्रासभाक्त्वम्' इति सूत्रश्रीभाष्येऽपि तत्स्थापनेन दृष्टान्तद्वयमपि न जीवभावस्यौपाधिकत्वं साधयितुमलम्। विवरणे जागरे देहस्य जीवोपाधित्वोक्त्या अपरैस्तथैव (३३२.सि.ले.सं.) प्रतिपादनमनयैव युक्त्या निराकणीयम्। तदुक्तं सांख्यतत्वकौमुद्यां वाचस्पतिना—'नचैकस्यपि पुरुषस्य देहोपधानभेदा-

तत्वमुक्ताकलापः

यथा देहबाह्याक्षभेदात् ।

सर्वार्थसिद्धिः

सन्ति च कल्पादौ जातिस्मराः 'स्वयमागतविज्ञानाः' इत्यादेः । *तत्र प्रतिबन्द्यभिप्रायेणाह ;—**यथेति** । न हि देहभेदे प्रतिसंधानाभावः! पूर्वजन्माभ्यस्तप्रतिसंधानदृष्टेः । न च बाह्येन्द्रियभेदे!

आनन्ददायिनी

वदन्ति । अस्तु को दोषः ? इत्यत्राह ; **सन्ति चेति** । तथाच स्मरणं न स्यादिति भावः । तत्र प्रमाणमाह—**स्वयमागतेति** । पूर्ववासनया उपदेशात्यन्ताभावेऽपि ज्ञानिन इत्यर्थः निर्हेतुकत्वानभ्युपगमात् । सनकादयो हि कल्पादौ प्रथममुत्पन्नाः पूर्ववासनातो निवृत्तिधर्मानिष्ठा इति हि पुराणादौ प्रसिद्धमिति भावः । **तत्र प्रतिबन्द्यभिप्रायेणेति** ।

भावप्रकाशः

द्यवस्था इति युक्तम्! पाणिस्तनाद्युपाधिभेदेनापि जन्ममरणादिव्यवस्थाप्रसङ्गात्' इति विनिगमनाविरहादप्यन्तःकरणस्य जीवोपाधित्वकल्पनं बहुसंमतमपि न संभवतीत्याह—* **तत्रेत्यादि** । सुषुप्तावविद्यायाः स्वप्नेऽन्तःकरणस्य जागरे देहस्योपाधित्वेऽपि पूर्वपूर्वोपाधिविशिष्टस्यैवोत्तरोपाधिवैशिष्ट्याङ्गीकारेण न विनिगमनाविरहः । अविद्योपाधौ पर्यवसानात् इत्यभ्युपगमे अविद्यानानात्वे प्रमाणविरहेण अज्ञानोपहितं चैतन्यं जीवः देहभेदाच्च जीवभेदभ्रान्तिरित्येकजीववादाख्यवेदान्तसिद्धान्तस्स्यात् । तत्र च (सि.बिं.टि.११७) 'जीवोपाधौ मनो न निवेश्यते हस्तपादाद्यवच्छिन्नानामिव मनोऽवच्छिन्नानां भेदेऽपि जीव

भावप्रकाशः

भेदास्वीकारात् परं तु अज्ञानमेवोपाधिः । तस्य चैकत्वमेव लाघवात् 'मायां तु प्रकृतिम्' 'अजामेकाम्' इति श्रुतिसिद्धैकवचनात्' इति निर्णयकरणेन 'कार्योपाधिरयं जीवः' इति श्रुत्यनुसारि संक्षेपशारीरककाराणां विवरणकाराणां च मतं प्रदर्श्य अनयोः पक्षयोर्बुद्धिभेदाज्जीवनानात्वमिति (सि.बि. ११८) इतिव्यवस्था भज्येत । यदि बन्धमोक्षव्यवस्थासौकर्यादिकमालोच्य गौरवं सह्यते तदा विनिगमनाविरहादनौपाधिकजीवनानात्वं सिध्यति । जीवभावस्यामोक्षस्थायित्वे मोक्षार्थप्रवृत्त्यनुपपत्तिर्वक्ष्यते (जी.स. १७ श्लो) इति । 'चैतन्यात्मकत्वाद्यविभागाच्चोपनिषत्स्वैकात्म्यव्यवहारः' इति तन्त्रवार्तिकोक्तिः अंशाधिकरणभामत्यां स्वामिभृत्यप्रकारेष्येवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात्तद्विध एव संबन्ध इति (शं) भाष्योक्तपूर्वपक्षे भामत्यां अद्वैतश्रुतीनां जातिपरतोक्तिश्च 'न त्वेवाहं जातु नासम्' इति गीताभाष्योक्तदिशा मूले 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' इति श्रुत्या प्रतिष्ठाप्यते । श्रुतौ च; (कठो)–शङ्कराचार्यैः अनित्यानामीतिच्छेदस्य करणेऽपि तदनुयायिनो बहवः चेतनश्चेतनानामितिवैरूप्यभयान्नित्यानामित्येव छेदमाद्रियन्ते । न हि निर्धारणे षष्ठी नित्यो नित्यानामिति! 'एको बहूनाम्' इति समभिव्याहृतवैरूप्यापत्तेः' इति (सि.सि.अ. ३३.) परैरप्युक्तम् । एवं च बहूनामित्येतदवैरूप्यायैव नित्यानामिति नित्य इत्यत्र नान्वेति । 'सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ) इति श्रुतौ सत्यस्येति सत्यमित्यत्रैवान्वेति पदान्तराभावात् । 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इत्युत्तरविवरणवाक्याच्च । अत्र च बहूनामित्यस्य विशेष्यसाकाङ्क्षत्वात् संभवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्येनान्वयस्यान्याय्यत्वाच्च नित्यानां बहूनां

भावप्रकाशः

चेतनानां कामान् इत्यन्वयोऽभ्युपगतः (गी.भा)। विशिष्टविधित्वमपि स्थापितम् (ता.चं २-३. श्रु.प्र)। नचैतावाता जीवानां मिथस्स्वाभाविकभेदोऽनया श्रुत्या सिध्यति! बहुपदस्य संख्यावाचितया भेदवाचित्वाभावात्। बहुत्वस्य स्वाश्रयभेदसामानाधिकरण्यनियमात् श्रुतबहुत्वार्थापत्तिसमधिगम्यस्यापि भेदस्य श्रौतत्वमिति चेत्; अहमर्थजीवानां भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धतया श्रुतेरनुवादत्वेन तत्र तात्पर्यासंभावात्॥

यद्यपि अस्मद्युष्मदर्थभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि नित्यत्वविशिष्टचेतनानां बहुत्वस्य प्रत्यक्षासिद्धस्य श्रुतौ प्रतिपादनान्नानुवादत्वम्। अयमर्थः 'न त्वेवाहं जातु नासम्' इति गीताभाष्ये एतच्छ्रुत्युपन्यासात्सूचितो भाष्यकृता। अत एव तत्त्वमसीतिवाक्यस्य सत्यादिवाक्यात् तत्पदाच्च प्रमेयावैलक्षण्येऽपि धर्मिद्वयपरामार्शित्वेन भेदभ्रमनिवर्तकत्वात्प्रामाण्यम्, उक्तं च कात्यायनेन;-सिद्धं तु निवर्तकत्वात्' इतीति (अ. सि. ७०८) 'ज्ञातज्ञापकत्वेऽपि भ्रमविशेषनिवृत्तिरूपप्रयोजनसत्त्वात्तत्त्वमस्यादिप्रामाण्यम्' इति (ल–चं) परोक्तिस्संगच्छते। उक्तं च वार्तिककृता;—'इत्याह—दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन' इति। श्रुतौ चास्यां पूर्वार्धे उपाध्यनिर्देशात् नित्यानामिति पदोपादानात् एतत्पूर्वश्रुतौ एतदुत्तरार्धे च कठोपनिषदि 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः, इत्यत्र 'य आत्मनि तिष्ठन्, इति बृहदारण्यकोक्तार्थस्य प्रतिपादनाच्च जीवभेदस्यौपाधिकत्वव्यावहारिकत्वयोरपि नावकाशः॥

तथाऽपि तत्त्वमसीत्यादिभिर्जीवब्रह्मणोरभेदप्रतिपादनेन तद्विरोधात् 'नित्यो नित्यानाम्' इत्यत्र नित्यानामित्यापेक्षिकानित्यत्वपरमिति व्यावहारिकभेदविषयकत्वमस्याश्श्रुतेरितिशङ्कां श्वेताश्वतरश्श्रुतित्रयोदाहरणमुखेनापाकरोति;

सर्वार्थसिद्धिः

सर्वधीविरोधात् तद्वच्चेतोभेदोऽपि न व्यवस्थाहेतुरिति । *ईश्वरान्मिथश्च जीवानां निरुपाधिकभेदः । 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' जुष्टं यदा

आनन्ददायिनी

यथा देहभेद इन्द्रियभेदो वा जन्मान्तरीयादिप्रतिसंधानानुरोधेन नाप्रतिसंधानप्रयोजक तथा चेतोभेदोऽपि न प्रयोजक इत्यर्थः । तद्वच्चेतोभेद इत्युपसंहारः । **पृथगात्मानमित्यादि** । देहात्पृथगात्मन इत्यर्थकतया जीवादीश्वरभेदो नोच्यत इति चेन्न; प्रेरितारं च पृथङ्मत्वेति वचनव्यक्तौ तत्र प्रतीतप्रतियोगिकत्वमेव [1]वक्तुं युक्तं न त्वप्रतीत देहप्रतियोगिकत्वम्[2] । अत एव चकारोऽप्यर्थवान् ॥

ननु कर्मधारयस्थलीयचकारवदभेदार्थकत्वमिति चेन्न; [3]कर्मधारयस्थले अभेदार्थत्वं समानाधिकरणविभक्त्यर्थत्वात् न चकारात् । [4]चकारस्तु वाक्यालङ्कारार्थः । अथवा समानाधिकरणविशेषणविशेष्योभयगतचकारयुगळत्वेन तथा व्युत्पत्तिः; अन्यथा नीलमुत्पलं चेत्यपि विग्रहप्रसङ्गात् । भेदार्थकत्वं तु देवदत्तो यज्ञदत्तश्चेति प्रयोगात् । समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्था इति शाब्दोक्तेश्च

भावप्रकाशः

*ईश्वरादित्यादिना । अत्र 'सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे' इति पूर्ववाक्यम् । 'जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' इति च

---

[1] सिध्यति देह प्रतियोगिकत्वे—**ग. घ. ङ.** [2] त्वं कल्प्यमितिगौरवम्—**ग.** [3] तत्र तच्छब्दसामानाधिकरण्यादेवाभेदार्थकत्वम्—**ग घ.** [4] चकारस्तु प्रवृत्तिनिमित्तभेदार्थकतया सामानाधिकरण्ये उपयुज्यते । तथाच भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकार्थवृत्तित्वरूपसामानाधिकरण्यं चोपपन्नं; नच चकारस्य व्यर्थता । तस्य मुख्यत्वात् । मुख्यार्थस्तु भेद एव । अत एव द्वन्द्वसूत्रे समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः इतरेतरयोगस्तु मुख्योऽन्यस्त्वौपचारिक इति वामन इति वदन्ति—**ख.**

सर्वार्थसिद्धिः

पश्यत्यन्यमीशम् 'नित्यो नित्यानां' इत्यादिश्रुतिस्वारस्यसि

आनन्ददायिनी

सिद्धम् । किंच कर्मधारयस्थलेऽपि चकारस्य भेदार्थकत्वमेव । पर्यायव्यावर्तकप्रवृत्तिनिमित्तभेदार्थक एव चकारः । अन्यम्— स्वापेक्षया अन्यम्; उपस्थितत्वादित्यर्थः । जीवानामन्योऽन्यभेदे तेषां ईश्वराच्च भेदे श्रुतिमेव (श्रुतिं) दर्शयति–**नित्यो नित्यानामिति** ।

भावप्रकाशः

तदुत्तरवाक्यम् । वेदार्थसंग्रहे इयं श्रुतिः 'आत्मानं प्रेरितारं चान्तर्यामिणं पृथङ्मत्वा ततः—पृथक्त्वज्ञानाद्धेतोः तेन—परमात्मना जुष्टः अमृतत्वमेति इति साक्षादमृतत्वप्राप्तिसाधनमात्मनो नियन्तुश्च पृथग्भावज्ञानमित्यवगम्यते' इति विवृतम् । अयमाशयो भगवतो भाष्यकृतः;— श्वेताश्वतरोपक्रमे;—

किं कारणं ब्रह्म कुतश्च जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१२॥

इत्युपक्षिप्तप्रश्नपञ्चके आद्यप्रश्नद्वयस्य प्रतिवचनमभिधाय; 'सर्वाजीवे' इति पूर्वार्धेन प्रश्नत्रयस्य प्रतिवचनमुच्यते । तत्र 'तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे' इत्यत्र;—

ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

इति गीतानुसारेण जीवस्य ब्रह्मप्रवर्त्यत्वं विवक्षितम् । इत्थं च जीवस्य ब्रह्माधीनोदयजीवनलयप्रवृत्तिमत्त्वमुक्तं भवति । 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इत्यत्र चस्समुच्चये । एतेन आत्मप्रेरित्रोः विलक्षणपृथक्त्वयोर्नात्र विवक्षा इति सिध्यति । अत्र प्रेरितृशब्दबोधितस्य उभयोः ईशे-

भावप्रकाशः

शितव्यभावस्य उत्तरत्राभ्यस्यमानत्वात् पूर्वं जीवपरमात्मनोर्भेदकधर्मकथनाच्च पृथगात्मा प्रेरिता च इति वाक्यस्य परस्परपृथक्त्वबोधकतावत् अस्याऽपि वाक्यस्य द्वितीयाप्रकृत्यर्थयोः पृथक्त्वस्य ज्ञानान्वयिनो बोधकत्वे स्वारस्यात् जीवपरयोः परस्पर पृथक्त्वज्ञानमेव अत्र मोक्षसाधनत्वेन विवक्षितम्। अनन्तरम् ;

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च।

अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥

इत्यत्र भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वं श्रुत्यन्तरेण प्रेरितुः परत्वख्यापनेनोपपाद्यते। एतत्—'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इति पूर्ववाक्योक्तं प्रेरितृ परमं तु ब्रह्म तुशब्देनापरस्य व्यवच्छेदः। उद्गीतं—'एष हि द्रष्टा—विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षरे आत्मनि सं प्रतिष्ठते (प्र ४—९) इत्यनन्तरम् ;—

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार' इत्यारभ्य ;—
यः पुनरेतं त्रिमात्रेणैवोमित्यनेनैवाक्षरेण परमपुरुषमभिध्यायीत।

स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते, (प्र. ५—५)
इत्यादौ इति शेषः।

'तस्मिंस्त्रयम्' कुतस्स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
इत्युक्तसृष्टिस्थितिलयकारणतात्रयम् ; 'स्वप्रतिष्ठाक्षरम्' ओङ्कारः' एतेन प्रेरितुः परब्रह्मणः जीवसृष्टिस्थितिलयहेतुत्वेन परत्वमुपपादितम्॥

अत्र प्रेरितरि परब्रह्मणि अन्तरं—प्रेर्यावरवस्तु भेदं विदित्वा इत्यर्थः, 'वेदविदः' इत्यनेन पूर्वोत्तरभागयोरेकरूपं प्रामाण्यं सूच्यते॥

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
इत्यत्र ईशस्य जीवधारकत्वम् ;

भावप्रकाशः

अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

इत्यत्र जीवात्मनो बद्धत्वम् देवज्ञानेन सर्वपाशविमोचनम्;

क्षरात्मानावीशते देव एकः तस्याभिध्यानात्।

इत्यत्र;—

निरुपाधिकमैश्वर्यं वासुदेवे प्रतिष्ठितम्।

इति पाद्मानुसारेण वासुदेवस्य परिशुद्धात्मनोऽपि नियन्तृत्वं तद्योगबलान्निश्शेषमायातरणम्; तृतीये;—

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं . . . . . . ।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति ॥

इत्यत्र सर्वव्यापकेशज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वम्; तदेव चतुर्थे। 'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्' इत्युभयत्र। पञ्चमेऽपि;—

'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्' इत्यत्र। षष्ठे;—

य ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय।

इत्यत्र ईशनस्याज्ञानाद्यनिमित्तकत्वं च प्रतिपादितम्। अत्र सर्वत्राप्युपाध्यनिर्देशात् जीवे अमृताक्षरशब्दप्रयोगाच्च अनौपाधिकजीवेशभेदज्ञानं विवक्षितम् इति ॥

एतेन; 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इति 'भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे' इत्यत्रैवान्वेति। केन मुच्यत इत्यत्राह;—जुष्टस्सेवितः तेनेश्वरेण चित्सदानन्दात्मना अहं ब्रह्मास्मीति समाधानं कृत्वेत्यर्थः। तेन ईश्वरसेवनादमृतत्वमेति इति; (शं. २६) विवरणे मत्वेत्यस्य हठादाकर्षणेन पूर्ववाक्यार्थेऽन्वयकल्पनम्; 'तेन जुष्टः' इत्यस्य स्वेच्छयाऽर्थोत्प्रेक्षणं चानुचितम्। पृथक्—संसारचक्रात् सोपाधिकाच्चान्यरूपमात्मानं सर्वप्रियतमम्। प्रत्यग्भूतं संसारचक्रस्य

भावप्रकाशः

नीतः स्वप्रकाशपरमानन्दरूपमेति (शं आ-६) इति व्याख्यानेऽपि 'च जुष्टः' इत्यनयोरर्थ औत्प्रेक्षिकः ॥

प्राकृतदेहादिभेदविभ्रमगृहीतमात्मानं प्रकृत्यादिभ्यः पृथग्गृहीत्वा तं चान्तर्यामिणं 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुत्यवष्टम्भनेन मत्वा जुष्टः सेवामाशंसमानः तात्पर्येण ध्यायन्नित्यर्थः । ततः तेनेतीत्थम्भूतलक्षणे तृतीया । साक्षात्कृतब्रह्मात्मना विस्तृतः ; यदि व्यवहितान्वयस्सह्येत तदा ततः पृथगिति स्यात् । अमृतत्वमिति सह भेदविभ्रमविलासेनाविद्याया मृत्योः विद्यया निबर्हणादिति (सि. सि. अं १८४) इति व्याख्यानेऽपि पूर्वं प्रकृतिनिरूपणेन सामान्यवाचिनाऽप्यात्मशब्देन प्रकृत्यभेदविभ्रमगृहीतस्यैव ग्रहणमित्यङ्गीकारेऽपि चशब्दस्य समुच्चयार्थकत्वेन आत्मनः प्रकृत्यादिभ्यः पृथक्त्वेन ज्ञानं प्रेरितुश्च इतरथा ज्ञानं विवक्षितमिति तत्राप्यात्मनः प्रकृत्यादिपृथक्त्वज्ञानमेतद्वाक्यसिद्धं प्रेरितुः ज्ञानं च उपनिषदन्तरसिद्धं विवक्षितमिति च निर्बीजम् । एवं तेनेत्यस्य साक्षात्कृतब्रह्मात्मनेत्यर्थकल्पनमपि ; तच्छब्दस्य प्रेरकार्थताया एव युक्तत्वात् । तनुविस्तार इति धातुना निष्पन्नततश्शब्दसमभिव्याहारे तृतीयायाः कर्त्रर्थकतायाः संप्रतिपन्नत्वात् । क्त्वाप्रत्ययेन क्रिययोः पौर्वापर्यमात्रप्रतीतावपि हेतुहेतुमद्भावस्य शब्दतोऽबोधेन बाधाभावनिश्चयानन्तरमेव तल्लाभो वाच्यः; बाधाभावश्च झडिति निश्चेतुं न शक्यते इति शब्दतस्तल्लाभार्थं तत इत्यस्य तसिल्प्रत्ययान्तत्वस्यौचित्यात् । क्त्वाप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्विरहेऽपि वा तत इत्यतो विस्तृतार्थस्य न झडित्युपस्थितिः किं तु विलम्बेनेत्यत्राविगानाच्च तत इत्यस्य विस्तृतार्थकत्वकल्पनमप्यनुचितम् ॥

भावप्रकाशः

एवं प्रेरितारं ईश्वरमात्मानं जीवं च पृथक् तदुभयविलक्षणाखण्डानन्दरूपेण तत्वमस्यादिवाक्येन ज्ञात्वा (ल. चं. ७३१) इति श्रुत्यर्थोऽपि कल्पनामात्रमेव ; पृथगित्यस्य तथार्थवर्णने प्रमाणाभावात् । यदीयमुपनिषत् जीवब्रह्मणोरभेदं प्रत्यपादयिष्यत् तदैवमभ्यूहितुमशक्ष्यत न च तथा ; किं तु जीवेशयोरीशेशितव्यभावसंबन्धादिरभ्यस्यते उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गान्यन्यान्यपि स्फुटानि इति ॥

वेदार्थसंग्रहे पृथागात्मानमित्येतद्विवरणानन्तरं ऐक्यवाक्यविरोधादिदमपरमार्थसगुणब्रह्मप्राप्तिविषयमभ्युपगन्तव्यामिति चेत् ; पृथक्त्वज्ञानस्यैव साक्षादमृतत्वप्राप्तिसाधनत्वश्रवणाद्विपरीतं कस्मान्न भवतीत्युपक्रम्य तत्त्वमसीति सद्विद्यायामुपास्यं ब्रह्म सगुणं सगुणब्रह्मप्राप्तिश्च फलमित्यभियुक्तैः पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातम् । यथोक्तं वाक्यकारेण 'युक्तं तद्गुणकोपासनात्' इत्यादिना । 'अद्वैतमेव परिरक्षति वाक्यकारः' इत्यादि (३. अ. २२०) संक्षेपशारीरकमपि समालोचितम् । एवमभिधाय 'नित्यो नित्यानां' इति श्रुत्या औपाधिकमात्मभेदं निरस्यतो भगवद्भाष्यकृतोऽयं भावः ;—'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः । तेनेशितं कर्म (६-२) 'एको देवः' 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (६-११) एको वशी—तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् । (६-१२)

नित्यो नित्यानां+विदधाति कामान् ।
तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥
एकोहꣳसो भुवनस्य मध्ये
स एवाग्निस्सलिले सन्निविष्टः ।

भावप्रकाशः

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥
स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः
ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६ ॥
स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञस्सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ १७ ॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रसादं(काशं)
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥
निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥
यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ (६ २०)

इत्यत्र ;

'नित्यो नित्यानां+विदधाति कामान्'

इत्यस्याव्यवहितपूर्वापरवाक्ययोः ;—

'क्षरात्मानावीशते देव एकः (१–१०)

'विश्वस्य स्रष्टारं तमनेकरूपम्+ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः

५–१३–२ ।

भावप्रकाशः

इति चेतनाचेतननियन्तृत्वेन विश्वस्रष्टृत्वेनानेकरूपत्वेनोक्तस्य देवस्य ज्ञानादेव मोक्षः प्रतिपाद्यते। 'एको हंस' इति मन्त्रे 'अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्ये, (तै ४-१-२) इत्युक्तदिशा नारायणस्यावतारद्वयं पूर्वं (३-८) वेदाहमेतं' इति पुरुषसूक्तसच्छायमन्त्रोक्तम् तज्ज्ञानस्य मृत्युनाशहेतुत्वं तद्व्यतिरिक्तस्याहेतुत्वं चोक्तम्। अत्र यद्यपि 'तमेव विदित्वा' इत्यादिश्रुत्या 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिकेवलार्थकैकपद-युक्तश्रुत्येकवाक्यतानुरोधेन केवलात्मज्ञानस्यैवाज्ञाननिवर्तकत्वं बोध्यते' (ल चं २५८) इत्यस्य विवरणे। तं--शुद्धं धर्मिणमात्मानम्। यत्तदो-श्शुद्धधर्मिबोधकत्वात्। अत एव 'यद्विषयकत्वेन' इति मणिं यादृश-विशिष्टविषयकत्वेन इति व्याचक्रुस्तार्किकशिरोमणयः। एवकारेण तदंशे प्रकारस्य व्यावृत्तिरिति विट्ठलेशेनोक्तम्; तथाऽपि पदसामान्यस्य निष्प्रकारकबोधजनकता न केनापि तान्त्रिकेणाभ्युपेयते इति यत्तदोर्ध-र्मिमात्रबोधकत्वमसिद्धम्। प्रत्युत तच्छब्दस्य विशेष्यसंबन्धित्वेन पूर्व-प्रस्तुतयावद्धर्मप्रकारेणापि बोधकत्वमेवेति स्थापितं श्रीभाष्यदौ। यद्वि-षयकत्वेनेतिमणिं यादृशाविशिष्टविषयकत्वेनेति व्याकुर्वतो दीधितिकृत-श्शिरोमणेराशयः तत्पदस्य सप्रकारकबोधजनकतामपरित्यज्योपपादिता दीधितिव्याख्यातृभिः स्वस्वटीकासु। एवं च विशिष्टवाचिपदसमभि-व्याहृतविदिधात्वर्थान्वय्यन्ययोगव्यवच्छेदपरैवकारस्य विशेषणयोगव्यव-च्छेदबोधकता न क्वचिद्दृष्टेति न 'तमेव विदित्वा' इत्यत्रैवकारेण मोक्षसा-धनज्ञाने निष्प्रकारकत्वलाभसंभवः। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (३-८) इत्यत्रैवकारः महापुरुषव्यतिरिक्ताल्प-पुरुषज्ञानस्य मुक्तिसाधनताव्यवच्छेदपर इति व्यक्तं विदुषाम्। किंच व्याप्त्यादिकमेव विदित्वाऽनुमिनोति ब्राह्मणानेव दृष्ट्वा अयमतितुष्यति

भावप्रकाशः

इत्यादौ व्याप्त्याद्यविषयकज्ञानाजन्यानुमित्याद्यर्थकत्ववत् तमेव विदित्वा इत्यादौ आत्माविषयज्ञानाजन्यमुक्त्यर्थकत्वस्य (सि. बिं. टि. ३३) परसंमततया एवकारेणात्मांशे न प्रकारस्य व्यावृत्तिसंभवः एकादिशब्दानां स्वान्यसामान्यराहित्यरूपकैवल्यविशिष्टार्थकता न क्वचिद्दृष्टा न वा केनचिद्दार्शनिकेनाभ्युपगता। स्वसजातीयद्वितीयराहित्यरूपं कैवल्यमेकादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति हि संपतिपन्नम्। अत 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यत्रापि न पराभीष्टसिद्धिः। किंच परमते एकधैवेत्यत्र प्रकारार्थकधाप्रत्ययो विफलः। श्रुत्यर्थस्तु नायकसरे वक्ष्यते। एतेन जीवपरमात्मभेदसाधनार्थं प्रवृत्ते 'भेदव्यपदेशात्' इति सूत्रे (शं) भाष्ये उदाहृते 'यस्मिन् द्यौः' 'तमेवैकं जानथात्मानं (मुं. २—२—५) इति श्रुतावप्येवकारैकशब्दौ व्याख्यातौ। उत्तरमन्त्रेषु विश्वकृत्त्वगुणित्वप्रधानक्षेत्रज्ञपतित्वसंसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुत्वजीवबुद्धिप्रसादकत्वमुमुक्षुशरणागत्युद्देश्यत्वमोक्षपरोपायत्वसर्वपापदाहकत्वक्रीडावत्त्वादयो धर्माः प्रतिपादिताः। ईशितृत्वं च अज्ञानाद्यवद्यशून्यस्य परस्याज्ञानाद्यहेतुकत्वेन नित्यमित्युक्तम्॥

एवं च वेदार्थसंग्रहे प्रदर्शितेन 'नेति नेति' इति श्रुतिः परं ब्रह्म न निषेधतीत्यत्र परैरप्यभ्युपगतेन 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' इति नयेन निर्गुणश्रुतिः न गुणसामान्यं निषेद्धुमीष्टे' इति सिद्धम्। एवं 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इत्यनन्तरं 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' इत्यज्ञत्वेनोक्तस्य जीवस्य ;—

अनीशया शोचति मुह्यमानः
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ (४—७)

भावप्रकाशः

इत्यत्र मोहशब्दाभिधेयाज्ञानमूलशोकवत्त्वं स्वभिन्नेशज्ञानेन शोकनिवृत्तिः 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यत्र परस्य निर्गुणदेवस्य अज्ञानाद्यवद्यविरहः ईशदेवज्ञानाभावे दुःखनिवृत्तेरसंभवश्च प्रतिपाद्यते। द्वितीये च;—

तद्वात्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ (२–१४)

इत्यत्र स्वयंप्रकाशजीवात्मतत्वसाक्षात्काराद्वीतशोकत्वं कस्यचित्पुरुषधौरेयस्यैवेत्युक्त्वा;—

यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वम्
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धम्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १५ ॥

इत्यत्र साक्षात्कृतस्वयंप्रकाशजीवात्मतत्वस्य (तत्साक्षात्कारपर्यवसितस्य) गीताभाष्योक्तदिशा ब्रह्मतत्वसाक्षात्कारप्रयोजकत्वम् 'स एकाकी न रमेत' (महो) इति श्रुत्यालोचनया ईश्वरस्य विभूत्यभावेऽनैश्वर्यप्रसङ्गाच्च विभूतिभूतसर्वतत्वविशुद्धदेवज्ञानादेव सर्वशोकविमोक इति प्रतिपादितम्। अत्र ब्रह्मतत्त्वमितिवत् आत्मतत्त्वं आत्मतत्त्वेन सर्वतत्त्वैः इत्यत्र तत्त्वशब्दप्रयोगात् ब्रह्मतन्नियाम्यचिदचितोरपि पारमार्थ्यमेकरूपमेवेति सिध्यति; एतेन सत्यद्वयं निरस्तम्। एवं 'एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः' इत्यत्र प्राप्त्यर्थकात्मनेपदिभूधातुप्रयोगात् 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' 'तरति शोकम्' (मुं. ३-२-९) इति मन्त्रेऽपि भूधातुः 'परात्परं पुरुषमुपैति' इति पूर्वमन्त्रोक्तप्राप्त्यर्थक इति बोधितम्; तथा सति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै. उ. २-१) इति श्रुत्यैकरस्यमपि; अतो 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' इत्यस्यापि पूर्वोक्त एवार्थः ॥

तत्वमुक्ताकलापः

[1]नित्यान् भिन्नांश्च जीवान् कथयति निगमः

सर्वार्थसिद्धिः

सिद्ध इत्याह—**नित्यानिति** । मुक्तावपि भेदश्रुतिमभिप्रेत्याह—

आनन्ददायिनी

ननु श्रुतीनामौपाधिक[2]भेदविषयकत्वेनान्यथासिद्धिरित्यत्राह :—**मुक्ता-**

भावप्रकाशः

अत एव 'भेदव्यपदेशात्' इति सूत्रश्रीभाष्ये एतत्समानुपूर्वीकाथर्वण (मु. ३-१-२) मन्त्रोदाहरणमपि सङ्गच्छते । यद्यपि 'तमेवैकं जानथात्मानम्, इति जीवब्रह्मणोर्ज्ञातृज्ञातव्यभावेन भेदपरा श्रुतिरत्र विवक्षिता इति (शं.) परैरुक्तं, तथापि 'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च' इत्यनभिधाय 'भेदव्यपदेशात्' इति सूत्रयितुर्व्यासस्य 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' इति श्रुतिरेव विवक्षितेति प्रतीयते । 'उद्गीतमेतत्' 'तद्वात्मतत्त्वम्' 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वम्' इत्यादेः परव्याख्यानं हठात्स्वाभीष्टार्थप्रकाशनमेवेति तद्द्रष्टॄणां विदुषां स्फुटम् इति ॥

अतः 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः' इत्यादौ जीवेशभेदज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वोक्तया 'नित्यो नित्यानाम्' इति 'तमात्मस्थम्' इति श्रुत्युत्तरश्रुतौ नित्यचेतनानाम् परमात्मनो मिथश्च भेदो विवक्षित इत्यत्र न सङ्कटं किञ्चित् ॥

---

[1] भिन्नान् नित्यांश्च—**क. घ.** [2] भेदपरत्वमर्थ इत्यत्राह—**क.** भेदपरत्वमस्त्वित्यत्राह—**ख.**

तत्त्वमुक्ताकलापः

तद्धि नोपाधिनस्स्यादात्माद्वैतश्रुतीनामितरहृद-

सर्वार्थसिद्धिः

तद्धीति । ननु 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' इत्यादिभिर्जीवब्रह्म*-तादात्म्ये सिद्धे भेदस्यौपाधिकत्वं ग्राह्यमित्यत्राह— **आत्माद्वैतेति** । अयं

आनन्ददायिनी

विति । 'तदा विद्वान्' [1]इति वाक्येन भेदज्ञानफलत्वेन मोक्षस्य कीर्तनात् मोक्षार्थोपासनस्यौपाधिकार्थविषयकत्वायोगात् उपाध्यनिर्देशाच्चानौपाधिकत्वेन मुक्तिकालिकभेदपरत्वं चेत्यर्थः । [2]इतरहृदयतेत्युक्तं हृदयमाह— **अयं भाव** इति ॥

भावप्रकाशः

* तादात्म्ये इति— परिणामाद्वैतिभास्करादिमते तादात्म्यं—भेदाभेदः । विवर्ताद्वैतिमते तु तादात्म्यं—ऐक्यं ब्रह्मस्वरूपात्मकमेवेति बोध्यम् । तत्त्वमसीत्येतत्पूर्वं 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यत्रोक्तं भगवदात्मकत्वं स्वरूपेण 'शरीरशरीरिभावेन वा' इति वेदार्थसङ्ग्रहे विचारकरणेन; 'आत्मेति तूपगच्छन्ति' (४-१-३२) 'उभयव्यपदेशात्तु' (३-२-२७) इति सूत्र (शं) भाष्ये तत्त्वमसीत्येतत्सहभावेन 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ. ३-४-१) 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (७-३) इति श्रुत्योरभेदश्रुतित्वेनोपादानेन च विवर्तवादिमतेऽप्यैक्ये उदाहृतश्रुतितात्पर्येण तादात्म्यशब्दप्रयोगस्य नानुपपत्तिः । अत एव—

नेहान्यत्रात्मनो ब्रह्म नचात्मा ब्रह्मणोऽन्यतः ।

---

[1] इत्यादिवाक्येन मुक्तौ भेदावगमात् उपासनावाक्येऽपि स एव भेदो वाच्यः । स च स्वाभाविकः मुक्तिकालीनत्वादिति भावः—**क. ख.** [2] नन्वभेदश्रुतीनामत्यन्तबाध एव सर्वात्मना स्वार्थत्यागादित्यत्राह—**क. ख**

सर्वार्थसिद्धिः

भावः ; --- शरीरशरीरिभावेन सामानाधिकरण्यं * स्थापयिष्यते ;

भावप्रकाशः

तादात्म्यमनयोस्तस्मिन्नीलोत्पलविलक्षणम् ॥ ९.७४ ॥
इति (बृ.) संबन्धवार्तिके तादात्म्यशब्दप्रयोग उपपद्यते ॥

एतेन नीलो घट इत्यादिविशेष्यविशेषणभावस्थले व्यावहारिकतादात्म्यस्य ; इदं रजतमित्याद्यध्यासस्थले प्रातिभासिकतादात्म्यस्य ; यत्र तादात्म्यं न संभवति तत्राखण्डार्थत्वात् जीवत्वेशत्वोपहितयोस्तादात्म्यासंभवादखण्डार्थत्वस्य ; (ल. चं. ६७५) अत्यन्ताभेदे तादात्म्यासंभवस्य च (बि. टी.) परैरुक्तया नात्र विवर्तवादिमतविवक्षासंभव इति शङ्काया नावकाशः ॥

* स्थापयिष्यत इति---'वायव्यं श्वेत'मित्यत्र श्वेतशब्दस्य 'नैमित्तिके' (१०-२-६८) इति सूत्रे जैमिनिना गुणप्रवृत्तिनिमित्तकत्वोक्तया ; अरुणाधिकरणे 'अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोः' (३-१-१२) इति सूत्रस्वारस्याच्च अरुणादिपदानां द्रव्यवचनत्वमभिमतमिति स्थापितमानन्दमयाधिकरणे श्रीभाष्ये । अभ्युपगता चेयमेव सरणिर्मञ्जूषायां **नागेशेन** । एवमप्पयदीक्षितैर्वादनक्षत्रमालायां गुणगतजातेस्साक्षात्परम्परया वा प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन अरुणादिपदानां गुणगुणिवाचकता साधिता । अतश्चाकृत्यधिकरणमपि व्याख्यातप्रायम् । एवं च अरुणाधिकरणाकृत्यधिकरणद्वयशाबरभाष्यादिकं न जैमिनिहृदयानुसारीति सिद्धम् ॥

तत्र च आकृत्यधिकरणे भगवता जैमिनिना 'अर्थैकत्वमविभागात् (१-३-३०) इत्यत्र जातिव्यक्त्योरविभाग उक्तः ।

भावप्रकाशः

भगवता व्यासेन च 'अविभागेन दृष्टत्वात्' (४-४-४२) इति सूत्रे मुक्तौ जीवब्रह्मणोरविभागः 'स्याल्लोकवत् । (२-१-१३), इत्यत्र विभागश्चोक्तः । एतत्पर्यालोचनायाम् यथा जातिव्यक्त्योः गुणगुणिनोश्च नाभेदः किं तु विभज्यस्थित्यनर्हसंबन्धः । अत एव जातिगुणबोधकगोनीलादिपदानां व्यक्तिगुणिपर्यन्तत्वं च; तथा जीवब्रह्मणोर्नाभेदः अपि तु पृथक्स्थित्यनर्हसंबन्धः । जीववाचिपदानां ब्रह्मपर्यन्तता चेति प्रतीयते । अत एव श्रुतौ 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्,' इत्यत्र विभक्तशब्दस्य; प्रयोगः ब्रह्मणो जगद्व्याप्तिश्रुत्यादिकममुमेवार्थं स्थिरीकरोति । एवं च 'तत्त्वमसीत्यादावपि नीलो घट इत्यत्रेव विशेष्यविशेषणभाव एव सामानाधिकरण्यम्; तत्रैतावान् विशेषः;—प्रकारस्य सति तात्पर्ये असति बाधके स्वविशेष्यान्वयिन्यपि क्वचिदन्वयः । अन्यत्र स्वविशेष्यमात्रे । तत्राद्यो विशिष्टान्वयः द्वितीय उपलक्षितान्वयः इति । उपलक्षणधर्मश्च क्वचिदसमानकालिकः क्वचित्समानकालिकश्च । प्रकारता चोभयत्राविशिष्टैवेति समानाधिकरणवाक्यजबोधे सर्वत्रापि धर्मः प्रकारतया भासत एवेति । इयमेव रीतिस्तार्किकादीनां संमता । न तु विद्यमान उपाधिस्स च प्रकारः; अविद्यमानमुपलक्षणं न प्रकार इति । अतो नीलो घट इत्यादावुपलक्षितान्वयेऽपि नैल्यं प्रकारतयैव भासते एवं 'तत्त्वमसि' इत्यादावपि ॥

यद्यपि पद्मपादाचार्यैः 'पूर्वेण तन्त्रेणागतार्थत्वाच्छारीरकारम्भः' इत्युपक्रम्य 'इह पुनः तत्तु समन्वयात्' इति विशेषणविशेष्यत्वात्मकमपि गौणमपि सामानाधिकरण्यं विहाय एकस्मिन्निरंशे 'तत्त्वमसि' इति समन्वयो मुख्यः प्रदर्शितः इति; (पं. पा. १२०९) सोऽयमित्या-

भावप्रकाशः

दिवाक्यस्थपदानामिव (१००८) इति चोक्तम् । अत्र विवरणम्— 'प्रत्यभिज्ञायामधिगतमेकत्वं परस्मै प्रतिपादयति ;—सोऽयमिति । स्यादेतत् ;—क्षणिकत्वपरिहाराय तत्प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यं तावद्वक्तव्यम् ; एवं तर्हि सोऽयमितिवाक्यस्याप्येवमेव प्रामाण्यं भविष्यति' इति । एवं संक्षेपशारीरकेऽपि (१ अ.–१४६–२१८–२२०–श्लो.) पञ्चपादिकोक्तसरणिरेवादृता ; तथाऽपि सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञायां पूर्वापरकालसंबन्धयोः प्रकारत्वं नापह्नोतुं शक्यम् ; नीलो घट इत्यत्र नीलं घटं जानामीतिवत् सोयमित्यत्रापि पूर्वापरकालसंबान्धिनं जानामीति प्रत्ययात् अभिलापकशब्दसंशयनिवृत्त्योरपि तुल्यत्वात् । न च सोयं देवदत्त इत्यत्र देवदत्ते पूर्वापरकालयोः प्रकारत्वाभ्युपगममात्रेण परस्परैक्यमापादयितुमलम्! आपादकाभावात् ; अन्यथा घटो रूपवानित्याभिज्ञाप्रत्यक्षेऽपि घटत्वरूपयोः प्रकारत्वं भज्येत । अभ्युपगम्यते च सर्वैरपि उभयोः प्रकारतया भानम् । अत एव पूर्वापरकालविशिष्टात्मानुभवनिमित्ताहंवृत्तिसंस्कारसहितमन्तःकरणमेवेदानीन्तनात्माभिव्यक्तिनिमित्तं सत् पूर्वापरकालविशिष्टात्मविषयं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयति । ननु स्वयंप्रकाशस्य विषयतैवानुपपन्ना ? नैवं ; देशकालान्तःकरणविशिष्टतया विषयतोपपत्तेः । (३७८) इत्यादि (पं. पा.) विवरणं सङ्गच्छते । एवं च 'प्रत्यभिज्ञायामधिगतमेकत्वं परस्मै प्रतिपादयति सोऽयं देवदत्त इति' इति विवरणोक्तया वाक्यजन्यज्ञानेऽपि तत्तेदन्तयोः प्रकारत्वमावश्यकम् । स इतिस्मृतौ तत्तायाः अयमितिप्रत्यक्षे इदन्तायाश्च भानस्य निर्विवादतया स्मृतिप्रत्यक्षकारणसंवलनजातज्ञानेऽपि तत्तेदन्तयोः संसर्गभानानुभवस्यापलापसिद्धान्तस्या (अ. सि. ७०६) भ्युपगमायोगात् । तत्तेदन्तोल्लेखानुव्यवसायसंशयनिवृत्तीनां सविकल्पकावि-

भावप्रकाशः

शिष्टत्वेऽपि निर्विकल्पकत्वमेवात्राभ्युपेयमित्यस्य शपथमात्रत्वात्। आहार्यप्रत्यक्षे इच्छाबलाद्बाधितार्थभानेऽपि संनिकर्षबलाद्धर्मस्य भानं नापैति। अनुमितौ इतरबाधलाघवज्ञानबलादधिकांशभानमात्रमेव। अतः प्रत्यक्षे सन्निकर्षबलाद्धर्मभानं कालद्वयोपलक्षितस्वरूपज्ञानं जायतामितीच्छा न प्रतिरोद्धुमीष्टे। नैयायिकैः विशेष्यप्रकारसंसर्गेषु त्रिष्विन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वेन निर्विकल्पकप्रत्यक्षे त्रयाणां विषयत्वमभ्युपगम्यते। पूर्वं विशेषणज्ञानाभावाद्विशिष्टबुद्धित्वं नाभ्युपेयते। मीमांसकैस्त्वनुवृत्तिविषयकत्वमात्रं निर्विकल्पके नाङ्गीक्रियते। शाब्दज्ञानं तु निष्प्रकारकं निस्संसर्गकं न कोऽपि दार्शनिकोऽभ्युपैति। एवं सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यक्षं वाक्जन्यज्ञानं वा निष्प्रकारकं निस्संसर्गकमिति न कोऽप्यनुमनुते। तात्पर्यमपि शब्दस्य निष्प्रकारकनिस्संसर्गकशब्दावाच्यार्थविषयबोधजननशक्तिमपूर्वां नोत्पादयितुमलम्। न वा लक्ष्यार्थस्यापि किंचिद्रूपेणैव शाब्दधीविषयतां विघटयति! असंप्रतिपत्तेः ॥

एतेन इन्द्रियजन्यज्ञाने सन्निकर्षवशादुपलक्षणदेशकालयोर्भानसंभवान्निर्विकल्पकत्वं न संभवति। शाब्दे तु ज्ञाने तात्पर्याविषयस्यैव भाननियमादभेदमात्रविषयत्वमिति (अ-प.व्या ९३) रामकृष्णदीक्षितोक्तिरपि समाहिता तत्तेदन्तोल्लिखानुव्यवसायसंशयनिवृत्तीनां सत्त्वेन प्रकारांशे तात्पर्यं नास्तीत्युक्तेरयोगात्। अतः सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यबोधः न निष्प्रकारको भवितुमर्हति। नापि संसर्गाविषयकः नीलो घट इत्यादौ स्वप्रतियोगिवृत्तित्वस्वानुयोगिवृत्तित्वैतदुभयसंबन्धेन भेदाविशिष्टान्यधर्मरूपाभेदस्य संसर्गतया भानमिति व्युत्पत्तिवादे गदाधरभट्टाचार्यैर्व्यवस्थापनेन घटो नीलो न वेति संशयनिवृत्तिवत् अत्रापि तादृशाभेदस्य संसर्गतया भानाङ्गीकारेण अयं सः न वा इति संशयनिवृत्यादिसंभवेन वाक्यस्य

भावप्रकाशः

नीलो घट इतिवत्संसृष्टार्थबोधकत्वे संभवति तत्परित्यागस्यानुचितत्वात् । समानाधिकरणवाक्यसामान्ये एकरीत्यङ्गीकारस्य न्याय्यत्वात् । पक्षे चास्मिन् विशेषणवाचकपदोत्तरविभक्तिस्साधुत्वार्था । यदि च व्युत्पत्तिवादे राजपुरुषवादोपदर्शितरीत्या लाघवसंभवेन विशेषणवाचकपदोत्तरविभक्तेरभेदार्थकत्वमेव युक्तिमिति विभाव्यते तदाऽपि अभेदस्य धर्मरूपस्य प्रकारतयैव भानं नीलो घट इत्यादौ घटपदस्य विशेष्यवाचकत्वेन नीलपदस्य विशेषणवाचकत्वेन प्रसिद्धेरिति तत्रापि संसर्गस्य भानमिति च तत्रैव व्यक्तम् । अतः सोऽयं देवदत्त इति वाक्यस्य निष्प्रकारकनिस्संसर्गकबोधजनकत्वं न संभवतीति तद्दृष्टान्तेन तत्त्वमसीत्यादावपि नाखण्डार्थतासंभवः । परसंमताखण्डार्थतायाः क्वापि वाक्ये केनापि दार्शनिकेनानभ्युपगमात् । ततश्च नीलो घट इत्यादिवदेव तत्त्वमसीत्यादौ बोधो वाच्यः । तत्र च अंशाधिकरणभामत्यां पूर्वपक्षे जीवब्रह्मणोराधाराधेयभावनियन्तृनियन्तव्यभावशेषशेषिभावसंबन्धाः प्रतिपादिताः । एत एवाविभागसंवलिताश्शरीरशरीरिभावव्यपदेशार्हाः । 'नात्मा श्रुतेः' इत्यत्र वियत इव जीवस्य स्वरूपपरिणामं प्रतिषिध्य 'कर्ता, परात्तु तच्छ्रुतेः' इत्यत्र नियाम्यत्वं स्थापितम् । देवादिशब्दाः देवादिशरीरसंयुक्तजीवबोधकाः इति चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्, (१-३.) इति (शं) भाष्ये उक्तम् । तत्रेयान् विशेषः । जातिशक्तिवादे व्यक्तेर्लक्षणया भानाङ्गीकारे देवादिशब्दा आत्मनि लाक्षणिकाः; व्यक्तावपि शक्त्यङ्गीकारे शक्ता एवेति । इत्थं च 'ऐतदात्म्यमिदं' इत्यत्र अन्तर्यामिब्राह्मणे 'स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः' 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इत्यत्र चात्मशब्दो न स्वरूपवाची किं तु (व्यापकचेतनवाची।) अन्तःप्रविश्य नियन्तृवाची । ततश्चा-

भावप्रकाशः

विभागघटितशरीरशरीरिभावसंबन्धनिबन्धनमेव 'तत्त्वमसीत्यादौ सामानाधिकरण्यम्। इत्थं च जातिगुणयोरिव जीवस्यापि पदार्थैकदेशत्वेनांशत्वाभ्युपगम एव एकविधप्रामाण्याभ्युपगमात् भेदाभेदव्यपदेशयोःसंगतिर्नान्यथा इति तात्पर्यकं 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके' (२ ३-४३) इति सूत्रं संगच्छते। अंशोऽन्यथा नानाव्यपदेशादपीत्यादिक्रमं विहाय अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चेति सूत्रयितुः अन्यथा इत्यस्यानंशः इत्यर्थो नाभिप्रेतः; किं तु व्यपदेशपदार्थान्वयिरूपान्यरूपेणेत्यर्थः। चस्समुच्चये। न त्ववधारणे अप्रसिद्धेः। अन्यथेति व्यपदेशादित्यत्रान्वेति। अतो भेदाभेदव्यपदेशद्वयमंशत्वे हेतुः। उक्तरीत्यांऽशत्वाङ्गीकार एव व्यपदेशद्वयस्य तात्विकं प्रामाण्यं निर्वहतीति भावः। 'तत्त्वमासि' इत्यादौ 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इतिवदभेदव्यपदेशः किं न स्यादिति शङ्कावारणार्थं 'अपिदाशकितवादित्वमधीयत एके' इति 'ब्रह्मदाशा' इत्यादौ ब्रह्मण एव प्राथम्येन उद्देश्यता वाच्या। तथाङ्गीकारे उत्कृष्टे निकृष्टदृष्टेरनर्थपर्यवसायिता स्यात् अतो जातिगुणवदविभागेन पदार्थैकदेशत्वेनैव दाशादेरत्राभेदव्यपदेश उपपादनीय इति 'तत्त्वमसि' इत्यादावपीत्थमेव वाच्यम् नान्यथेति भावः। शङ्कराचार्यैरपि 'अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः' इत्येतत्सूत्रार्थमुपसंहृत्य 'मन्त्रलिङ्गाच्च' 'अपि स्मर्यते' इत्युत्तरसूत्रद्वयमंशत्वप्रतिपादनपरं व्याख्यातम्॥

यद्यपि अंशाधिकरणभामत्याम् 'ईशेशितव्यभावादिरूपो भेदो लोकसिद्धत्वान्न शब्देन प्रतिपाद्यः। अभेदस्त्वनधिगतत्वादधिगतभेदानुवादेन प्रतिपादनमर्हति' इत्याद्युक्तम्। एवं (बृ. आ. शं. ५-८) भाष्यवार्तिकादावप्यन्तर्यामिणोऽनुमानसिद्धत्वमेवोक्तम्; तथाऽपि 'जग-

भावप्रकाशः

त्स्थितिः यन्तृपूर्वा व्यवस्थितत्वात् राजपूर्वस्थितिवत् (बृ. वा.) इत्यनुमानेन जीवव्यापारसामान्यस्य यन्तृपूर्वकत्वं अविभागादिकं च न सिध्यति। श्रुत्यैव जगत्कारणं सिध्यति नानुमानेन; अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्! इत्युक्तेः' इति शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रे व्यक्तम्। अत एव 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' (बृ—५—९) इति श्रुतिस्संगच्छते। अत्रौपनिषदत्वं उपनिषदेकगम्यत्वं परेषामपि संमतम्। पुरुषशब्दश्च तत्रैव पूर्वं 'पुरश्चक्रे—स वा अयं पुरुषस्सर्वासु पूर्षु पुरिशयः (बृ. ४-५-१८) इत्यत्र 'सर्वशरीर्यर्थक' इत्युक्तम्। उपन्यस्यन्ते च परैरपि जीवब्रह्मभेदसाधकान्यनुमानानि। एवं च सर्वज्ञात्ममुनिना:—

उपनिषदिति वेद इत्यपीदं
समभिवदन्ति महावचो महान्तः॥ २९७॥
सर्वत्रैव महागिरामुपनिषच्छब्दो भवेद्ग्राहको
वेदश्चायमतोऽन्यदस्य निकटं तेनात्र वेदादिगीः॥ २९९॥

(सं.शा) इत्युत्कीर्त्यमानस्य तत्त्वमस्यादिमहावाक्यस्याज्ञातार्थज्ञापकत्वं कथम्? (पं.पा) विवरणे च (१०१०) सत्यादिवाक्यात्तत्पदाच्चाविशिष्टार्थबोधकत्वेन अज्ञातार्थज्ञापकत्वाभावमङ्गीकृत्य 'सिद्धं तु निवर्तकत्वात्' (मां. का. भा. व्याख्यायां द्रमिडाचार्यवाक्यमित्यानन्दगिरिः) इत्युक्तदिशा भेदभ्रमनिवृत्तिप्रयोजनवत्त्वमात्रमुक्तम्॥

सिद्धान्तबिन्दुटीकायां च 'बाधनिश्चयकालेऽपि शब्दाद्विशिष्टयोस्तादात्म्यावगाहिबोधो जायते। तत्रैवोपलक्षितयोरपि तादात्म्यं भासत इति भेदभ्रमनिवृत्तिस्संभवति। यद्यप्युपलक्षितयोस्तादात्म्यं न संभवति (२४) तथाऽपि विशेषणविभक्त्युपस्थापिते भेदाभावे विशेष्यविभक्त्युपस्थापिताधेयताबोधस्संभवति; गगनं द्रव्यं भवतीत्यादौ भवत्यर्थे द्रव्य-

भावप्रकाशः

वृत्तिताबोधस्य क्रयाच्चैत्रस्य धनम् इत्यादौ विभक्त्यर्थस्वत्वे विभक्त्यर्थ-(क्रय) जन्यताया बोधस्य च तान्त्रिकैरभ्युपगमात् । एवं च शुद्धयो-र्भेदस्य महावाक्यधीपूर्वं बाध्यत्वेन प्रातीतिकत्वात्तज्जनकाज्ञानस्योक्त-भेदाभावधीबाध्यत्वसंभवात्तादृशाभेदधीस्साक्षादेवोक्तधीविरोधिनी न तु स्वजन्यसंस्कारविशिष्टनिर्विकल्पकप्रमाद्वारा । यदि च महावाक्यार्थधी-प्रयोजकावान्तरवाक्यार्थबोधात्पूर्वं बाध्यत्वं प्रातीतिकत्वमिति शुद्धयो-र्भेदस्य व्यावहारिकत्वमिष्यते तदाऽपि अत्यन्ताभिन्नविशेष्यविशेषण-स्थले विशेष्यव्यापकत्वविशिष्टतादात्म्यस्य संसर्गतया भानं संभवति । 'विशेषणविभक्तिरभेदार्थिका' इति मणिवाक्ये अभेदेत्युपलक्षणम् व्यापकत्वार्थिकेत्यपि । एवं च व्यापकधीजन्यनिर्विकल्पकप्रमायाश्शुद्ध-भेदधीविरोधित्वं सर्वसंमतं संभवत्येव । व्यावहारिकव्यापकत्वादिविषय-कत्वेन संस्कारमात्रस्य बाधकत्वासंभवात् । पूर्वोक्ते भेदस्य प्राती-तिकत्वपक्षेऽपि निर्विकल्पकप्रमा न व्यर्था । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुतेः । 'तमेव विदित्वा' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण शुद्धब्रह्मज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वे सिद्धे कैर्विशेषणैरुपलक्षितं ब्रह्मेति जिज्ञासायास्सत्यादि-वाक्यजन्यनिर्विकल्पकं विना निवृत्त्ययोगात् । भेदाभावज्ञाने शुद्धस्य भानेऽपि सत्यत्वाद्युपलक्षितस्य तत्प्रकारकधीद्वारकनिर्विकल्पकविष-यत्वरूपस्याभानात् । ऐक्यज्ञानेनैव तदज्ञानस्य भेदभ्रमसहितस्य निवृत्तिसंभवेऽपि व्यावर्तकाकारस्त्वस्य तत्प्रयोजकत्वेन विशेषणतया तस्य प्रमात्वप्रयोजकत्वेन चोपलक्षणतया तस्यावश्यकत्वे सप्रकारकधी-द्वारकत्वस्यावश्यकत्वाच्च । उक्तं चाद्वैतसिद्धौ' इति 'सत्यं ज्ञानम्' इति श्रुत्यर्थविचारं कृत्वा ; यदि च सोऽयं देवदत्त इति वाक्यस्य द्वारी-भूतं तत्त्वोपलक्षितस्य भेदाभाव इदन्त्वोपलक्षितवृत्तिरित्याकारकज्ञानम् ।

भावप्रकाशः

तद्द्वारा तेन निर्विकल्पकजननात् । तदा तादृशज्ञानादेर्भेदधीविरोधित्वं तार्किकरीत्यैव संभवति ' (३२) इत्युक्तम् । एतेन 'तत्त्वमसीत्येतदर्थ-विचारोऽपि कृतप्रायः । अत्र प्रथमपक्षे 'तमेव विदित्वा' इत्यत्र तच्छब्दैवकारयोरर्थः पूर्वमेवोक्तः । सधर्मितावच्छेदककनिश्चयस्यैव भेद-भ्रमनिवर्तकत्वं न निर्विकल्पकस्येति स्फुटम् । तदुपलक्षितत्वं तत्प्रकारक-धीद्वारकनिर्विकल्पकविषयतारूपमिति तार्किका नाभ्युपयन्ति । अत-स्तत्पक्षे निर्विकल्पकाङ्गीकारो विफलः । द्वितीयपक्षे शुद्धभेदस्य व्यावहारिकत्वकल्पनया निर्विकल्पकसार्थक्योपपादने तद्बलादेव भेदभ्र-मनिवृत्तिरप्यङ्गीक्रियताम्; किमिति द्वारभूतसप्रकारकधियोऽभ्युपगमः? सप्रकारकधियमन्तरा भेदभ्रमो न निवर्तते इत्यङ्गीकारे शुद्धभेदस्य व्यावहारिकत्वादिकं परिभाषामात्रमेव ॥

एतेन—

मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृतः ।

इति वार्तिके ; 'इतरव्यावृत्तिस्तु अर्थात् न तु शब्दात्' इति कल्पत-रुवाक्येऽपि भेदाभावस्य शाब्दबोधाविषयतापक्षो य उक्तस्स समाहितः ; तत्रापि भेदभ्रमनिवर्तकत्वस्य निर्विकल्पकेऽनभ्युपगमात् । 'अर्थापत्त्य-धीनसप्रकारकबोधादेव शुद्धभेदभ्रमनिवृत्तिः इति' अद्वैतसिद्धौ सिद्धा-न्तकरणात् ॥

किंच तत्त्वमसीत्यत्र गगनं द्रव्यं भवतीत्यत्रोक्तरीत्या असधा-त्वर्थे तच्छब्दार्थवृत्तिताबोध एव युक्तः । अत एव व्युत्पत्तिवादे घटो नीलो भवतीत्यत्र नीलवृत्त्यसाधारणधर्माश्रयो घट इति बोधव्यवस्थापनं संगच्छते । यद्यपि संक्षेपशारीरके 'पूर्वापरीभूतसाध्यक्रिया तिङ्प्रकृ-त्यर्थ इति वैयाकरणैस्सिद्धान्तकरणेऽपि वस्तुस्वभाव एव सत्त्वम् ; कूट-

सर्वार्थसिद्धिः

आस्तामेतत्; यथा यूपादित्यसामानाधिकरण्यं * प्रत्यक्षविरोधादन्यपरम् तथेहापि स्वरूपैक्यविधानं तावदशक्यमिति ॥

आनन्ददायिनी

ननु भेदश्रुतीनामेवेतरहृदयतास्त्वित्याशङ्क्य मुख्यार्थविधानानुपपत्तिमाह — **आस्तामिति** — बलादन्यपरत्वं वक्तव्यमित्यर्थः ।

भावप्रकाशः

स्थसत्तावगतिप्रधानं तिङन्तम् अस्ति अस्मि असि इत्यादि' इति (४९२)–वेदान्तसिद्धान्तः। प्रमितिविषयत्वं तद्योग्यतारूपं वा सत्त्वमितिप्राभाकरसंमतोऽर्थः अजडे निर्धर्मके आत्मनि नाभ्युपगन्तुमर्हतीत्युक्तम्; तथाऽपि परैर्वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वस्य शुद्धेऽङ्गीकारेण वैयाकरणप्राभाकरपरिपाट्यनुसरणं संभवति । अत्र–असिवदस्मिरपि खण्डकः (ई–वा–भा) इत्याचार्यसूक्तिरप्यनुसन्धेया ॥

किंच 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रमोक्तसामानाधिकरण्यप्रकारवैलक्षण्येन 'तत्त्वमसि' इत्युपसंहारे सामानाधिकरण्यप्रकारकल्पनमपि न कार्यम् । उपक्रमे अध्यासे सामानाधिकरण्यं परैरभ्युपेयते; सद्रूपे ब्रह्मणि घटादेरिव जीवस्यापि कल्पितत्वेन अत्राप्यध्यासे सामानाधिकरण्यं किमिति नाङ्गीक्रियते? अत उपक्रमोक्तदिशैव सामानाधिकरण्यं युक्तमिति नाखण्डार्थसामानाधिकरण्यं केनाप्यनभ्युपगतं कल्पयितव्यम्। शबले सत्ता च—(सं-शा-१अ-१-१७८-२८७श्लो) उपपादितेति ॥

एतावता आकृत्यरुणाधिकरणयोः जैमिनितात्पर्यानुसारेण व्यासाशयनिष्कर्षणेन तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थस्सिद्धान्तितः । अथ आकृत्यधिकरणादौ शाबरभाष्यवार्तिकसिद्धान्ताभ्युपगमेऽपि 'तत्त्वमसि' इत्यादौ अर्थवादाधिकरण (१-२-१) तत्सिद्धिपेटिकापर्यालोचनायां परसंमतार्थो न घटत इत्याह—आस्तामेतदित्यादिना । एतत्—उक्तदिशा शरीर-

भावप्रकाशः

भगवता जैमिनिना अर्थवादाधिकरणे (१-२-१) शास्त्रदृष्टविरोधा-च्चेत्यादिसूत्रैरर्थवादानामप्रामाण्यमाशङ्क्य बाधितमुख्यार्थानां तेषां 'गुणवादस्तु' इति सूत्रेणाबाधितार्थकत्वेन प्रमाण्यं प्रसाध्य 'रूपात्प्रा-यात्' 'दूरभूयस्त्वात्' इति सूत्रद्वयेन तदुपपादितम्। अत्र वार्तिकम् ;— 'गुणवादसूत्रेण शुद्धेनैव तावद्रोदनाद्युदाहरणत्रयपरिहारः। शेष-सूत्राण्यप्येतदुक्तोपपादनार्थतया संभन्त्स्यन्ते। तत्रोदाहृतानां गौणता-निमित्तं किञ्चिदिहैव वक्ष्यते, परं तु तत्सिद्धिसूत्रे' इति। 'तत्सिद्धि-जातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयाः' (१-४-२३) इति सूत्रेऽपि 'अर्थवादप्रसङ्गात् तदुपकारिगुणवादविधितल्लक्षणं तत्र नोक्तमिदानीमभिधीयते। ननु च तत्रैव 'रूपात्प्रायात्' दूरभूयस्त्वात्' इति निमित्तं कथितम्? सत्यं कथितम्! न तु लक्षणत्वेन ; कथं तर्हि इह सिद्धं तत्रोदाहृतार्थवादलक्ष्यविषयव्यवहारार्थं नीतम् ; अत्र तु सर्वगौणवृ-त्तीनां लक्षणमुच्यते' इति। अत्र 'रूपात्प्रायात्' इति सूत्रसमानार्थकं तत्सिद्धिसूत्रे सारूप्यपदम् ; अतश्च आदित्यो यूप इत्यत्र यूपे आदित्या-भेदरूपमुख्यर्थस्य प्रत्यक्षविरोधेन आदित्यसारूप्यरूपगौणार्थविवक्षया प्रामाण्यं जैमिनेरभिप्रेतम्। यथोक्तं देवताधिकरणभामत्याम् ;—यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धार्था अर्थवादा दृश्यन्ते यथा 'आदित्यो वै यूपः' 'यजमानःप्रस्तरः' इत्येवमादयः तत्र यथा प्रमाणान्तराविरोधः यथा च स्तुत्यर्थता तदुभयसिध्यर्थं 'गुणवादस्तु' इति 'तत्सिद्धिः' इति चासू-त्रयज्जैमिनिः' इति। अत्र कल्पतरुः ;—'अर्थवादेषु स्वार्थविवक्षाया इदं गमकमुक्तम् ; इतरथा हि गौणालम्बनचिन्ता मुधा स्यादिति यथा प्रमाणान्तराविरोधस्तथाऽसूत्रयद्गुणवादसूत्रेण। यथा च स्तुत्यर्थता— येन गुणेन स्तुत्यर्थतेत्यर्थः ; तथाऽसूत्रयत्तत्सिद्धिरिति सूत्रेणेत्यर्थः' इति।

भावप्रकाशः

इत्युपक्रम्य 'विधिविरुद्धार्थानामर्थवादानां न विध्यर्थसंकोचकता ; किं तु प्रधानानुगुणार्थकत्वमेव जर्तिलयवाग्वधिकरणनयात्' इत्युपपाद्य 'यदि वा परस्य मायाप्रसूतद्वयवादिमुख्यम्' इत्यन्तेन कल्पितभेदमादायातत्परभेदश्रुतेर्मुख्यार्थत्वे संभवति तत्परप्रबलाद्वैतनिर्गुणश्रुतिभङ्गो न न्याय्य इत्युक्तम् ॥ अत्र प्रथमपक्षे अर्थवादानां स्वार्थे अवान्तरतात्पर्यं नास्ति द्वितीयपक्षे अवान्तरतात्पर्यमस्तीतिविशेषः ॥

तत्रैव (सं. शा. १-४६४-४७० श्लोकपर्यन्तम्) पूर्वम् वेदान्तवादिसमये—तद्बुद्धिमात्रफलतैव तत्परत्वमिति निरूप्य मीमांसकमते—

सप्रयोजनकबुद्धिकारणं
वाक्यमाहुरिह तत्परं बुधाः ।
सप्रयोजनकबुद्धिशेषधी-
शेषमन्यपरमाश्रयन्ति च ॥ ४६९ ॥

इति तत्परत्वान्यपरत्वनिष्कर्षपूर्वकं मन्त्रार्थवादानां सौवेष्वर्थेष्विव सगुणवाक्यानामप्यवान्तरतात्पर्यस्य प्रधानतात्पर्यस्यैव निर्गुणवस्तुतत्वविषयत्वस्य निर्णयकरणेऽपि प्रथमपक्षस्य भामत्यनुगुणत्वात् ;

तथाऽपि विवरणाचार्यैः न्यायनिर्णये अर्थवादानामपि स्वार्थे तात्पर्यमङ्गीकृत्य प्रयाजादिवाक्यवत् वाक्यैकवाक्यतैव न पदैकवाक्यत्वमिति साधितम् । (सि. ले. सं. २४८) तात्पर्यविषये शब्दः प्रमाणम् ; 'यत्परश्शब्दस्स शब्दार्थ इत्यभियुक्ताभ्युपगमात्, अन्यथा स्वाध्यायविधिग्रहणानुपपत्तेरुक्तत्वात् (अ. सि. ४२९) ॥

किंच गुणवादसूत्रमर्थवादानां स्वार्थविवक्षागमकम् । अत्र परमते प्रामाण्यनिर्वाहकमज्ञातत्वमिव अबाधितत्वं तात्पर्यलिङ्गमिति च संप्रतिपन्नम् । तत्राबाधितत्वोपपादनार्थं प्रवृत्तं गुणवादसूत्रं तात्पर्यनिर्णायकं सत्

भावप्रकाशः

प्रामाण्यमुपपादयति । वेदान्तेषु च उपक्रमोपसंहारौ शक्यलक्ष्यसाधारणौ सम्मतौ । महावाक्यार्थस्यापूर्वता नास्तीति पूर्वमेव निरूपितम् । अबाधितत्वं तात्पर्यलिङ्गं वेदान्तेषु नैव निर्णीतम् । न चान्यथानुपपत्त्या तन्निर्णयः । सारूप्यमादाय सामानाधिकरण्योपपत्तेः । फलं च 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इत्यादिश्रुत्यनुगृहीतम्; 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' इति श्रुत्युक्तम् । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' 'अनावृत्तिश्शब्दात्' इति शास्त्रोपक्रमोपसंहारयोः सद्विद्याफलत्वेन व्यासाभिप्रेतम् । समन्वयाधिकरणपञ्चपादिकादिवाक्यैः वृत्तिकारसंमतत्वेन निर्धारयिष्यमाणं राजकुमारस्य राजप्राप्त्यादिना द्रमिडभाष्यकारसंमतराजकुमारनयसंप्रदाये स्वरसतो घटमानं प्रतिकूलमेव परेषाम् । सर्वज्ञात्ममुनिना च फलाभावाद्वस्तुनिष्ठं वाक्यं कर्मविध्यपेक्षितकर्तृस्तुतिपरमिति जैमिनीयमतं (सं.शा. १ अ. ३००) आक्षिप्य;—

करमुष्टिनिविष्टमुत्तमं
कनकं प्रस्मरणादलब्धवत् ।
प्रतिभाति तदाप्तवाक्यतः
प्रतिपत्त्या लभते यथा जनः ॥ ३०४ ॥

इति दृष्टान्तमुपन्यस्य (३०५) ब्रह्मप्राप्तिफलमस्वरसेनोपपादितम् । एवमन्यत्रा (पं.पा.१ १-४ वृत्तिकारमतदूषणावसरे)पि । सर्वप्रपञ्चनिषेधश्रुत्यन्यथानुपपत्त्या प्रत्यक्षादेः भेदश्रुतेश्च व्यावहारिकं प्रामाण्यमित्यबाधितत्वनिश्चयः । (अ. सि. ४२५) परमार्थसद्विषयतया शुद्धब्रह्मणि (मुख्य) महातात्पर्यम् । व्यावहारिकसद्विषयतया अन्यत्रावान्तरतात्पर्यम् (४२७ अ. सि.) इति चेत्; उच्यते 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्राध्यासे सामानाधिकरण्यं न संभवति उक्तयुक्तेः अग्रे इत्यस्य वैयर्थ्यादिभिश्च ।

भावप्रकाशः

एव एक अद्वितीयशब्दाः न स्वान्यसामान्यसंबन्धशून्यबोधकाः कस्याप्यसंप्रतिपत्तेः । सत्यद्वयं प्रतिक्षिपद्भिः भट्टपादैः तत्सिद्धिसूत्रे वेदस्य आरोपितार्थकत्वनिरसनेन प्रातिभासिकस्थले अल्पकालिकारोपः भ्रमः व्यावहारिकस्थले दीर्घकालिकारोप इति उभयत्राप्यबाध्यार्थकत्वं वाक्यस्य न संभवतीति एवं व्यवस्था गुणवादतत्सिद्धिसूत्रप्रणेतुर्जैमिनेरनभिमता (१-१-४) व्यासाभिमतत्वस्थापनासंभवेन वृत्तिकारासंमता ;—

नियामकं न पश्यामो निर्बन्धात्तावकादृते ।

इति संवित्सिद्धौ भगवद्यामुनमुनिभिः व्यावहारिकपारमार्थिकप्रामाण्यभेदेन विषयव्यवस्था न घटते कस्याप्यसंप्रतिपत्तेः कारणवाक्यानि भगवतो वैभवप्रतिपादनपराणि द्वितीयनिषेधकवाक्यान्यपि सजातीयनिषेधादिमुखेन तथैव इति सिद्धान्तकरणात् । प्रपञ्चनिषेधश्रुत्यर्थनिर्णयपूर्वकं स एव सिद्धान्तो नायकसरे निरूपयिष्यते । अत उपनिषदां कर्मकर्तृस्तावकतया कर्मविधिवेदपूर्वभागशेषत्वमिति जैमिनिसूत्रव्याख्यातृसरणिमनुसृत्य उपनिषद्घटकमहावाक्यव्यतिरिक्तस्य उपनिषद्गतसगुणब्रह्मभागस्य वेदपूर्वभागस्य च महावाक्यशेषत्वकथनं व्यावहारिकपारमार्थिकभेदकल्पनां विहायाबाध्यार्थविषयकत्वेन न निर्वहतीति वेदपूर्वोत्तरभागयोरेकविधप्रामाण्यवादिनः सूत्रद्वयवृत्तिकाराः प्राञ्चो नानुमन्वत इति तदनुयायिनः पक्षद्वयं नाभ्युपागमन्निति बोध्यम् ॥

इत्थं 'परिणामात्' परिणामस्स्याद्दध्यादिवत्' इति सूत्र छान्दोग्यवाक्यसिद्धान्तानुसारेणाचिद्ब्रह्मणोः स्वाभाविकौ भेदाभेदावभ्युपगच्छतो भास्करस्य जीवब्रह्मणोः अभिन्नरूपं स्वाभाविकम् औपाधिकं तु भिन्नरूपम् (२-३-४३) इति सत्योपाधिनिबन्धनभेदसिद्धान्तनिरसनमुखेन असत्योपाधिनिबन्धनभेदवादि (विवर्तवादि) मतमपि पर्यालोचितम् ।

तत्वमुक्ताकलापः

यता तत्रतत्रैव सिद्धा ॥ १० ॥

सर्वार्थसिद्धिः

तत्रतत्रेति—वीप्सया क्वचिद्विशिष्टवृत्तिः क्वचिदुपचार इत्यादि तात्पर्यभेदस्सूच्यते ॥ १० ॥

आनन्ददायिनी

क्वचिद्विशिष्टेति--तत्त्वमसीत्यादौ--**क्वचिदिति**—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव इत्यादौ इत्यर्थः ॥ १० ॥

भावप्रकाशः

बृहदारण्यकभाष्ये शंकराचार्येभ्योऽपि प्राचीनो भर्तृप्रपञ्चः 'विशेषाणां ह्यविशेष एकता भवति ; यथा समुद्र समुद्रोर्मीणाम्' (५६२) या तस्मिन् अन्तर्णीते विशेषणे बुद्धिः सान्तर्णीतविशेषणैव कृत्स्नग्राहिणी (६२३) विज्ञानं परं ब्रह्म तत्प्रकृतिको जीवो विज्ञानात्मा (विज्ञानमय इत्यत्र विकारार्थो मयट्) (१४३३) इत्यादिना परिणामाद्वैतं जगत्सत्यत्वं च प्रत्यतिष्ठिपत् । तन्मतं चेत्थं निरटङ्कि सुरेश्वराचार्यैः ;—(बृ-वा)

समुद्रतरुगोपिण्डदृष्टान्तैः परमात्मनः ।
व्याचक्षते बलात्केचित्समस्तव्यस्तदर्शनम् ॥ ६९३ ॥
सामान्येन समस्तं तद्विशेषैर्व्यस्तमेव च ।
कृत्स्नमेवं परं ब्रह्म सदोपासीत यत्नतः ॥ ९४८ ॥
अवस्थावदवस्थाभिः क्वचित्कार्त्स्न्यं प्रचक्षते ।
कार्यकारणरूपेण क्वचिद्व्याचक्षते तथा ॥ ९४९ ॥
भागभागिविभागेन नाभिनेम्यरवत्तथा ।
व्याचक्षते महात्मानः संप्रदायबलात्किल ॥ ९५० ॥

भावप्रकाशः

इह व्याचक्षते केचित् नानात्वैकत्वरूपता ।
स्वत एवात्मनो ग्राह्या चैतन्यमिव सर्वदा ॥ १६३९ ॥
भेदाभेदात्मकं सर्वं वस्तु दृष्टं यतस्ततः ।
परपक्षे न दृष्टान्तः कश्चिदप्युपलभ्यते ॥ १६४० ॥
एकैव गोता गोपिण्डे सास्नाद्यर्थानुसारिणी ।
सास्नादयो मिथो भिन्ना नचान्योन्यविरोधिनः ॥ १६४१ ॥
नच सामान्यबुध्येह भेदबुद्धिर्निवर्तते ।
नच सामान्यधीबाधो विशेषोत्थधियेष्यते ॥ १६४२ ॥
स्थूलेषु यद्वत्सामान्यविशेषात्मकता तथा ।
संभावनीया निश्शेषसूक्ष्मवस्तुष्वपीदृशी ॥ १६४३ ॥
नानात्वैकत्ववत् स्थूलं दृष्टं वस्तु यथा तथा ।
आत्माद्यतीन्द्रियं वस्तु वस्तुत्वादिति गम्यताम् ॥ १६४४ ॥
अग्रे चलत्वमूर्मीणां मध्य ईषच्चलात्मता ।
निष्कम्पत्वं तथा मूले समुद्रस्सर्वरूपधृत् ॥ ५१ ॥
निष्कम्पा देवदत्तस्य वृत्तिःस्यात्परमात्मना ।
ईषत्प्रचलिता प्राणभावेनेत्यवधार्यताम् ॥ ५३ ॥
विराड्भावेनातितरां चण्डप्रचलितोर्मिवत् ।
ऊर्म्यप्रवत्पिण्डभावे नामरूपाक्रियात्माना ॥ ५४ ॥
जनिस्थितिलयेष्वेवं त्रिषु कालेषु पूर्णता ।
कार्यकारणयोर्ज्ञेया द्वैताद्वैतस्वभावयोः ॥ ५५ ॥
सा चैकैवाविभागत्वात्कार्यकारणभेदतः ।
भेदेन व्यपदेशार्हा सर्वमेवं समञ्जसम् ॥ ५६ ॥

भावप्रकाशः

आविर्भावतिरोभावैः कार्यकारणरूपिभिः ।
समुद्रवन्नृत्यति च प्रत्यवस्थं विभुः स्थितः ॥ ५७ ॥
एवं द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य मानता ।
अनन्तपुरुषार्थाप्तिरिष्यते कर्मकाण्डतः ॥ ५८ ॥
यदा तु कल्पितं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।
उच्छिन्नं कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं विषयादृते ॥ ५९ ॥
एकदेशस्य चामात्वे वेदस्याप्यप्रमाणता ।
सर्वनाशो भवेदेवं सर्वाप्रामाण्यहेतुतः ॥ २० ॥
पारमार्थ्यं क्वचिच्छास्त्रे क्वचिच्चाप्यनृतात्मताम् ।
विदधन्मानतां जह्यात्परस्परविरोधतः ॥ ४७ ॥

इति। शंकराचार्याश्च भर्तृप्रपञ्चमतं (बृ. आ. भा) दूषयन्तोऽपि 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्' (२-१ १३) इति सूत्रे ; 'यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति तथाऽपि प्रमाणान्तरेण विषयापहारे अन्यपरा भवितुमर्हति ; तथा मन्त्रार्थवादौ, अत इदमयुक्तम् यत्प्रमाणान्तरबाधनं श्रुतेः' इत्यादिना पूर्वपक्षं प्रापय्य तं प्रति ब्रूयात् 'लोकवत् इति' इति सिद्धान्तमुपक्रम्य समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनां इतरेतरविभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते' इत्यनेन भर्तृप्रपञ्चसिद्धान्तमेवैतत्सूत्रतात्पर्यविषयमातिष्ठन्ते' भास्करोऽपीत्थमेवात्र सूत्रे सिद्धान्तमाचख्यौ। अतः इतर ब्रह्मसूत्राण्यपि भर्तृप्रपञ्चसंमतप्राचीनपरिणामाद्वैतपरतयैव योजनीयानीत्यभिप्रेत्य यादवप्रकाशा ब्रह्मसूत्रभाष्यमचीक्लपन्। यद्यपि सुरेश्वराचार्यैः (बृ.आ.वा) बहुत्र ; 'भेदग्राहि न नो मानम्' इत्यादिना प्रत्यक्षं सन्मात्रग्राहीति प्रसाधनेन निरवद्यत्वापरिणामिनित्यत्वश्रुतिविरोधेन च भेदाभेदवादो

भावप्रकाशः

इह व्याचक्षते केचित् नानात्वैकत्वरूपता ।
स्वत एवात्मनो ग्राह्या चैतन्यमिव सर्वदा ॥ १६३९ ॥
भेदाभेदात्मकं सर्वं वस्तु दृष्टं यतस्ततः ।
परपक्षे न दृष्टान्तः कश्चिदप्युपलभ्यते ॥ १६४० ॥
एकैव गोता गोपिण्डे सास्नाद्यर्थानुसारिणी ।
सास्नादयो मिथो भिन्ना नचान्योन्यविरोधिनः ॥ १६४१ ॥
नच सामान्यबुध्येह भेदबुद्धिर्निवर्तते ।
नच सामान्यधीबाधो विशेषोत्थधियेष्यते ॥ १६४२ ॥
स्थूलेषु यद्वत्सामान्यविशेषात्मकता तथा ।
संभावनीया निश्शेषसूक्ष्मवस्तुष्वपीदृशी ॥ १६४३ ॥
नानात्वैकत्ववत् स्थूलं दृष्टं वस्तु यथा तथा ।
आत्माद्यतीन्द्रियं वस्तु वस्तुत्वादिति गम्यताम् ॥ १६४४ ॥
अग्रे चलत्वमूर्मीणां मध्य ईषच्चलात्मता ।
निष्कम्पत्वं तथा मूले समुद्रस्सर्वरूपधृत् ॥ ५१ ॥
निष्कम्पा देवदत्तस्य वृत्तिःस्यात्परमात्मना ।
ईषत्प्रचलिता प्राणभावेनेत्यवधार्यताम् ॥ ५३ ॥
विराड्भावेनातितरां चण्डप्रचलितोर्मिवत् ।
ऊर्म्यग्रवत्पिण्डभावे नामरूपक्रियात्माना ॥ ५४ ॥
जनिस्थितिलयेष्वेवं त्रिषु कालेषु पूर्णता ।
कार्यकारणयोर्ज्ञेया द्वैताद्वैतस्वभावयोः ॥ ५५ ॥
सा चैकैवाविभागत्वात्कार्यकारणभेदतः ।
भेदेन व्यपदेशार्हा सर्वमेवं समञ्जसम् ॥ ५६ ॥

भावप्रकाशः

आविर्भावतिरोभावैः कार्यकारणरूपिभिः ।
समुद्रवन्नृत्यति च प्रत्यवस्थं विभुः स्थितः ॥ ५७ ॥
एवं द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य मानता ।
अनन्तपुरुषार्थाप्तिरिष्यते कर्मकाण्डतः ॥ ५८ ॥
यदा तु कल्पितं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।
उच्छिन्नं कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं विषयादृते ॥ ५९ ॥
एकदेशस्य चामात्वे वेदस्याप्यप्रमाणता ।
सर्वनाशो भवेदेवं सर्वाप्रामाण्यहेतुतः ॥ २० ॥
पारमार्थ्ये क्वचिच्छास्त्रं क्वचिच्चाप्यनृतात्मताम् ।
विदधन्मानतां जह्यात्परस्परविरोधतः ॥ ४७ ॥

इति। शकराचार्याश्च भर्तृप्रपञ्चमतं (बृ. आ. भा) दूषयन्तोऽपि 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्' (२-१ १३) इति सूत्रे ; 'यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति तथाऽपि प्रमाणान्तरेण विषयापहारे अन्यपरा भवितुमर्हति ; तथा मन्त्रार्थवादौ, अत इदमयुक्तम् यत्प्रमाणान्तरबाधनं श्रुतेः' इत्यादिना पूर्वपक्षं प्रापय्य तं प्रति ब्रूयात् 'लोकवत् इति' इति सिद्धान्तमुपक्रम्य समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनां इतरेतरविभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते' इत्यनेन भर्तृप्रपञ्चसिद्धान्तमेवैतत्सूत्रतात्पर्यविषयमातिष्ठन्ते' भास्करोऽपीत्थमेवात्र सूत्रे सिद्धान्तमाचख्यौ। अतः इतर ब्रह्मसूत्राण्यपि भर्तृप्रपञ्चसंमतप्राचीनपरिणामाद्वैतपरतयैव योजनीयानीत्यभिप्रेत्य यादवप्रकाशा ब्रह्मसूत्रभाष्यमचीक्लृपन्। यद्यपि सुरेश्वराचार्यैः (बृ.आ.वा) बहुत्र ; 'भेदग्राहि न नो मानम्' इत्यादिना प्रत्यक्षं सन्मात्रग्राहीति प्रसाधनेन निरवद्यत्वापरिणामिनित्यत्वश्रुतिविरोधेन च भेदाभेदवादो

भावप्रकाशः

भर्तृप्रपञ्चसंमतः प्रतिक्षिप्तः । कल्पतरौ च (१-४-२७) 'ब्रह्मनन्दिना हि' 'नासतोऽनिष्पाद्यत्वात् । प्रवृत्त्यानर्थक्यं तु सत्त्वाविशेषात्' इति सदसत्पक्षप्रतिक्षेपेण पूर्वपक्षमादर्श्य 'न संव्यवहारमात्रत्वात्' इति अनिर्वचनीयता सिद्धान्तिता । अतः 'परिणामस्तु' इति भास्करोदाहृतब्रह्मनन्दिवाक्यमध्यासपरिणामाभिप्रायमित्युक्तम् । 'परिणामात्' इति सूत्रमप्येतदभिप्रायमेवेतिच; तथाऽपि कुमारिलेन (श्लो. वा. प्रत्यक्षसूत्रे);—

महासामान्यमन्यैस्तु द्रव्यं सदिति चोच्यते ।
सामान्यविषयत्वं च प्रत्यक्षस्यैवमाश्रितम् ॥ ११४ ॥
विशेषास्तु प्रतीयन्ते सविकल्पकबुद्धिभिः ।
तदयुक्तं प्रतिद्रव्यं भिन्नरूपोपलम्भनात् ।
न ह्याख्यातुमशक्यत्वाद्भेदो नास्तीति गम्यते ॥ ११७ ॥
निर्विकल्पकबोधेऽपि द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनः ।
ग्रहणं लक्षणाख्येयं ज्ञात्रा शुद्धं तु गृह्यते ॥ ११८ ॥

इति प्रत्यक्षस्य सन्मात्रग्राहितापक्षं निर्विकल्पकबोधेऽपि भिन्नाभिन्नं वस्तु भासत इत्युपलम्भबलादिभिर्दूषयित्वा तत्र भेदाभेदवादः (उपमानपरिच्छेदे) ३२ । आत्मवादे (२२-२६-२७) सत्कार्यवादश्च साधितः । भेदाभेदवादिभिस्सांख्यैरपि सत्कार्यवाद आश्रियते न त्वनिर्वचनीयवादः 'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' इति हि श्वेताश्वतराः पठन्ति! अतो वाक्यकारस्य नानिर्वचनीयवादस्संमतः तथा हि;— 'परिणामस्तु स्याद्दध्यादिवत्' इति वाक्यम् 'तदनन्यत्वम्' इति सूत्रोत्तरं उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (२-१-२४) इत्यत्र क्षीरवद्धीत्येतस्य विवरणरूपम् । अयमाशयः;—तदनन्यत्वसूत्रानन्तरं परिणामस्य सिद्धान्तकरणेन तदनन्यत्वसूत्रेऽपि परिणामवाद एवाभिप्रेतो

भावप्रकाशः

न विवर्तवादः इति। अयमर्थः 'नासतः' इत्यादिवाक्यैः स्थाप्यते। तत्र 'नासतोऽनिष्पाद्यत्वात्' इत्यत्र असतश्शशविषाणादेरुत्पत्त्यभावादसत उत्पत्तिर्न संभवतीत्यर्थः। एतेन जगतस्तुच्छत्वमपाकृतम्। प्रवृत्त्यानर्थक्यं तु सत्त्वाविशेषात्' इत्यत्र कार्यसत्त्वे कारणसत्त्वगताबाध्यत्व (पारमार्थिकत्व) रूपविशेषाभावात्प्रवृत्त्यानर्थक्यम्। न हि जगतोऽपारमार्थिकत्वे तदर्थनिर्माणे सर्वज्ञस्य जीवानां पूर्वकाण्डोक्तकर्मानुष्ठाने उत्तरकाण्डोक्तमोक्षसाधने च प्रवृत्तेस्साफल्यं संभवति! प्रत्यक्षस्य सन्मात्रग्राहित्वे ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य शुक्तिरूप्यतुल्यत्वेन शुक्तिरूप्याहरणतुल्यत्वादस्या अपि प्रवृत्तेः इति विवक्षितम्। परिणामवादे कार्यकारणयोस्सर्वदा सत्त्वाविशेषात् कार्यकरणे प्रवृत्तिवैफल्यादिति च। अर्थद्वयतात्पर्येणैव 'सत्त्वात्' इत्यनभिधाय 'सत्त्वाविशेषात्' इत्युक्तम्॥

एतेन जगतः शुक्तिरूप्यतुल्यत्वप्रतिक्षेपपूर्वकं परिणामवादेऽपि प्रवृत्त्यानर्थक्यमुक्तं भवति। 'न संव्यवहारमात्रत्वात्' इत्यस्य न पूर्वोक्तदोषः अबाध्यव्यवहारमात्रत्वात् इत्यर्थः। अत एव समित्यस्य सार्थक्यम्॥

इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत्तत्त्वेन प्रदर्श्यते।
जातास्तत्वविदो बालाः तत्त्वज्ञानेन किं फलम्?॥
उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्।

इति। बौद्धमतकटाक्षेण जैनैः;—मुख्यं सांव्यवहारिकं चेति प्रत्यक्षद्वैविध्यकथनावसरे इन्द्रियजन्यज्ञानं सांव्यवहारिकपदेन निर्दिष्टम्। समीचीनोऽबाधितः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहारस्संव्यवहारः। सः प्रयोजनमस्येति तदर्थः (प्र. क. मा ६२) प्रभाचन्द्रेणोक्तः। अत्रापि

भावप्रकाशः

तद्वत् समित्यस्यार्थः । अत्र व्यवहारमात्रत्वादित्यनेन कार्यस्य पूर्वं सत्त्वेऽपि सृष्ट्यर्थं प्रवृत्तिरुपपद्यते । घटशब्दप्रयोगजलाहरणप्रवृत्त्यर्थं कुलालस्य घटनिर्माणे प्रवृत्तिवत् इत्युक्तं भवति । ' नामरूपे व्याकरवाणि ' इत्यत्र नामभेदो रूपभेदनिबन्धनः इत्यर्थस्य प्रतीत्या ' वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् ' इत्यत्रापि तस्यैव विवक्षितत्वेन रूपभेदस्य प्रवृत्त्यर्थताया अपि तत्राभिप्रेतत्वात् । समित्यनेन जगतो व्यावहारिकसत्यत्वाङ्गीकारेऽपि ब्रह्मणः ' तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय ' इत्यादिश्रुतिसिद्धजगत्सृष्ट्यर्थप्रवृत्त्यनुपपत्तिः । तथा सति दीर्घभ्रमसंपादनार्थैव प्रवृत्तिस्स्यात् । तदनन्यत्वसूत्रात्परं ' लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ' २–१–२७ इति सूत्रप्रणेतुर्व्यासस्य ब्रह्मणो जगत्सृष्ट्यर्थं प्रवृत्तिरबाधितैवाभिमतेति प्रतीयते ।

यथा च प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धतया भेदाभेदयोरविरोधः एवं श्रुतिप्रमाणसिद्धत्वात्परिणामनित्यत्वयोरप्यविरोधः । यथोक्तं व्यासेन ' श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ' २–१–३३ इति । ' निरवद्यं निरञ्जनम् ' निरवद्यो निरनिष्टः ' इति श्रुतिस्तु ब्रह्मण्यविद्यां वारयति । न च अवद्यस्य चिति कार्यकरत्वाभावेन कार्यकरत्वाकार्यकरत्वाभ्यां सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यवस्थोपपत्तेः । उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात् (अ. सि. ५७७) इति वाच्यम् ; निरवद्यत्वश्रुतिसंकोचवन्निर्गुणश्रुतिसंकोचे किं वा निषेधकवाक्यसामान्यस्यापि संकोचे निर्गुणस्यैवासिद्धेः । तस्मात्परिणामिसगुणब्रह्मवाद एव ज्यायान् इति यादवप्रकाशानुयायिनः । अतो ' भोक्त्रापत्तेः ' इति सूत्र (शं) भाष्यपूर्वपक्षोक्तदिशाऽर्थवादक्रममनुसृत्य ' तत्त्वमसि ' इत्यादौ गौणार्थकथनमनुचितम् ; किं तु सिद्धान्तोक्तदिशा मृद्धट इत्यादाविव स्वाभाविकभेदाभेदनिबन्धनमेव सामाना-

तत्वमुक्ताकलापः

जीवाः पृथ्व्यादिभूतेष्वणव इव मिथो भेदवन्तः स्वतोऽमी सन्मात्रब्रह्मभागास्तदिह नियतयस्सुस्थिता इत्ययुक्तम् । ऐक्यस्याप्यक्षतत्वादनवधि

सर्वार्थसिद्धिः

* अथ स्वाभाविकजीवांशभेदाभेदं दूषयति—**जीवा इति ।** उक्तं विरोधमेव बाधहेतुमाह—**ऐक्यस्यापीति ।** पक्षद्वयसाधारणं दूषणान्तरमाह—**अनवधीति ।** सति ब्रह्मणि—सर्वात्मकसद्रूपे ब्रह्म-

आनन्ददायिनी

परं ब्रह्मैकमेव [1] चिदचिदीश्वरभेदेन स्वभावतो [2] भिन्नम्; तत्राचिदंशः [3] प्रकृतिः । चिदंशस्तु भूतेषु [4] परमाणव इवानन्तात्मानो जीवा उच्यन्ते । तत्र सर्वत्र [5] सदात्मनैक्यं च । तत्रैश्वरोपासनादी [6] श्वरेणाविभागापत्तिरूपमुक्तिर्भवतीति यादवप्रकाशमतं दूषयति—**अथ स्वाभाभाविकेति । उक्तमिति**—भास्करपक्षे उक्तमित्यर्थः । ननु [7] सदात्मना भेदमात्रेण सर्वजीवगतदोषाणां प्रसक्तिरित्यत्राह—**सर्वात्मकेति ।** एतन्मते जीवभिन्नत्वादित्यर्थः । ननु स्वाभाविकभेदवतीश्वरे, सावका-

भावप्रकाशः

धिकरण्यं वाच्यमिति शङ्कामपाकर्तुमवतारयति; * अथेत्यादिना

---

[1] श्वरस्वभावभेदेन भिन्नं—**ग.** [2] भिद्यते—**क.** [3] प्रकृतिभेदादिना परिणमते चिदं—**ग.** [4] परमाणवो जीवा उच्यन्ते—**ग.** [5] सन्मात्रतयैक्यमिति सन्मात्रो—**ग.** [6] दीश्वरानीश्वराविभागनिवृत्तौ सन्मात्रब्रह्मता—**ग.** [7] सद्रूपत्वमात्रेण—**ग.** स.ात्मना जीवत्वत—**क. ख**

तत्त्वमुक्ताकलापः

च सति ब्रह्माणि स्यादवद्यं सत्यं तच्चेत्यभिज्ञैर्बहिरगाणि मृषावादतोऽप्येष पक्षः ॥ ११ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

णीत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे निरवद्यत्वादिश्रुतिर्निर्विषया स्यात् । ईश्वरस्याऽपि सर्वतादात्म्यप्रतिसन्धायिनः क्लेशादिनिषेधायोगादितिभावः । एतत्पक्षद्वयादविद्याकृतदुःखादिभेदवादो वरमित्यभिप्रायेण—**सत्यं तच्च** इत्याद्युक्तम् ॥ ११ ॥

आनन्ददायिनी

शा भवत्वित्यत्राह—ईश्वरस्यापीति । **एतदिति**—परमार्थतो दोषाभावादित्यर्थः । पृथिव्यादि [1] भूतेष्वणव इव मिथो भेदवन्तः परस्परं भिन्नास्सन्मात्र [2] ब्रह्माणि भिन्ना ब्रह्मणो भागा वर्तन्त इति परस्परं भेदवत्त्वात्सुखदुःखादिप्रतिसंधानव्यवस्था युक्तेति यादवमतमिति मूलार्थः ॥ ११ ॥

भावप्रकाशः

*सत्यं तच्चेत्याद्युक्तमिति–(१-१-४ पं.पा–११११) विवरणे भेदाभेदवादिभास्करमतदूषणस्य स्वसंमतत्वं तत्रत्य 'पापीयानयं पक्षः' इति विवरणवाक्यप्रत्यभिज्ञापक 'पापीयान्' इत्यादिविन्यासविशेषेण व्यञ्जयन्ती 'ब्रह्माज्ञानपक्षादपि पापीयानयं भेदाभेदपक्षः' इति (वे. सं.) अभिज्ञ श्रीभाष्यकृत्सूक्तिरिह भाव्या । अत्रापि नायकसरादौ एतन्मतं निरसिष्यते ।

---

[1] भूतेष्ववयवरूपेण विद्यमाना अणवो मिथो—**ग.** [2] ब्रह्मणि सदात्मकत्वेन चाभिन्ना ब्रह्मणो भागौ—**ग.**

भावप्रकाशः

ननु आरम्भणाधिकरणे शंकराचार्यैः 'सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह ; व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्र-स्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणाम-प्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति सूत्रकृतः परिणामवादे न निर्भरः, अपि तु विवर्तवादे' इत्युक्तम् ॥

सर्वज्ञात्ममुनिनाऽपि (सं. शा २ अ ५८-५९) इममर्थं प्रति-ज्ञाय तमुपपाद्य (सं. शा ३ अ २१७-२२०) वाक्यकारसिद्धान्तोऽपि विवर्तवाद एवेति स्थापितम् ॥

वाचस्पतिनाऽपि (भा. १-१-४) वृत्तिकारमतदूषणावसरे भामत्यां परिणाम्यनिर्वचनीयमिति प्रसाध्य (भा. १-४-२७) विवर्तवादस्यैव सूत्र-कृत्तात्पर्यविषयत्वमुक्तम् ॥

तत्र कल्पतरौ—भास्करमतदूषणपूर्वकं विवर्तवादस्यैव वाक्य-कारतात्पर्यविषयता संक्षेपशारीरकोक्त्या व्यवस्थापिता । तत्र—

कृपणमध्यमपक्वधियां नृणां
मतिविलासविधात्रितयं क्रमात् ।
परिणतिर्बहुजीवतमस्विता
परमपुंसि तमःपरिकल्पना ॥ (सं. शा ३ अ. २४०)

परिणाम इत्यथ विवर्त इति बहवोऽहमेव च मुमुक्षुरिति ।
जगदनेकमुमुक्षुकमीक्षते पुरुष एकतरो न तथेतरः ॥(सं. शा. २-८६)

इति निष्कर्षानुसारेण 'ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वाविद्यया मुच्यते' (बृ. आ. शं. भा.) इत्यत्रोक्त एकजीववादाख्यो मुख्यो वेदान्तपक्षः । मधुसूदनसरस्वतीभिश्च एकजीववादं मुख्यवेदान्तपक्षमुक्त्वा 'इममेव दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते । अस्मिंश्च पक्षे जीव एव स्वाज्ञानवशा-

भावप्रकाशः

ज्जगदुपादानं निमित्तं च । दृश्यं सर्वं प्रातीतिकम् । देहभेदाच्च जीवभेदभ्रान्तिः । एकस्यैव च स्वकल्पितगुरुशास्त्राद्युपबृंहितश्रवणमननादिदार्ढ्यादात्मसाक्षात्कारे सति मोक्षः । शुकादीनां च मोक्षश्रवणं त्वर्थवादः ' इति अस्मिन्पक्षे (सि. बि. ११८) विशेष उक्तः ॥

यद्यपि लघुचन्द्रिकायां (५३७) 'उक्तं हि संक्षेपशारीरके—

तत्वावेदकमानदृष्टिरधमा तत्वक्षतिर्मध्यमा
तत्वप्रच्युतिविभ्रमक्षतिकरी तत्रान्त्यदृष्टिर्मता ।
जीवैकत्वमुमुक्षुभेदगतितो व्यामिश्रदृष्टिर्द्विधा
भिन्ना तत्र च पूर्वपूर्वविलयादूर्ध्वोर्ध्वदृष्टिर्भवेत् ॥
(सं. शा. अ. २-८३)

इति । प्रत्यक्षादिमानानां तत्वावेदकत्वदृष्टिराद्या । तेषां व्यावहारिकमानत्वदृष्टिर्द्वितीया । तत्वप्रच्युतेः व्यावहारिकमानत्वस्य शुक्तिरूप्यादिबुद्धाविव प्रत्यक्षादिमानेषु विभ्रमत्वदृष्ट्या क्षतिकरी जन्यदृश्यमात्रे प्रातिभासिकत्वदृष्टिपर्यवसिता तृतीया । साऽपि जीवैकत्वे मुमुक्षुभेदे च गमनात् द्विविधा, व्यावहारिकमानत्वाभावभ्रमत्वविषयकत्वेन व्यामिश्रा दृष्टिः । पूर्वपूर्वेति ;—मुमुक्षुभेददृष्टेः पश्चादुक्तत्वेऽप्यार्थिकं जीवैकत्वदृष्टितः पूर्वत्वं बोध्यम्' इत्यत्र दृष्टिसृष्टिपक्षेऽपि मुमुक्षुभेदप्रकारः (अनेकजीववादः) प्रदर्शित इति इममेव दृष्टिसृष्टिवादमित्युक्तिर्न घटते, तथाऽपि उत्तमदृष्टिर्सृष्टिवादाभिप्रायकत्वात्तत्तद्ग्रन्थस्य न दोष इति लघुचन्द्रिकाकृदाशयः ॥

वस्तुतस्तु—इदं विवरणं (सं. शा. ५४) मधुसूदनटीकाविरुद्धमिति स्पष्टं तद्द्रष्टृणाम्, मूलविरुद्धं च—

आरोपदृष्टिरुदिता परिणामदृष्टिः
द्वैतोपशान्तिरपवादकदृष्टिरन्त्या ।

भावप्रकाशः

मध्ये विवर्तविषया द्वयमिश्रदृष्टिः

व्यामिश्रदृष्टिरधरोत्तरभूमिभावात् ॥ (सं. शा. अ. २-८२)

इति तत्वावेदकेति श्लोकात्पूर्वश्लोके, ततः किञ्चिदुत्तरम् —

परिणामधियो विवर्तधीः

अपवादात्मतया व्यवस्थिता ।

सकलद्वयमर्दिनी धियं

प्रति सारोपगिराऽभिधीयते ॥ सं.शा. २ अ. ८७ ॥

उभयव्यतिमिश्ररूपतां

भजते तेन विवर्तधीरियम् ।

प्रथमोत्तमयोर्द्वयोः पुनः

व्यतिमिश्रीभवनं न विद्यते ॥ सं. शा. अ. २.८८ ॥

इत्यत्र च अन्त्या द्वैतोपशान्तिः—मध्यमविवर्तदृष्टिरेव व्यामिश्रदृष्टिरिति च स्फुटम् । एकपुरुष एव सूत्रकृत्तात्पर्यविषयदृष्टित्रयोपयोगकथनावसरे—

परिणाम इत्यथ विवर्त इति

बहवोऽहमेव च मुमुक्षुरिति ।

परिपुष्कलं च परमं पदमि-

त्यवगत्य तिष्ठति महिम्नि निजे ॥ सं.शा. अ. २ ८६ ॥

इत्यत्र विवर्त एव बहवो जीवाः अहमेव मुमुक्षुरिति द्विप्रकारः । अन्त्या द्वैतोपशान्तिश्च चित्स्वरूपमिति व्यक्तम्। पुरुषभेदेन दृष्टित्रयवादकथनावसरेऽपि—'क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तनाम्' इत्यभिधाय—

पुरुषभेदवशाद्द्विविधा भवेत्

क्षपितकल्मषधीरपि मध्यमा ।

सर्वार्थसिद्धिः

* अन्ये त्वाहुः ;—* अविद्याशबलं ब्रह्मैव जीवः, स च सर्व-

आनन्ददायिनी

मायिमत एव सर्वशरीरैकजीववादं दूषयति —**अन्ये त्वि-त्यादिना । अविद्याशबलमिति ।** ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति

भावप्रकाशः

जगदनेकमुमुक्षुकमीक्षते
पुरुष एकतरो न तथेतरः ॥ सं. शा. अ. २. ९० ॥

इत्यत्रापि पूर्ववद्विवर्तस्यैव द्विप्रकारत्वमुक्तम् ।एवं च पूर्वं परत्र च मध्यमदृष्टावेव व्यामिश्रत्वप्रतिपादनात्तस्यामेव परत्र जीवैकत्वमुमुक्षुभेद-विषयकत्वाभ्यां द्विप्रकारत्वाभिधानात् तत्त्वावेदकेति श्लोकेऽपि व्यामि-श्रदृष्टिः मध्यमा विवर्तदृष्टिः, अन्त्या च द्वैतोपशान्तिदृष्टिः । संक्षेपशा-रीरकस्य (अन्य)व्याख्याकाराभ्यामित्थमेवार्थ उक्तः । तत्वक्षतिः—तत्वस्य परिणामदृष्टौ पारमार्थिकत्वेनानुसंहितस्य क्षतिः—व्यावहारिकत्वप्राति-भासिकत्वान्यतरानुसंधानमित्यर्थः । तत्वप्रच्युतिविभ्रमक्षयकरी—तत्व-प्रच्युतिः—ब्रह्मभिन्नमतिः सैव विभ्रमः तस्य क्षयकरी द्वैतोपशान्तिरन्त्या दृष्टिरित्यर्थः । अतश्च दृष्टिसृष्टिपक्षे अनेकजीववादो नात्र विवक्षितः । एकजीववादस्य मुख्यवेदान्तसिद्धान्तत्वे मधुसूदनसरस्वतीभिरुक्ते मूलता चार्थिकपौर्वापर्यविवक्षया 'जीवैकत्वमुमुक्षुभेदविषया' इत्यस्यापि संभव-तीति । अद्वैतसिद्धावपि दृष्टिसृष्टिमुपपाद्य 'स च द्रष्टैक एव' तन्ना-नात्वे मानाभावात् इत्युपक्रम्य 'अनेकशरीरे एकजीववादाङ्गीकारात्' इत्युक्तम् । अयं चैकजीववाद आरम्भणाधिकरणश्रीभाष्ये उपन्यस्तः । तमनुवदति—* अन्ये त्वित्यादिना । * अविद्याशबलमिति । अविद्या-

सर्वार्थसिद्धिः

शरीरेष्वेकः । अप्रतिसन्धानं *अविद्यावैचित्र्यात् । प्रतिबुद्धास्तु सोऽहं

आनन्ददायिनी

स्वविद्यया मुच्यते इत्युक्तेरिति भावः । ननु सर्वशरीरेषु जीवस्यैक्ये प्रतिसन्धानादिनियमो न स्यादित्यत्राह — **अप्रतिसन्धानमिति** । विचित्रशक्तिमदज्ञानमेकशरीरावच्छेदेन सुखादिगोचरप्रतिसन्धानस्यान्यशरीरावच्छेदेनोत्पत्तिप्रतिबन्धकमित्यर्थः ॥

नन्वेवं वामदेवादीनां प्रतिसन्धानं न स्यादित्यत्राह—**प्रतिबुद्धास्त्विति** । तेषां ज्ञानेनाज्ञानस्य छिन्नमूलतया नाप्रतिसन्धानशक्तिरिति भावः । एकजीवपक्षे प्रबुद्धानां भेदासंभवात्सर्वेषां सर्वत्र प्रति-

भावप्रकाशः

प्रतिबिम्बः अविद्योपहितमितिवाऽर्थः । प्रथमपक्षे अविद्योपहितं बिम्बचैतन्यम्; द्वितीये अविद्यानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वर इति (सि. बि. ११८) बोध्यम् । *अविद्यावैचित्र्यादिति । यद्यपि (सि. ले. सं. १०७) अपरे तु इत्यादिना सर्वशरीरैकजीववादनिरूपणं प्रक्रम्य 'देहभेदादप्रतिसन्धानम्; योगिनः कायव्यूहसुखानुसंधानं योगजन्यादृष्टवशात् । योगजन्यादृष्टविशेषासहकृतशरीरभेदः सुखाद्यननुसंधानप्रयोजकः' इत्युक्तम्; तथाऽपि सर्वेषां मातृयोनितो बहिर्निर्गमनात्प्राक् पूर्वजातिस्मरणस्य गर्भोपनिषत्सिद्धतया तत्र व्यक्तिविशेषनियतादृष्टाभावेन प्रतिबुद्धानां प्रतिसंधानदर्शनेन च कदाचित्तत्तच्छरीरावच्छेदेनानुभूतस्य तत्तदवच्छेदेनैव प्रतिसन्धानं कदाचिदन्यशरीरावच्छेदेनानुभूतस्यापीत्यत्राविद्यावैचित्र्यमेव निदानमिति न्याय्यमितीत्थमुक्तम् । वैचित्र्यं नानाविधान्तःकरणात्मना परिणतत्वम् । यद्वा वैचित्र्यं शक्तिः ।

सर्वार्थसिद्धिः

स च त्वामित्यनुसंदधते। प्रमाणं चात्र * **श्रुतिस्मृतय** इति; एतदपि पूर्वोक्तनीत्या दत्तोत्तरम्। अविद्यास्वरूपादिकं दूषयिष्यते। अत्र चैको

आनन्ददायिनी

सन्धानं स्यादिति दोषे सत्येव दोषान्तरमाह—**एतदपीति**। स्वरूपैक्ये प्रतिसंधानव्यवस्थापनमविद्यया न शक्यम्। अन्यथा स्वस्विन्नपि प्रतिसंधानादिकं न स्यादिति भावः। किंच अविद्यास्वरूपं च प्रमाणाभावान्नास्त्येव कुतस्तस्य व्यवस्थापकतेत्याह—**अविद्येति**। जीवैक्यश्रुतिमन्यथयति—**अत्रैक इति**। कौसलो मधुरायां व्रीहिं दृष्ट्वा वदति कौसलेनैक एवायं मधुरायां व्रीहिर्यः कौसले दृष्ट इति। तत्र न स्वरूपैक्यम्, किं तु सादृश्यम्; जीवेऽपि तथा व्यपदेश इति भावः।

भावप्रकाशः

अभ्युपगम्यन्ते चानेकजीववादिभिरप्येकाविद्यापक्षे तत्वसाक्षात्कारानन्तरमविद्यानिवृत्तौ देहादिप्रतिभासाद्युपपत्तये शक्तिभेदाः। एवमेकजीववादिभिरपि शक्तिभेदाभ्युपगमेन व्यवस्थोपपादनं न्याय्यमिति भावः॥

* श्रुतिस्मृतय इति---'पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवस्ततस्तु जातं सकलं' प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते' 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' इत्यादिश्रुतयः। एवं 'एको देवस्सर्वभूतेषु गूढः' इति श्रुतिरपि। तत्र 'साक्षी चेता' इत्यादिवाक्यशेषात् देवपदं पुरत्रयक्रीडकजीवपरम्। अज्ञानावृतवस्तुस्वरूपकत्वेन गूढ इति भावः। 'देही कर्मानुगोऽवशः' 'शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति' इति स्मृतिः। (५४०—ल—चं)।

सर्वार्थसिद्धिः

व्रीहिरित्यादिवज्जीवैक्यवादास्साजात्यात्स्युः; 'पण्डितास्समदर्शिनः' इत्यादितस्तथात्वावगमात्। 'मित्रामित्रकथा कुतः' इत्यादिकं रागादिपरिहारपरम्। 'यद्यन्योऽस्ति' इत्यादिकं स्वरूपेऽन्यादृक्त्व-निषेधार्थम्। *'एको देवस्सर्वभूतेषु गूढः' इतीश्वरविषयम्।

आनन्ददायिनी

नन्वत्र स्वरूपैक्ये बाधकाभावात् किमिति सादृश्यपरतयाऽन्यथासिद्धि-रित्यत्राह—**पण्डिता** इति।

यद्यपि समानशब्दपर्यायस्समशब्दः तथाऽपि, साजात्यमादाय, न त्वैक्यमादायेति भावः। केचित्तु समानशब्दोऽपि सादृश्य एव मुख्यो न त्वर्थान्तर इत्यर्थः।

ननु ज्ञानिनो मित्रामित्राद्यभाववचनात् सर्वेषामैक्यं वाच्यम्। अन्यथा स्वव्यतिरिक्तवस्तुसत्त्वे तस्यासंभवादित्यत्राह—**मित्रामित्रेति**। ननु स्वान्यस्य निषेधवचनेनास्यैकवाक्यत्वं वाच्यमित्यत्राह—**यद्यन्योऽस्तीति**। नन्वेकस्य सर्वभूतेष्ववस्थानवचनं कथं संगच्छत इत्यत्राह—**एक** इति।

भावप्रकाशः

*एको देव इतीश्वरविषयमिति। 'पुरत्रये क्रीडति जीव एकः' इतिवत् अत्र जीवशब्दो न श्रूयते। देवशब्दश्च ईश्वरविषय एव उपनिषदि उपक्रमप्रभृति बहुधाऽभ्यस्तः। अतः—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं दैवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ (श्वे—६—७)

भावप्रकाशः

इत्यादौ पूर्वं सर्वेषामीश्वराणामीश्वरत्वेन परमदैवतत्वेन भुवनेशत्वेन तदुत्तरमन्त्रेषु समाभ्यधिकराहित्येन ज्ञानादिगुणषट्कवत्त्वेन जगत्कारणत्वेन जीवाधिपत्वेन ईशित्रन्तरजनकान्तराधिपान्तरशून्यत्वेन 'येनावृतं नित्यमिदम्' 'देव एकस्समावृणोति' इत्यत्र सर्वावारकत्वेन चोक्तो देव एव 'एको देवः' इति श्रुतौ देवः, न तु जीवः, पूर्वं तदधिपस्यैव प्रतिपादनात् । उत्तरत्र 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्' इत्यादावेकस्मिन् नित्यचेतनकामविधातृत्वस्य प्रधानक्षेत्रज्ञपतित्वसंसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुत्वादीनां प्रतिपादनाच्च । अत एव (श्वे) प्रथमे 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' इत्यत्र जीवस्याज्ञत्वेशितव्यत्वयोः एकदेवस्येशितृत्वसर्वज्ञत्वयोः प्रतिपादनं संगच्छते । 'सर्वभूतेषु गूढः' इत्यत्र गूढपदं 'गूढगुप्ते' (अमरः) ॥

'गूढं रहसि गुह्ये च न द्वयोः संवृते त्रिषु' (मेदिनी) ।

इत्यादिकोशैर्गुह्यार्थकम् ;

'स्वदेहमरणिं कृत्वा—देवं पश्येन्निगूढवत्' (श्वे १-१४)

इति पूर्वमुक्तेः । 'साक्षी चेता' इत्यत्रोक्तसाक्षाद्द्रष्टृत्वादिकमीश्वरस्यैव संभवति ।

बृहदारण्यकवार्तिककारमते त्वीश्वर एव साक्षीति (सि. बि. १७१) परैरप्युच्यते ।

किञ्च—'न तस्य कार्यम्' 'पराऽस्य शक्तिः' 'स कारणं कारणाधिपाधिपः' इति मन्त्राणां ईश्वरविषयत्वमीक्षत्यधिकरणशंकरभाष्ये 'एको देवस्सर्वभूतेषु गूढः' इति मन्त्रस्य अनुपहितशुद्धब्रह्मपरत्वं समन्वयाधिकरणे वृत्तिकारमतदूषणावसरे शंकरभाष्यभामत्योरुक्तमिति

भावप्रकाशः

एको देव इति श्रुतेः एकजीवपरत्वं न परसिद्धान्त इति बोध्यम्। 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः (बृ. ३) इत्यपीश्वरविषयमेव।

'पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्
स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवः
ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्॥
आधारमानन्दमखण्डबोधं
यस्मिन् लयं याति पुरत्रयं च।' (कै. १४)

इति श्रुतौ 'पुरत्रये क्रीडति' इत्यत्र देवशब्दाप्रयोगेण श्वेताश्वतरेऽभ्यस्तेन देवशब्देन प्रतिपादितं ईश्वरासाधारणं सृष्टिस्थितिलयक्रीडावत्त्वं जीवस्य नास्तीति बोधितम्। अतोऽत्र नैकजीववादो विवक्षितः, किंतु एकस्मिन् देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु एक एव जीवः; स्वापप्रबोधयोर्जीवभेदाभावादिति। आह च बादरायणः; 'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः' (३-२-९) इति। शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमित्यवगम्यते। 'सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छां. ८-३-२) 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति' (छां ६-९-३) इत्येवमाद्याश्शब्दाः इत्यादिशंकरभाष्ये जीवबहुत्वं श्रुतिसिद्धमिति व्यक्तम्। अत्र त इहेत्येतत्पूर्ववाक्यं 'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति' 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति' इति च॥

एवं 'गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च' (१-३-१५) इति सूत्रे 'स्वाप्ययात्' (१-१-९,५) इति सूत्रे 'अतो यस्मिन्नप्ययस्सर्वचेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणम्' इति भाष्ये च॥

भावप्रकाशः

अनेन भाष्येण उदाहृत (कै) श्रुतौ—

ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् ।
आधारमानन्दमखण्डबोधं
यस्मिन् लयं याति पुरत्रयं च ॥

इति परमात्मविषयं न जीवविषयमिति बोधितम्। 'पुरत्रयं च' इत्यत्र चः अचेतनं समुच्चिनोति । सुषुप्तौ जीवलयाधारस्यैव सकलकारणत्वं न जीवस्येति भावः । 'ततस्तु' इत्यत्र जीवव्यवच्छेदकतुशब्दप्रयोगात् यस्मिन् पुरत्रयं च लयं याति ततस्तु जातमित्यन्वयः ॥

सुषुप्तौ सर्वेषां लयः दृष्टिसृष्टिः, जीव एव जगदुपादानमित्येव न सिद्धान्तः 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' (३-२-७) इति सूत्रे प्रासादखट्वापर्यङ्कवत् पुरीततो ब्रह्मणो नाडीनां च सुषुप्तिस्थानत्वप्रतिपादनात् प्रलये सर्वेषां प्रातिस्विकरूपेण लये 'पृथिव्यप्सु लीयते—भूतादिर्महति लीयते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रमाणवत् सुषुप्तौ प्रातिस्विकरूपेण लयबोधकप्रमाणविरहात् 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' इत्यादेः तत्र प्रमाणत्वासंभवस्य पूर्वमेवोपपादनात् । सुषुप्तयादावुच्छ्वासादेः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तत्कल्पनायोगात् सृष्टिदृष्टिपक्षस्य (पं. पा. वि.) परैरपि सिद्धान्तितत्वाच्च ॥

'अतः प्रबोधोऽस्मात्' (३-२-८) इति सूत्रे (शङ्कर) भाष्ये 'कुत एतदागात्' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विष्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मात्सर्वे प्राणाः' इति श्रुतेः ब्रह्मोपादानतापराया उपादानात । 'अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके' (१-४-१८) इति सूत्रे "अपि चैवमेके वाजसनेयिनोऽस्मि-

भावप्रकाशः

न्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत् कुत एतदागात् (बृ. ४-१-१६) इति प्रश्ने; प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते' (बृ. ४-१-१७) इति। आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः' (छां. ८-१-१२) इत्यत्र। 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति चोपाधिमतामात्मनामात्मनो व्युच्चरणमामनन्तः परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तीति गम्यते" इति (शंकर) भाष्येण च पूर्वोक्तार्थदृढीकरणाच्च ।

अत्र यद्यपि 'एवमेतस्मादात्मनस्सर्वे प्राणास्सर्वे लोकास्सर्वे देवास्सर्वाणि च भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति (बृ. ४-१-२०) इति श्रुतिः सुप्तोत्थितजीवात्प्राणादिसृष्टिं प्रतिपादयन्ती प्रमाणम्' इति (अ. सि. ५३६) मधुसूदनसरस्वत्युक्तिः आकाशशब्दस्य व्यवहितत्वान्नाकाशशब्दितं ब्रह्म 'एतस्मादात्मनः' इत्यत्र एतच्छब्दार्थः, किंतु 'यथा कुमारो वा+एवमेवैष एतच्छेते (बृ. ४-१-१९) इत्यव्यवहितपूर्ववाक्यप्रतिपाद्यो जीव इति ब्रह्मानन्दयतिभिः (ल. चं ५३७) समर्थिता; तथाऽपि 'एवमेवैष एतच्छेते' इत्यव्यवहितपूर्ववाक्ये एतदिति लुप्तसप्तम्यन्तमाकाशशब्दार्थपरामर्शि। इत्थं चाव्यवहितपूर्ववाक्ये जीवलयकारणत्वेनोक्तं परमात्मानं एतस्मादित्यनेन परामृश्य 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति सर्वजीवोद्गमनं प्रतिपादयति। एष इति पूर्ववाक्ये प्रथमान्तेन निर्दिष्टजीवानां प्रथमान्तैतच्छब्देन परामर्श एवोचितः। एष इत्यत्र एकत्वमविवक्षितम्। इमास्सर्वाः प्रजास्सत आगत्य न विदुः' इति श्रुत्यन्तरस्याप्यनुरोधात्। तदेतदभिसंधाय 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति (माध्यन्दिन) इति वाक्य-

भावप्रकाशः

मात्रं (शं) उपात्तम् । (कौ. ब्रा.) 'अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इत्यनन्तरं 'तदैनं वाक्' इत्यत्र एतत्पदं प्राणपरामर्शी, प्राणस्य सप्तम्यन्तनिर्दिष्टत्वेऽपि प्रतिपिपादयिषितत्वेन प्राधान्यात्। 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा' इत्यत्र सप्तम्यन्तनिर्दिष्टस्य पयसः प्रधानस्य परामर्शदर्शनात्' इति न्यायरक्षामणावप्युक्तम् । अत्र कौषीतकीवाजसनेयकप्रश्नप्रतिवचनपर्यालोचनायां सुषुप्तिकाले नाडीपुरीततोः प्रतिभासाभावेऽपि सत्ताप्रतीत्या दृष्टिसृष्टिर्नास्तीत्येव प्रतीयते । तथाहि—'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदागात् (कौ. ३ ३५) इति प्रश्ने क्व क्व इत्येकरूपशब्दप्रयोगादुभयत्र स्थानयोरेव प्रश्नः 'यत्रैष एतद्बालके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूत्' इति (कौ. ३-३७) तदुत्तरवाक्येऽपि तथैव प्रयोगात् । 'हिता नाम नाड्यः+तासु तदा भवति (३-३८) 'यदा सुप्तस्स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' (३-३९) इत्युत्तरवाक्येऽपि स्थानद्वयप्रतीतेः । 'तद्यत्रैतत्सुप्तस्सुप्रसन्नस्स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सुप्तो भवति' (छां. ८-६-३) इति श्रुत्यन्तरे नाडीनां सुषुप्तिकाले जीवस्थानताप्रतिपादनात् ॥

वाजसनेयके 'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागात्' (४-१-१६) इति प्रश्ने क्वशब्दद्वयाभावेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते' (४–१–१८) 'अथ यदा सुप्तो भवति यदा न कस्य च न वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते' (४-१-१९) इत्युत्तरवाक्ये ब्रह्मण इव पुरीततोऽपि सुषुप्तिकाले जीवाधारत्वाभिधानात् प्रासादखट्वापर्यङ्कन्यायेन त्रयाणां जीवाधारत्व-

भावप्रकाशः

सिद्धेः । 'हृदयं नाम मांसपिण्डः तस्मात्पुण्डरीकाकारात् । पुरीततं हृदयवेष्टनमाचक्षते' (शं. उ. भा.) इत्युक्तिमनुसृत्य (वे. सू. मु.) 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' (३-२-७) इति सूत्रे ब्रह्मानन्दसरस्वतीभिः नाडीब्रह्मणोः क्रमसमुच्चयं प्रतिपाद्य 'हृदयवेष्टनमांसरूपपुरीतदवस्थानकाल एव ब्रह्मावस्थानेन तत्समुच्चयेनैव तेन समुच्चय इति न तत्पृथगुक्तम्' इत्यनेन पुरीतद्ब्रह्मावस्थानयोरेककालिकत्वस्यैवोक्तेः । वाजसनेयके 'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषस्स्वपिति नाम' इत्यादिना सुषुप्तिकाले इन्द्रियजन्यज्ञानग्रहणनिबन्धनमिन्द्रियग्रहणमभिधाय 'अथ यदा सुप्तो भवति यदा न कस्य चन वेद—पुरीतति शेते' इत्यत्र सुषुप्तिकाले रपुीतति शयनोक्त्या 'पुरीतत्प्राप्त्युत्तरं मनआद्युपाधिलयेन मनआद्युपाधिकृतभेदाभावरूपब्रह्मप्राप्तेरेव सुषुप्तित्वं' (ल. चं. ५३६), इत्युक्तिर्निरवकाशा । संप्रतिपन्नप्रमाणेषु क्वापि तथाऽनुक्तेः । मनआदीनां स्वोपादाने लयः 'पृथिव्यप्सु प्रलीयते' इत्यादिवन्नात्र प्रतिपाद्यते ॥

कौषीतकीब्राह्मणेऽपि 'हिता नाम नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इत्यत्र सुषुप्तिकाले पुरीतति शयनं कण्ठतोऽनुक्तमपि वाजसनेयकानुसारेण नाडीशयनानन्तरं विवक्षितमेव । सुषुप्तेः पूर्वमेव पुरीतति शयनमित्यस्यानुक्तेः 'एकधा भवति तदेनं वाक्सर्वैर्नामभिस्सहाप्येति' इत्यादौ स्वस्वविषयैस्सहितस्य तत्तदिन्द्रियस्य परमात्मनि लय उच्यते; न तु स्वोपादाने । स्वस्वविषयसाहित्यं चेन्द्रियस्य स्वस्वविषयव्यापृतत्वमेव । अत इन्द्रियव्यापारलय एव

भावप्रकाशः

पर्यवसानम् । उत्क्रमणकाल इव सुषुप्तावपि जीववत्परमात्मनीन्द्रियाणां लयप्रतिपादनमात्रेण न मनस्त्वाद्यवस्थानाशस्सिध्यति । सुषुप्तौ जीवब्रह्मणोर्भेदः 'प्राण एव' 'आकाशे' इति सप्तम्या प्रतिपाद्यते । 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' इति श्रुत्यन्तरसिद्धश्च । एकधाभावोऽपि तत्तदिन्द्रियजन्यतत्तद्विषयकज्ञानवत्त्वनिबन्धनबहुधाभावविरहः। बहुधाभावे चेन्द्रियाणां तत्तद्विषयव्याप्टतिः प्रयोजिका । अतः 'तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिस्सहाप्येति' इत्यादौ तद्विरहाभिधानम् । अत एव 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन' (१-३-४३) इति सूत्रं संगच्छते । 'यो वै प्राणस्सा प्रज्ञा या प्रज्ञा स प्राणस्सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतस्सहोत्क्रामतः' (कौ. ३-३) इति श्रुतौ प्राणजीवयोस्सहवासनिबन्धनोऽभेदव्यपदेश इति स्फुटम् । अत उपाधिद्वयोपहितस्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेदोऽत्राभिप्रेत इत्यादिप्रत्याशाया (न्या. र. म.) नावकाशः । एवं चोपाधीनां ब्रह्मव्यतिरिक्ते लयाप्रतिपादनेन सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य लयस्य श्रुतितात्पर्यविषयत्वकल्पनासंभवात् निरन्वयविनाशस्य दृष्टिसृष्टिपक्षेऽपि परैरनभ्युपगमात् मनस्त्वाद्यवस्थानाशायोगेन पुरीतत्प्राप्त्युत्तरमुपाधिविलयस्य परसंमतस्यासंभवेन सुषुप्तौ जीवस्य ब्रह्मणि शयनदशायां पुरीतति शयनं वाजसनेयश्रुतिसिद्धं न प्रत्याख्यानमर्हति । वाजसनेयके 'पुरीतति शेते' इति वाक्यानन्तरं 'स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते' इत्यत्र गत्वा शयीतेति मुखं व्यादाय स्वपितीतिवत् गमनशयनयोस्समानकालिकत्वेऽपि न विरुध्यते । एतदिति पुरीतद्ब्रह्मोभयाधारकार्थकम् (ल. चं. ५३६) ब्रह्माधारकार्थकं वा। यद्वा— एतदित्यत्र सप्तम्याः सुपां सुलुगिति लुक् 'आकाशे शेते' 'पुरीतति

भावप्रकाशः

शेते' इति पूर्ववाक्यानुरूपत्वात्। 'एतस्मादात्मनः' इत्युत्तरवाक्ये एतच्छब्दः परमात्मपरामर्शी। व्युच्चरणात्पूर्वं अग्निना नीरन्ध्रसंश्लेषेणैकीभूतानां विष्फुलिङ्गानां अग्नेर्विश्लेषवत् सुषुप्तौ परमात्मना नीरन्ध्रसंश्लेषेणैकीभूतानां जीवानां विश्लेष इति दृष्टान्तेन जीवब्रह्मणोर्भेद एव दृढीक्रियते। 'कुत एतदागात्' इत्यस्य 'एतस्मादात्मन+ सर्वे आत्मानो व्युच्चरान्ति' इति प्रतिवचनम्। सर्वभूतलोकव्युच्चरणं तु सुषुप्त्यव्यवहितोत्तरकालिकं न विवक्षितम्। जीवव्युच्चरणमात्र एव प्रश्नसत्त्वेन अन्यत्र तथा तात्पर्यकल्पनासंभवात्। प्रतिवचने सर्वभूतलोकव्युच्चरणप्रतिपादनं तु जीवव्युच्चरणस्य सुषुप्तिकालाव्यवहितोत्तरकालिकस्य (अन्यकालिक) सर्वभूतलोक(अचेतन) व्युच्चरणाविशेषबोधनाय। तेन च परमते अचेतनजीवयोः अविशेषेण प्रातिभासिकता व्यावहारिकता वा वाच्या। तत्र (५३४ ल. चं.) आद्यपक्षाभ्युपगमे 'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्य' इति सूत्रे 'कल्पितस्य जीवस्य स्वप्नजीववदुत्थानासंभवात्' इति भास्करोक्तदूषणस्य 'अवस्थात्रयानुगामिव्यावहारिकसत्त्वोपेताविद्योपाहितजीवस्य स्वप्नकल्पितजीववैलक्षण्यात् स एवोत्तिष्ठति' इति कल्पतरूक्तपरिहारासंभवः। द्वितीये (५३४ अ-सि.) अचेतनांशेऽपि दृष्टिसृष्टिवादस्य श्रुतौ बहूनां जीवानां व्युच्चरणप्रतिपादनेन एकजीववादस्य च विलयः प्रसज्यते। अतो न तदुभयमङ्गीकर्तव्यमिति सूच्यते। एतेन 'ऊर्णनाभ्यादेस्तन्त्वाद्युत्पत्तिस्तु लौकिकभ्रमसिद्धकार्यकारणभावप्रसिद्धिमनुरुध्य। सर्वलोकादिसृष्टिश्च तत्तद्दृष्टिव्यक्तिमभिप्रेत्य। यदा यत्पश्यति तत्समकालं तत्सृजतीत्यत्र तात्पर्यात्' (अ. सि. ५३७) इत्युक्तिरभिनिवेशमूलेति बोध्यम्। लाघवं तु युक्तिमात्रसिद्धेऽर्थे विनिगमकं, न सर्वत्रेति पूर्वमेवोक्तम्। 'हिरण्यनिधिं निहित-

भावप्रकाशः

मक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमास्सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति श्रुतौ सुषुप्तौ बहूनां जीवानां ब्रह्मगमनकालावच्छिन्नानां लाभाभावः प्रतिपाद्यते। अतः 'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामहे' इत्यत्रापि सुषुप्तिकालावच्छिन्नानां वेदनाभावो विवक्षितः। संपद्य इत्यत्र ल्यप् मुखं व्यादाय स्वपितीत्यत्रेवोपपद्यते। व्यादानोत्तरकालं स्वापानुवृत्तावेव तत्प्रयोगः, न त्वन्यथा इति मञ्जूषायां व्यवस्थापितमिति चेत्; अत्रापि संपत्त्युत्तरकालं वेदनाभावानुवृत्तिर्वर्तत एव। क्रियोत्तरत्वं न क्रियाध्वंसाधिकरणत्वं, स्थित्वा पश्यतीत्यत्र तदभावात्। किन्तु क्रियाधिकरणसमयध्वंसाधिकरणत्वमिति तत्रैवोक्तेः। संपत्तेर्दीर्घकालिकत्वेऽपि कीदृशमपि वेदनं कस्यापि नास्तीति ज्ञापनाय 'संपद्य न विदुः' इत्युक्तिः। एतेन—'अत्र वेत्तृत्वाभावस्तु स्मर्तृत्वाभावरूपः। अन्यथा संपद्येत्यस्य स्थाने संपद्यमाना इत्युच्येत। तथा च मनोऽवच्छिन्नताकाल एव साक्षिणस्तदुक्तिः' इति (ल. चं. ५४०) व्युत्पत्तिविरुद्धं नञ्समभिव्याहृतविदिधात्वर्थसंकोचमङ्गीकृत्य एकजीववादे जागरकालाभिप्रायेण श्रुतिसंगमनं न घटते। स्मरणमूलज्ञानविरहमनभिधाय स्मरणाभावे तात्पर्यस्य कल्पनासंभवात्। तथा सति 'सति संपद्यामहे' इत्यत्र संपद्यामहे इत्यस्य स्थाने संपन्ना इत्येवोच्येत। अत एकजीववादे एतच्छ्रुतिविरोधो दुर्वार एव। 'त इह व्याघ्रो वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति' इत्युत्तरमन्त्रे सुषुप्तेः पूर्वं प्रबोधे ये ये स्वज्ञाता अन्यज्ञाता वा व्याघ्रादयोऽभवन् सुषुप्त्युत्तरं ते ते भवन्तीत्यर्थेन मरणोत्तरजन्मकालेऽनुभवपथमनारूढेन योऽयं व्याघ्रः पूर्वं इदानीमपि स एवेति प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन सुषुप्तौ देहादेर्लयस्य दृष्टिसृष्टेश्चासंभवो बोध्यते। अत्र 'यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति' इति सामान्यनिर्देशस्य

भावप्रकाशः

तच्छब्दे वीप्साविरहस्य च पर्यालोचनायां बहुपुरुषप्रत्यभिज्ञाविषय एक एवेति विवक्षितमिति प्रतीयते । सुषुप्तिकाले तद्देहद्रष्टॄणां पार्श्वस्थानां प्रत्यभिज्ञाविषयः तत्प्रत्यभिज्ञाविषयश्चैक एव । सुषुप्तिकाले तद्देहोच्छ्वासादिदर्शनस्य भ्रमत्वकल्पनस्यायुक्ततया देहादेः स्वकारणे लयकल्पनासंभवात् । योऽयं त्वया ज्ञातस्स एव मया ज्ञात इति प्रत्यभिज्ञाविरोधेन दृष्टिभेदेन सृष्टिभेदकल्पनस्यानुचितत्वात् प्रतिभासकालातिरिक्तकाले अर्थसत्त्वानभ्युपगमे सुप्तेन सुषुप्तिकाले अज्ञातस्यासत्त्वेन पार्श्वस्थेन सुषुप्तिकालेऽपि ज्ञातेनैक्यासंभवात् ॥

एवं च 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' 'अतः प्रबोधोऽस्मात्' 'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः' इति सूत्रत्रयं दृष्टिसृष्टिपक्षं विघटयतीति सिद्धम् । 'पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवः' (कै. १४) इति श्रुतिर्जीवैक्यं न साधयितुमलमिति पूर्वमेवोक्तम् । किञ्च तस्यामेवोपनिषदि उपक्रमे 'यथा चिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुशयं याति विद्वान्' (१-२) इत्याश्वलायनप्रश्नस्य प्रतिवचने 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः । वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः, परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे' इत्यत्र बहूनां मुक्तत्वं प्रतिपादितम् । वेदान्तदीपे; (३-१५) परामृतात् — परस्माद्ब्रह्मणः उपासनप्रीताद्धेतोः परिमुच्यन्ति सर्वे इति श्रुतिखण्डो विवृतः । एतेन सुनिश्चितार्थत्वं मनोऽवच्छिन्नस्यैव । परममुक्तिरपि शुद्धाभेदविवक्षया तस्यैव (ल. चं. ५४०) इत्येकजीववादे श्रुतियोजनं बलादाकर्षणमेव । 'परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' इति (३-२-६ मुं) श्रुत्यन्तरानुसारिपाठकल्पनेऽपि अन्तःकरणावच्छिन्नस्यामृतत्वं न संभवति । अतः श्रुतिस्वारस्यं जीवबहुत्वपक्ष एव । 'वासांसि जीर्णानि' इत्यादिगीतावचनमपि 'न त्वेवाहं+सर्वे वयमतः परम्' इत्युपक्रमोक्तबहुजीवनित्यत्वविरुद्धं जीवैकत्वं न प्रतिपादयितुमलम् ॥

तत्त्वमुक्ताकलापः

देहत्वाद्यैर्विगीतं निखिलमपि मया ह्यात्मवत्किञ्च पुंस्त्वात् सर्वे जीवा अहंस्युर्न यदि

सर्वार्थसिद्धिः

'आकाशमेकं हि यथा' 'एक एव हि भूतात्मा' इत्यादि निदर्शनमपि तत्तत्संसर्गशङ्कितवृद्धिह्रासादिनिषेधार्थम् । 'घटध्वंसे घटाकाशो न भिन्नो नभसा यथा' इत्यादिकं औपाधिकवैषम्यनिवृत्तावत्यन्तसाम्यं व्यनक्ति । न हि घटध्वंसे घटाव[1]च्छिन्न आकाशांशोऽशान्तरेणैकीभवति ! आकाशसत्तामात्रं तु घटस्थितावपि सिद्धमित्येषा दिक् । **तदिह** प्रतिसंधानादिप्रसङ्गे शास्त्रतात्पर्ये च वक्तव्यशेषा[2]भावात्तदुक्तमनुमानादिकमनूद्य दूषयति ;—**देहत्वाद्यैरिति** । निखिलम्—सर्वज्ञदेहप्रभृति पिपीलिकादेहपर्यन्तम् । **सर्वे जीवाः** । ब्रह्मादिस्थावरान्ताः । **न यदी**त्यादिना विपक्षे बाधकोक्तिः । असारत्वे हेतुमाह ;—

आनन्ददायिनी

स्वोक्तार्थे युक्तिमाह ;—**न हीति** । ननु विशिष्टस्य भिन्नत्वेऽपि स्वरूपस्यैक्यं यथा वर्तते तथाऽत्रापीति वचनार्थः ; नचैवमुपाधिध्वंसानन्तर्योक्तिर्व्यर्था प्रागपि तत्सत्त्वादिति वाच्यम्, तत्सत्त्वेऽपि तदनन्तरं तत्प्रतीतिर्भवतीत्यर्थतया सार्थक्यादिति चेत् ; तत्राह ;—**दिगिति** । अभिन्नशब्दस्य बुद्ध्यर्थत्वाभावाल्लक्षणया तत्परत्वे अत्यन्तसादृश्यवत्परस्य भेदवाक्यानुसारेण युक्तत्वात् ; अन्यथा भेदाभेदवाक्यमात्रस्य मुख्यार्थपरित्यागगौरवापत्तेरिति भावः । ननु तैश्श्रुतेरपि स्वमतप्रमाणतयोपन्यासात् तद्दूषणं विहायानुमानमात्रदूषणमयुक्तमित्यत्राह ;—**तदिहेति** । देवदत्तशरीरपक्षीकारे विष्णुमित्रशरीरे संदिग्धव्यभिचार इत्यत्राह ;—**निखिलमिति** । पक्षबहिर्भाव एव संदिग्धव्यभिचार

[1] च्छिन्नाकाश—क. [2] भावादुक्त—घ.

तत्वमुक्ताकलापः

भवति ते गौरवादीत्यसारम् । श्रुत्यध्यक्षादिबाधात् प्रसजति च [1]तदा तत्तदैक्यं घटादेः

सर्वार्थसिद्धिः

श्रुतीति । [2]सर्वैर्हि प्रमाणैः जीवानां मिथस्तादात्म्यप्रसङ्गः प्रतिक्षिप्तः । उक्तानुमानवर्गस्याभाससमानत्वमाह :—प्रसजतीति । देशान्तराणि एतद्घटेन घटवन्ति देशत्वात् एतद्देशवत् । अन्ये[3]ऽपि घटा एतद्घटात्मानः घटत्वात् एतद्घटवत् इत्यादौ किं वाच्यम्? [4]अध्यक्षादिविरोध इति चेत्; समम् । अविद्यया आत्मनि भेदधीः ऐक्यं तु स्वभाव-

आनन्ददायिनी

इति भावः । **सर्वैरिति;**—नाहं देवदत्त इति प्रत्यक्षेण अहं[5] न देवदत्तः तदीयसुखादिप्रतिसंधानाभावात् इत्यनुमानेन नित्यो नित्यानामित्यादिश्रुत्या स्वर्गनरकादिप्रतिपादकश्रुत्यर्थापत्त्यादिभिश्च बाधितत्वादित्यर्थः । **अध्यक्षादिविरोध इति;**—बाधिता[6]न्यनुमानानि न साधकानीत्यर्थः । **सममिति;**—नाहं देवदत्त इति प्रत्यक्षबाधस्समान इत्यर्थः । अन्यथासिद्ध[7]त्वाद्भेदज्ञानं न बाधकमित्याशङ्कते :— **अविद्ययेति ।** [8]बाधकाभावेऽपि भ्रमत्वे अतिप्रसङ्ग इत्याह ;—

[1] तथा—**क.** [2] सर्वैः प्र-**क.** [3] न्येघटा—**क.** [4] प्रत्यक्षादि—**ङ.** [5] अहं देवदत्तो न भवामि तदीयसुखादि प्रतिसंधानकालीनसुखवत्तया संशयविषयत्वादि—**ग.** [6] न्यनुमानानीत्यर्थः—**ग.** [7] द्धत्वान्नवा—**ख.** [8] बाधकाभावादपि भ्रमत्वेऽपि विशेषाभावाद्घटादिभेदोऽपि न स्यादित्याह—**ग.**

तत्वमुक्ताकलापः

पक्षादेर्वादिनोश्चेत्यलमिह कलहैस्तज्जिगीषादि-मूलैः ॥ १२ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

स्स्यादिति चेत्; घटादावपि तथाऽस्तु । नचायमिष्टप्रसङ्गः! [1]विवर्तद्वयस्य तादात्म्यानभ्युपगमात् । अन्यथा व्यावहारिकव्यवस्था-[2]विलोपात् । प्रयुक्तानुमानावयवेष्वपि वाक्यत्वादिना तादात्म्यसंभवेऽन्यतमपरिशेषस्स्यादित्यभिप्रायेण **पक्षादेरित्युक्तम्** । **वादिनोरिति** । अत्रेष्टप्रसङ्गत्वसंभवेऽपि विवादोच्छेदादौ तात्पर्यान्न वैयर्थ्यम् । तद्विवृणोति ;—इत्यलमिति ॥ १२ ॥

इति सर्वशरीरैकजीववादनिरासः ॥

आनन्ददायिनी

घटादावपीति । **विवर्तद्वयस्येति** ;—एकस्मिन् विवर्ते तदवच्छिन्ने वा धर्मातिरिक्तस्याध्यासाभावादिति भावः । **अन्यथेति** ;—लोकव्यवस्थानिर्वाहस्य सर्वैः कार्यत्वादित्यर्थः । बाधकान्तरमप्याह ;—**प्रयुक्तेति** । न्यूनतादिदोषप्रसङ्ग इति भावः । पक्षादिशब्दः प्रतिज्ञादिपरः । **इष्टप्रसङ्ग इति** ;—सर्वात्माभेदवादिनामैक्यस्येष्टापत्तेरित्यर्थः ॥ १२ ॥

इति सर्वशरीरैकजीववादनिरासः.

भावप्रकाशः

किञ्चात्र जीवस्य जीर्णशरीरत्यागोत्तरं नवशरीरप्राप्तिः प्रतिपाद्यते, न तु (दृष्टिसृष्टि) एकजीववादस्थापकः एककाले सर्वशरीरेषु संबन्ध एक.

---

[1] विवर्ताचिद्वयस्य–ख. [2] विलापप्रसङ्गात्–ख. च.

तत्वमुक्ताकलापः

साविद्यं ब्रह्म जीवः

सर्वार्थसिद्धिः

* अथैकशरीरैकजीववादमनुभाषते ;—साविद्यमिति । साविद्यं ब्रह्म

आनन्ददायिनी

पूर्वसंगत्या आह ;—अथेति । पूर्वत्रैकजीववादस्य निराकृतत्वात्

भावप्रकाशः

जीवस्य इति तच्छ्लोकमात्रपर्यालोचनायामपि नैकजीववादस्सिध्यति ।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।

इत्यत्रैकवचनं जात्यैक्यपरमिति (१४ श्लोके) वक्ष्यते । अत्र पूर्वं 'जीवैक्यवादास्साजात्यात्स्युः' इत्यनेन तदपि कक्षीकृतम्—

'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते' ।

इति गौडपादवाक्ये एकत्वविवक्षापक्षो मधुसूदनसरस्वत्युक्तः 'स्वर्गकाम इतिवत् सुबेकवचनमविवक्षितम्, ग्रहैकत्वाधिकरणादौ तथा प्रतिपादनात् अत एव 'पुंस्त्वस्याविवक्षयास्त्रिया अधिकारष्षष्ठ उक्तः' (ल. चं. ५४०) इति' ब्रह्मानन्दयतिभिर्दूषितः । अत एव (पं. पा.) 'अनादिसिद्धाविद्यावच्छिन्नानन्तजीवनिर्भासास्पदमेकरसं ब्रह्म' इत्युपक्रम्य 'अनादिमायया सुप्तः' इत्यादिवाक्यमुदाहृतं पद्मपादाचार्यैः । 'आकाशमेकं हि यथा' इत्यादिवचनत्रयस्यार्थो नायकसरेऽपि (३२ श्लो) निरूपयिष्यत इति दिक् ॥ १२ ॥

इति जीवपरीक्षायां सर्वशरीरैकजीववादनिरासः ॥

आरम्भणाधिकरणश्रीभाष्योपन्यस्तं एकजीववादं दूषयित्वा वेदार्थसंग्रहोपन्यस्तमपि तं दूषयितुमनुवदति ; * अथेत्यादिना । सिद्धान्तलेशसंग्रहेऽपि (१०५) अयं पक्षः प्रदर्शितः ॥

तत्वमुक्ताकलापः

स च न बहुतनुः नेतरे सन्ति जीवाः स्वप्नादेकस्य लोके बहुविधपुरुषाध्यासवद्विश्वक्लृप्तिः । नेतः-प्राक्केऽपि मुक्ताः न परमपि स तु प्राप्स्यति श्रेय

सर्वार्थसिद्धिः

जीव इति पूर्वस्यास्य च साधारणम् । **स चेत्यादि**[1] विशेषोक्तिः । वक्ष्यमाणपक्षाद्वैषम्यं[2] व्यनक्ति ;—**नेतरे इति** । विचित्रजीवोपलम्भं निर्वहति ;—स्वप्नादिति । एकमेव शरीरं जीववत्, स्वप्नदृष्टशरीरन्यायाद[3]न्यानि निर्जीवानीत्यर्थः । शुको मुक्त इत्यादिवैयर्थ्यं परिहरति ;—**नेतः प्रागिति** । पूर्वं मुक्ता न सन्ति चेत् पश्चादप्यद्वैतविदो न मुच्येरन्नित्यत्रेष्टप्र[4]सङ्गतामाह—**न परमपीति** । तर्हि मोक्षशास्त्रं व्यर्थं स्यादित्यत्राह ;—**स इति** । नित्यमुक्तस्यैकशरीरे बन्धमोक्षभ्रमं साध-

आनन्ददायिनी

पुनस्तन्निराकरणं पुनरुक्तमित्याशङ्क्याह ;—**स चेत्यादीति** । एकजीववादत्वाविशेषेऽपि एकशरीरैकजीववादत्वाद्भेद इति भावः । **वक्ष्यमाणेति** ; तोयाधारेष्वित्यादिनेति शेषः । ननु शरीरस्य कथं निर्जीवत्वमित्यत आह ;—**स्वप्नेति** । नन्वेकस्मिन्नेव शरीरे एक एव जीवश्चेत् [5]बद्धमुक्तादिव्यवस्था कथमित्यत्राह ;—**शुको मुक्त इत्यादीति** । **स इतीति** ;—एकं प्रत्येव शास्त्रं सफलमिति भावः । नित्यमुक्तस्येत्यादिः ; स्वभावतो बन्धो मोक्षश्च न स्त एव । न चैवं शास्त्रवैफल्यम् । एत-

---

[1] त्यादिना–क [2] म्यं वक्ति–क. [3] दितराणि–क. [4] प्रसङ्गमाह–क.
[5] सिद्धमुक्तादि–ग.

तत्त्वमुक्ताकलापः

एकः मायोत्थौ बन्धमोक्षौ इति च मतमसत्

सर्वार्थसिद्धिः

यति ;—**मायोत्थाविति** । उक्तं प्रागुक्तहेतुना दूषयति ;—**इति चेति**। आत्मभेदो हि सर्वप्रमाणैस्सिद्धः । तत्र यदि देहान्तरं निर्जीवं एकमपि तथैव ; भ्रान्तिसिद्धजीवत्वस्याविशेषात् ।

आनन्ददायिनी

ज्ञानार्थत्वेनैव साफल्यं मोक्षशास्त्रत्वं चेत्यर्थः । * **प्रागुक्तेति** ;—प्रतिसंधानादिव्यवस्था न स्यादित्यादिनेत्यर्थः । **आत्मभेद इति** ;—यदि नाहं देवदत्त इत्यादिप्रतीतेः [1] देहान्तरभेदविषयत्वं तदा आत्मसिद्धिरपि न स्यात् । सर्वव्यवहारस्य देहादेवोपपत्तेः । [2] पारलौकिकप्रवृत्त्याद्यनुपपत्तिस्तु भवन्मतेऽपि समाना। देहान्तराणां निर्जीवत्वादिति भावः । ननु देहादन्यस्याध्यस्तजीवस्य सत्त्वात् अध्यस्तजीवभेदमादायापि अहं देवदत्तो न तदनुभवजन्यस्मृत्यनाधारत्वात् [3] इत्यादेः पर्यवसन्नत्वात् न स्वाभाविकभेद[4]सिद्धिरित्यत्राह ;—**तत्र यदीति**। यदि देहान्तरे स्वाप्न[5]शरीर इव अध्यस्तजीवमादायान्यथासिद्धिः तर्हि परमार्थतो जीवः [6] क्वापि [7] न स्यात् । **अविशेषात्** ;—व्यवहारादेरन्यथोपपत्तेरिति भावः ।

भावप्रकाशः

* प्रागुक्तहेतुनेति ;—'बोद्धा कर्ता भोक्ता दृढमवगमितः प्रत्यगर्थः प्रमाणैः' 'भिन्ना जीवाः स्वतस्स्युः' नित्यान् भिन्नांश्च

---

[1] तत्तद्देहान्तर—क. ख. [2] पारलौकिकापारलौकिक—ग. [3] इत्यनयोः—ग. [4] सा-धनमि—ख. [5] शरीरमिवा—ग. [6] क्वापि शरीरे—क. ख. [7] न स्यात् व्यवहारादेः—ग.

तत्त्वमुक्ताकलापः

*सर्वमानोपरोधात् ॥ १३ ॥

भावप्रकाशः

जीवान् कथयति निगमः' इत्यत्रोक्तहेतुनेत्यर्थः । मूले * सर्वमानोपरोधादिति; – सृष्टिदृष्टिवादे प्रपञ्चे अज्ञातसत्तायाः प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकप्रमाणत्वस्याभ्युपगमेन अधिकसत्तावत्त्वेन आपेक्षिकप्रमाणत्वेन वा प्रमाणाप्रमाणबाधकबाध्यविभागस्य कथंचित्संभवेऽपि एकजीववादे दृष्टिसृष्टिपक्षस्यैवाभ्युपगमेन तत्पक्षे अज्ञातसत्त्वस्यानभ्युपगमेन दृश्यसामान्यस्य प्रातीतिकत्वस्य ज्ञानकाल एव प्रपञ्चसत्त्वस्य प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकप्रमाणत्वाभावस्य चाङ्गीकारेण प्रमाणाप्रमाणबाधकबाध्यविभागो न स्यात् । उक्तं च भट्टपादैः (श्लो. वा.) निरालम्बनवादे;—

प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रज्ज्ञाने मृषा भवेत् ।
स्वप्नादिबुद्धिरस्माकं तव भेदोऽपि किंकृतः ॥ ८८
न चान्यत्प्रतियोग्यस्ति जाग्रज्ज्ञानस्य शोभनम् ।
यद्दर्शनेन मिथ्यात्वं स्तम्भादिप्रत्ययो व्रजेत् ॥ ८९
स्वप्नादिप्रतियोगित्वं सर्वलोकप्रसिद्धितः ।
तदीयधर्मवैधर्म्यात् बाधकप्रत्ययो यथा ॥ ९०

इति ।

तस्माद्यन्नास्ति नास्त्येव यत्त्वस्ति परमार्थतः ।
तत्सत्यमन्यन्मिथ्येति न सत्यद्वयकल्पना ॥ १०
स्वप्नादिभोगवच्चापि योपभोगत्वकल्पना ।
तन्निवृत्त्यर्थमेवेह परमार्थे प्रयत्यते ॥ ११
न हि स्वप्नसुखाद्यर्थं धर्मे कश्चित्प्रवर्तते ।
यादृच्छिकत्वात्स्वप्नस्य तूष्णीमासीत पण्डितैः ॥ १२ ॥ इति ॥

सर्वार्थसिद्धिः

एकत्रात्मास्ति जीवत्वं[1] तु नास्ति[2] अत्र तूभयं[3] नेति चेन्न; तेष्वप्यध्यासाधिष्ठानतया आत्मसत्त्वस्य त्वया दुस्त्यजत्वात्। अन्यथा निरधिष्ठानभ्रम[4]प्रसङ्गात्।

आनन्ददायिनी

नन्वेकस्मिन् शरीरे आत्मा वर्तते तस्मिन् जीवत्वमात्रं कल्पितं अन्यत्रोभयं कल्पितं इति वैषम्यं शङ्कते ;—**एकत्रेति**। आत्मनोऽधिष्ठानतया सतो न क्वापि कल्पनेति परिहरति ;—**नेति**। **अन्यथेति ;**— आत्मनोऽपि कल्प्यत्व इत्यर्थः ॥

भावप्रकाशः

सर्वथा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्तते ।
अधिकारोऽनुपायत्वान्न वादे शून्यवादिनः ॥ १२९ ॥

इति। **एवमन्यत्रापि** (श्लो. वा.) (सं. आ. प. ८४, ८५, ८६) एकात्मवाददूषणं बोध्यम्। अत्र 'प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रज्ज्ञाने' इत्यत्र जाग्रज्ज्ञानेनैव स्वप्नबाधः न तु स्वाप्निकेनोत्तरेण पूर्वस्य स्वाप्निकस्योत्तरस्यापि जाग्रज्ज्ञानेन बाधितत्वेन बाधितस्य बाधकत्वासंभवात् (ल. चं. ३९४) बाध्यज्ञानस्याप्रमात्वं बाधकज्ञानस्य प्रमात्वं च प्रसिद्धम्। तच्च स्वप्नजाग्रत्प्रपञ्चयोरविशेषे न घटते इति स्वप्नतुल्यता जाग्रत्प्रपञ्चस्य न युक्तेति प्रतिपादनेन स्वप्नवत् जाग्रत्प्रपञ्चस्य प्रातिभासिकत्वमपि प्रतिक्षिप्तम् न चासंसृष्टेन साक्षिणा अबाधितेन जन्य-

---

[1] त्वं नास्ति—क. [2] अन्यत्र तू—क. ख. ग. [3] नास्तीति—क. [4] प्रसक्तः—क. ग.

भावप्रकाशः

ज्ञानसामान्यस्यापि बाधः (ल. चं. ३९४) संभवतीति वाच्यम्, असंसृष्टस्य सार्वदिकत्वेन कादाचित्कबाधहेतुत्वानुपपत्तेः। संसृष्टस्य मिथ्यात्वेन बाधितत्वावश्यंभावात्। अतोऽधिकसत्ताकत्वेन आपेक्षिकप्रमाणत्वेन वा बाधकत्वमभ्युपेत्य जाग्रज्ज्ञानस्य स्वप्नबाधकत्वं कथंचिदुपपादनीयम् अत एव नेदं रजतमित्यादेर्बाधकत्वमुपपद्यते दृष्टिसृष्टिपक्षे शुक्तिरूप्यबाधोऽपि मीथ्येति बाध्यान्यूनविषयकत्वेन बाधकत्वाभ्युपगमेऽपि स्वाप्निकोत्तरार्थज्ञानस्य पूर्वमिथ्यात्वव्यवहारहेतुत्वमेव न तूच्छेदकत्वम्। (ल. चं. ३५४) अत उच्छेद्योच्छेदकरूपबाध्यबाधकभावो न घटते। इष्टापत्तौ च शुक्तिरूप्यवद्ब्रह्मज्ञानेन प्रपञ्चबाधोपपादनं न संभवति। सिद्धान्ते च स्वाप्निकानां केषांचिज्जाग्रत्कालेऽप्यबाधानुभवाभ्यां स्वप्नजाग्रत्प्रपञ्चयोरत्यल्पकालिकत्वचिरकालस्थायित्वाभ्यां विशेषो व्यवस्थापितः। एवं च स्वप्नसुखतुल्यता वैदिकेश्वरप्रसादाधीनधर्मसुखस्यापीत्यभ्युपगमादपि दृष्टिसृष्टिपक्षोऽप्रामाणिक एव। अत एव आरम्भणाधिकरणसंध्याधिकरण (शं) भाष्ये प्रातिभासिकत्वव्यावहारिकत्वाभ्यां स्वप्नजाग्रत्प्रपञ्चयोर्विशेष उक्तः॥

एवं संक्षेपशारीरकेऽपि (२ अ. ३३, ९५, ९८ श्लो)। अतः प्रमाणानां व्यावहारिकमानत्वाभ्युपगमेन सृष्टिदृष्टिपक्षः बहुजीववादाख्य आदरणीयः परैः। अत एव अप्पयदीक्षितैः एकजीववाददृष्टिसृष्टिपक्षयोर्दुष्टत्वादेव तन्निरूपणान्तरं (सि. ले. सं. १०८–३०९) नानाजीववादसृष्टिदृष्टिवादौ निरूपितौ। दृष्टिसृष्टिपक्षे वेदान्तवाक्यस्यापि स्वप्नवाक्यतुल्यत्वनिश्चयेन तत्त्वमसीति वाक्यजन्यज्ञानस्यापि दोषप्रयुक्तत्वेन तन्निश्चयस्याप्यवर्जनीयतया अबाधितत्वनिश्चयासंभवेन बाधकत्वं न घटत इत्यपि बोध्यम्॥

सर्वार्थसिद्धिः

स्वप्ननीत्या * लाघवमिच्छ † तस्तदेव लभ्यम् । स्वाप्नस्य तद्द्रष्टुश्च सत्यत्वात् । इह तु तन्मिथ्यात्वस्य त्वयैवोक्तत्वात् ॥ १३ ॥

आनन्ददायिनी

तदेव लभ्यमिति;—एवं प्रलपतो[1]ह्यज्ञत्वं लभ्यमित्यर्थः । ननु निरधिष्ठानभ्रमो[2]ऽप्यस्तु स्वाप्नवदित्याशङ्क्य तत्राह;—**स्वाप्नस्येति** । ज्ञान [3]द्रष्टरीव स्वाप्नाध्यासस्तत्र तदुभयं सत्यमेव । न चात्रापि तथा वक्तुं शक्यमिति भावः ॥ १३ ॥

भावप्रकाशः

* लाघवमिति ;—अज्ञायमानतादशायां घटादावनन्तसंयोगादिकं इन्द्रियक्रियासंयोगादिकं तस्य प्रत्यक्षहेतुत्वादिकं प्रातीतिकव्यावहारिकयोर्मिथो व्यावृत्तरूपेणान्यत्र हेतुत्वादिकं न कल्प्यते. ज्ञानहेतुत्वस्थले विषयस्यैव हेतुत्वं जन्यज्ञानाकल्पनं चेति लाघवं (ल. चं. ५३७)बोध्यम् ॥

† तदेव लभ्यमिति ;—एवकारेण स्वाप्निकसुखविलक्षणे सगुणनिर्गुणविद्याद्वयमूलसुखे अपि व्यवच्छिद्येते ॥

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥

इत्युक्तानादिव्यतिरिक्तविषये दृष्टिसृष्टयभ्युपगमपक्षस्य (अ-सि-५३४) गौरवपराहतत्वात् अत एव वस्तुत ईशस्येव जीवेशभेदादेरपि स्थूलमनःपरिणामत्वमेव सुषुप्त्यन्यकाल एव तस्य दृष्टेः अज्ञानसत्त्वेन च न सुषुप्तिप्रलययोर्मुक्तिरिति ध्येयम् (ल. चं ५३४) इत्यनेन ईशजीवतद्भेदादौ दृष्टिसृष्टिसिद्धान्तकरणं सङ्गच्छते । अनादिव्यतिरिक्तविषय एव दृष्टिसृष्टिरित्यभ्युपगमे अनादेर्मिथ्यात्वं दृश्यत्वेन

---

1 तोऽज्ञत्वं—ग. 2 भ्रमाङ्गीकारोऽप्यस्तु—क. ख. 3 द्रष्टेरिव—क. ख.

तत्वमुक्ताकलापः

स्वस्य स्वेनोपदेशो न भवति न पर[1]ब्रह्मणा

सर्वार्थसिद्धिः

एकस्य जीवस्योपदेष्टृत्वासंभवाद*निर्मोक्षप्रसङ्गमाह ;—**स्वस्येति**।

आनन्ददायिनी

एकशरीरवादे दोषान्तरमाह ;— **एकस्येति** ;— अशरीरं परं

भावप्रकाशः

तद्भिन्नस्य तु दृष्टिसृष्ट्या इति कल्पनागौरवमपि बोध्यम् । लाघवानादरे च अनादिव्यतिरिक्तविषयेऽपि दृष्टिसृष्टिपक्षासिद्धिप्रसङ्गात् । इष्टापत्तौ च (पं पा ३२९) 'स च सुषुप्ते समुत्खातनिखिलपरिणामायामविद्यायां कुतस्त्यः' ? इत्येतद्विवरणे 'स्वप्नादिवत् दृष्टिसृष्टिमाश्रित्य सुषुप्तपुरुषदृष्ट्यभिप्रायेति सर्वस्य लयो दर्शितः । सुषुप्तप्राणशरीरादिदर्शनस्य पुरुषान्तरस्य विभ्रमत्वादिति इत्यत्र सुषुप्तावहमर्थलयसाधनार्थं सर्वलयसाधनप्रयासवैफल्यम् । एवं च दृष्टिसृष्टिपक्षे सुषुप्तौ जीवप्राणशरीरादिमात्रस्य न नाशः किंतु ईशस्यापि। अत ईशजीवतद्भेदादेस्सुषुप्तावेवाभावे का कथा सगुणविद्याफलस्य चिरकालस्थायिनः लाघवेन अधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि माध्यमिकाद्युक्तदिशा परमते उपपत्तिसंभवस्य निर्धारयिष्यमाणतया वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानफलस्य स्वप्नदृष्टगुरूपदिष्टवाक्यजन्यज्ञानान्तरफलतुल्यतया च नित्यनिर्गुणविद्याफलस्याप्यसंभवः । लभ्यमित्यनेन परमार्थतो लब्धुर्जीवस्याभावे 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिश्रुत्युक्तलाभो न घटत इति सूच्यते ॥ १३ ॥

* अनिर्मोक्षप्रसङ्गमिति ;—'तद्धास्य विजज्ञौ' 'तमसः पारं दर्शयति' 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादिभिरुपदेशाधीनज्ञानस्यैव मोक्षहेतुतायाः परसंमतत्वात् , एकजीववादे शुकादेर्मुक्तत्वानङ्गीकारेऽपि सर्वोपाध्यपगमरूपा (८१८-अ सि) मुक्तिरपि न संभवतीति भावः ।

[1] ब्राह्मणो—घ.

तत्वमुक्ताकलापः

निष्कलत्वात् नाविद्या चेतयित्री स्वतनुसमधिकं वर्ष्म निर्जीवमात्थ ।

सर्वार्थसिद्धिः

अत्र स्वात्मैव वा स्वस्योपदेष्टा? अशरीरं [1]वा परं ब्रह्म? विश्वाध्या-

आनन्ददायिनी

ब्रह्म—शुद्धं ब्रह्मेत्यर्थः । विश्वाध्यासहेतुरविद्येति ;—विश्वाध्यास-कारणभूताज्ञानमित्यर्थः। तस्य तन्निवर्तनोपयुक्तत्वं विरुद्धमिति ध्वन्यते।

भावप्रकाशः

न निरोधो नचोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षा न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

इत्यस्याः श्रुतित्वेऽपि ;—

सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु वसत्यपि ।
सर्वानुग्राहकत्वेन . . . .
तदस्म्यहं वासुदेवस्तदस्म्यहं वासुदेवः ॥

इत्युपसंहारेण वासुदेवपरो(अ विं. ब्रं-विं)पनिषन्मध्यगा सा 'स्वरेण सन्धयेद्योगम्' इत्युपक्रमे तुरीयवासुदेवयोगसाधनत्वेनोक्तप्रणवार्थानां सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां निरोधाद्यभावपरा । तेन सात्त्वतादौ सङ्कर्षणादीनां गुरुशिष्यभावप्रदर्शनं उपदेशाधीनं ज्ञानमेव मुक्तिसाधनमिति लोकशिक्षणार्थं अभिनयमात्रमिति 'युक्तिः प्रश्नोत्तरादेः' (ना-स ७४) इति वक्ष्यमाणं सङ्गच्छते । अतो ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया मुच्यते (शं. भा.) इत्येतद्विरुद्धार्थकत्वाच्च 'न निरोध' इति श्रुतिः नैकजीववादपरेति बोध्यम् । 'अनादिमायया' इत्यादेः श्रुतित्वं उद्देश्य-

[1] वा ब्रह्म—क.

सर्वार्थसिद्धिः

सहेतुरविद्यैव वा? देहान्तरप्रतीतो जीवो वा? इति विकल्पं [1]मनसिकृत्य पूर्वार्धेन क्रमाद्दूषणम्। * ननु;—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।

इति वचनात् उपदेशनिर[2]पेक्ष एव कदाचिद्बोधोऽस्तु? मैवम्; नैरपेक्ष्यानुक्तेः। जीव इत्येक[3]त्वोक्त्या जीवान्तरासंभवा- न्नैरपेक्ष्यं [4]सिद्धमिति चेन्न; एकवचनस्य जात्यैक्यपरत्वात्।

आनन्ददायिनी

मनसिकृत्येति—अनत्याधान इति गतिसमासः। न च तस्मिन् निधायेत्यर्थः। **उपदेशनिरपेक्ष इति**;—ननु मोक्षसाधनीभूतोपदेशस्य उपदेशनैरपेक्ष्यमस्तु न तावता उपदेशानुपपत्तिरिति परिहार इति चेत्; मैवम्; स्वप्नोपदेशतुल्यत्वादिति भावः। अस्मिन् पक्षे शास्त्रवैफल्यमिति ध्येयम्। **नैरपेक्ष्येति**;—अनादिमायये[5]त्यनेन नैरपेक्ष्यानुक्तेरित्यर्थः। **जीवान्तरेति**;—स्वस्य स्वापेक्षयोपदेशायोगात् अन्यस्योपदेश्यस्योप-

भावप्रकाशः

विशेषणजीवैक्यस्यापि विवक्षितत्वं चाभ्युपेत्य शङ्कते;—* नन्वित्यादिना। अत एव मधुसूदनसरस्वतीभिरियं श्रुतिरेकजीववादे प्रमाणतयोदाहारि। वस्तुतस्तु नेयं श्रुतिः किंतु गौडपादकारिकैव। अत एव विलक्षणत्वाधि- धिकरणे शङ्कराचार्यैः 'अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिराचार्यैः;— अनादिमायया—तदा (गौ. का. १-१६) इत्युक्तम्। एवं ब्रह्मानन्द- सरस्वतीभिः (ल-चं ५४०) 'गौडपादीयवाक्ये उद्देश्यविशेषणमेकत्व- मविवक्षितमित्यकजीववादे प्रमाणताऽस्य प्रत्यक्षेऽपीति बोध्यम्'; श्रुतित्वेऽपि न क्षतिरित्यस्या जात्यैक्यपरत्वमुक्तमाचार्यैः॥ १४॥

इति जीवपरीक्षायां एकशरीरैकजीववादनिरासः॥

---

[1] मनुस्मृत्य—मु. [2] पेक्षमेव—क. [3] त्येकत्वोक्तेः—क. ख. घ. [4] सिध्यतीति—क. [5] त्वस्मिन्नेर—ग.

तत्वमुक्ताकलापः

काश्चित्तत्त्वं ब्रवीतीत्ययमुपनिपतद्भ्रान्तिरुन्मुच्यते चेत् तादृग्भ्रान्तिः पुराऽपि ह्यभवदिति न ते किं तदैवैष मुक्तः ॥ १४ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

नैरपेक्ष्येऽपि निस्तारं शङ्कते ;—**कश्चिदिति**। शुकादिषु मुक्तिहेतुतया पूर्वमपि तादृशभ्रमजनात् तदानीमेवास्य [1] मोक्षस्स्यादित्याह ;—तादृगिति। परस्मै ब्रवीतीति तदा भ्रान्तिरिति चेत् ; तथाऽप्यद्वैतं ब्रवीतीत्यवगते-रथतः स्वार्थोपदेशभ्रमफलसिद्धेः । तदेवं हेत्वनुपपत्त्या नित्यमनिर्मोक्षः ।

आनन्ददायिनी

देष्टुश्चाभावा[2]दित्यर्थः । ननु न कस्याप्युपदेशः अपि तु स्वत एव ज्ञानं [3]भवति। तत्रायमुपदिशति तस्मात् ज्ञानं जातमिति भ्रान्ति[4]मात्रम् । तस्मात्स्वतो ज्ञातज्ञानान्मुक्तिस्सेत्स्यतीत्याशङ्कत इत्याह ;—**नैरपेक्ष्येऽपीति** । तर्हि शुकादीनामपि स्वतो ज्ञानस्य हेतुनैरपेक्ष्यस्यादावेव संभवात् तत्रोपदेशजन्यत्वभ्रमसंभवाच्च आदावेव मुक्तिस्स्यादित्याह ;—**शुकादिष्विति** । स्वस्य यत् ज्ञानं तत्रोपदेशजन्यत्वभ्रमो न भवति येन स्वस्य तादृशज्ञानवत्तया पूर्वमेव मोक्षस्स्यात् । अपि तु परस्मै तत्त्वं ब्रवीतीति ; [5] तस्मात्तत्रोपदेशोऽपि वस्तुतो नेति नोक्त दोष इति शङ्कते ;—**परस्मै इति । स्वार्थोपदेश इति ;**—[6] अयममुमर्थं ब्रवीतीति ज्ञान-मेव [7] स्वार्थोपदेश[8]पर्यवसन्नमित्यर्थः । **हेत्वनुपपत्त्येति ;**—ननु स्वय-मेव स्वस्मा उपदिशति । न च ज्ञाने उपदेश्यत्वस्यानुपपत्तिः अज्ञाने

---

[1] दिति भावः—**ख**. [2] मोक्षप्रसङ्ग—**ङ**. **क**. [3] भवेत्—**ख**. [4] न्तिमात्रात् ततो ज्ञा—**ख**. न्तिमात्रज्ञा—**क**. [5] तीतिमत्त्वा स तत्रोपदेशोऽपि वस्तुतो नेति—**ग**. तीति तस्मात्तत्रोपदेशो नेति—**घ**. तीति वस्तुतस्तत्रोपदेशो नेति—**क**. [6] अयमर्थं—**ख**. [7] तदर्थगोचरस्वार्थो—**ख**. [8] शज्ञानप—**ख**.

आनन्ददायिनी

उपदेष्टृत्वस्येति वाच्यम्; ज्ञाने विद्यमानेऽप्यन्यशरीरावच्छेदे[1]न ज्ञानार्थमुपदेशसंभवात्। न चैकज्ञानादेव मोक्षसंभवे शरीरान्तरे[2] तज्ज्ञानं व्यर्थमिति वाच्यम्; ज्ञानस्य स्वावच्छेदकावच्छेदेनैवाज्ञाननिवर्तकत्वात्। अन्यावच्छेदेन ज्ञानाभावे अन्यशरीरावच्छेदे[3]नाज्ञाननिवृत्त्यनुपपत्तेः। न च सौभर्यादेरेकशरीरावच्छेदेन ज्ञा[4]नेऽपि शरीरान्तराव[5]च्छेदेनाप्यज्ञान[6]निवृत्तिर्दृष्टेति वाच्यम्; तस्यैकशरीरावच्छेदेन[7] ज्ञानोदयकाले योग[8]महिम्ना सर्वशरीरावच्छेदेनापि ज्ञानोदयात्। तस्मात् किञ्चिदवच्छेदेन ज्ञाने सत्यपि [9]तदन्यावच्छेदेन ज्ञानार्थमेवोपदेश इति चेत्; उच्यते; यद्येकावच्छेदेन ज्ञाने सत्यपि अपरावच्छेदेनाज्ञानं स्यात् तदा युज्यते; तदेव नोपपद्यते; एकशरीरैकजीववादे तदयोगात्। नाप्यनेकशरीरैकजीववादे संभवति। यद्गोचरं ज्ञानं तत्समानगोचरसमानाश्रयाज्ञानस्य निवृत्तिरित्यङ्गीकारात्। अखण्डगोचरज्ञानेन अखण्डगोचराज्ञानस्य निवृत्तौ कथं शरीरान्तरावच्छेदेनाज्ञानम्? अन्यथा कदाऽपि मुक्तिर्न स्यात् यावच्छरीरावच्छेदेन ज्ञानस्य कदाप्यसंभवात्। मुक्तिपूर्वकाले कदाचित्संभवतीति चेत्; न; हेत्वभावात् यावच्छरीरावच्छेदेनोपदेशासंभवात्। न च प्रतिकल्पमेकैकशरीरावच्छेदेनोपदेशे क्रमेण तावच्छरीरेऽपि ज्ञानं संभवतीति शक्यशङ्कम्[10]; ज्ञानानां यौगपद्यासंभवे संभूयाज्ञाननिवर्तकत्वायोगात्। न च संस्कारद्वारा निवर्तकत्वम्! संस्कारस्य कल्पान्तरीयस्याश्रयाभावेन स्थित्यसंभवात् निर्हेतुकमपि तावदवच्छेदेन ज्ञानं न संभवति! तावच्छरीराणां भूतभावित्वेन यौगपद्यासंभवात्। ननु वर्तमानयाव-

---

[1] देनतज्ज्ञाना—ख. [2] रावच्छेदेनत—ग. [3] देन निवर्तकत्वानु—क. ख.
[4] नेशरीरा—ख. [5] देनैवाप्यज्ञा—ख. वच्छेदेनाज्ञा—क. [6] निवर्तत इति—क.
[7] वच्छेदेनैवज्ञानो—ग. [8] प्रभावेनापर—घ. [9] तदन्य तज्ज्ञानार्थमेव—ग. तदन्यावच्छेदेना—ख. [10] ङ्कं तावज्ज्ञानानां—ग. ख.

सर्वार्थसिद्धिः

अहेतुकमोक्षे नित्यमुक्तौ च शास्त्रनैष्फल्यमिति तदभ्युपगमे सिद्धान्तत्यागात् कृतं वादेनेति ॥

इति जीवपरीक्षायां एकशरीरैकजीववादनिरासः ॥

आनन्ददायिनी

च्छरीरावच्छेदेन तज्ज्ञानं हेतुः तच्च निर्हेतुकमित्यपि न सारम् । ज्ञानस्य निर्हेतुकत्वे[1] पूर्वमेव संभवेन संसारात्यन्ताभावापत्तेः । किं च अहेतुकत्वे मोक्षस्यैवाहेतुकत्वं वक्तुमुचितम्[2] किं ज्ञानस्याहेतुकत्वोक्त्या ? अस्तु तथेति चेत्; तत्राह—**अहेतुकमोक्षे** इति । शिष्यो जीवस्त्वसिद्ध इत्यादिना वक्ष्यमाणेन पौनरुक्त्यशङ्कां तदवसरे परिहरिष्यामः । मूलं;—स्वस्य स्वेनोपदेशो नोपपद्यते ज्ञानाज्ञानाभ्यां विरोधात् परब्रह्मणापि स्वस्योपदेशो न भवति निष्कलत्वात्—ज्ञातृत्वादिरहितत्वात् । अविद्ययाऽपि[3] न; चेतयितृत्वाभावात् । स्वस्य तनोरधिकमतिरिक्तं वर्ष्म—शरार[4]—तनुस्वरूपमिति वा न उपदेष्टृनिर्जीव[5]त्वस्य त्वयोक्तेः । न नूपदेशो वस्तुतो नास्त्येव । अपि तु स्वतो ज्ञानवत्त्वेऽपि अयमुपदिशतीति भ्रान्तिमतोऽपि निर्विशेषज्ञाना[6]त्स मुच्यते इति चेत्; उच्यते[7];—तादृग्भ्रान्तिः—अयमस्मा उपादिशतीति । [8]तेन भ्रान्तिरूपज्ञानेन तव पक्षे पूर्वमेव स एको जीवः किमिति मुक्तो न भवेत्[9] । पूर्वमेव मुक्त्या संसारस्योच्छेदस्स्या[10]दिति भावः इति योज्यम्[11] ॥ १४ ॥

इति जीवपरीक्षायां एकशरीरैकजीववादनिरासः ॥

---

1 कत्वेऽपि—ख. 2 चितं; अस्तुतथे—क. ख. 3 पि न तदुपयुक्तचैतन्याभावात्—ख. 4 शरीरान्तरं वा—क. ख. 5 त्वाभिधानात्—ख. 6 नान्मुक्तिरिति—ख. 7 च्यते;—अयमस्मा—ख. 8 तादृग्भ्रान्त्या—ख. 9 वेत् तथाच पूर्व—ख. 10 दित्यर्थः—ख. 11 ननु शिष्यो जीवस्त्वसिद्ध इत्यादिना उपदेशाद्युपपत्तिदूषणस्य वक्ष्यमाणत्वात् तत्र तदेवदूषणं किमर्थमुच्यते इति न शङ्क्यम्; तदवसरे परिहरिष्यमाणत्वादिति—ग.

तत्वमुक्ताकलापः

तोयाधारेषु दोषाकर इव बहुधोपाधिषु ब्रह्म

सर्वार्थसिद्धिः

अथ * बहुजीवक्लृप्तिपक्षं शङ्कते ;—**तोयेति** । नित्यशुद्धस्य

आनन्ददायिनी

[1]आक्षेपसङ्गत्या बहुजीवपक्षमुपाक्षिपति ;—**अथेति** । **नित्यशुद्धस्येति** — शुद्धस्याविद्याश्रयत्वाभावेऽपि अविद्याविलासेषु प्रति-

भावप्रकाशः

अथ ब्रह्माज्ञानवादे मोक्षेऽनुपपत्तिं वदन् जीवानामेवाज्ञानमङ्गय-कार्षीत्(शं) प्राचीनो मण्डनमिश्रो ब्रह्मसिद्धौ—कस्येयमविद्येति ? जीवानामिति ब्रूमः । न जीवा ब्रह्मणो भिद्यन्ते ! सत्यम् ; परमार्थतः ; कल्पनया तु भिद्यन्ते । (१०) जीवा अपि ब्रह्मतत्वाव्यतिरेकाद्विशुद्धस्वभावाः ; तत्कथं तेष्वविद्यावकाशः ? वार्तमेतत् ; न तावद्बिम्बादवदातात् प्रतिबिम्बं कृपाणादि भिन्नम् ! अथ च तत्र श्यामतादिरशुद्धिरवकाशं लभते ; विभ्रमस्स इति चेत् ; समानमेतत् जीवानामप्यशुद्धिर्विभ्रमः । (११) अथ ब्रह्मैव संसरति ब्रह्मैव मुच्यते ; एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः । तस्मादविद्यया जीवास्संसारिणः विद्यया मुच्यन्ते । अव्यातिरेकेऽपि च ब्रह्मणो जीवानां बिम्बप्रतिबिम्बवद्विद्याविद्याव्यवस्था व्याख्याता इति । (१२) कल्पितविषयावेव संसारमोक्षौ इति च 'अभासद्वारा बिम्बस्य शुद्धस्य बन्धमोक्षौ' इति सुरेश्वराचार्याः । किञ्च येनोपाधिना यस्य चैतन्यस्य परिच्छिन्नत्वं तस्मिन् चैतन्ये तदुपाध्यपगम एव मुक्तिः (अ-सि. ८१८) इत्यभ्युपगमेन नानाजीववादे न कस्मिंश्चिन्मतेऽपि दोषः इति शङ्कायां नानाजीववादेषु सर्वेषु (जी. स. ४७) उपदेशानुपपत्तिं कथयिष्यन् बिम्बप्रतिबिम्बभावप्रकारं तत्संमतं दूषयितुं तान् पक्षान् संकलय्याह ;—

* बहुजीवक्लृप्तिपक्षमिति ; अस्मिंश्च पक्षे 'तद्योयो देवानां

[1] आक्षेपसंगत्याऽऽह;-अथेति-ग.

सर्वार्थसिद्धिः

ब्रह्मणो *न भ्रान्तिः ; यथा नित्यशुद्धेऽपि चन्द्रमसि †तत्प्रतिबिम्बेष्वाधार-भेदानुगुणा विशेषाः काल्पनिकाः एवमविद्या[1]विवर्तेषु पृथगभिव्यक्तं ब्रह्म [2] तत्तदनुगुणविचित्राविशेषवदिव भाति । ईदृशभेदक्लृप्तया मुक्तादि-

आनन्ददायिनी

बिम्बसम्भवात् प्रतिबिम्बेषु जीवेषु तरङ्गचन्द्रेष्विव तद्गता विशेषा-स्स्युरित्यर्थः । एवं च एकजीववादगता दोषा अत्र [4] न प्रभ-वन्तीत्याह—ईदृशेति । [5]अत्यन्तदुःस्स्थनिरयुक्तम् ; कथमित्यत्राह ;—

भावप्रकाशः

प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' इति श्रुतिः शुकमुक्तत्वप्रतिपादनपरं (४-२-१४)—

शुकस्तु मारुताच्छीघ्रं गतिं कृत्वान्तरिक्षगः ।
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतोऽभवत् ॥ (म-भा)

इति वचनं (शं) भाष्यस्थं बन्धमोक्षव्यवस्थादिकं समञ्जसं भवतीत्येकजीववादनिरूपणानन्तरं (सि. ले. सं. १०८) इतरे त्वित्यादिना अयं पक्ष उपन्यस्तः । * नभ्रान्तिरिति ;–अत्र नाविद्येत्यनभिधाय न भ्रान्तिरित्युक्तया ब्रह्माज्ञानपक्षेऽपि बहुजीववादोऽस्तीति व्यञ्जितम् । ब्रह्माज्ञानपक्षेऽपि उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन नित्यशुद्धे न भ्रान्त्या-पादनं संभवति । जीवाज्ञानपक्षे तु शुद्धे न दोषोपि । ब्रह्मसिद्धावित्थ-मेवोपपादितम् । † तत्प्रतिबिम्बेष्विति ;—उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपाति तया प्रतिबिम्बगता विशेषाः न बिम्बशुद्धिं निघ्नन्तीति भावः ॥

‡ अविद्याविवर्तेष्विति ;–एतेन 'स्वाविद्यया संसरति' इति (शं. बृ. भा) भाष्यं विवर्तद्वारकसंसरणपरमिति सूचितम् । विवर्ता अज्ञानानि

[1] विवर्तेष्वपृथ–ग. [2] तदनुगुण–ग. [3] पक्षे उक्तादोषा–ग. [4] नभव-न्ती–ग. [5] ननु जीवभेदाङ्गीकारात् बद्धमुक्तादिव्यवस्थोपपत्तेः कथमत्यन्तदुःस्थत्वमि-त्यत्राह.

भावप्रकाशः

अन्तःकरणानि च। अन्तःकरणशब्दं विहाय अविद्याविवर्तशब्दप्रयोगेण तत्र कर्मधारयस्याप्याश्रणेन नानाऽज्ञानानां जीवविभाजकत्वपक्षोऽपि (ब्र-सि.) सं. शा. २ अ १३३ श्लो) कक्षीकृतः। अत्र अविद्याप्रतिबिम्बितं चैतन्यं ईश्वरः। अन्तःकरणप्रतिबिम्बितं जीवः। अविद्याप्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बयोरभेदस्य यावदुपाधिसत्त्वं भानात् आत्माविवेकाच्चेतनः सर्वव्यवहारप्रयोजकज्ञानरूपस्साक्षीति (बृ) वार्तिककृतः ; सर्वप्राणिधीवासनोपरक्ताज्ञानप्रतिबिम्ब ईश्वरः । अन्तःकरणप्रतिबिम्बो व्यावहारिकजीवः स्वाप्निकदेहभिमानी प्रातिभासिकजीवः स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयावच्छिन्नः कूटस्थः पारमार्थिको जीवः स एव साक्षीति पञ्चदशीकृतः। अविद्याप्रतिबिम्ब ईश्वरः अन्तःकरणप्रतिबिम्बो जीवः बिम्बं साक्षीति संक्षेपशारीरककाराः। तन्मते साक्षिणि बिम्बभूते शुद्धचैतन्ये न दोषसंभवः। उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। ईशस्य प्रतिबिम्बितत्वेऽपि तत्र अविद्या पूर्णानन्दो नास्तीति व्यवहारं न जनयति सार्वज्ञ्यश्रुतेः। (सि. बि. टी. ११५) न चैतद्दोषपरिहाराय ईशस्याविद्याबिम्बत्वमेव जीवस्यैव प्रतिबिम्बत्वमिति पञ्चपादिकाविवरणकारमतमेव युक्तमिति वाच्यम्। तत्पक्षे बिम्बप्रतिबिम्बानुस्यूतचितः साक्षित्वं (सि. बि. १६९) तच्च न संभवति मुखप्रतिमुखयोः मुखत्वजातिरेवानुगता न तु व्यक्तिः तद्वदत्रापीति न दृष्टान्तानुसारेणानुस्यूतचिद्व्यक्तिस्सिध्यति । मुखप्रतिमुखयोः भेदापरामर्शमात्रेण अपरामृष्टभेदमुखस्वरूपं बिम्बमुखातिरिक्तं मुखं अङ्गीकरणीयमिति न निर्बन्धो युक्तः! न च बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनाधिष्ठानत्वेन तात्सिद्धिः! प्रतिबिम्बस्य स्वरूपतः सत्यत्वाभ्युपगन्तृ (सं. शा) (पं. पा. वि) मते प्रतिबिम्बत्वमेव कल्पितामिति शुद्धचित्येव प्रतिबिम्बत्वमात्रकल्पने दृष्टान्तसामञ्जस्यं संभवति न हि लोके कश्चित् मुखे बिम्बत्वं कल्पितमित्यभ्युपैति! येन भवदुक्तासिद्धिस्यात्! अत एव वार्तिककारैरपि शुद्धमेव

तत्वमुक्ताकलापः

शुद्धं छायापन्नं विशेषान् भजति तनुभृतस्तत्प्रतिच्छन्दभूताः । इत्यप्यत्यन्तदुस्स्थं

सर्वार्थसिद्धिः

समस्तव्यवस्थोपपत्तिः । इमं पक्षं दूषयति;—इत्यपीति । अयं भावः;—*यदि ते [1] बद्धमुक्तबन्धमोचकादिव्यवस्था भ्रान्ति-

आनन्ददायिनी

अयं भाव इति । बद्धमुक्तबन्धमोचकादिव्यवस्था[2] सिद्धा न वेति विकल्पे[3] द्वितीयस्यापसिद्धान्तनिरस्तत्वात् प्रथमं दूषयति—**यदि ते बद्धेति** । एकजीववादेऽपीदृशभ्रान्तिस्सुलभेति भावः ।

भावप्रकाशः

बिम्बमित्यभ्युपगतम् । इयान् विशेषः;—प्रतिबिम्बस्य धर्मिण एव मिथ्यात्वं वार्तिककारमते। इतरमते तु (सं. शा) प्रतिबिम्बत्वरूपधर्मस्यैव मिथ्यात्वमिति । एवं वार्तिककृन्मते इश्वरस्यैव साक्षित्वम् । अन्यमते (सं. शा.) (पं. द) तु शुद्धस्य साक्षित्वमिति प्रतिबिम्बेश्वरवादिनामाशयः ॥

बिम्बेश्वरवादिनां चायमाशयः;—दृष्टान्तानुसारेण बिम्बातिरिक्तस्य शुद्धस्य सिद्धयङ्गीकारेण उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन प्रतिबिम्बे मालिन्यादिदोषदर्शने पार्श्वस्थैर्बिम्बे तस्यादर्शनेन दृष्टान्तानुसारेण जीववैलक्षण्यमीश्वरस्यास्मन्मत एव संभवति। अत्र प्रतिबिम्बपक्षपातित्वं प्रतिबिम्बे अतिशयेन कार्यकरत्वम् (अ. सि. ५८०)। ईश्वरस्य प्रतिबिम्बत्वे तु न दृष्टान्तानुसारेण तत्संभवति। एवं तत्वमसीत्यादौ भागत्यागेन जीवेश्वरयोरैक्यं बिम्बत्वप्रतिबिम्बत्वत्यागेन मुखैक्यवत्सुवचम्। प्रतिबिम्बेश्वरपक्षे तु नानुरूप्यसंभव इति। ब्रह्मसिद्धौ मण्डनमिश्रेणोक्तो जीवाज्ञानवादः इष्टसिद्धौ (६. अ) विमुक्तात्मना दूषितः तथा आरम्भणाधिकरणश्रीभाष्येऽपीति तां सरणिमनुसृत्य दूषयति *यदि ते इत्यादिना ॥

---

[1] ते बन्धमोचकादि—**क.** बद्धादि—**ख.** बन्धकमोचकादि. [2] स्वभावसिद्धा-नवेति—**ग.** भ्रान्तिसिद्धास्वभावसिद्धावेति—**ख.** [3] त्वमभिप्रेत्य—**ख.**

तत्वमुक्ताकलापः

प्रसजति च तदा जीवनाशो[1]ऽपवर्गः

सर्वार्थसिद्धिः

सिद्धा सा तर्ह्येकजीववादेऽप्यविशिष्टेति किं बहुजीवबहुविद्याकल्पनेन? ब्रह्मणो जीवभावानुपपत्त्या पृथक् जीवाः कल्प्या इति चेन्न; मिथ्याभूतजीवत्वस्य विरोधाभावात्। अन्यथा अध्यासाधिष्ठानत्वस्य विरोध[2]प्रसङ्गात्। न च निरधिष्ठानं भ्रममिच्छसि! *'दुर्घटत्वमविद्यायाः [3]भूषणम्' इति च पश्यन् †ब्रह्माज्ञानं किं नानुमन्यसे इति। अस्मिन् पक्षे दूषणान्तरमाह;—**प्रसजतीति**। यथा प्रतिबिम्बाधारनिवृत्तौ तत्रो-

आनन्ददायिनी

ननु ब्रह्मणो नित्यशुद्धस्य[4] बन्धानुपपत्तेः ततः पृथग्भूता जीवाः कल्प्या इत्याशङ्कते;—ब्रह्मण इति। **अन्यथेति**;—अध्यस्तेनापि विरोधादित्यर्थः। नन्वध्यासाधिष्ठानत्वं[5] मास्त्वित्यत्राह;—**नचेति**। तथा सति माध्यमिकमतापात इति भावः। नन्वेकजीववादपक्षे ब्रह्मण एवाविद्या[6]श्रयतया जीवत्वात् निर्विशेषे नित्यशुद्धे अविद्याया[7] वृत्त्यनुपपत्तेरिति ततोऽतिरिक्ता जीवा अविद्याश्रयतयाऽङ्गीकार्या इत्यत्राह— **दुर्घटत्वमविद्याया** इति। **यथा प्रतिबिम्बाधारनिवृत्ताविति**;—

भावप्रकाशः

* दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्।
कथं चिद्घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत् ॥ १-१४० ॥

इति कारिका इष्टसिद्धिस्था—अत्र वदन्नित्यनभिधाय पश्यन्नित्युक्त्या नेयं कारिका मण्डनमिश्रीया अथाप्येतदर्थस्तत्सम्मत इति तन्मते इष्टसिद्धिकृदुक्तदूषणमपरिहार्यमिति बोधितम्—एतेन इष्टसिद्धिकृतो ब्रह्माज्ञानवादितया नैतद्ग्रन्थसंङ्गतिरिति शङ्का परस्ता † ब्रह्माज्ञानं किं नानुमन्यसे

---

1 पसर्ग—**क. ख.** 2 प्रसङ्गः न च—**घ.** 3 षणं न तु दूषणम्—**क.** 4 नित्यसिद्धस्य—**ग.** 5 ष्ठानत्वमस्त्विव—**ख.** 6 श्रयत्वाङ्गीकारान्निर्विशेषे—**ग.** 7 द्याया अनुपपत्तेरिति—**ग.**

सर्वार्थसिद्धिः

त्पन्नस्यानिर्वचनीयस्य प्रतिबिम्बस्य नाशः तथा तत्तदविद्यानिवृत्तौ * तेते

भावप्रकाशः

इति ;—एतच्च जीवाज्ञानवादिमण्डनमिश्रवाचस्पतिकटाक्षेण । वाचस्पतेरपि प्रतिबिम्बवादस्संमत इति परिमले प्रथमपक्षे प्रतिपादनात् । ब्रह्माज्ञानमित्युपलक्षणं ब्रह्माज्ञानपक्षे एकजीववादस्य । किं बहुजीव बह्वविद्याकल्पनेन इति पूर्वमुक्तेः—तेन नैतच्छ्लोके ब्रह्माज्ञानवादोऽभिप्रेत इति शङ्कानवकाशः । * तेते जीवा नश्येयुरिति ;—ब्रह्मसिद्धौ मण्डनमिश्रेण (१४) 'असत्यात्प्रतिबिम्बाच्चादृष्टस्य प्रतिबिम्बहेतोर्विशिष्टदेशावस्थस्यानुमानं न मृषा' इत्यत्र प्रतिबिम्बस्यासत्यत्वमुक्तम् । प्रतिबिम्बस्य स्वरूपेणासत्यतावादिभिर्वार्तिककारैश्च ;—

अयमेव हि नोऽनर्थो यत्संसार्यात्मदर्शनम् ।

इत्युक्तम् । तेन 'शुद्धचैतन्यस्याभास एव बन्धः तन्निवृत्तिश्च मोक्षः' इति (सि. बिं. ११३) मधुसूदनसरस्वतीभिर्निष्कर्षणेन जीवनाशोऽपवर्ग इत्यभ्युपगतमेव । अतश्च प्रतिबिम्बस्य स्वरूपेणासत्यतामते सत्यमिथ्यार्थयोर्बिम्बप्रतिबिम्बयोः स्वरूपैक्यासंभवेन स्वनाशार्थं मोक्षसाधने प्रवृत्त्यनुपपत्तिः (जी. सरे १७) वक्ष्यमाणा अपरिहार्यैव ॥

ननु सुरेश्वरसंमतप्रतिबिम्बपक्षपातिभिः विद्यारण्ययतिभिः (पञ्चदशी) चित्रदीपे 'जीव ईशो विशुद्धा चित्, इत्यादिप्राचीनोक्तिविरोधेन कूटस्थब्रह्मजीवेशभेदेन चिच्चातुर्विध्योक्तावपि ; दृग्दृश्यविवेके कूटस्थं जीवेऽन्तर्भाव्य पारमार्थिकव्यावहारिकप्रातिभासिकभेदेन जीवस्त्रिविधः तत्र स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयावच्छिन्नः कूटस्थः पारमार्थिको जीवः । तस्मिन्नवच्छेदकस्य कल्पितत्वेऽपि अवच्छेद्यस्य तस्याकल्पितत्वेन ब्रह्मणोऽभिन्नत्वमित्युक्तम् ॥

भावप्रकाशः

अद्वैतविद्याकृद्भिश्चैतन्मतं परिष्कृतम् । अस्यैवान्ते प्रदर्शनेन निर्दोषत्वं सूचितमप्पयदीक्षितैः (२७-सि. ले. सं) । अतश्च परिष्कृत-दिशा प्रतिबिम्बस्य स्वरूपेणासत्यत्वेन नाशेऽपि कूटस्थस्य पारमार्थिक-जीवस्य न नाश इति न जीवसामान्यनाशोऽपवर्ग इति चेत् ; न अवच्छेद-पक्षमङ्गीकृत्य जीवस्वरूपनिरूपणे अप्पयदीक्षितैः वाचस्पतिसंमतस्या-वच्छेदपक्षस्यान्ते (सि. ले. सं. ९३) समर्थनावसरे प्रतिबिम्बपक्षस्या-प्रामाणिकत्वस्थापनेन प्रतिबिम्बजीवस्यैवासिद्धेः । प्रतिबिम्बपक्षा-भ्युपगमे च पारमार्थिकावच्छिन्न जीवो न सिध्यति प्रमाणविर-हात् । अस्य पक्षस्य दुष्टत्वादेव अच्युतकृष्णानन्दतीर्थेन (सि. ले. सं. व्या) विद्यारण्याद्वैतविद्याकृदुक्तं मन्दाधिकारिविषयमित्युक्तम् । अतः प्रतिबिम्बपक्षाभ्युपगन्तृसुरेश्वरादिमते तेते जीवा नश्येयुरिति सुष्ठूक्तम ॥

अविद्यास्तमयो मोक्षः सा संसार उदाहृतः । (ब्र. सि. ११९) इति जीवाज्ञानवादिमण्डनमिश्रोक्तरीतेः ब्रह्माज्ञानवादिभिः सुरेश्वरा-चार्यैरपि ;—

नचाविद्यातिरेकेण मुक्तेर्बन्धोऽन्य इष्यते ।

(बृ. वा. ३ अ. २२ श्लो.)

अविद्यानाशमात्राच्च मोक्ष आत्मन इष्यते ॥ २३ ॥

अविद्याकृतमेवातः संसारित्वं न तु स्वतः ।

अतोऽविद्यासमुच्छित्तौ मुक्तिस्स्यात्परमात्मनः ॥ ११५१ ॥

इत्यत्राङ्गीकारेण इदमेव युक्तम् वार्तिकारमते न तु 'अयमेव' इत्युक्तम् (सि. बिं. टी) इति ब्रह्मानन्दयतिभिर्व्यवस्थापनेऽपि अपवर्गे जीवनाशस्यावर्जनीयत्वात् ॥

सर्वार्थसिद्धिः

जीवा नश्येयुः । *मुक्तौ जीवानां ब्रह्मणैकीभावमात्रं न तु नाश

आनन्ददायिनी

दर्पणा[1]देर्निवृत्तौ मुखादिप्रतिबिम्बस्य निवृत्तिरित्यर्थः । ननु दर्पणादिस्थले न प्रतिबिम्बाध्यासः नयन[2]रश्मीनां परावृत्य बिम्बग्राहक[3]त्वात् । न च ग्रीवास्थस्य दर्पणस्थतानुपपत्तिरिति वाच्यम्; दर्पणस्थत्वस्य तत्राध्यासात् । तथा च प्रतिबिम्बोपाधिनिवृत्तावपि न प्रतिबि[4]म्बस्य निवृत्तिरिति न जीवस्य निवृत्तिः । किं तु दर्पणस्थत्वादेरिव जीवभावस्य निवृत्तिः । ननु ग्रीवास्थतया साक्षात्क्रियमाणे मुखे कथं दर्पणस्थताध्यास इति चेन्न; औपाधिकाध्यासस्य विशेषदर्शनानिवर्त्यत्वात् । अन्यथा प्रातिभासिक-प्रतिबिम्बाध्यासपक्षेऽपि विशेषदर्शनस्याध्यासनिवर्तकत्वं प्रातिभासिक-रजताध्यासस्थले क्लृप्तमिति दोषसाम्यात् नाविद्यानिवृत्त्या जीवनाश इति शङ्कामनुवदति ;—**मुक्तौ जीवानामिति** । भवदीयैरेव प्रतिबिम्ब-स्याध्यस्तत्वाङ्गीका[5]रात् । सिद्धान्तसंग्रहे 'चैत्रमुखाद्भेदेन तत्सदृशत्वेन

भावप्रकाशः

किंच सुरेश्वरमते ;—

बुद्धितत्कारणोपाधी क्षेत्रज्ञेश्वरसंज्ञकौ । (बृ. वा. ३ अ. ४ ब्रा. ६१४) इति निर्णयेन अविद्योपाधिनाशे ईश्वर एव नश्यतीति प्रसज्यते । इष्टापत्तौ च निरीश्वरवादप्रसङ्गोऽपि । दोषश्चायं बिम्बेश्वरपक्षेऽपि बोध्यः । पद्मपादाचार्यैः (३४१) सुरेश्वराचार्यमतं दूषयित्वा प्रतिबिम्बस्य स्वरूप-तस्सत्यत्वं बिम्बेनैक्यं विच्छेदावभासस्य मायाविजृम्भितत्वं च स्थापितम् । तच्च प्रकाशात्मयतिभिर्विवरणे मधुसूदनसरस्वतीभिश्च अद्वैतसिद्धौ (८४७) प्रतिष्ठापितम् । तामेव शङ्कामाविष्करोति * मुक्तावित्यादिना ।

[1] णादिनिवृत्तौ—क. [2] वृत्तीनां—क. [3] त्वाङ्गीकारात्—क. [4] म्बस्यनि—ग. घ. [5] ङ्गीकारात् । विवरणकारादिमतेऽपि छायाया वृक्षादेश्चैक्यस्य बाधितत्वस्य प्रतिपादनात् । तद्वदेव बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यं बा—ग. घ.

तत्त्वमुक्ताकलापः

छाया स्वच्छायावदैक्यं न भजति

सर्वार्थसिद्धिः

इत्यत्राह ;— **छायेति** । *'छायावत्कल्पिता जीवाः' इति मन्यसे ; तत्र हि †बाधदशायां ।

आनन्ददायिनी

च पार्श्वस्थैः स्पष्टं निरीक्ष्यमाणं दर्पणे तत्प्रतिबिम्बं ततो भिन्नं स्वरूपतो मिथ्यैव स्वकरगतादिव रजताच्छुक्तिरजतम्' इत्यादिना विस्तृतम् । बिम्बप्रतिबिम्बयोरप्यैक्यं बाधितमेवेत्युपाधिनाशे प्रतिबिम्बस्यापि नाश इति जीवनाशो दुर्वार इत्याह ;—**छायावत्कल्पिता जीवा** इति ।

भावप्रकाशः

* छायावत्कल्पिता इत्यादि ;—अत्र 'जीवः पुनः प्रतिबिम्बकल्पः (पं. पा. ३४७) इति वाक्यमभिप्रेतम् । † बाधदशायामिति ;—नात्र मुखमस्तीति निश्चयदशायामित्यर्थः । ननु विवरणे ;— नेदं रजतमिति रजतस्वरूपमेव बाध्यते । नात्र रजतम् ; किन्तु तदिदं रजतमिति देशमात्रबाधया सत्यरजतेनैकतया न प्रत्यभिज्ञायते अतो रजते अभिज्ञाबाधात् प्रत्यभिज्ञापि भ्रमः । इह तु नेदं मुखमिति न स्वरूपेण बाध्यते किं तु नात्र मुखं मदीयमेवेति प्रत्यभिज्ञायते ; स्वमुखकतिपयावयवानामभिज्ञासंभवेन तदिदमिति प्रत्यभिज्ञोपपद्यते इत्युक्तया बिम्बप्रतिबिम्बैक्यं सिध्यतीति चेत् ; उच्यते ;—मुखे देशसंसर्गमात्रस्यैव निषेधः न तु मुखस्येति निर्णयो न घटते भूतले घटो नास्तीत्यादौ घटसंसर्गस्यैव निषेधो न घटस्येति वा घटे भूतलसंबन्धस्यैव निषेधो न तु भूतले संयोगेन घटस्येति वा नैयायिकादिभिरनङ्गीकारात् । अतः स्वच्छायामुखे स्वमुखव्यपदेशवत् तदिदमिति व्यपदेशः (२७३ सि. ले. सं.)

सर्वार्थसिद्धिः

*आधारनिवृत्तिदशायां वा छायायां छायावता सहैक्यापत्तिर्न दृश्यते ।

भावप्रकाशः

इति नात्र मुखमस्तीत्यत्रापि संसर्गेण मुखस्यैव निषेध इति अद्वैतविद्याकृद्भिः (सि. ले. २७५) प्रतिपादनेन बिम्बप्रतिबिम्बैक्यासंभवात् । अत एव घटो नास्तीत्यत्र संयोगेन घटस्यैवाभावस्यानुभव इति (अ. सि. ६४०) उक्तिः ; पार्श्वस्थस्य नेदं मुखं किंतु प्रतिमुखमेवेति स्वरूपेण बाधस्य निश्चयश्च संगच्छते ॥

किंच ;—(पं. पा. ३३९) (अ. सि. ८३७) बहिष्ठं चैत्रं दृष्ट्वा गृहस्थं तमेव पश्यत एकलक्षणवत्त्वज्ञानेन स एवायं चैत्र इति इति प्रत्यभिज्ञावत् ग्रीवास्थदर्पणस्थमुखे एकलक्षणके पश्यतः तदिदमिति प्रत्यभिज्ञया ऐक्यं सिध्यतीत्युक्तया तत्र नात्र चैत्र इति बाधप्रत्यक्षसत्त्वे स एवायं चैत्र इति प्रत्यभिज्ञानुदयेनात्रापि तथैवाङ्गीकारोऽवर्जनीयः । दर्पणाभिहतानां नायनरश्मीनां परावृत्य मुखसंबन्धो विवरणे नोक्तः विवरणोक्तदिशा स्वमुखकतिपयावयवानां स्वेन दर्शने दृष्टान्त इव एकलक्षणवत्त्वमपि स्वेन निश्चेतुं न शक्यम् । तटगतवृक्षस्थादृष्टचरपुरुषस्य जले प्रतिबिम्बदशायां अदृष्टपुरुषस्य कतिपयावयवानामप्यभिज्ञा दुर्घटैवेति विवरणोक्तरीत्या प्रत्यभिज्ञोपपादनं न संभवतीति । औपाधिकभ्रमेषु यावदुपाधिसत्त्वं बाधनिश्चयेऽपि भ्रमोऽनुवर्तत इति अपरितोषेऽप्याह ;—*आधारनिवृत्तिदशायामिति ;—बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यं न संभवतीति भावः । अत्रेदमवधेयम् ;—प्रतिबिम्बविषये बिम्बैक्यवादः बिम्बभेदवादश्चेति पक्षद्वयम् । तत्राद्ये प्रतिबिम्बग्रहणं स्वदेशस्थबिम्बग्रहणमेवेत्येकं मतम् । अन्यच्चोपाधिदेशस्थस्य ग्रहणमिति । द्वितीयेऽपि प्रतिबिम्बमसत्यमित्येकं मतम् अपरं च सत्यमिति । इत्थं च मतचतुष्टयं

तत्वमुक्ताकलापः

छाया ऽच्छायावदैक्यं न भजति

सर्वार्थसिद्धिः

इत्यत्राह ;— छायेति । *'छायावत्कल्पिता जीवाः' इति मन्यसे ; तत्र हि †बाधदशायां ।

आनन्ददायिनी

च पार्श्वस्थैः स्पष्टं निरीक्ष्यमाणं दर्पणे तत्प्रतिबिम्बं ततो भिन्नं स्वरूपतो मिथ्यैव स्वकरगतादिव रजताच्छुक्तिरजतम्' इत्यादिना विस्तृतम् । बिम्बप्रतिबिम्बयोरप्यैक्यं बाधितमेवेत्युपाधिनाशे प्रतिबिम्बस्यापि नाश इति जीवनाशो दुर्वार इत्याह ;—**छायावत्कल्पिता जीवा** इति ।

भावप्रकाशः

* छायावत्कल्पिता इत्यादि ;—अत्र 'जीवः पुनः प्रतिबिम्बकल्पः (पं. पा. ३४७) इति वाक्यमभिप्रेतम् । † बाधदशायामिति ;—नात्र मुखमस्तीति निश्चयदशायामित्यर्थः । ननु विवरणे ;— नेदं रजतमिति रजतस्वरूपमेव बाध्यते । नात्र रजतम् ; किन्तु तदिदं रजतमिति देशमात्रबाधया सत्यरजतेनैकतया न प्रत्याभिज्ञायते अतो रजते अभिज्ञाबाधात् प्रत्यभिज्ञापि भ्रमः । इह तु नेदं मुखमिति न स्वरूपेण बाध्यते किं तु नात्र मुखं मदीयमेवेति प्रत्यभिज्ञायते ; स्वमुखकतिपयावयवानामभिज्ञासंभवेन तदिदमिति प्रत्यभिज्ञोपपद्यते इत्युक्तया बिम्बप्रतिबिम्बैक्यं सिध्यतीति चेत् ; उच्यते ;—मुखे देशसंसर्गमात्रस्यैव निषेधः न तु मुखस्येति निर्णयो न घटते भूतले घटो नास्तीत्यादौ घटसंसर्गस्यैव निषेधो न घटस्येति वा घटे भूतलसंबन्धस्यैव निषेधो न तु भूतले संयोगेन घटस्येति वा नैयायिकादिभिरनङ्गीकारात् । अतः स्वच्छायामुखे स्वमुखव्यपदेशवत् तदिदमिति व्यपदेशः (२७३ सि. ले. सं.)

सर्वार्थसिद्धिः

*आधारनिवृत्तिदशायां वा छायायां छायावता सहैक्यापत्तिर्न दृश्यते ।

भावप्रकाशः

इति नात्र मुखमस्तीत्यत्रापि संसर्गेण मुखस्यैव निषेध इति अद्वैतविद्याकृद्भिः (सि. ले. २७५) प्रतिपादनेन बिम्बप्रतिबिम्बैक्यासंभवात् । अत एव घटो नास्तीत्यत्र संयोगेन घटस्यैवाभावस्यानुभव इति (अ. सि. ६४०) उक्तिः ; पार्श्वस्थस्य नेदं मुखं किंतु प्रतिमुखमेवेति स्वरूपेण बाधस्य निश्चयश्च संगच्छते ॥

किंच ;—(पं. पा. ३३९) (अ. सि. ८३७) बहिष्ठं चैत्रं दृष्ट्वा गृहस्थं तमेव पश्यत एकलक्षणवत्त्वज्ञानेन स एवायं चैत्र इति इति प्रत्यभिज्ञावत् ग्रीवास्थदर्पणस्थमुखे एकलक्षणके पश्यतः तदिदमिति प्रत्यभिज्ञया ऐक्यं सिध्यतीत्युक्त्या तत्र नात्र चैत्र इति बाधप्रत्यक्षसत्त्वे स एवायं चैत्र इति प्रत्यभिज्ञानुदयेनात्रापि तथैवाङ्गीकारोऽवर्जनीयः । दर्पणाभिहतानां नायनरश्मीनां परावृत्य मुखसंबन्धो विवरणे नोक्तः विवरणोक्तदिशा स्वमुखकतिपयावयवानां स्वेन दर्शने दृष्टान्त इव एकलक्षणवत्त्वमपि स्वेन निश्चेतुं न शक्यम् । तटगतवृक्षस्थादृष्टचरपुरुषस्य जले प्रतिबिम्बदशायां अदृष्टपुरुषस्य कतिपयावयवानामप्यभिज्ञा दुर्घटेवेति विवरणोक्तरीत्या प्रत्यभिज्ञोपपादनं न संभवतीति । औपाधिकभ्रमेषु यावदुपाधिसत्त्वं बाधनिश्चयेऽपि भ्रमोऽनुवर्तत इति अपरितोषेऽप्याह ;—*आधारनिवृत्तिदशायामिति ;—बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यं न संभवतीति भावः । अत्रेदमवधेयम् ;—प्रतिबिम्बविषये बिम्बैक्यवादः बिम्बभेदवादश्चेति पक्षद्वयम् । तत्राद्ये प्रतिबिम्बग्रहणं स्वदेशस्थबिम्बग्रहणमेवेत्येकं मतम् । अन्यच्चोपाधिदेशस्थस्य ग्रहणमिति । द्वितीयेऽपि प्रतिबिम्बमसत्यमित्येकं मतम् अपरं च सत्यमिति । इत्थं च मतचतुष्टयं

भावप्रकाशः

पर्यवसन्नम् । तत्र च स्वदेशस्थस्य बिम्बस्य ग्रहणमेव प्रतिबिम्बग्रहणमिति पक्षः श्लोकवार्तिके शब्दनित्यत्वाधिकरणे ;—

अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौरेण तेजसा ॥ १८० ॥
स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितम् ।
स्वदेश एव गृह्णाति सवितारमनेकधा ॥ १८१ ॥
भिन्नमूर्ति यदा पात्रं तदाऽस्यानेकता कुतः ? ।
ईषन्निमीलिताङ्गुल्या यथा चक्षुषि दृश्यते ॥ १८२ ॥
पृथगेकोऽपि भिन्नत्वाच्चक्षुर्वृत्तेस्तथैव नः ।
अन्ये तु चोदयन्त्यत्र प्रतिबिम्बोदयैषिणः ॥ १८३ ॥
स एव चेत्प्रतीयेत कस्मान्नोपरि दृश्यते ।
कूपादिषु कुतोऽधस्तात् प्रतिबिम्बेक्षणं भवेत् ॥ १८४ ॥
प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् स्याच्चेत्प्रत्यङ्मुखः कथम् ? ।
तत्रैव बोधयेदर्थं बहिर्यातं यदिन्द्रियम् ॥ १८५ ॥
तत एतद्भवेदेवं शरीरे तत्तु बोधकम् ।
अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं चक्षुर्द्वेधा प्रवर्तते ॥ १८६ ॥
एकमूर्ध्वमधस्ताच्च तत्रोर्ध्वांशप्रकाशितम् ।
अधिष्ठानानृजुस्थत्वान्नात्मा सूर्यं प्रपद्यते ॥ १८७ ॥
पारम्पर्यार्पितं सन्तमवाग्वृत्त्या तु बुध्यते ।
ऊर्ध्ववृत्तेस्तदेकत्वादवागिव च मन्यते ॥ १८८ ॥
अधस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते
एवं प्राग्भूतया वृत्त्या प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितम् ॥ १८९ ॥
बुध्यमानो मुखं भ्रान्त्या प्रत्यागित्यवगच्छति ।

भावप्रकाशः

इत्यत्र स्थापितः । अत्र भट्टमते भ्रमस्थले अन्यथाख्यातिः; प्राभाकरमते अख्यातिरितीयान् विशेषः । पञ्चपादिकायां च प्रतिबिम्बासत्यतापक्षदूषणानन्तरं (३४३) 'यस्तु मन्यते;—' न पराक्प्रवणप्रवृत्तनायनरश्मिभिर्बिम्बमेव भिन्नदेशस्थं गृह्यते । किंतु दर्पणप्रतिफलितैः परावृत्य प्रत्यङ्मुखैः स्वदेशस्थमेव बिम्बं गृह्यते' इति तमनुभव एव निराकरोतीति न पराक्रम्यत' इत्युक्तम् ॥

अत्र विवरणम्;—अख्यातिवादी न बिम्बादन्यत्वेन प्रतिबिम्बं नाम दर्पणगतमवभासते । किंतु बिम्बमेव दर्पणादविविक्तं प्रकाशत इति वदति; तमनुवदति;—यस्तु मन्यते इति । स्पष्टप्रत्यङ्मुखावभासं दर्पणान्तरानुप्रविष्टमिव स्वमात्मानं पुरुषान्तरवन्निरीक्ष्यमाणमिवेदं यादृग्दृश्यमानं मुखं तथा नावभासत इति वदन् कथमासस्यादित्याह;—तमनुभव एवेति ' इति । औपाधिकभ्रमेषूपाधिरेवात्माविद्यापरिणामे पुष्कलकारणम्' इति च । इत्थं च य एवोपाधिर्मुखस्य दर्पणान्तर्गतत्वप्रत्यङ्मुखत्वबिम्बभेदभ्रमहेतुः तत्सत्त्व एव तदिदमिति प्रत्ययः न तु तन्निवृत्ताविति न तत्प्रत्ययावलम्बनेन परैर्बिम्बप्रतिबिम्बैक्यं स्थापयितुमलम् अनौपाधिकैक्यप्रत्ययविषये दृष्टान्तासंभवात् । सिद्धान्ते (श्लो-वा-पं-वि) उक्तनेत्रवृत्तिप्रकारेण अख्यातिवादाश्रयणेन उपाधिविगमकाले प्रतिमुखाप्रतीत्या उपाधिसत्ताकालेऽपि मुखव्यतिरेकेण प्रतिबिम्बं नाभ्युपयते । न च तावता छायाच्छायावतोरैक्यमभ्युपगतं भवति भेदस्येवाभेदस्यापि भ्रमविषयत्वात् परमते ब्रह्मव्यतिरेकेणाचित्प्रपञ्चानङ्गीकारमात्रेणाचिद्ब्रह्मणोरैक्यानभ्युपगमवत् । नचैवमेव विवरणकारमतेऽपि उपाधिनाशे मुखं परं वर्तते मुखव्यतिरेकेण प्रतिमुखं नास्तीत्यभ्युपेत्य दृष्टिसृष्टिपक्षे सृष्टिसृष्टिपक्षे वा अविद्यानिवृत्तौ ईश्वरो वर्तते ईश्वरव्यतिरिक्तो जीवो नास्तीति वक्तुं

भावप्रकाशः

शक्यम्! अविद्यासत्तादशायां जीवेश्वरयोरुभयोरप्यङ्गीकारात् । अविद्यायां बिम्बभूत ईश्वरः प्रतिबिम्बभूतो जीव इति तत्सिद्धान्तात् । उपाधिनिवृत्तावपि बिम्बं वर्तते प्रतिबिम्बं नास्तीति प्रतीत्या बिम्बमुखसत्तावदीश्वरसत्त्वस्यावर्जनीयतया जीवस्य शुद्धचिद्रूपेण स्थितिरूपमैक्यमपि विवरणकारमते न सम्भवति । एतद्दोषपरिहारायैव (बृ) वार्तिककारसंक्षेपशारीरककाराभ्यां जीवेश्वरयोरुभयोरपि प्रतिबिम्बत्वमादृतम् । किंच मुखादेर्विप्रकृष्टस्यैव प्रतिबिम्बं प्रसिद्धम् न तु विभोः । आकाशस्य अप्रत्यक्षत्वविभुत्वनिरवयवत्ववादिभिः नैयायिकैः साभ्रनक्षत्रस्याकाशस्य जले प्रतिबिम्बं तत्प्रत्यक्षं वा नाभ्युपगम्यते किंतु अभ्रनक्षत्राणामेव । आकाशस्याविभुत्वसावयवत्वे पञ्चीकृतस्य तस्य रूपवत्त्वं चाङ्गीकुर्वद्भिर्वेदान्तिभिर्जले साभ्रनक्षत्राकाश प्रतिबिम्बस्याभ्युपगमसंभवेऽपि न जीवस्य प्रतिबिम्बता दृष्टान्तानुसारेण सिध्यति । विप्रकर्षादिकल्पनया बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य लोके क्वाप्यदर्शनात् । नापि श्रुत्या जीवानां प्रतिबिम्बता सिध्यति । परैरेव अवच्छेदवादिभिः (सि-ले-सं-व्या (भा-क-प) श्रुत्यादिभिः तत्सिद्ध्यसंभवस्य स्थापनात् । न च तत्र 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इति (क. ५. ९) श्रुतिर्मानम्! तत्र 'अतिसूक्ष्मत्वात् दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रविष्टत्वात् प्रतिरूपो बभूव' इति (शं)भाष्यम् । 'प्रतिरूपम्—उपाधिसादृश्यम् । चतुष्कोणकत्वादिधर्मके हि दारुणि तद्रूपो वह्निरपि लक्ष्यत इत्यर्थः' इति (आ. गी) टीका । अत्र प्रतिरूपशब्दस्सदृशार्थ इति स्फुटम् । अस्वच्छे दारुणि अग्निप्रतिबिम्बनं न केनाप्यभ्युपगम्यते॥

एतेन बृहदारण्यके एतत्सच्छाय (४-५-१९) श्रुतिरपि व्याख्याता । एवं 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः यथा क्षुर,

सर्वार्थसिद्धिः

तद्वदिहाऽपि । *तैमिरिकचन्द्रभेद[1]न्यायेनाप्यत्र न भवति ;

आनन्ददायिनी

ननु चन्द्रभेदभ्रमस्थले भेदमात्रनिवृत्तिः। तथा बिम्बप्रतिबिम्बयोरपि भेदनिवृत्तिमात्रम् न तु नाश इत्यत्राह;--**तैमिरिकेति**। तिमिरेण—नयनदोषेण जन्यमित्यर्थः। बिम्बस्योपाधावध्यास एव प्रतिबिम्ब इति पक्षे अध्यासकस्ततो भिन्नः पूर्वं वाच्यः दर्पणे मुखाध्यासे [2]देवदत्त इव । तथा सति जीवाध्यासको ब्रह्म वा अविद्या वा जीवो वेति विकल्पमभिप्रेत्य दूषयति;—

भावप्रकाशः

क्षुरधानेऽवहितस्स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये' (बृ. ३-४-७) इत्यत्र कार्यस्थस्योपलभ्यत्वमेव प्रवेश इत्युपचर्यते । 'आनखाग्रेभ्यः—आनखाग्रमर्यादमात्मनश्चैतन्यमुपलभ्यते इत्यारभ्य यथाचाग्निः काष्ठादौ सर्वतो व्याप्यावस्थितः एवं सामान्यतो विशेषतश्च देहं संव्याप्य स्थित आत्मा' इति भाष्येऽपि न जीवस्य प्रतिबिम्बतासाधकमुपलभ्यते ॥

एवमेव 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तै. २-६-२-९) इति श्रुतितद्भाष्ययोरपीति । एतावता जिज्ञासाधिकरणपञ्चपादिकोक्तप्रतिबिम्बोदाहरणं परिशीलितम् । अथ जिज्ञासाधिकरण (शं) भाष्ये 'एकश्चन्द्रस्सद्वितीयवत्' इत्युदाहरणं समालोचयति ;—*तैमिरिकचन्द्रभेदेति। कुमारिलेन (शब्द-नि-अ १८२) दृष्टान्ततयोपात्तेति शेषः। एकश्चन्द्र इति बाधकनिश्चयसत्त्वेन एकचन्द्रव्यतिरेकेण द्वितीयाभावसिद्धावपि प्रथमद्वितीयचन्द्रयोरभेदनिश्चयासत्त्वेन न 'तत्त्वमसि' इत्यादौ पराभिमतं सिद्ध्यति। एतेन नेत्रवृत्तिभेदेन द्वयोश्चन्द्रयोः प्रतीतावपि तयोर्भेदस्य यथा न सत्यता तथा बिम्बप्रतिबिम्बयोर्द्वयोर्नेत्रवृत्तिभेदेन

[1] न्यायोऽप्यत्र—क. ख. ग. घ. [2] देवदत्तवत्—क.

तत्वमुक्ताकलापः

न च तद्दर्शनं ब्रह्मणस्ते ॥ १५ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

द्वितीयादिचन्द्राणां प्रथमचन्द्रैक्यापत्तेरनभ्युपगमात्। दूषणान्तरमाह ;—**न चेति**। बिम्बप्रतिबिम्बयोः द्वितीयादिचन्द्राणां [1]चन्द्रद्रष्टा कश्चिदन्यस्सिद्धः ; इह तु * न कश्चित् ; ब्रह्मणो † दृङ्मात्ररूपत्वाङ्गीकारात्

आनन्ददायिनी

द्वितीयादिचन्द्राणामित्यादिना। **हेतुनिरपेक्षः**—अध्यासनिरपेक्षः।

भावप्रकाशः

प्रतीतावपि तयोर्भेदस्य च न सत्यता सिद्ध्यतीति बिम्बभिन्नसत्यप्रतिबिम्बवादः अयुक्त इति सूच्यते। अनिर्वचनीयख्यातिवादिभिः एकश्चन्द्र इति बाधदशायां उपाधिनाशदशायां वा द्वितीयचन्द्रस्य प्रतिबिम्बस्य चासत्यस्य नाशस्वीकारे जीवनाशोऽपवर्ग इति दोष उक्त एव। 'यस्तु जानीते देवदत्तः प्रतिबिम्बस्यात्मनोऽभिन्नत्वम् न स तद्गतेन दोषेण संस्पृश्यते' (पं. पा. ३४६) इति वाक्यं पर्यालोचयन्नाह ?— * न कश्चिदिति। बिम्बप्रतिबिम्बभिन्नः बिम्बः उपाधिः प्रतिबिम्बश्च न द्रष्टा इत्यर्थः ॥

† दृङ्मात्ररूपत्वेति ;—(बृ) वार्तिककार (सुरेश्वर) संक्षेपशारीरककारमते बिम्बत्वेन विवरणकारमते बिम्बप्रतिबिम्बभिन्नत्वेनाभ्युपगतस्य शुद्धब्रह्मणो निर्धर्मकत्वेन द्रष्टृत्वासंभवात्—

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः।

इति वाक्यवृत्तिवचनेन विशिष्टस्यैव सर्वज्ञत्वात्। (सि. बि. १२१ असि. ५८२)

सर्वार्थसिद्धिः

*अविद्यायास्तु द्रष्टृत्वप्रसङ्गाभावात् । प्रतिबिम्बस्थानीयानां जीवानां † स्वाध्यासहेतुत्वायोगात् । ‡ अनादिरध्यासो हेतुनिरपेक्ष इति चेन्न ;

आनन्ददायिनी

हेतुनिरपेक्षः—अध्यासनिरपेक्षः । अनादित्वं स्वरूपेण प्रवाहरूपेण वा ?

भावप्रकाशः

*एतेनोपहितेऽप्यद्रष्टृत्वं बोधितम् †स्वाध्यासहेतुत्वायोगादिति ;—लोके मुखादिप्रतिबिम्बे द्रष्टृत्वादर्शनेन प्रतिबिम्बत्वादेव न द्रष्टृत्वमिति भावः । ननु 'अचेतनत्वप्रयुक्ता मुखादिप्रतिबिम्बे अनवगतिः ; न प्रतिबिम्बत्वप्रयुक्ता घटादिषु तथा दर्शनात्' (पं-पा-वि. ३४५) इति विवरणकारैरुक्तमिति चेन्न ; चितः प्रतिबिम्बाभ्युपगमे प्रतिबिम्बत्वादेव सावयवत्त्वेन चित्त्वस्यापि हानिस्स्यात् । तात्विकविप्रकर्षाभावस्येव द्रष्टृत्वस्यापि चितः प्रतिबिम्बताविघटकत्वसंभवात् । (ब्र-सि-१०) अनादित्वादुभयोरविद्याजीवयोः बीजाङ्कुरसंतानयोरिव कल्पनाधीनो हि जीवविभागः ! जीवाश्रया च कल्पनेतीतरेतराश्रयत्वं च न दोषः । ब्रह्मप्रतिबिम्बत्वेन जीवानामप्यशुद्धिर्विभ्रमः । स्यादेतत् ;—कृपाणादयो मुखे विभ्रान्तिहेतवः । तथेहापि विभ्रमहेतुर्वाच्यः ? अनादौ विभ्रमे हेत्वन्वेषणमसांप्रतमिव, इति च मण्डनमिश्रेणोक्तम् । अविद्यास्वरूपं च 'एवमेवेयमविद्या मायामिथ्यावभास इत्युच्यते' इति च तेनैवोक्तम् । अत्र टीका ;—'अर्थानुबन्धरहितमनुभवमात्रं नो नित्यसदेव । तस्य च भ्रान्तेनार्थानुबन्धेनाविद्यात्वमिति । इत्थं च भ्रान्तिरेवाविद्या न तु विवरणोक्तं भावरूपाज्ञानं भ्रान्तिरूपाज्ञानमेवाहेतुकमेतन्मत इति प्रतीयते ; तदेतदाशङ्कते ;—‡अनादिरित्यादिना । 'मिथ्याज्ञाननिमित्तस्सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिको लोकव्यवहारः' (शं-भा) इत्यत्र 'नैसर्गिकः—प्रत्यक्चैतन्यसत्तामात्रानु-

सर्वार्थसिद्धिः

* स्वरूपानादेरविद्ययाऽपि नैरपेक्ष्यप्रसङ्गात् । † प्रवाहानादित्वे जीवानां ‡ भङ्गुरत्वप्रसङ्गात् ।

आनन्ददायिनी

नाद्य इत्याह ;—**स्वरूपेति ।** कारणनिरपेक्षत्वादिति भावः । **प्रवाहानादित्वे** इति ;—अध्यासस्य द्रष्ट्रादिनिरपेक्षत्वे पूर्वपूर्वाध्यासेनोत्तरो-

भावप्रकाशः

बन्धी' इति ; (पं-पा. ८४) 'एवमयं अनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः' इत्यत्र 'प्रत्यगात्मन्यहङ्काराध्यास एव नैसर्गिको लोकव्यवहारोऽभिप्रेतः । स च प्रत्यगात्मा अनादिसिद्धः । तस्मिन्नैसर्गिकस्यानादित्वमर्थसिद्धम्' (४८४ पं-पा.) इति च टीकायाः पर्यालोचने ब्रह्मवत् स्वरूपानादित्वमध्यासस्य प्रतीयत इति विकल्पेन दूषयति ;—* स्वरूपानादेरित्यादिना । 'मिथ्याऽज्ञाननिमित्तः' इत्यत्र 'मिथ्या च तत् अज्ञानं च मिथ्याऽज्ञानम् । तन्निमित्तः—तदुपादानः' इति टीकायां च अध्यासस्याविद्योपादेयत्वकथनं स्वरूपानादित्वे न घटते इति भावः । (८४ पं-पा) 'प्रत्यक्चैतन्यसत्तामात्रानुबन्धीति—'आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वदोषसंयोग एवाध्यासः' इत्युपक्रम्य 'बीजाङ्कुरवद्धेतुपरम्परयाऽनादित्वादध्यासस्य नैसर्गिकत्वम्' इति विवरणादध्यासस्य प्रवाहानादित्वमेवेत्याशयेनाह ;—† प्रवाहानादित्वे इति । ‡ भङ्गुरत्वप्रसङ्गादिति ;—बीजाङ्कुरन्यायेन सूक्ष्मस्थूलात्मना उपाध्यैक्येन जीवैक्यस्यो (३-२-९ शं-भा) क्त्या सूक्ष्मतादशायां जीवभङ्गो दुर्वारः । विवरणकारमते प्रतिबिम्बत्वधर्माद्ध्यासेऽपि प्रतिबिम्बत्वोपलक्षितस्य जीवत्वाभावेन प्रतिबिम्बत्वोपहितस्य शुद्धचिदन्यतायाः (सि-बिं-त १७०) प्रतिपादनात् बीजतादशायामङ्कुरतादशायां चाङ्कुरबीजयोः सान्वयविनाशवादिमतेऽपि भङ्गव्यवहाराभ्युपगमात् । मण्डनमिश्रमते विभ्रमप्रवाहस्यानादित्वेऽपि विभ्रमभेदेन कल्पितजीवभेदस्यावश्यकतया जीवभङ्गो दुरुद्धर एव । बीजाङ्कुर

सर्वार्थसिद्धिः

तथाच *धीसंततिवादसमत्वम् । †अकृताभ्यागमादिप्रसङ्गः श्रुत्यादि-

आनन्ददायिनी

त्तराध्यासो वाच्यो ज्वालावत् । अन्यथा एकशरीरानेकजीवप्रसङ्गात् । [1]न च यावदेकशरीरमेकजीवस्थितिरित्यत्र नियामकमस्तीति जीवानां बौद्धकल्पितं भङ्गुरत्वमित्यर्थः । *[2]धीसन्ततिवादसमत्वमिति :—क्षणिकत्वनिर्णयाभावादिति भावः । यद्वा :—आत्मनो धीत्वनिर्णयाभावादिति भावः । इष्टापत्तिं परिहरति ;—अकृतेति । नित्यो नित्यानामित्यादि-

भावप्रकाशः

परम्परायाः कार्यकारणभूताया इव जीवाविद्यापरम्पराया अनभ्युपगमादप्येतन्मतं हेयमिति इष्टसिद्धिश्रीभाष्यादिषु व्यक्तमिति भावः । ननु उपाधेः सान्वयविनाशाङ्गीकारेण निरन्वयविनाशवादियोगाचारमत इव न भङ्ग इति शङ्कायां मुक्तावुपाधेः सूक्ष्मरूपस्यापि हानेः कल्पितजीवपक्षे तत्साम्यमेव पर्यवस्यतीत्याह ;—*धीसंततिवादसमत्वमिति । उक्तं च मण्डनमिश्रेण । कल्पितज्ञानसंततिं प्रस्तुत्य ;—' कल्पितस्तर्हि संसरति विमुच्यते च कल्पितविषयौ च संसारविमोक्षावपि कल्पितावेव । तदेतदस्माभिरुच्यमानं किं न भवतोऽभिमतम्! कल्पितविषयावेव संसारमोक्षौ न परस्मिन् परमार्थे ' इति । एवं कमलशीलेन ;—

तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः ।

एकज्ञानात्मके पुंसि बन्धमोक्षौ ततः कथम् ॥ (त-सं. ३२३)

इत्येतद्विवरणे संक्लिष्टविशुद्धसंततिभेदेन स्वमते बन्धमोक्षव्यवस्थामभिधाय कल्पितावेव बन्धमोक्षौ ' इति मण्डनमिश्रमते कल्पनाया अपि निबन्धनं वक्तव्यमित्युक्तम् । †अकृताभ्यागमादिप्रसङ्ग इति ;—उक्तं

[1] न च यावदेकशरीरमेकजीव इति वाच्यम् ; तत्र मानाभावात् ; तथात्वेऽपि वा देहतुल्यतया ततोऽतिरिक्तत्वासिद्धिप्रसङ्गेन चार्वाकपक्षप्रसङ्गात् । तथाच जीवानां बौद्धकथितक्षणभङ्गुरत्वमित्यर्थः—क. ख. [2] एतत्प्रतीकस्था आनन्ददायिनी—क. ख. कोशयोर्न दृश्यते ।

सर्वार्थसिद्धिः

विरोधश्च स्यात् । * ईदृशभ्रमनिरासाय सूत्रितं च[1] सुप्तोत्थितं प्रति ' स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ' इति ॥ १५ ॥

आनन्ददायिनी

श्रुतिविरोधः । ' नित्यो व्यापी स्वतश्शुद्ध ' इत्यादिस्मृतिविरोध इत्यर्थः । सूत्रविरोधं चाह ;—**ईदृशेति । स एव त्विति ;**—किं सुप्त एव प्रबोधकाले **उत्तिष्ठति** उत स एवान्यो वेत्यनियमः ? इति संशये अन्य इति **पूर्व**पक्षं कृत्वा सुषुप्तेः प्रागारब्धकर्मसमापनात् सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानात् 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वेत्यादिना यद्यद्भवन्तीति' शब्दान्मोक्षसाधनविधानर्थक्याच्च स एवोत्तिष्ठतीति राद्धान्तितमित्यर्थः । एतेन ' अन्तः करणावच्छिन्नो जीवः अन्तःकरणनानात्वाज्जीवनानात्वम् । तेन बन्धमोक्षव्यवस्था च ' इति पक्षोऽप्ययुक्तः, गत्वराणां तेषां गत्वरेष्वन्तः करणेषु गच्छत्सु तदवच्छिन्नप्रदेशस्य प्रतिबिम्बस्य च भिन्नत्वेन कृतहानादिप्रसङ्गात् । विस्तरस्तु ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्यः ॥ १५ ॥

भावप्रकाशः

च (शं-भा ३-२-९) ' अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ दुर्निवारावन्योत्थानपक्षे ' इति—जलबिन्दोर्जलराशौ लयानन्तरमन्यस्योत्थाने यथा नैकत्वं तद्वत्सुप्तप्रबुद्धयोरिति पूर्वपक्षमुपन्यस्य बीजाङ्कुरन्यायेन सूक्ष्मस्थूलात्मना उपाध्यैक्याज्जीवैक्यमिति सिद्धान्तकरणेऽपि सूत्रं न घटत इत्याह ;—* ईदृशेत्यादिना । स्वापात्पूर्वं स्थूलरूपं प्राप्तस्य स्वापे सूक्ष्मरूपमनन्तरं स्थूलरूपान्तरमुपाधौ । बीजाङ्कुरस्थलेऽपि अङ्कुरात्पूर्वापरबीजयोरैक्यं नोप-

---

[1] जीवानित्यत्व--क. [2] दुद्रूहणो—ग. [3] जीवानित्यत्वप्रसङ्गसंगतिमाह—ख. प्रसङ्गसंगतिमाह—क. [4] न्तरमुपक्षिप्तं- क.

तत्वमुक्ताकलापः

एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभागित्याम्नातं तेन जीवोऽप्यचिदिव जनिमान्नित्यनध्येतृचोद्यम् । तन्नित्यत्वं (हि) तु साङ्ग-

सर्वार्थसिद्धिः

*ब्रह्मदत्तादिभिरुक्तं जीवानां स्वरूपतः सृष्टिसंहृतिविषयत्वमनूद्य दूषयति ;—एकमिति । जनिमानिति लयोपलक्षम् । अनध्येतृचोद्यम्--

आनन्ददायिनी

ननु जीवानां भङ्गुरत्वं स्यादित्युक्तम् ; तत्रेष्टापत्तिरिति[1] संगत्या यादवप्रकाशमतमाह ;—ब्रह्मदत्तादिभिरिति । आदिशब्देन भास्करादिग्रहणम् । ननु नित्यताबोधकश्रुत्यध्ययनं विना कतिपयमात्राध्ययनं

भावप्रकाशः

लभ्यते एवमङ्कुरयोरपि । अतो दृष्टान्तानुरोधेन 'स एवेति सूत्रोक्तं 'त इह व्याघ्रो वा-यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति' इति श्रुतौ विवक्षितं एकत्वं अपरिणाम्यहमर्थमनङ्गीकृत्य सुषुप्तौ सांख्यानभिमतमनोलयं वदद्भिः नोपपादयितुं शक्यम् । कार्यकारणभावाभ्युपगमेन अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशादिप्रसङ्गपरिहारः विज्ञानवादिनाऽप्यु (त-सं. १८२ पु.) पपादितः । एवं च अनिर्वचनीयपरिणामवादे वैषम्यं पर्यवस्यतीति दिक् ॥ १५ ॥

* ब्रह्मदत्तादिभिरिति ;—आत्मसिद्धौ प्रपञ्चहृदये च एतन्नामोपलभ्यते । ब्रह्मदत्तरचितग्रन्थस्तु नोपलभ्यते । आदिपदेन भर्तृप्रपञ्चयादवप्रकाशौ ग्राह्यौ । उत्तरत्रापि एतन्मतपरिशीलनं (ना.स-२८-३० श्लो) भविष्यति ॥

1 रित्याक्षेपसंगत्याऽऽह-क.

तत्वमुक्ताकलापः

श्रुतिशतपठितम् सृष्टिवादः पुनस्स्यादेहादिद्वारतोऽस्येत्यवहितमनसामाविरस्त्यैकरस्यम् ॥ १६ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

कतिपयाध्येतुः तात्पर्यानभिज्ञस्य वा चोद्यम् । साङ्गशब्दः सोपबृंहणपरः । 'अजो नित्यश्शाश्वतोऽयं पुराणः' 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतमिह भाव्यम् । सृष्टिवादः—'तोयेन जीवान् व्यससर्ज' इत्यादिः । 'पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि' इत्यादिलयवाद उपलक्ष्यते । ब्राह्मणो जायते क्षत्रियो जायते इत्यद्यतनजन्मादौ दृष्टम्; तद्वत् प्राकृतिकनैमित्तिकसृष्ट्यादावप्यचिदुपष्टम्भेन निर्वाह इहादिशब्देन ग्राह्यः । अवहितमनसां—श्रुतितात्पर्यैकाग्रमनसामित्यर्थः ॥ १६ ॥

आनन्ददायिनी

कथमित्यत्राह ;—**तात्पर्यानभिज्ञस्येति** । नन्वङ्गानां वर्णपदशक्त्यादि[1]ग्राहकत्वात् कथं जीवनित्यताबोधकत्वम्? तद्विनाऽप्यङ्गत्वनिर्वाहात्; अङ्गसाहित्यकीर्तनमफलमित्यत्राह ;—**साङ्गशब्द इति** । इतिहासपुराणाभ्यां वेदतात्पर्यग्रहादिति भावः—

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरस्सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः . . . . ।

इत्यादिरादिशब्दार्थः । **अद्यतनजन्मेति** ;— कल्पादौ सृष्टस्य कल्पान्ते

---

[1] ग्राहकाणां—क.

सर्वार्थसिद्धिः

[1]आत्मानित्यत्ववादिनश्चतुर्विधाः । तेषु ज्ञानात्मवादिनः शरीरस्थितावप्यात्मनो भिदुरत्वमाहुः । प्राणेन्द्रियात्मवादिनः आत्मानमाशरीरस्थायिनम् । पौराणिकैकदेशिनस्तु प्रलयान्तम् । * औपनिषदाभासास्तु

आनन्ददायिनी

प्रलयस्य च वक्तुरद्यतनब्राह्मणो जात इत्यादि[2] व्यवहारस्य[3] देहसंबन्धपरत्व[4] भवद्भिरुच्यते [5]तथाऽन्यत्रापि वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

[6]प्रासङ्गिकीं संगतिरित्याह ;— आत्मानित्यत्ववादिन इति । चार्वाको बौद्धः पौराणिकैकदेशी औपनिषदाभासश्चेति चतुर्विधा इति केचित् । अन्ये तु देहप्राणेन्द्रियज्ञानात्मवादिनश्चतुर्विधा इत्यप्याहुः । तेषु चतुर्विधेषु ज्ञानात्मवादिनो बौद्धाश्चतुर्विधाः । **शरीरस्थितावपीति ;**—मरणरूपविनाशात्प्रागपि **भिदुरत्वं**—क्षणिकत्वम् । अन्ये तु देहस्याक्षणिकत्वेऽपि ज्ञानस्यात्मनः क्षणिकत्वमिति बौद्धैकदेशिमतमित्याहुः ;

क्षणिकभङ्गुरं संततोदयम् ।

इत्युक्तेरिति भावः । **प्राणेन्द्रियात्मवादिन** इति ;—

प्राणेन्द्रियमनांस्येव चेतयन्ते पृथक्पृथक् ।
आशरीरमवस्थानात् नातिरिक्तात्मकल्पना ॥

इति तदुक्तिदर्शनात् चार्वाकैकदेशिन आहुरित्यर्थः । 'तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्' इति सूत्रवृत्तौ 'आस्त्विन्द्रियाणि चेतयमानानि सप्राणानीति पक्षा[7]न्तरस्योपक्षेपात् । **औपनिषदाभासाः**—

भावप्रकाशः

* औपनिषदाभासास्त्विति ;—'तंत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'

---

[1] जीवानित्यत्व—क. [2] इत्याद्यद्यतन—क. [3] स्य च दे—क. [4] त्वं ; तेनाप्युपपन्नं जीवोत्पत्त्यादिपरत्वामिति—क. [5] तथा श्रुत्यादावपि निर्वाह इ—क. [6] जीवनित्यत्व प्रसङ्ग संगतिमाह—ख. प्रसङ्ग संगतिमाह—क. [7] न्तरमुपक्षिप्तं—क.

भावप्रकाशः

इत्युपसंहारवाक्यस्य ।

अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् ॥

इति गर्भोपनिषदैकार्थ्यात् । पूर्वम् ;—

देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ।

ज्ञःकालकालो गुणी सर्वविद्यः ।

तेनेशितं कर्म विवर्ततेह—कर्मक्षये याति सतत्वतोऽन्यः ।

स वृक्षकालाकृतिभिःपरोऽन्यः यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।

इति ज्ञातारं नियन्तारं प्रक्रम्य ;—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं ; . . . . . ।

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।

इत्यनेन समाऽभ्यधिकजनकाधिपानां निषेधेन 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुत्यर्थं निर्णीय ;—

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैस्स्वभावतः ।

देव एक(स्स्व)(स्स)मावृणोति स नो दद्याद्ब्रह्मा व्य(प्य)यम् ॥

एको देवः--कर्माध्यक्षः–निर्गुणश्च

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनां एकं बीजं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

इत्यत्र पूर्वोक्तेश्वरेश्वरत्वकरणाधिपाधिपत्वयोस्संकल्पमुखेन स्थिरीकरणात् । अत्र 'स नो दद्याद्ब्रह्माऽव्ययम्' इति काम्यमानं फलमेव 'तेषां सुखं शाश्वतम्' इत्यत्र विवक्षितम् । 'स्वमावृणोति' एकं

भावप्रकाशः

बीजं बहुधा यः करोति' 'बहूनां विदधाति कामान्' इत्यत्र आवरणे बहुधाभावे कामनाविषयफालसामान्ये च भगवतस्संकल्पविशिष्टवेषेण हेतुत्वप्रतिपादनेन पूर्वं कामनाविषयत्वेनोक्तमुक्तिफलेऽपि 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'ति संकल्पविशिवेषेण हेतुत्वं सिध्यति। अत्र ;—

बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः॥

(भागवत ११-११. श्रीधरव्याख्या स्कान्दे)

पशवः पाशिताः पूर्वं परमेण स्वलीलया।
तेनैव मोचनीयास्ते नान्ये मोचयितुं क्षमाः॥

इत्याद्याचार्योदाहृतान्युपबृंहणान्यनुसंधेयानि। (बृ) संबन्धवार्तिकोदाहृतायाम् 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे (मु २-१-९) इति श्रुतौ;—नास्यार्थस्य विरोधो दृश्यते। 'परं हिरण्यगर्भादि अवरं यस्य तद्ब्रह्म परावरम्' इति भामती। युक्तं चैतत्—'एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इत्यादिश्रुत्यन्तरानुसारात् 'क्षीयन्ते—परावरे' इत्यतःपूर्वं 'यदेतज्जानथ परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् (२-२-१) इत्यनेन विज्ञानाज्जीवात्परस्य प्रजाभिः प्रार्थनीयस्य ज्ञानं विधाय 'यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च' तदेतदक्षरं ब्रह्म' 'तदेतत्सत्यम्' 'तद्वेद्धव्यम् सौम्य विद्धि' इत्युपक्रम्य 'शरवत्तन्मयो भवेत्' (४) इत्यन्तेन तत्र करणं प्रणवमभिधाय 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानाथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथा मृतस्यैष सेतुः (५) इत्यत्र तज्ज्ञानविषयस्य मोक्षसाधनतां विधाय—

स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवात्मानं ध्यायथ स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥

भावप्रकाशः

इत्यनेन तस्य ध्यानरूपतां प्रकृतिमण्डलादुपरिदेशे ब्रह्मप्राप्तिफलम्;

यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ (७)

इत्यनेन ध्यानविषयस्य लीलानित्यविभूत्याधिपत्यं; तदुत्तरमन्त्रे ध्यानस्य दर्शनरूपत्वं चाभिहितम् । अत्र;—'अमृतस्यैष सेतुः' इत्यत्र एष इति प्रधानभूतं ज्ञानविषयं परामृशति न ज्ञानम्; पूर्वम् यदेतत्, तदेतत्; तदेतत्, इत्यत्र; परत्र;—स एषः यस्यैषः—ब्रह्मपुरे ह्येषः, इत्यत्र च एतच्छब्देन ब्रह्मण एव निर्देशात् । एवंच 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्यत्र तच्छब्देन अमृतसेतोः परामर्शेन तद्दर्शनस्य कर्मक्षयहेतुत्वं सङ्कल्पद्वारकमेव विवक्षितम् । परावरे इत्यनेनापि कर्मक्षयस्य परसङ्कल्पमूलकत्वं सिध्यति । न ह्यवरपुरुषस्य परपुरुषात् फलसिद्धिः प्रसादमन्तरा लोके दृश्यते । किञ्च परैरपि अपूर्वस्य निरसनेन कर्मफलं सङ्कल्पमूलकमित्येवाभ्युपगम्यते । एवं सति कर्मफलनिवृत्तिरूपः कर्मक्षयः कथं सङ्कल्पाद्वारको भवितुमर्हति? । चरमदेहवियोगकाल एव कर्मक्षय इति सांपरायाधिकरणे स्थापितम् ॥

अपिच सृष्टिकाले जीवस्य देहाकारपरिणतप्रकृतिसंबन्धं प्रलयकाले तल्लयं च सङ्कल्पयितुः परस्य सङ्कल्पमन्तरा न तादृशप्रकृतिसंबन्धस्यापुनरङ्कुरं निवृत्तिः । न वा आत्यन्तिकलयरूपा मुक्तिः । इदं च कर्मदेहनिवृत्त्योः सङ्कल्पमूलकत्वं उदाहृतश्वेताश्वतरप्रघट्टके—'स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात्पुरुषः, (बृ) इत्यत्र च विवक्षितम् ॥

. . . . क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
(श्वे. १–१०)

भावप्रकाशः

अभिध्यानसंबन्धिनः बन्धविपर्ययोर्हेतुत्वस्य परैरनङ्गीकारात् । ईश्वर-स्वरूपापरिज्ञानाद्बन्धः तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः इति तत्सिद्धान्तात् । 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः—तस्याभिधानात्तु (श्वे. १-११) इति तदुदाहृतश्रुतौ ज्ञानं निर्गुणविद्या अभिध्यानं ततोऽन्यत् इति हि तन्मतम् । एवं च बन्धे अविद्यासंबन्धिनः तद्विपर्यये विद्यासंबन्धिनश्च हेतुतया अभिध्यानसंबन्धिन उभयत्राहेतुत्वात् । अभिध्यानसंबन्धोपलक्षि-तस्य परशब्दार्थस्य शुद्धस्य हेतुताविवक्षाऽप्यत्र न संभवति । अविद्या-विद्यासंबन्धपुरस्कारेण हेतुभूतस्यार्थस्य तथा विवक्षाया अयुक्तत्वात् । सिद्धान्ते च परकर्तृकाभिध्यानत्वं हेतुतावच्छेदकमुभयत्रेति सामञ्ज-स्यम् । प्राचीन (शं) भाष्ये प्रथमसूत्र एव दोषमभिधाय (वे.सू.मु.) स्वयोजनां निर्दुष्टां मन्यमानैः ब्रह्मानन्दयतिभिः 'ततः तिरोभावादेवास्य बन्धमोक्षौ इति अत्र विवृतम् । तत्रापि मोक्षे विपर्ययपदार्थे तिरो-भावस्य हेतुता तिरोभावनिवृत्तेर्विपर्ययपदार्थत्वमभ्युपेत्य प्रतियोगि-विधया वाच्या । एवं सति तिरोभावस्यैव बन्धपदार्थत्वमास्थेयमिति बन्धे तस्य हेतुता न घटते । बन्धपदार्थस्यान्यादृशत्वे च विपर्यये इत्यादिकं बोध्यम् । 'माया' शब्देन स्वाप्निकानां प्राकृतत्वं सिध्यति । इत्थं च परस्य सङ्कल्पाविशिष्टवेषेणैव सृष्टिबन्धमुक्तिहेतुत्वमत्र सूत्रकृदभिमतम् ॥

एतेन 'फलमत उपपत्तेः' इति पादान्तिमाधिकरणसूत्रे फलपदं मुक्तिमपि संगृह्णातीति ततोऽपि कर्मविद्याफलयोरुभयोः संकल्पविशिष्ट-वेषेण हेतुत्वं भगवतस्सिध्यति । न च 'धर्मं जैमिनिरत एव' इति पूर्वपक्षे कर्ममात्रनिर्देशेन सिद्धान्तसूत्रे कथं विद्याफलविवक्षा? इति वाच्यम्;—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ (या. १-८)

भावप्रकाशः

व्युत्पन्नः । न तु कृत्प्रकृत्यर्थप्रतिद्वन्द्विनि भूधात्वर्थे । अतः 'तिरोहितं पराभिध्यानात् भवतीति योजना भवतीत्यस्याविर्भावार्थकत्वम् पराभिध्यानात् इत्यस्य 'तस्याभिध्यानात्तु तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यम् इति श्रुतिसमानार्थकत्वमेव' इत्युक्ति (अ. मा.) रनादरणीया । तथा सति तिरोहितं पराभिध्यानादिति क्रमस्सूत्रकृता कुतः परित्यक्तः? किंच तिरोभूतं पराभिध्यानादाविर्भवतीत्येतावानर्थः परेषामपेक्षित इति तिरोहितामिति निर्देशस्यापि वैफल्यम् । सिद्धान्ते तु पराभिध्यानात्तिरोहितमित्युक्ते परः जीवस्वरूपं अभिध्यानात्तिरोधत्ते इत्यर्थलाभेन परस्य स्वाप्निकस्राष्टिकर्तृत्वोपपादनं फलम् । एतेन सूत्रेषु परस्य स्वाप्निकार्थस्रष्टृत्वव्यञ्जकं न किञ्चिद्वर्तत इति शङ्कापि निरस्ता । पराभिध्यानात् इत्यस्य पूर्वसूत्रे आकर्षणेन सन्ध्ये सृष्टिः पराभिध्यानात् मायामात्रं इत्यन्वयः । मायामात्रत्वं पराभिध्यानसंपाद्यं । 'न तत्र रथाः' इत्यादिश्रुतिः सृष्टेराश्चर्यतापरा । एवं चाश्चर्यत्वात्सन्ध्ये सृष्टिः पराभिध्यानहेतुका इत्यर्थः । 'सोऽपि' इत्युत्तरसूत्रे तिरोभावस्य प्रतिपादनेन वाकारः पूर्वसूत्रे 'तिरोहितम्' इत्येतत्प्रतिपाद्येन तिरोभावहेतुना पराभिध्यानमूलकसूक्ष्माचित्संबन्धरूपेण सह तथाविधस्थूलदेहयोगस्य विकल्पं बोधयतीति वाकारोऽप्युपपद्यते । 'ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' इत्यत्र 'पञ्चम्यास्तसिल्' (५-३-७ पा.) इति सूत्रविहिततसिल्प्रत्ययार्थस्य बन्धविपर्ययोरन्वयस्य 'देहयोगाद्वा सोऽपि' इत्युत्तरसूत्रे पञ्चम्यर्थस्य तच्छब्दार्थतिरोभावेऽन्वयस्य च परसंमततया पराभिध्यानात् इत्यत्र पञ्चम्यर्थस्यापि तिरोधानेऽन्वयो युक्तः । ततः इत्यत्र तच्छब्दः पराभिध्यानमेव परामृशति । तच्छब्देन परस्य परामर्श इति तु न शङ्क्यम्; अनुपपत्तेः । तथात्वे अभिध्यानसंबन्धिनः परस्यैव तच्छब्देन परामर्शस्य वाच्यत्वात् ।

भावप्रकाशः

इति याज्ञवल्क्येनात्मदर्शनस्यापि धर्मतायाः प्रतिपादनात् (पं. पा. ६७८) पद्मपादाचार्यैः ;—सगुणब्रह्मविद्या च धर्मविशेष एवे 'त्युक्तः विद्याफलस्याप्यत्र विवक्षासंभवात् । पुरुषार्थाधिकरणे—'पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः' (३-४-१) इत्यत्र फलशब्दं विहाय पुरुषार्थशब्दः 'अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्' इत्यत्र इतरादिशब्दं परित्यज्य अधिकशब्दश्च प्रयुक्तः । अनेन पदद्वयेन उत्कृष्टपुरुषं प्रति निकृष्टेन प्रार्थितं विद्यया लब्धव्यं फलं उत्कृष्टप्रसादमूलकमेवेत्यर्थसूचनेन 'फलमत उपपत्तेः' इत्यत्रोक्तोर्थोऽत्रापि विवक्षितः ॥

किंच उभयत्र पूर्वमीमांसक एव पूर्वपक्षी । फलाधिकरणे कर्मापूर्वद्वारा फलजनकमिति पूर्वपक्षः । पुरुषार्थाधिकरणे तु उपनिषदां कर्मकर्तृस्तावकत्वेन औपनिषदात्मज्ञानं अपूर्वद्वाराफलजनकस्य कर्मणः अङ्गम् न स्वातन्त्र्येण फलजनकमिति पूर्वपक्षः । एवं च कर्मकर्तुरधिकस्य औपनिषदस्यात्मनो ज्ञानं न कर्माङ्गम् किंतु स्वातन्त्र्येण फलजनकमिति 'पुरुषार्थोऽतः' इति सिद्धान्तकरणमात्रेण विद्यामूलकफले प्रसादद्वारकत्वस्य न किंचिद्बाधकम् । अत्र पुरुषार्थशब्देन 'स नो दद्याद्ब्रह्माप्ययम्' इति श्रुतेः अधिकशब्देन 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इत्यादेः प्रत्यभिज्ञापनेन 'पराभिध्यानात्' इति सूत्रोक्तार्थः 'पुरुषार्थोऽतः' इत्यादिना प्रतिष्ठापितः । अतश्च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—परायणम्' इत्यस्य यथोक्त एवार्थः ॥

ननु माण्डूक्यकारिकासु गौडपादाचार्यैः माध्यमिकोक्तयुक्तिभिः कार्याकारणभावस्य सांवृतत्वं स्थापितम् । आरम्भणाधिकरण (शं.) भाष्येऽप्येवमिति (सि.) बिन्दुटीकायामुक्तम् । एवमेव संक्षेपशारीरकादावपि । इत्थंच (बृ. आ.) भाष्यवार्तिकयोः पूर्वकाण्डस्यानिर्वचनीये

भावप्रकाशः

साध्यसाधनभावे व्यावहारिकप्रामाण्योक्तावप्युपनिषदां न ब्रह्मणस्साधनतापरत्वम् । तथा सति तात्त्विकप्रामाण्यहानिप्रसङ्गात् ॥

अत एव विवरणप्रमेयसंग्रहे उपनिषत्तात्पर्यविषये ब्रह्मणि श्रेयोरूपे न श्रेयस्साधनत्वरूपं धर्मत्वमित्युक्तिस्सङ्गच्छत इति चेत् । उच्यते ;—कार्यकारणभावस्य तात्त्विकत्वं जडसर एव स्थापितम् किं च ऐतरेयोपनिषदा (द्वितीयारण्यका) रम्भे ' एष पन्थाः एतत्कर्म एतद्ब्रह्म एतत्सत्यम् ' इति ;-श्रूयते, अत्र सायणीयम् ' एषः—अतीतः आगामी चेत्युभयविधोऽपि पन्था पुरुषार्थस्य साधनमित्यर्थः । अग्निमीळे इत्याद्यतीतसन्निहितग्रन्थेन प्रतिपादितं तदेतत्कर्म सन्निहितेनारण्यकद्वयेन (उपनिषद्रूपेण) उत्तरग्रन्थेन प्रतिपादितं यत् सगुणं निर्गुणं च तदेतद्ब्रह्म-तदुभयमपि पुरुषार्थस्य साधनम् ' इति ॥

एतत्सत्यम् इत्यत्र एतत्—पुरुषार्थसाधनं कर्मब्रह्मोभयम् सत्यम्—एकविधप्रमाविषयः इत्यर्थः । एतेन कर्मणः सगुणब्रह्मणः पुरुषार्थसाधनत्वस्य च अनिर्वचनीयत्वेन व्यावहारिकत्वाङ्गीकारे दीर्घकालभ्रमविषयत्वस्यावर्जनीयतया निर्गुणवाक्यातिरिक्तस्य वेदस्य तथाविधार्थबोधकत्वे अप्रामाण्यमेव पर्यवस्यति तच्चायुक्तम्—अतो वेदे सर्वत्र तात्त्विकप्रामाण्यमेव इति निर्णीतम् । एतत् इत्यस्य ब्रह्ममात्रमेवार्थः ब्रह्मण एव सत्यत्वमत्र प्रतिपाद्यते इति तु न शङ्कयम् । जगद्वाचित्वाधिकरणे ; (१-४-१६) ' यस्य चैतत्कर्म ' इत्यत्रैतच्छब्दस्येवात्रत्यैतच्छब्दस्याप्यसंकोचेनोभयपरत्वस्यैव न्याय्यत्वात् । तथा सति एतद्ब्रह्म सत्यमित्येवालमिति चतुर्थैतच्छब्दस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । चतुर्थैतच्छब्दसार्थक्येऽपि पुरुषार्थसाधनत्वोपश्लिष्टब्रह्मण एवैतच्छब्दादुपस्थितेर्वाच्यतया साधनत्वोपश्लिष्टस्य परमते सत्यत्वानभ्युपगमान्न पराभीष्टसंभवः ॥

तत्वमुक्ताकलापः

स्थैर्यं चेन्नाभ्युपेतं भवभृति

सर्वार्थसिद्धिः

स्थैर्यमिति ;—तत्र **स्थैर्यं** चेन्नाभ्युपेतमिति आशुतरविनाशित्वानु-

आनन्ददायिनी

ननु स्थैर्याभावमात्रेण कथं दृष्टार्थप्रवृत्त्यनुपपत्तिः ? यावत्फल-मवस्थानस्य संभवात् इत्यत्राह ;—**आशुतरविनाशित्वानुवाद** इति ।

भावप्रकाशः

किंच उत्तरत्र 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (२-आ. ४-अ. १ खं) इत्यनेन 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव' इत्यन्तमेकं वाक्यमिति निर्णीय नान्यत्किञ्चन मिषत्' इत्यत्र स्पर्धार्थकमिषधातुप्रयो-गेण अद्वितीयम् इत्यस्य सजातीयद्वितीयरहितार्थकत्वं व्यवस्थाप्य 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत (२ आ. ४ अ १ खं) 'स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् लोके सर्वान् कामा-नाप्त्वाऽमृतस्समभवत्समभवत्' (२ आ. ६ अ. १) इत्युपक्रमोपसंहार-वाक्याभ्यां परमात्मनि सृष्टिहेतुत्वमुक्तिहेतुत्वयोः (३-आ) उपनिषदन्ते 'वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणे वा वाचं यो ह्येव प्रभवस्स एवाप्ययः' इत्यत्र सृष्टिकारणत्वलयहेतुत्वयोश्च प्रतिपादनादपि य उत्पादकस्स एव मुक्तिप्रदः इत्यर्थस्य बोधनात् यथोक्त एवार्थः ॥

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः (मुं. ३-३) (क. २-२३) इति श्रुतौ वरणप्रयोजकभक्तिमान् यच्छब्दार्थः । वरणं च अयं मां प्राप्नुया-दित्यमोघसङ्कल्पः (त-टी) इति सङ्कल्पद्वारा प्राप्तिहेतुत्वं भक्तेस्तत्र विवक्षितम् । अत एव पूर्वं 'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुःप्रसा-दान्महिमानमात्मनः (क. २-२०) इति श्रुतौ भगवत्प्रसादाद्वीतशोकत्वो-

तत्वमुक्ताकलापः

न भवेदैहिकार्थप्रवृत्तिः देहान्तत्वे तु धर्म्ये पथि निरुपधिका विश्ववृत्तिर्न सिध्येत् ।

सर्वार्थसिद्धिः

वादः । बाधकमाह ;—**न भवेदिति** । आत्मानमुत्तरकालानवस्थायिनं मन्यमानो न किञ्चिदुद्दिश्य प्रवर्तेत ; तत्खलु आयत्यां सुखं दुःखनिवृत्तिं वाऽभिसंधाय ; तत्कथ घटेत ? फलकाले स्वाभावात् स्वकाले फलाभावात् , संतानैक्यादिकुसृतयस्तु प्रागेव निरस्ताः । द्वितीयपक्षे दूषणं **देहान्तत्व** इति । यदि देहावधिरात्मा तदा देहात्मवाद इव प्रेक्षावतो महाजनस्य धर्मादनपेते मार्गेऽनादिस्सार्वत्रिकी दृष्टफलाद्युपाधिरहिता प्रवृत्तिर्न घटेत । तदाहुः ;—

आनन्ददायिनी

उत्तरकालमिति ;—प्रवृत्त्युत्तरकालं क्षणिकस्य स्थित्यभावनिश्चयेनेत्यर्थः । ननूत्तरकालानवस्थाननिश्चयेऽपि प्रवृत्तिरस्तु ? को दोषः ? इत्यत्राह ;—**तत्खल्विति** । प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते इति न्यायादिति भावः । ननु स्वसन्तानस्य फलसंभवात् प्रवृत्तिरस्तु ? इत्यत्राह ;—**संतानैक्येति** । प्रथमसरे इत्यर्थः । अभियुक्तसंमतिं दर्शयति—; **तदाहुरिति** । विश्ववृत्तिः—विश्वस्य प्रवृत्तिः । विफला नो भवति प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वात् । अन्यथा दुःखैकफले प्रवृत्तिर्न स्यादित्य-

भावप्रकाशः

क्तिस्सङ्गच्छते । 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इत्यादि हि तदुपबृंहणम्! यमेवैष इत्यत्र एतच्छब्दः पूर्वं 'नायमात्मा' इत्युक्तपरमात्मवाची । 'तस्यैष आत्मा' इति उत्तरैतच्छब्दोऽपि तथैव । यत्तच्छब्दौ

सर्वार्थसिद्धिः

* विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलाऽपि च ।
दृष्टलाभफला नाऽपि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः ॥

आनन्ददायिनी

भिप्रायेणाह—**न दुःखैकफलेति** । देहातिरिक्तात्मवादिनो दृष्टफलप्रवृत्तिरुपपद्यते इत्यत्राह ;—**दृष्टलाभफला नाऽपीति** । न किञ्चित्फलं तस्येत्यत्राह ;—**विप्रलम्भोऽपीति** । प्रेक्षावतो महाजनस्य धर्मादनपेते मार्गे दृष्टफलाद्युपाधिविधुराऽनादिस्सार्वत्रिकी प्रवृत्तिरतिरिक्तं नित्यमात्मानं साधयतीत्यर्थः ॥

भावप्रकाशः

जीवपरा * विफलेत्यादि ;—कुसुमाञ्जलावुदयनस्य कारिकेयम् । इयं चेत्थं विवृता तेन तत्रैव ;—यदि हि पूर्वपूर्वभूतपरिणतिपरम्परामात्रमेवोत्तरोत्तरनिदानम् । न परलोकार्थी कश्चिदिष्टापूर्तयोः प्रवर्तेत । न हि निष्फले दुःखैकफले वा कश्चिदेकोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी घटते ! प्रागेव जगत् । लाभपूजाख्यात्यर्थमिति चेत् ; लाभादय एव किन्निबन्धनाः ? न हीयं प्रवृत्तिः स्वरूपत एव तद्धेतुः ! यतो वाऽनेन लब्धव्यं यो वैनं पूजयिष्यति । स किमर्थम् ? ख्यात्यर्थमनुरागार्थं च । जनो दातरि मानयितरि च रज्यते । जनानुरागप्रभवा हि संपदः ! इति चेत् ; न ; नीतिनर्मसचिवेष्वेव तदर्थं दानादिव्यवस्थापनात् । त्रैविद्यतपस्विनो धूर्तबका एवेति चेन्न ; तेषां दृष्टसंपदं प्रत्यनुपयोगात् । सुखार्थं तथा करोतीति चेन्न ; नास्तिकैरपि तथा करणप्रसङ्गात् । संभोगवत् लोकव्यवहारसिद्धत्वादफलमपि क्रियते वेदव्यवहारसिद्धत्वात् संध्योपासनादिवत् । इति चेत् गुरुमतमेतत् न तु गुरोर्मतम् । अतो नेदमनवसर एव

तत्वमुक्ताकलापः

आकल्पस्थायिपक्षे कृतमफलतया मुक्तिमार्गोप-

सर्वार्थसिद्धिः

इति । तृतीयं दूषयति ;—**आकल्पेति** । अयं भावः ;—यदि सर्वदुःखनिवृत्तियुक्त आत्मनाश एव मोक्षः स तर्हि कल्पान्ते स्वयमेवैष्यति । न चासौ पूर्वं साध्यः ! त्वरया मध्ये स्वनाशार्थमुपायग्रह इति चेन्न ;

आनन्ददायिनी

ननु मोक्षमार्गोपदेशस्य मोक्षफलकत्वात् प्रवृत्तेश्च तदर्थतयोपपत्तः कथमफलेतत्यत्राह ;—**अयं भाव इति । स तर्हीति** ;—तथाऽप्युपदेशवैयर्थ्यमित्यर्थः । वैयर्थ्यपरिहारं शङ्कते ;—**त्वरयेति** । अत्र

भावप्रकाशः

वक्तुमुचितम् । वृद्धैर्विप्रलब्धत्वाद्बालानामिति चेन्न ; वृद्धानामपि प्रवृत्तेः । न च विप्रलम्भकाः स्वात्मानमपि विप्रलभन्ते ! तेऽपि वृद्धतरैरित्यनादिरिति चेत् ; न तर्हि विप्रलिप्सुः कश्चिदत्र ; यतः प्रतारणशङ्का स्यात् । इदम्प्रथम एव कश्चिदनुष्ठायापि धूर्तः पराननुष्ठापयतीति चेत् । किमसौ सर्वलोकोत्तर एव यस्सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखविमुखो ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया वा केवलपरवञ्चनकुतूहली यावज्जीवमात्मानमवसादयति ! कथं चैनमेकं प्रेक्षाकारिणोऽप्यनुविदध्युः ? केन वा चिह्नेन अयमीदृशस्त्वया लोकोत्तरप्रज्ञेन प्रतारक इति निर्णीतः ? न ह्येतावतो दुःखराशेः प्रतारणसुखं गरीयः यतः पाखण्डाभिमतेष्वप्येवं दृश्यत इति चेत् ; न हेतु-

तत्वमुक्ताकलापः

देशैः आमोक्षस्थायितायां श्रुतिरनभिमुखी पूरुषार्थे चतुर्थे ॥ १७ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

स्वनाशस्य सर्वप्रमाणैरपि पुमर्थत्वासिद्धेः । एवं च भाषितम् ;—

अहमर्थविनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति ।
अपसर्पेदसौ मोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः ॥

इति । चतुर्थे बाधकमाह ;—**आमोक्षेति ।** अनभिमुखी *स्वनाशरूपं

आनन्ददायिनी

भाष्यं संवादयति ;—**एवं चेति । स्वनाशरूपमिति ;**—एवं च पूर्वापेक्षया भेदान्न पौनरुक्त्यमिति भावः । एतेन पुत्राद्युपभोगसाधनार्थं स्वनाशफलेपि प्रवृत्तिदर्शनात् अत्रापि प्रवृत्तिस्संभवतीत्यपास्तम् । न

भावप्रकाशः

दर्शनादर्शनाभ्यां विशेषात् । अनादौ चैवंभूतेऽनुष्ठाने प्रतायमाने प्रकारान्तरमाश्रित्यापि बहुवित्तव्ययायासोपदेशमात्रेण प्रतारणा स्यात् न त्वनुष्ठानागोचरेण कर्मणा । अन्यथा प्रमाणविरोधमन्तरेण पाखण्डत्वप्रसिद्धिरपि न स्यात् इति ।* स्वनाशरूपमिति ;—'सोऽहं भगवश्शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु (छां ७-१-३) इति नारदः सनत्कुमारं प्रार्थयति । अत्र मां शोकस्य—शोकसागरस्य पारं भगवांस्तारयतु आत्मज्ञानोडुपेन इति (शं) भाष्यम् । एवं 'त्वं हि

भावप्रकाशः

नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयितासि (प्र. ६-८) इति कात्यायनादयष्षड्षयः ब्रह्मविद्योपदेष्टारं पिप्पलादमूचुः । अत्रापि अविद्यामहोदधेर्विद्याप्लवेन परं—मोक्षाख्यम् महोदधेरिव पारं तारयितास्यस्मान् प्रति इति (शं) भाष्यम् । अत्रोभयत्रापि अहमर्थस्य परप्राप्तेरभिधानेन मुक्तौ नाहमर्थनाश इति स्फुटम् ॥

एवं 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्' (बृ ४-४-३ (६-५-४) इति याज्ञवल्क्यं प्रति मैत्रेय्युक्तेः 'अमृतं मा कुरु (बृ ३-३-२८) इत्युक्तेश्च पर्यालोचनायामपि अहमर्थस्यैव मुक्तत्वं प्रतीयते । शरीरसम्बन्धेनाहमर्थे शोकाङ्गीकारेऽपि शरीरादहमर्थत्वविरहेण न तन्नाशेनाहमर्थनाशः । धर्मभूतज्ञानं तु परिणामिनित्यं धर्मधर्मिणौ च भिन्नौ इति श्रुतिसिद्धान्तः । अतः अन्तःकरणस्य विशेष्यतया विशेषणतया वाऽहमर्थत्वम् तेनाहमर्थविनाशश्च न श्रुतिसिद्धान्तः किन्तु परसिद्धान्त इति भावः ॥

चतुर्थे अहमर्थनाशस्य पुमर्थतायाः श्रुतिसिद्धत्वाभावमात्रकथनेऽपि मोक्षार्थप्रवृत्त्यनुपपत्तिः तृतीयपक्षोक्ता अस्मिन्नपि पक्षे अनुसन्धेया ॥

नैरात्म्यवादपक्षे तु पूर्वमेवावबुध्यते ।
मद्विनाशात्फलं न स्यान्मत्तोऽन्यस्याथ वा भवेत् ।
इति नैव प्रवृत्तिस्स्यात् नच वेद प्रमाणता ।
(श्लो. वा. आ. वा. २२)

इति कुमारिलोक्तं दूषणं सुरेश्वरादिमतेऽपि समानमिति आत्मसिद्धौ भगवद्यामुनमुनिभिः सिद्धान्तितार्थसङ्ग्रह(अहमर्थेत्यादि)श्लोकस्य श्रीभाष्यस्थस्य पूर्वमुपादानात् ॥

सर्वार्थसिद्धिः

चतुर्थपुरुषार्थं न वक्ति । * **स्वेन रूपेणा**भिनिष्पन्नस्य भोगादीनप्याह । **ननु** विज्ञान घन एवैतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' इति जीवविनाशश्श्रूयते? **मैवम्**; लोकधीरूढानुवादमात्रत्वाददर्शनमात्रपरत्वाद्वा । स्मर्यते च;—

अदर्शनादिहायातः पुनश्चादर्शनं गतः ।

इति । **अन्यथा** कथम् 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा'

आनन्ददायिनी

ह्यन्यस्य दुःखाभावोऽन्यस्य फलं भवितुमर्हति । न ह्यन्यस्य प्रवृत्त्याऽन्यस्य दुःखाभावलक्षणो मोक्ष उदेति ! तन्नाशप्रसङ्गेन तेनाप्यनुभवितुमनर्हत्वादिति मोक्षोपदेशश्रुतिविरोधाच्च न मोक्षान्तो जीव इत्याह;—**स्वेनरूपेणेति** । शङ्कते;—**नन्विति** । **मैवमिति**;—लोकस्य-म्रियमाणजनसमीपस्थस्य जनस्य अयं नष्ट इति रूढस्य बुद्धिविषयस्यानुभवमात्रमित्यर्थः । ध्वंसवाचकत्वाभावान्नात्र ध्वंसः प्रतिपाद्यते अपित्वदर्शनमात्रमेवेत्याह;—**अदर्शनमात्रमिति** णश अदर्शन इति धातुरिति भावः । ननु नाशशब्दस्य ध्वंस एव रूढत्वात् ध्वंसवाचकोऽस्त्वित्यत्राह;—**अन्यथेति** ।

भावप्रकाशः

* **स्वेनेत्यादि**;—'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति (छां-८-१२-२) श्रुतौ रूपेणेति निर्गुणस्याविर्भावभ्रमव्युदासायैव । एवं च तदुत्तरं 'स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्' इत्यादिना मुक्तभोगोक्तिः निर्गुणविद्यास्तुत्यर्थमेवेति परोक्तिर्निरवकाशा । 'य आत्माऽपहतपाप्मा—सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः' इत्यत्र निर्गुणविद्यात्वेन पराभिमतप्रजापतिविद्योपक्रमे 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' इत्याद्युपसंहारे च गुणाभि-

सर्वार्थसिद्धिः

इति तन्नित्यत्वसाधनम्? **ननु 'न प्रेत्य** संज्ञास्ति' इति मुक्तस्य निस्संबोधत्वश्रुत्या नाशस्सिध्येत्? न; देहादिभिरेकीकृत्य बुद्धेः तन्निबन्धनाख्याभेदस्य वा निवृत्तौ तात्पर्यात् । **ननु** ब्रह्मणाऽऽ*त्यन्ति-

आनन्ददायिनी

साधनं—प्रतिपादनम् । ननु जीवनाशश्रुतेर्यथाश्रुतार्थ एव ग्राह्यः । न प्रेत्येत्यादिवाक्येन संज्ञाभावप्रतिपादनस्यार्थाभावनिबन्धत्वेन जीवात्माभावावगमाच्च नाशश्रुतिर्यथार्थेत्याशङ्क्य भ्रान्तिरूपबुद्ध्यभावपरतया देहाभावप्रयुक्तब्राह्मणदेवदत्तादिसंज्ञानिवृत्तिपरतया वा अन्यथासिद्ध्या न तदनुरोधेन मुख्यार्थस्वीकार इत्याह; **ननु न प्रेत्येति । नन्विति**;—आत्यन्तिकलयरूपायाः मुक्तेः जीवनाशं विनाऽसंभवान्नाशसिद्धिरिति भावः । यथा सुषुप्तिमरणादौ स्वं ह्यपीतो भवतीत्यादिना देहात्माभिमानाद्यौपाधिकाकारनिवृत्तिपूर्वकसंश्लेषमात्रपर-

भावप्रकाशः

धानेन सगुणस्यैव तात्पर्यविषयत्वाच्च मध्यवाक्यस्य निर्गुणविद्यास्तुत्यर्थत्वासम्भवात् । * आत्यन्तिकलयः कथमिति;—'तानि परे तथाह्याह' (४ २ १५) 'अविभागो वचनात्' (१६) इति सूत्रद्वय-(शं) भाष्योदाहृतायां 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाष्षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति'। 'भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति' (प्र. ६-५) इति श्रुतौ कलानां स्वप्रकृतौ लयाद्विलक्षणो ब्रह्मणि निरवशेष लय उक्तः। एवं च कलान्तर्गतयोः मनःप्राणयोर्जीवोपाध्योर्निरवशेषनाशेऽहमर्थस्यानाशो नोपपद्यते । तदुक्तम्;—

यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो
जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् । (१२-४-३३ भाग)

सर्वार्थसिद्धिः

कलयः कथम्? *अनात्यन्तिकवत् । स्वविशिष्टे ब्रह्मण्यौपाधिक-

आनन्ददायिनी

तया न नाशपरत्वं तथा मुक्तावपीति परिहरति;—**अनात्यन्तिकव-दिति** । नन्वनात्यन्तिके यथातथा वाऽस्तु । मुक्तौ बाधकाभावात्

भावप्रकाशः

यदैवमेतेन विवेकहेतिना
मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम् ।
छित्वाऽच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते
तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग! संप्लवम् ॥ ३४ ॥

इति भावः । *अनात्यन्तिकवत् इति;—

'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु' ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ (मुं. ३-२-७)

इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलय-माह स्म व्यवहारापेक्षा । पार्थिवाद्याःकलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृती-रपियन्तीति इतरा तु एवमेवास्येत्यादिका विद्वत्प्रातिपत्त्यपेक्षा कृत्स्नं कलाजातं ब्रह्मविदो ब्रह्मैव संपत्स्यते' इति परैः (शं) उक्तम् । अत्र गताः कला इत्यत्र कलानां स्वावान्तरप्रकृतौ लयानन्तरं 'परेऽव्यये एकीभवन्तीत्यत्र निरवशेषलयो विवक्षितो न वा? आद्ये कलान्तर्गत-जीवोपाधिलयेनैव जीवलयस्सिध्यतीति परमते 'विज्ञानमयश्च आत्मा'

भावप्रकाशः

इति विफलम् । एतेनात्रैकीभावस्य सर्वत्रैकरूपस्य सम्पादनार्थं 'कलादि-विज्ञानमयान्ताः परब्रह्मणि अभेदं प्राप्नुवन्तीत्येवार्थः । प्रतिष्ठागतकलादेः कलाद्यवच्छिन्नसद्रूपेण स्थितस्य ज्ञानोत्तरं शुद्धसद्रूपेणैवावस्थानात् । (ल. चं. ८४२) इति प्रयासो विफलः ॥

किञ्च 'सदेव सोम्येदम्' 'आत्मा वा इदम्' 'तत्त्वमसि' इत्यादावप्येषैव रीतिराश्रियताम् । किञ्च कलानां उपहितस्य च शुद्धसता तादात्म्यमेव नाभेदः परमते । किञ्च 'एवमेवास्य' इति श्रुतावपि 'पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' इत्यत्रैव निरवशेषलयविवक्षा-सम्भवे 'भिद्येते तासां नामरूपे' इत्यत्र निरवशेषलयविवक्षाऽभिधानं कुतः? अन्त्ये ;—

'तमः परे देव एकी भवति'

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्क्रिये सम्प्रलीयते ।

इत्यादिवदेव 'पुरुषायणाः' इत्यत्राप्यनात्यन्तिकलयस्य विवक्षाया वाच्यतया नामरूपविनिर्मोकस्य प्राकृतप्रलये 'सदेव सोम्येदमग्र आसी-देकमेव' इत्यादिश्रुतिसिद्धतया 'भिद्येते तासां नामरूपे' इत्यत्र कलादिमात्रस्य नामरूपभेदोक्तिमात्रेण न निरवशेषलयस्सिध्यति । न च नदीसमुद्रदृष्टान्तवाक्यार्थानुमतिपूर्वकास्तगमनोक्त्या नामरूपविलयसिद्धेः 'भिद्येते' इत्यादिवाक्यं तयोर्निरवशेषलयप्रतिपादनार्थमिति (भा–क) परिमलोक्त्या कलानां निरवशेषलयस्सिध्यति! 'स यथेमा नद्यस्समुद्राय-णास्समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते' इति पूर्वं दृष्टान्ते 'भिद्येते' इति वाक्येन प्रतिपाद्यमानस्य नामरूपविलयस्य निरवशेषत्वस्य प्रत्यक्षविरुद्धत्वेनासंभवात् । 'समुद्र इत्येवं प्रोच्यते' इत्यन्यनामसंबन्धोक्त्या सन्नियोगशिष्टान्यरूपसंबन्ध-

भावप्रकाशः

स्यापि लाभाच्च । दार्ष्टान्तिकेऽपि 'भिद्येते तासां नामरूपे' इत्यनन्तरं 'पुरुष इत्येवं प्रोच्यते' इत्यनेन नामान्तराभिधानेन नामरूपयोः निरवशेषलयाभावस्यैव स्थापनात् । अतः प्राकृतप्रलयदशायां कलानां रूपविशेषत्यागेन ब्रह्मणो यथा श्लेषः तद्वदात्यन्तिकलयदशायामपि ॥

तत्रैतावान् विशेषः ;—प्राकृतप्रलये कलानां स्वावान्तरप्रकृतौ लयः अनन्तरमव्यक्तादिसृष्टिवचनात् । आत्यन्तिकलये तु न तथा । अत एवात्र कलानां स्वावान्तरप्रकृतौ लयो नोक्तः । 'गताः कलाः' इति तु मुक्तत्यक्तकलानां प्राकृतलयकालिकलयपरमेव (१–२–२३–श्रु–प्र) 'तानि परे तथा ह्याह' इति सूत्रश्रीभाष्योदाहृतायां 'तेजः परस्यां देवतायाम्' इति श्रुतौ यथा जीवपरयोर्नाभेदः तथाऽत्रापि नाभेदः । 'अविभागो वचनात्' इति सूत्रे अभेदादिशब्दं विहाय अविभागशब्दं प्रयुञ्जानो बादरायणः जीवस्य चरमदेहवियोगानन्तरं परेण नीरन्ध्रसंश्लेष एव नाभेद इति ख्यापयतीति । 'यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मन' इत्यत्राहङ्कारः अहमित्यभिमानविषयो देहः अत एव विवेकहेतिना छेदोक्तिस्सङ्गच्छते । 'सैषा विष्णोर्महामाया' यथा मुह्यन्त्यात्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः । (भाग १२-४-२९) इत्युपक्रम्य ;—

तदेतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम् ।

अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥ (भाग १२-६-३३)

इति च वक्ष्यते । एवं विष्णुपुराणेऽपि इति (भाग-श्रु-प) व्यासार्यैरुक्तम् ।

यद्यपि 'एवमेवास्य–भिद्येते' इत्यादिश्रुतेः प्राकृतप्रलयपरतापक्षोऽपि तैरेव (४–२–१४–श्रु–प्र) अन्यत्रोक्त श्रुतिद्वयैकरस्यार्थम् । तथाऽपि 'गताः कलाः' इत्यनन्तरं 'यथा नद्यः– तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः'

सर्वार्थसिद्धिः

रूपेण विशेषत्यागेन श्लेषस्य विवक्षितत्वात्। अन्यथा मुक्तिदशायां *भेदोक्तिभिर्विरोधात्। 'यथा नद्यस्स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय' इति दर्शनात् मुक्तोऽप्यस्तमेष्यतीति चेन्न; प्रविष्ट-जलस्य स्वरूपनाशाभावात्। अन्यथा पयःप्रस्थद्वयसंभेदे प्रस्थशेषत्व-

आनन्ददायिनी

मुख्य एव लयोऽस्तु इत्यत्राह—**अन्यथेति**। 'सह ब्रह्मणेति भेदश्रवणा-दिति भावः। **यथानद्य इति**; रूपशब्देन स्वरूपाभिधानादिति भावः। दृष्टा-न्तविरोधान्न स्वरूपनाश इत्याह;—**न; प्रविष्टेति**। तत्र युक्तिः;—**अन्यथेति**।

भावप्रकाशः

इति श्रुतिरेवैतत्समानार्थिका। अत्र कलालयोक्तिस्तु प्राकृतलयवत् आत्यन्तिकलयेऽपि कलालयो न निरवशेष इति बोधनायेत्यभिप्रेत्य प्रथम पक्षस्तत्रैवोक्त इत्यन्यदेतत्। उभयथाऽपि कलानां न निरवशेषलयः प्राकृत इवात्यन्तिकेऽपि। *भेदोक्तिभिरिति;—जीवस्यावस्थाचतुष्टये भेदोक्तयः नायकसरे (४० श्लो) उदाहरिष्यन्ते। एतावता 'अविभागो वचनात्' इति सूत्रे परोदाहृतश्रुतेः सूत्रस्य चार्थो निर्णीतः। एवमेव 'अविभागेन दृष्टत्वात् (४–४–४) इति सूत्रे परोक्तनदीसमुद्रनिदर्शना-न्यपि औपाधिकनामरूपप्रहाणेन संश्लेषपराणीति व्यञ्जयन् शङ्कते;— यथा नद्य इत्यादिना। तत्र च सूत्रे परैः 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यत् यद्विभक्तं पश्येत्' (बृ) इति सुषुप्तिविषया श्रुतिरप्युपात्ता। सुषुप्तौ च जीवब्रह्मविभागः परैरपि (पं—वि) अभ्युपगम्यते। परमतेऽपि अविद्यायाः सुषुप्तौ सत्त्वेन 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तः' 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' इतिश्रुतिविरोधेन च जीवब्रह्मणोरैक्याङ्गीकारासंभवेन 'विभक्तं' इत्येतत्प्रतिकोटिभूतस्य 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति'

सर्वार्थसिद्धिः

प्रसङ्गात्। *'यथोदकं' इत्यारभ्य 'तादृगेव भवति' इति श्रुत्यन्तर-

आनन्ददायिनी

श्रुत्यैव तदर्थस्य स्पष्टत्वात् न परस्यावकाश इत्याह;—**यथेति**—

घटध्वंसे घटाकाशो न भिन्नो नभसा यथा।

भावप्रकाशः

इत्यत्राद्वैतशब्दास्यार्थः दृष्टान्तानुगुणदार्ष्टान्तिकगतसंपरिष्वक्तशब्दबोधितसंश्लेष एवाविभाग इत्यास्थेयं न त्वन्यथेत्याशयः। तत्रैव सूत्रे परोदाहृतश्रुत्यन्तरमपि भेदपरमिति सूचयन्नाह;—*'यथोदकं' इत्यारभ्येत्यादिना—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ (कठ ४–१५)

इति श्रुतिः। अत्र तदेव भवतीति नोक्तम्; किन्तु तादृगेव भवतीति। एवकारेणच अभेदतद्वृत्तिधर्मविरहयोः व्यवच्छेदः। तादृगिति 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' (३–२–६०) इति सूत्रेण क्विन्नन्तम्। 'कर्मकर्ताऽयम्; तामिवेमं पश्यन्ति जनाः सोऽयं स इव दृश्यमानः तामिवात्मानं पश्यतीति तादृक्' इति तत्सूत्रमहाभाष्यानुसारेण स इव पश्यति—ज्ञानविषयो भवतीति विग्रहः। इवशब्दार्थश्च 'न ञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः' 'नञ्युक्तमिवयुक्तं चान्यस्मिंस्तत्सदृशे' इति 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३–३–१९) इति सूत्रस्थमहाभाष्याद्भेदगर्भः। इवयुक्तोदाहरणम् 'इवे प्रतिकृतौ' इत्यधिकारे 'शाखादिभ्यो यः' इति ये सोम्य इत्यादि। 'तत्र सोमसदृशस्ताद्भिन्नः प्रतीयते न तु सोम एव' इति मञ्जूषायां नागे-

भावप्रकाशः

शोक्तेश्च । अन्यत्वं नञा साहश्यमिवेन बोध्यते । यद्वा ;— अन्यत्वं साहश्यं च नञा पृथग्बोध्यते ॥

तत्साहश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाष्षट् प्रकीर्तिताः ॥

इत्युक्तेरिति भ्रमव्युदासाय अन्यसदृशाधिकरणे इत्युक्तम् । 'अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशं पुरुषमानयति नासौ लोष्टमानीय कृती भवति'। इत्युत्तरभाष्ये नञोऽन्यमात्रबोधकत्वे दोषप्रदर्शनेन पृथक् अन्यबोधकत्वं नास्तीत्येतावन्मात्रस्य प्रतीतेः । अभेदेऽपि साहश्यसत्त्वेन नञिवाभ्यां तस्याबोधार्थं अन्यपदमिति(ना) कल्पनं तु न युक्तम् । इव शब्दात् भेदस्य नियमेन प्रतीतिः न सदृशशब्दादित्यर्थस्य आलङ्कारिकैस्तदन्यैर्वाऽनभ्युपगमात् । माहाभाष्येऽप्ययमर्थः क्वापि नोक्तः । केचित्तु ;—साहश्यस्यातिरिक्तत्वे भेदनियतस्य तस्य नञा उपस्थानेऽपि भिन्नत्वेन बोधो न निर्वहतीति तदुपपत्तये इत्थमुक्तिरित्याहुः । अस्या मुखसदृशमस्या मुखम् अस्या मुखमिवास्या मुखमित्यनयोः श्रौतत्वार्थत्वाभ्यामेव विशेषो नान्यरूपेण अतस्साहश्यस्य भेदाघटितत्ववादिमते इवशब्दघटितप्रयोगोपपत्तिवत् साहश्यस्य भेदघटितत्ववादिमते सदृशशब्दघटितप्रयोग उपपादनीयः । एतेन 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१-२-२७) इत्येतद्भाष्यकैयटयोः कालग्रहणसामर्थ्याद्दीर्घप्लुतव्यावृत्तिपक्षे कचित् 'उसदृशोऽच्' इति वाक्ये ह्रस्वसाहश्यं ह्रस्वस्य प्रयोगभेदेनारोपेण वोपपादनीयम् 'एतदस्वरसेनैव पक्षान्तरारम्भः भाष्ये ॥

अतएव 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१-१-९) इति सूत्रे उद्योतशेखरयोर्नागेशेन कार्यभेदात् स्थानयोर्भेदेन साहश्यस्योपपादनं संगच्छते । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५-१-११५) इति सूत्रे

भावप्रकाशः

कैयटे 'नास्त्येकजातीयानामुपमानोपमेयभावः शयितव्येन तुल्यं शयितव्यमिति। यथा गौरिव गौरिति' इत्यनेन 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इति सूत्रे 'यदेवोपमानं तदेवोपमेयम्; क इहोपमेयार्थः? गौरिव गौः? इति' भाष्योक्तार्थस्य तुल्यशब्दयोगेऽप्यविशेषप्रदर्शनेन इवशब्देनेव तुल्यशब्देनापि भेदघटितसादृश्यस्यैव बोध इत्येव युक्तम्॥

३-३ १९भाष्ये 'अन्यस्मिन्' इत्यस्य वैयर्थ्यापत्त्या अभेदेऽपि सादृश्यमिति सूच्यते। अनेकवृत्तिधर्मस्यैव साधारणधर्मत्वेन आवृत्त्या एकस्याप्यनेकत्वेन साधारणधर्मप्रयोज्यसादृश्यमभेदेऽपि संभवति इति वदताऽपि नागेशेन मञ्जूषायाम् 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (२-१-५५) इति सूत्रभाष्ये 'यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः तत्रोपमानोपमेये भवतः' इत्यनेन यत्र साधारणधर्मेण सामान्यरूपता प्रतीतिः प्रत्येक रूपेण शब्दतो विशेषरूपता प्रतीतिः तत्रोपमानत्वादिप्रतीतिरिति गौरिव गौरित्यत्रानन्वयालङ्कार एव। उपमानसंबन्धाभाव एवानन्वयः' इति चोक्तम्॥

अत्र (कुं) टीका;—अनन्वयविषये आपाततश्शाब्दबोधोपपत्तये उपमानान्तरव्यवच्छेदबोधाय चाहार्यो भेदाभावेऽपि भेदविशिष्टसाधर्म्योपचार इति तत्रेवादेरुद्देश्यभूतस्वसमभिव्याहृतभेदविशिष्टसाधर्म्यस्य निरुपमस्य द्योतकत्वमिति गोभिन्नो गोसदृशो निरुपमो गौरित्यादिरीत्या बोधः' इति। युक्तं चैतत्;—'भेदोपचारेणैवानन्वयः' इति (का-प्र) प्रदीपोद्योतयोर्निर्णयात्। एवं च 'यथोदकं' इति पूर्वार्धे जलयोर्नाभेदः परिणामाधिक्यात् किंतु भेद एवेति अविभागमात्रपर्यवसानेन दृष्टान्तस्संगच्छते। 'एवं मुनेः' इति उत्तरार्धे आत्मा तादृगेव भवतीत्यनेन जीवब्रह्मणोर्भेद एवेति मुक्तावपि अविभाग एवेति पर्यव-

सर्वार्थसिद्धिः

विरोधाच्च । घटध्वंसे घटाकाशोऽपि न नश्यत्येव घटसंयोगनाशात् नश्यतीत्युपचरन्ति । मुक्तिदशायां भेदनिवृत्तिवादाश्च कर्मकृतवैषम्यनिवृत्तिपराः । * साधर्म्यवादिभिरप्येतदेव व्यवस्थाप्यते ।

आनन्ददायिनी

इति वचनादपि न सेत्स्यतीत्याह ;—**घटध्वंसे** इति । **मुक्तिदशायामिति** ;—स्वाभाविकस्य निवृत्त्ययोगात् कर्मोपाधिकानामध्यस्तभेदानामेव निवृत्तिः परस्याभिमतेति तत्पराणां न बाधकत्वमिति भावः ।

भावप्रकाशः

स्यति । एतेन 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यत्र विभक्तस्यैव निषेधः । अत एव 'यथोदकं' इत्येतत्पूर्वमन्त्रे 'एवं धर्मान् पृथक्पश्यन्' इत्यत्र भिन्नादिशब्दं विहाय पृथक्छब्दप्रयोगेण ब्रह्मणः पृथग्भूतस्य (विभक्तस्य) वस्तुनो दर्शनमेव निन्द्यते इति बोध्यम् ॥

* साधर्म्यवादिभिरपीति ;—तादृगेव भवति ' निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ' इत्यादिभिरित्यर्थः । अत्र साम्यशब्दं त्यक्त्वा साधर्म्यशब्दस्योपादानं अद्रव्यसरे (१२० श्लो) वक्ष्यमाणदिशा सादृश्यस्य साधर्म्यरूपत्वमेव नातिरिक्तत्वमिति सूचयितुम् ; एवं ' साधर्म्यमुपमा भेदे ' इति काव्यप्रकाशवाक्यं प्रत्यभिज्ञापयितुं च । तत्र न ह्यभेदे सादृश्यात्मकं साधर्म्यम् ! तथाऽपि आरोपितसाधर्म्यनिबन्धनानन्वयव्यवच्छेदाय भेदे इति ' इति प्रदीपः । न ह्यभेद इति ;—तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वस्यैव सादृश्यपदार्थत्वादिति भावः ' इति तदुद्योतः । अत एव काल्पनिकमवस्थाभेदमाश्रित्य ;—

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।

भावप्रकाशः

इति तद्व्यपदेशाधिकरणवार्तिकम् । दहराधिकरणे ;—'अगतिका हीयं गतिः! यत्काल्पनिकभेदाश्रयणम्' इति (शं) भाष्यम्—

तेन तस्योपमानत्वं रामरावणयुद्धवत् ।
अगत्या भेदमारोप्य गतौ सत्यां न युज्यते' ॥

इति भामती । 'गगनं गगनाकारम्' इत्यत्र उपमालङ्कार इति मतमनुरुध्येदमुक्तम् इति परिमळः । 'अनन्वये तु स्वस्मिन् स्वसादृश्यस्याप्यसंभवादुपमानान्तरव्यावृत्तिः' इति चित्रमीमांसा च संगच्छन्ते। अलङ्कारकौस्तुभे तद्व्याख्यायां च धर्ममात्रविवक्षया लक्षणया भेदं विहाय तद्वृत्तिधर्ममात्रस्यैवादिभिर्बोधेऽनन्वयः । दहराधिकरण (शं) भाष्ये आकाशस्याकाशसाम्याश्रयणनिराकरणमपि लक्षणाभीतिमूलकम् । एवमेव तद्व्यपदेशाधिकरणवार्तिकादिकं 'तेनतुल्यम्' इति सूत्र-कैयटश्च । भेदगर्भसादृश्यमेव रूपकशरीरत्वेन सर्वसंमतमिति च विश्वेश्वरपण्डितः ॥

'तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः' (३–१–२२) इतिसूत्रे तत्स्वाभाव्यपदेन तत्सादृश्यं बोधयन् बादरायणोऽपीत्थमेवाभिप्रैति । साभाव्यापत्तिरिति परसंमतपाठेऽप्ययमर्थः स्फुटः । 'साभाव्यं–सारूप्यं सादृश्यमितियावत्' इति भामत्युक्तेः । एवं च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इतिश्रुतिः एवकारस्यावधारणार्थकत्वेऽपि 'वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' (छां ५–१०–५) इत्यादिवत् साधर्म्यबोधिनीत्यभिप्रेत्य प्रकारैक्ये च तत्त्वव्यवहारो मुख्य एवेति श्रीभाष्यं निर्व्यूढम् । मुख्यत्वं तात्पर्यविषयत्वमिति हि परेषां मतम् ॥

एतेन सादृश्यस्यातिरिक्तत्वम्; अभेदेऽपि सादृश्यमित्यभ्युप-

सर्वार्थसिद्धिः

ब्रह्मैव भवतीत्यवधारणाज्जीवनिवृत्तिर्गम्यत इति चेन्न; *अत्यन्तसाम्ये तात्पर्यात्, यथा 'वैष्णवं वामनमालभेत स्पर्धमानो विष्णुरेव भूत्वेमान्

आनन्ददायिनी

अभेदवचनमपि न बाधकमित्याह ;—ब्रह्मैवेति । विष्णुरेवेत्यत्र साद-

भावप्रकाशः

गच्छतां नागेशादीनां मतेऽपि सादृश्यस्य साधारणधर्मप्रयोज्यत्वाङ्गीकारेण ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वे मुक्तौ जीवस्य ब्रह्मसाम्यं न संभवतीति बोधितम् ॥

* अत्यन्तसाम्ये इति ;—'द्वासुपर्णा+तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति । समाने वृक्षे+वीतशोकः । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' । (मुं. ३-३) इत्यत्र परमसाम्यमुक्तम् । उपनिषदुपक्रमे च 'यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्' इत्यत्र परविद्याविषयस्सर्वज्ञ उक्तः । अत्र पूर्वमन्त्रद्वये जीवस्य कर्मफलादनं कर्ममूलकप्रकृतिसंसर्गनिबन्धनमोहश्च प्रतिपादिते । अत्र पुण्यपापयोः सूक्ष्मशरीरस्यापि निवृत्तिकथनेन ज्ञानसङ्कोचनिवृत्तिरुक्ता भवति 'विद्वान्+साम्यमुपैति' इत्यत्र ज्ञानसाम्यमेव प्रतीयते । अनुकूलत्वप्रकारकज्ञानमानन्दः । इत्थं चानन्दांशेऽत्यन्तसाम्यं पर्यवस्यति । 'परम' पदेन ज्ञाने कस्यापि विषयस्यासम्बन्धो नास्तीति बोधितम् ॥

तच्च साम्यं—साम्यश्रुतेः पूर्वं 'तयोरन्यः' पश्यत्यन्यमीशम्' इत्यत्र भेदोक्त्या 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (३-२-८) इत्येतत्पूर्वमन्त्रे परजीवयोः प्राप्यत्वप्राप्तृत्वप्रतिपादनेन 'परात्परं' इत्यनेनाभेदासम्भवबोधनेन च भेदगर्भमिति निर्णीतम् ॥

जैमिनिश्च तत्सिद्धिजातिसारूप्ये सूत्रे तत्सिद्धेः पृथक्सारूप्यमुपाददानः सादृश्यस्य भेदघटिततां ख्यापयतीति ब्रह्मानन्दयतिभि-

भावप्रकाशः

रवधारितम् । एवं च पूर्वोक्तपरमसाम्यस्य 'ब्रह्मैव भवति' इत्येतत्पूर्वमन्त्रेण स्मारणेन कोशकारैरेवशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वस्याप्यभिधानेन एतच्छ्रुत्यनन्तरम् 'तरति शोकं तरति पाप्मानं' इत्यनेन 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय' (२) इति श्रुत्यर्थप्रत्यभिज्ञापनेन 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यत्र परमशब्देन अभेदासंभवख्यापनेन च एवशब्देन साम्यमेव विवक्षितमिति भावः । साधर्म्यवादिभिरिति प्राक्तनाचार्यसूक्त्या—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

इति गीतावचनस्यैतदुपबृंहणत्वं बोधितम् ॥

एतेन 'साम्यम्' ऐक्यमेव । समकाल इत्यादौ एककालप्रतीतेस्सर्वसंप्रतिपन्नत्वात्' इत्यादि (सि. सि. अं.) शङ्का प्रतिक्षिप्ता । कालादिवाचिपदान्तरसमभिव्याहृतसमशब्दस्य साधारणान्यार्थबोधतात्पर्येण प्रयोगसत्त्वाभ्युपगमेऽपि साम्यशब्दस्य क्वचिदप्यैक्ये प्रामाणिकप्रयोगविरहेण तथा विवक्षाविरहस्य उपबृंहणेनापि निर्णयात् । 'यो यो रेतस्सिञ्चति तद्भूय एव भवति' 'त इह व्रीहियवा—जायन्ते' (छां. ५-१० ६) इत्यत्र रेतस्सिग्भावस्य रेतस्सिग्योगरूपत्वेन उपक्रमानुरोधेन व्रीह्यादिभावस्य व्रीह्यादियोगरूपता (२-१-२६ सू.) सिद्धान्तिता । एवं च 'मम साधर्म्यमागताः' इत्युपक्रमानुरोधेन 'मद्भावं सोधिगच्छति' (१४-१९)—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (२६)

इत्यत्रापि साधर्म्यमेव विवक्षितम् । 'भुवो भावे' (३-१-१०७) इति क्यबन्तो भूयशब्दः । 'मदैक्यं सोऽधिगच्छति' 'ब्रह्मैक्याय प्रकल्पते'

सर्वार्थसिद्धिः

लोकानभिजयति' इति। तदेतत् *'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इति सूत्राभिप्रेतमिति ॥ १७ ॥

आनन्ददायिनी

श्यपरत्वमेवेति भावः। जीवानित्यत्वपक्षस्त्वत्र कुदृष्टिश्चेत्याह—**नात्मेति**। किमात्मा वियदादिवदुत्पद्यते नवेति संशये उत्पद्यते इति **पूर्वपक्षं** कृत्वा नात्मोत्पद्यते 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति प्रतिषेधात् 'अजो नित्यः' 'नित्यो नित्यानाम्' इत्यादिभ्यो नित्यत्वावगमाच्चेति राद्धान्तितमित्यर्थः ॥ १७ ॥

भावप्रकाशः

इत्यादिक्रमेणानुक्तेः ब्रह्मभावस्य भक्तिसाध्यत्वप्रतिपादनात् भावशब्देन निर्गुणविवक्षाविघटनाच्चेत्थमेवार्थः ॥

एतेन 'युक्त आसीत मत्परः' (२-६१) 'मयि सन्न्यस्य मत्पराः' (१२-६) इतिवत् 'अनादिमत्परम्' (१३-१२) इत्यादिना ज्ञेयं निरूप्य 'मद्भावायोपपद्यते' (१३-१८) इति यदुक्तं तदपि न निर्गुणपरमित्यवसेयम् ॥

* नात्माश्रुतेरित्यादि ;—'अस्त्यात्मा जीवाख्यः' इत्युपक्रम्य स किं व्योमवदुत्पद्यते ब्रह्मणः?' इति (शं) भाष्येऽपि 'यावद्विकारं तु' इति सूत्रानुसारेण व्योमवत्स्वरूपपरिणामरूपैव जीवस्योत्पत्तिः इत्याशङ्क्य तां प्रतिषिध्य 'उपाध्युत्पत्त्या अस्योत्पत्तिः तत्प्रलये च प्रलय' इत्युक्तम्। अत्र (भा) कल्पतरुः ;—'उपाधिप्रविलयेन हेतुना उपहितस्यैव विशिष्टस्यैव प्रविलयः। न तु शुद्धस्य' इति। एवमपि;—

यद्युपाधिविशिष्टस्य संसारो नाशिताऽऽत्मनः।

इति केशवोक्तदूषणम् (१-४-२२ क.) विशेषणोपाध्योः भेदाङ्गीकारमात्रेण कथं परिहृतम्। उपहितशुद्धयोर्भेदाभेदस्य उपहितमिथ्यात्वस्य

सर्वार्थसिद्धिः

*'नित्यस्सर्वगत' इतिश्रुत्या आत्मनां नित्यत्वे तत्सहचरितं

आनन्ददायिनी

आक्षेपसंगतिमाह—**नित्यस्सर्वगत** इति । सर्वगतत्वाभावे

भावप्रकाशः

चाभ्युपगमेन उपाधिनाशे उपहितनाशस्यावर्जनीयतया जीवनाशस्यावश्यंभावात् । 'नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इति सूत्रखण्डोऽपि औपाधिकजीवब्रह्मभेदवादिमते विरुध्यते उपलक्षितस्य जीवत्वानभ्युपगमात् । सिद्धान्ते च अणोश्चेतनस्य अहमर्थस्य जीवत्वेन प्रभायास्संकोचविकासयोरपि मण्यादीनां यथा न नाशः तथा परिणामिनित्यस्य ज्ञानद्रव्यस्य स्वधर्मभूतस्य संकोचविकासयोरपि न जीवनाशः । 'ज्ञोऽत एव' 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इति सूत्रेषु जीवस्य धर्मवत्त्वं व्यवस्थापयिष्यते । तत्र ज्ञ इत्यत्र ज्ञाधातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३-३-५८) इति सूत्रेण कर्तरि कः । माधवीयधातुवृत्तावित्थमेवोक्तेः । न तु 'घञर्थे क विधानम्' इत्यनेन ज्ञाधातोर्भावे कः । एतद्वार्तिकमुपादाय महाभाष्ये 'स्था स्ना पा व्यधि हनि युध्यर्थम्' इत्येतावन्मात्रोक्तेः । 'द्विर्वचनप्रकरणे कृञादीनां के' इति वार्तिकबलात् कृञादिभ्यः कस्सिध्यतीति भाष्यकृदाशयात् । 'द्विर्वचनप्रकरणे कृञादीनां के उपसंख्यानं कर्तव्यम् चक्रं चिक्लिदं चिक्लिसं' इति (६-१-१२) अन्यत्र भाष्यकृतैवोक्तेः । कर्ता इत्युत्तरसूत्रानुसारात् 'धीरो मनीषी ज्ञः' इति कोशात् प्रामाणिकप्रयोगात् ज्ञ इत्यस्य घञर्थे कप्रत्ययान्तत्वे प्रामाणिकानां संप्रतिपत्तेः प्रयोगस्याप्यभावाच्च ज्ञ इति कर्तृप्रत्ययान्त एव । सूत्रार्थश्च अधिकरणसारावळीसारज्ञानां सुगमः । अतस्सगुणात्मवाद एव व्याससंमत इति ॥

*नित्यस्सर्वगत इति श्रुत्येति ;—यद्यपीत्थं श्रुत्यानुपूर्वी परोदा-

तत्वमुक्ताकलापः

व्याप्तास्सर्वत्र जीवाः सुखतदितरयोस्तत्रत-

सर्वार्थसिद्धिः

* सर्वगतत्वमपि स्यादितिशङ्कते ;— **व्याप्ता इति** । आगमस्यानुग्राहक-
माह ;— **सुखेति** । **तदितरशब्दो**ऽत्र दुःखवत् धीच्छादीनामपि संग्रा-

आनन्ददायिनी

नित्यत्वमपि न स्यादितिभावः । मूले व्याप्तिः—विभुत्वं । **आदिशब्देन**

भावप्रकाशः

हृतश्रुतिषु न दृश्यते ; तथाप्येतद्गीतावचनमूलभूता तदुपबृंहिताऽन्या वा श्रुतिर्विवक्षिता । 'स वा एष महानज आत्मा' (बृ.) इति श्रुतिर्हि परैरुदाहृता । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यपि श्रुतिः । एवं (सि. सि. अं.) 'बुद्धेरात्मा महान् परः' इति कठश्रुतिरपि । नित्य-स्सर्वगत इत्युपलक्षणम् ;—

एको व्यापी समश्शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः ॥
(विपु. २-१४-२९)

पुमान् सर्वगतो व्यापी आकाशवदयं यतः ।
कुतः कुत्र क्व गन्ताऽसीत्येतदस्यार्थवत्कथम् ॥
सोऽहं न गन्ता नागन्ता नैकदेशनिकेतनः ।
त्वं चान्ये च न च त्वं च त्वं नान्ये नाहमप्यहम् ॥
(वि. पु. २-१५-२४, २५)

इत्यादेः । * सर्वगतत्वमपीति ;—कुमारिलेनापि (तं. वा.) अपूर्वाधि-करणे सर्वगतजीववादस्वीकारादिति भावः ॥

तत्वमुक्ताकलापः

त्रोपलम्भात् निर्वा(ह्या)ह्ये देहगत्या गतिरिह वितथा तद्वतोऽपीति चेन्न ।

सर्वार्थसिद्धिः

हकः । अविभुत्वे सर्वत्र दुःखाद्युपलम्भो न स्यादित्यर्थः । आत्मगत्या-सर्वत्र सुखादीति शङ्कां गौरवप्रसक्त्या वारयति ;—**निर्वाह्य** इति । अत्र श्रुतरन्यपरत्वाभिप्रायेण प्रतिवक्ति ;—नेति । सर्वगतत्वोक्तिस्तावत् '* अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः' ।

आनन्ददायिनी

द्वेषादीनां ग्रहणम् । **सर्वत्रेति**—स्वर्गनरकादावित्यर्थः । ननु तत्तद्देशे आत्मा गच्छतीत्यतो दुःखाद्युपपद्यते इति शङ्कते—**आत्मगत्येति** । आत्मनो गत्या सुखादीति शङ्कां इत्यर्थः । **अत्र श्रुतेरिति**—नित्यस्सर्वगत इत्यत्र सर्वगतत्वश्रुतेरित्यर्थः । भुवनं प्रविष्टः—भुवनं व्याप्तः ।

भावप्रकाशः

* अग्निर्यथैक इत्यादि ;—अपूर्वाधिकरण एव कुमारिलेन 'उपनिषत्सु ऐकात्म्यव्यवहारस्य एकजातीयत्वनिबन्धनत्वस्योक्त्या अत्रापि तथैवाभ्युपगमो युक्तः । तत्रैव पूर्वं जीवाणुतावादस्य निराकरणं त्वन्यत्र जगत्कारणविभुपरमात्मनिराकरणतुल्ययोगक्षेमम् । तत्र 'यत्तु श्यामाकतण्डुलमात्रादिप्रदर्शनमुपनिषत्सु तत् वाक्यान्तरप्रदर्शितविभुत्वस्यैव सतस्सूक्ष्मग्रहणगोचरत्वात्' इति ग्रन्थेन परमात्मपरवाक्यान्यथानयनेन तत्प्रघट्टकस्य परमात्माभावतात्पर्यकत्वानिश्चयात् तेनैव 'क्रत्वर्थकर्तृप्रतिपादनद्वारेणोपनिषदां नैराकाङ्क्ष्यम् (१-२-७) इत्यन्यत्रोक्तेश्च । सर्वज्ञस्य विभोः परमात्मनोऽनङ्गीकारवत् जीवस्यापि सर्वगतस्यानङ्गीकारे

तत्त्वमुक्ताकलापः

वक्त्री पञ्चाग्निविद्याप्रभृतिषु भविनां स्वस्वरूपेण सिद्धं यातायातप्रकारं (क्रमेण) श्रुतिः

सर्वार्थसिद्धिः

*'वायुस्सर्वत्रगो महान्' इत्यादिवदेकजातीयानां सर्वत्रानुप्रवेशान्नेतुं शक्या । गतेश्च श्रुतत्वान्न कल्पनागौरवमित्याह ;—वक्त्रीति ।

आनन्ददायिनी

एकजातीयानामिति - तथाच प्रत्येकं व्याप्त्यभावेऽपि व्यपदेश उपपद्यत इत्यर्थः । **गतेरिति**—आत्मस्वरूपस्येति शेषः । वस्तुतस्तु शरीरगत्या तदुपपत्तिरित्यनुपपन्नम् ; इहस्थस्य शरीरस्य नाशात् स्वर्गनरकादिषु देहान्तरस्योत्पत्त्या गतिशब्दमुख्यार्थस्यानुपपादनादित्यर्थः ।

भावप्रकाशः

उपनिषत्सु आत्मनो विभुताग्राहकस्य कस्यापि स्वांशे प्रामाण्यायोगेन 'दृढत्वं—वेदान्तनिषेवणेन' इति स्वोक्तिर्न घटत इत्याशयेन तथोक्तिरिति बोध्यम् ॥

'नित्यस्सर्वगत' इत्यत्र सर्वगतशब्देन न विभुत्वसिद्धिरिति ज्ञापनाय वाक्यान्तरमुपादत्ते ;—*वायुस्सर्वत्रगो महान् इतीति । एतेन 'बुद्धेरात्मा महान् परः' इति श्रुतौ महच्छब्दोऽपि न महत्परिमाणविशिष्टवचन इति ख्यापितम् । उक्तं च शङ्कराचार्यैः ;—बुद्धेरात्मा महान् परः ;—आत्मानं रथिनं विद्धीति रथित्वेनोपक्षिप्तः ; कुतः ? आत्मशब्दात् । भोक्तुश्च भोगोपकरणात्परत्वोपपत्तेः । 'महत्त्वं चास्य स्वामित्वादुपपन्नम्' इति । युक्तं चैतत् ;—महच्छब्दस्योत्कृष्टवाचित्वेनोपपत्तावर्थान्तरकल्पनाया अनुचितत्वात् 'आत्मानम्' इत्यत्रेवात्राप्यात्मशब्दस्य जीववाचित्वस्यैव न्याय्यत्वात् । हिरण्यगर्भबुद्धिपरत्वे

तत्वमुक्ताकलापः

अगतिरिमां लाघवोक्तिं श्रुणोतु ॥ १८ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

प्रभृतिशब्देन *तन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इत्यादयस्संगृह्यन्ते । न च तासां श्रुतीनां प्राणानूत्क्रमणादिभिरन्यथासिद्धिरास्थेया! इत्यगतिशब्दाभिप्रायः ॥ १८ ॥

आनन्ददायिनी

तेन प्रद्योतेनेति जीवस्य स्वरूपेणोत्क्रन्तिप्रतीतेरित्यर्थः । ननु सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्तीति प्राणापेक्षया इन्द्रियानुत्क्रान्तिप्रतिपादकतयाऽन्यथासिद्धेः नात्मनो गतिसिद्धिरित्यत्राह — **नचेति** । 'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा' इति स्वरूपेणात्मन उत्क्रमणप्रतिपादनात् 'तमुत्क्रामन्तम्' इति प्राणस्यापि पृथगुत्क्रणप्रतिपादनान्नान्यथासिद्धिरित्यर्थः । **अगतिः** गत्यन्तरशून्या—अनन्यथासिद्धेति यावत् ॥ १८ ॥

भावप्रकाशः

अन्यशब्देन तदर्थलाभसंभवेन आत्मशब्दवैफल्यात् । महच्छब्दस्य महत्परिमाणविशिष्टमात्रार्थकत्वनिर्बन्धविरहात् ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनः मनसस्सत्वमुत्तमम् ।
सत्वादधिमहानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।
अव्यक्तात्तु परःपुरुषो व्यापकोलिङ्ग एव च । (क-६-७)

इत्यत्र पुरुषस्य व्यापकत्वकथनेन तत्पूर्वनिर्दिष्टानां व्याप्यत्वलाभात् । पुरुषशब्दस्य (बृ) निरुक्तया सर्वशरीर्यर्थकस्य अन्त एव प्रयोगाच्च । 'स वा एष महानज आत्मा' इति (बृ) श्रुतिस्तु परमात्मपरा न जीवब्रह्मणोरभेदं ब्रवीतीति बोद्धव्यम् ॥

*तेन प्रद्योतन इत्यादय इति ;—आदिपदेन 'यथा नद्यः—

भावप्रकाशः

परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादीनां परिग्रहः । अत्र 'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति' इति पूर्ववाक्योपादानेन 'तमुत्क्रामन्तम्' इत्युत्तरवाक्ये कर्तृप्रत्ययस्य कर्त्रर्थकत्वबोधनेन 'लक्षणहेत्वोः; इति लक्षणार्थो वा शता' (सि. सि. अ. १६०) इति भ्रमो व्युदस्तः ॥

अत्र पूर्वं 'तद्यथाऽनस्सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इत्यत्र शरीरादुत्क्रान्तिवाक्ये शारीर इत्यस्य स्थूलशरीरसंबन्धीत्यर्थेऽपि स्थूलशरीरत्यागकाले शारीरस्यात्मनः न स्थूलशरीरोपाधिनिबन्धनं यानम्; किं तु स्वाभाविकगत्याश्रयशकटदृष्टान्तेनानौपाधिकमेव इति प्रतीयते । न च अयमित्यनेन सोपाधिकं यानमिति सिध्यतीतिवाच्यम्; इदं शब्दस्य सोपाधिकावाचित्वात् 'शारीर' इत्यस्य शरीरातिरिक्तोपाधिविवक्षापरिपन्थित्वात् । अयं इत्यस्य सुसमाहितः स्वप्नान्तबुद्धान्तसंचारी नित्यज्ञानवानिति वा अर्थः । एतेन अहमर्थः निरुपाधिक एव बोध्यते । 'तद्यथा राजानं प्रयियासन्तम्—एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' (३८) इति तदुत्तरवाक्ये इममित्यस्य प्रयियासन्तमित्यर्थः । 'सर्वे प्राणा अभिसमायन्तीत्यपि इममित्यत्र सोपाधिकताविवक्षां विघटयति । 'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्रास्समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (४-१) इत्यत्र सर्वप्राणानां विषयाभिमुख्यनिवृत्त्या जीवं प्रत्यभिसमायानं तान् समादाय जीवस्य हृदयान्वागमनं च प्रतिपादितम् । एवं च 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति' इति (४-२) तदुत्तरमन्त्रे एष इत्यस्य हृदयसंबद्ध इत्यर्थः । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इत्यत्र तच्छब्दार्थोऽपि 'एष आत्मा' इत्यत्रोक्त आत्मैव । हृदयोपाधिकस्य गमनं न कश्चिदभ्युपैति ।

तत्वमुक्ताकलापः

अव्यापित्वेऽपि पुंसोऽभिम (निय) नबहुवपुः प्रेरणे यौगपद्यं ज्ञानव्याप्त्योपपन्नम्

सर्वार्थसिद्धिः

अविभुत्वे सिद्धैश्वर्याणां युगपदनेकशरीराधिष्ठातृत्वं न स्यादित्यत्राह ;—**अव्यापित्वेऽपीति** । बहुवपुःप्रेरणं किं द्रव्यान्तरद्वारकं उत कर्मनिमित्तम् ? आद्ये यथा पाणिपादादिद्वारानियतं युगपत् खड्गपादुकाद्यधिष्ठानं न तथाऽत्रेति भावः । द्वितीये स्वकर्मनियतमनेकशरीराधिष्ठानं कर्मिणः स्वसन्निधिविरहे कथं स्यादिति । ज्ञानव्याप्त्या ;—स्वरूपसन्निधानाभावेऽपि ज्ञानस्य युगपदनेकदेहाधिष्ठानानुगुणवृत्त्येति भावः ।

आनन्ददायिनी

आक्षेपिका संगतिरित्याह—अविभुत्व इति । अनेकशरीराधिष्ठातृत्वं—अनेकशरीरप्रेरकत्वम् । **यथेति**—नियतं पाणिना खड्गस्य पादेन पादुकाया नैयत्यमित्यर्थः । स्वकर्मनियतं—स्वादृष्टनियतमित्यर्थः । **स्वसन्निधिविरह इति**—सन्निहितस्यैव कारणस्य कार्यजनकत्वात् । सन्निधेराश्रयद्वारकत्वेनाविभुत्वे तदयोगात् विभुत्वमावश्यकमिति भावः । **कथं स्यादिति**—शङ्कायामिति शेषः । **ज्ञानव्याप्त्येति**—स्यादिशेषः । **अनुगुणवृत्त्येति**—तत्तद्देहसंबन्धिन्येवेति भावः । स्वरूपव्या-

भावप्रकाशः

अन्तःकरणरूपोपाधेरपि न पूर्वत्र विशेषणतया शब्दत उपस्थितिस्संप्रतिपन्ना । न च क्रियाशक्तिमतोऽशस्य 'प्राणोऽनूत्क्रामति' इत्यत्र प्राणशब्दार्थतया तद्वाक्यविरोधविरहेण ज्ञानशक्तिमतोऽन्तःकरणांशस्यात्रोप्राधित्वसंभवात्' इति (अ—दी) (अ—सि) उक्तेः अन्तःकरणो-

सर्वार्थसिद्धिः

स्वरूपतो व्याप्तिर्ज्ञानतोऽधिष्ठानाभावेऽनर्थिका । तर्हि तत एव कुड्या-दीनामप्यधिष्ठानं स्यात्? न स्यात्; तदधिष्ठानानुगुणकर्मातिशयविशेषा-

आनन्ददायिनी

प्त्यङ्गीकारेऽपि ज्ञानाभावे देवदत्तादिशरीरप्रेरकत्वाभावात् ज्ञानस्य व्याप्ते-रावश्यकत्वे किं स्वरूपव्याप्त्येत्यत्राह—स्वरूपत इति । ननु ज्ञानव्या-प्त्यङ्गीकारे कुड्यादिद्रष्टुस्तत्प्रेरकत्वं स्यात् भवन्मते ज्ञानप्रसराद्यङ्गी-कारादिति शङ्कते—**तर्हीति । तदधिष्ठानानुगुणेति**—स्वरूपव्याप्त्य-

भावप्रकाशः

पाधिकस्यात्र विवक्षा संभवतीति वाच्यम्; प्राणमनसोरेकद्रव्यत्वाभावस्य पूर्वमेवोपपादनात् । अभ्युपगमेऽपि वा शक्तिद्वयविशिष्टभागद्वयानङ्गी-कारेण एकत्रैव शक्तिद्वयस्याभ्युपेतव्यत्वेन 'उत्क्रामन्तमनूत्क्रामति' इत्येतद्वाक्यस्य 'अणवश्च' (२–४–७) इति सूत्रे 'प्राणास्सर्वगता-श्चेत् उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपः' इति (शं) भाष्योक्तदिशा शक्ति-मदुत्क्रमणपरस्य घटनायोगात् । 'सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' इति पूर्वत्र 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इत्युत्तरत्र च सर्वशब्दासंकोचेन ज्ञानशक्तिमतोऽपि विवक्षाया वाच्यतया तद्बाधेन 'तमुत्क्रामन्तं इत्यत्र तच्छब्देन ज्ञानशक्तिमतो बोधासंभवाच्च । अत एव 'तमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इति श्रुतिमुपादाय 'इह तु न किञ्चित् सर्वशब्दार्थसंकोचने कारणमस्ति' तस्मात् सर्वशब्देनात्रा-शेषाणां प्राणानां परिग्रहः' इति 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः तेऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' इत्यत्र आत्मशब्देनान्तः-करणं परिगृह्यते करणाधिकारात् । तदेव वृत्तिभेदात् क्वचिद्भिन्नवद्व्य-

सर्वार्थसिद्धिः

भावात् । ये तु तादृशातिशयवन्तः ते कुड्यादीन्यप्यधितिष्ठेयुः यथा परकायादीन् । देहैकदेशवर्तिन आत्मनो युगपदनेकावयवाधिष्ठानं कथमित्यत्रापि प्रत्येतव्यमेतदेवेत्याह ;—बहुष्विति । धर्माधर्मौ स्वाश्रयसंयुक्तएवाश्रयान्तरे क्रियां जनयतः क्रियाहेतुगुणत्वात् गुरुत्ववत् इति

आनन्ददायिनी

ङ्गीकारेऽपि तदधिष्ठानानुगुणज्ञानं तदवच्छेदेन वाच्यम् । तच्च न सर्वेषाम्, किंतु येषां अदृष्टविशेषः तेषामेवेति तादृगदृष्टविशेषजन्यज्ञानं प्रत्येवाधिष्ठानमिति तदभावान्न कुड्याद्यधिष्ठानम् । तत्सत्त्वे तदिष्टमेवेति भावः । ननु अणुभूतस्यात्मनो देहनिष्ठसमस्तावयवव्याप्तित्वाभावात् कथं हस्तादीनां युगपच्चलनादिकम्? इति शङ्कामनूद्य निराचष्टे---**देहैकदेशेति** । **धर्माधर्माविति**—स्वाश्रयसंयुक्तदेहादिक्रियाजनकत्वेनाप्युपपत्तेरुक्तम्—**आश्रयान्तरेति** । स्वान्याश्रय इत्यर्थः । ननु संयोगादौ व्यभिचारः आश्रयान्तरे क्रियाजनकत्वाभावादिति चेत्? अन्याभावविरोधिक्रियाहेतुगुणत्वस्य विवक्षितत्वात् । केचित्तु—आश्रयान्तरे---स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववतीति विवक्षितम् । तथाच स्वाश्रयेऽन्यस्मिन् क्रियाहेतुत्वमस्त्येवेति न व्यभिचारः । न च विभागे व्यभिचारः!

भावप्रकाशः

पदिश्यते 'मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति' इति च (२–४–६) (शां) सूत्रभाष्यं संगच्छते' । अतः सर्वेषां प्राणानामनूत्क्रमणं अणुत्वं च जीवस्याणुत्वं स्थापयति । नित्यताग्राहकमानैर्जीवस्य परमाणुत्वेऽपि ज्ञानप्रभाद्वारा व्याप्तिर्वक्ष्यते ॥

तत्वमुक्ताकलापः

बहुषु च वपुषोऽम्शेषु निर्वाह एषः । यच्चादृष्टं क्रियां स्वाश्रययुजि तनुतेऽन्यत्रतत्क(तत्त)द्गुणत्वात् इत्येतत्सिद्धसाध्यं विभुन इह हि तद्ब्रह्मणः प्रीतिकोऽपौ ॥ १९ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

परोक्तमनुवदति ;–**यच्चेति** । तत्र सिद्धसाधनतामाह ;—**इत्येतदिति** । तद्व्यनक्ति ;—**विभुन इति** । इह हि धर्माधर्मशब्दः कर्मनिमित्तेश्वरप्रीतिकोपरूपबुद्धिद्योतकः । अस्ति हि ;—

शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु
न तुष्यतेऽसौ परमश्शरीरी ॥

इति ।

न च प्रीतेरपूर्णत्वं न च कोपात्सदुःखता ।
फलप्रदित्सारूपत्वादुभयोरपि कर्मणोः ॥

अतो न दोषः ॥ १९ ॥

आनन्ददायिनी

क्रियाहेतुत्वाभावात् । तदन्यत्वेन वा विशेषणमित्याहुः । **सिद्धसाधनतामिति**—परमात्मनः स्वाश्रयस्य विभुत्वमङ्गीकृतमेव । तत्संयुक्तमपि सर्वपदार्थानामिति भावः । **इह हीति**—धर्माधर्मशब्दयोर्विहितप्रतिषिद्धक्रियावाचकत्वादिति भावः । **शुभे** विहितकर्मणि कृते प्रीतिर्भवतीत्यर्थः । **दुष्कृते**—प्रतिषिद्धे । **न तुष्यति**—कुप्यतीत्यर्थः । ननु परमात्मनः प्रीतिकोपवत्त्वे प्रीतिमतोऽपूर्णत्वदर्शनात् कोपवतो दुःखित्वदर्शनात् अस्यापि तद्दोषप्रसङ्ग इति चेत् ? तत्राह—**नचेति** । सदुःखतेति—

तत्वमुक्ताकलापः

इष्टं प्रादेशिकत्वं विभुषु जनिमतां बुद्धिशब्दा-

सर्वार्थसिद्धिः

उक्तानुमानस्य दूषणान्तरमाह ;—**इष्टमिति**। विभुषु—आत्माकाशादिषु । जायमानानां बुद्धिशब्दादिकानां स्वाश्रयैकदेशवर्तित्वं युष्माभिरिष्यते । सार्वत्रिकत्वे प्रत्यक्षादिबहुप्रमाणविरोधात् । अदृष्टं च तादृशमिष्टम् । तच्च स्वाश्रयसंयोगिनि क्रियां जनयत् स्वावच्छिन्न प्रदेशसंयुक्त एव जनयेत् । अन्यथा प्रयत्नेनापि दूरस्थप्रेरणप्रसङ्गात् । नचादृष्टं तत्रतत्र गच्छति! अमूर्तत्वात् । अतः अदृष्टकारितानां

आनन्ददायिनी

अतिशयितदुःखवत्त्वमित्यर्थः । दुःखशब्दस्य प्रत्येकमन्वये कर्मकृतसुखदुःखवत्त्वमित्यर्थ इत्यप्याहुः । प्रीतिकोपयोरिष्टानिष्टप्राप्त्यप्राप्तिनिमित्तयोरेव तद्व्याप्तिः ; न चात्र तन्निमित्ततेति नोक्तदोष इत्यर्थः । यथा च प्रीतिकोपरूपत्वं पुण्यपापयोः तथोत्तरत्र वक्ष्यते ॥ १९ ॥

पूर्वसङ्गतिरेवात्र सङ्गतिरित्याह ;—**उक्तानुमानस्येति । प्रत्यक्षादीति ;**—आदिशब्देन अनुमानशब्दादिग्रहणम् । बहुत्वं च पुरुषभेदेन व्यक्तिभेदेन च बोध्यम् । **अदृष्टं च तादृशमिष्टमिति**—अदृष्टं स्वाश्रयैकदेशवृत्ति जन्याविभुविशेषगुणत्वात् शब्दादिवदित्यनुमानेनेत्यर्थः । ततः किमित्यत्राह ;—**स्वाश्रयसंयोगिनीति** । अदृष्टं स्वावच्छिन्नप्रदेशसंयोगिन्येव क्रियाजनकं क्रियाहेतुविभुगुणत्वात् यत्नवदिति भावः । ननु यत्न एव तथा न व्याप्तिः अप्रयोजकत्वादित्यत्राह ;—**अन्यथेति** । प्रयत्नावच्छिन्नप्रदेशादन्यप्रदेशसंयोगिन्यपीत्यर्थः । ननु आत्मनामनन्तप्रदेशेष्वनुष्ठितेन कर्मणा सर्वत्र विप्र-

तत्वमुक्ताकलापः

दिकानां तेनादृष्टं च तादृङ्न यदि तद सुखाद्या-श्रयव्यापकं स्यात्। तस्मात्तत्स्वप्रदेशान्वयवति जनयेत् स्वं फलं यत्ननीत्या भ्रातृव्यादौ च पीडां न घटयितुमलम्

सर्वार्थसिद्धिः

दूरस्थ[1]कर्मणामनुत्पत्तिप्रसङ्ग । ननु प्रत्यात्मनियतान्यनन्तान्यदृष्टानि विप्रकीर्णवृत्तीनि विद्यन्ते । अतस्सर्वक्रियोदयतिरित्यत्राह ;—**भ्रातृव्यादाविति** । अयं भावः ;—अद्यतनाभिचारक्रिया [2]निर्वर्त्यमानमदृष्टं कर्तु[3]रात्मनः संयोगावच्छिन्ने प्रदेशे स्यात्। तच्च भ्रातृव्यदेहभेदादीन् करोति । एवं देशान्तरानुभाव्यस्वर्गादिफलसाधनेऽपि भाव्यम्। न च दूर एवेदमदृष्टमुत्पद्यते। असमवायिदेशावच्छेदेन तदुत्पत्तेः स्थापनात्।

आनन्ददायिनी

कीर्णमदृष्टं वर्तत इति शङ्कते;—**नन्विति** । ननु भ्रातृव्यादावपि भेदक्रियावत्येव तत्प्रदेशावच्छिन्नात्मसंयोगस्संभवतीत्यत्राह ;—**अयंभाव** इति । **न च दूर एवेति**,—ननु सर्वदेशावच्छेदेनादृष्टोत्पत्तौ सर्वमुपपद्यत इत्यत्राह;—**असमवायिदेशावच्छेदेनेति** । नन्वदृष्टादेरसमवायिदेश एवेति न नियमः । अन्यत्रानुभूतस्यान्यत्र स्मरणात् यत्नेऽपि न तथा नियमः; एकप्रदेशस्थेन विंशत्यङ्गुलिषु क्रियादर्शनात् इति चेत्; न; तथा सति विभुत्वमप्रयोजकम्। यत्क्रिया विंशत्यङ्गुल्यवच्छेदेन जायते न सर्वावयवावच्छेदेन तत्र यन्नियामकं तदविभुत्वेपि

[1] कार्याणां–ग. [2] निष्पाद्यमान–ग. [3] रात्ममनस्सं–ग.

तत्त्वमुक्ताकलापः

किं विभुत्वेन भोक्तुः ॥ २० ॥

स्वादृष्टोपार्जितत्वाद्विभुषु यदयदङ्गं विग्रहादेर्व्यवस्थां तच्चैवं निर्निमित्तम् ;

सर्वार्थसिद्धिः

अतः कथं देशान्तरस्थे भ्रातृव्यशरीरादौ पीडां जनयेत्? तस्मादात्मनः सर्वत्रावस्थानं निरर्थकमिति निगमयति ;—किं विभुत्वेनेति ॥ २० ॥

यदि सर्वे जीवाः सर्वशरीरव्यापिनः सर्वे देहाः सर्वेषां भोगायतनानि स्युः इति प्रसङ्गे परोक्तं परिहारमनुवदति ;—**स्वादृष्टेति** । दूषयति ;—**तच्चेति** । अयं भावः ;—यद्यदृष्टं स्वावच्छिन्नप्रदेशे देहादिसृष्ट्या फलं जनयेत् तदा यष्टुः स्वर्गादिकमिहैव स्यात् प्रदेशान्तरे तु प्रयत्ननीत्या जनयितुं नालमिति । अतस्त्वत्पक्षे प्रतिनियता-

आनन्ददायिनी

सर्वत्र सुखादिनियामकमिति विभुत्वकल्पनमप्रयोजकमिति भावः । तदाह ;—**तस्मादात्मन इति ॥ २० ॥**

पूर्वसंगतिरेव संगतिरित्याह ;—**यदि जीवा इति** । पूर्वार्धेनेति शेषः । अयं भावः ;—यच्छरीरं यददृष्टोपार्जितम् तत्तस्य भोगायतनम् । तथा च सर्वेषां सर्वशरीरसंबन्धे सत्यपि न सर्वत्र भोगप्रसक्तिरिति । ननु तच्चैवं निर्निमित्तमित्ययुक्तम् सर्वशरीराणां सर्वादृष्टजन्यत्वाभावात् । तत्तददृष्टजन्यत्वेन तत्तद्भोगहेतुत्वमित्येवं वक्तुं शक्यत्वात् इत्यत्राह ;—**अयं भाव इति** । तत्तददृष्टस्य तत्तद्देहजनकत्वा[1]ङ्गीकारेऽपि नियमो वक्तुं न शक्यते ; अदृष्टस्य हि पूर्वशरीरजन्यस्य तदवच्छिन्नप्रदेशवृत्तितया स्वावच्छेदेनैव शरीरजनकत्वं वाच्यम् । अन्यत्र प्रदेशेऽपि विद्यमानस्या-

[1] ङ्गीकारपक्षेऽपि—क, ख.

[illegible]

[illegible] इह न [illegible] [illegible] [illegible] । आराध्ये [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

दृष्टजन्यत्वस्यैवासिद्धत्वात् व्यवस्थापकं [illegible] इत्यादि:—[illegible] [illegible] नन्वणुत्वेऽपि फलानां जीवस्य [illegible] परस्य व्यवस्थापकत्वा-नभ्युपगमाद् [illegible] इत्यत आह—आराध्ये इति । [illegible] राजादिषु दृष्टेन न्यायेन [illegible] नियतानुग्रहादिवैचित्र्या-त्तदनुचितफलदाने [illegible] व्यवस्था सिद्ध्येदिति भावः । सर्वफल-प्रदानानुगुण्यार्थं विश्वसाक्षित्वोक्तिः । [illegible] च कर्माध्यक्षत्वसाक्षित्वे ।

आनन्दबोधिनी

दृष्टस्यान्यस्यादृष्टस्य शरीरजनकत्वे अविशेषात्सर्वशरीरस्यापि सर्वादृष्टजन्यत्वं स्यात् । तदेकं शरीरमेकादृष्टजन्यमित्यत्र नियामकं नास्ति[1] न च [2]यद्भोगायतनं यत् तत् तददृष्टजन्यमिति नियम इति वाच्यम्; तन्नियमस्यैवासिद्धेः । तददृष्टजन्यत्वे तद्भोगायतनत्वं तद्भोगायतनत्वे तददृष्टजन्यत्वमित्यन्योन्याश्रयादिति भावः । **व्यवस्थापकत्वानभ्युप-गमादिति**;—अन्यनिष्ठत्वेनादृष्टस्य सर्वसाधारण्यादिति भावः । **पर-मात्मन्यपीति**;—अदृष्टस्य [illegible] जीवव्यापारजन्यत्वात् । [3]यद्द्वारेण यद्विषयकं कोपप्रीत्यादिकं जातं तेन तस्यैव सुखदुःखाद्यनुभव इति व्यवस्थेति भावः । **सर्वफलेति**;—तत्तद्व्या[4]पारज्ञानस्य फलप्रदान-हेतुत्वादिति भावः । ननु परमं साम्यमुपैति भोगमात्रसाम्यलिङ्गादि-

[1] [illegible]—ग, [illegible]—क. [2] [illegible] यद्भो—ग. [3] [illegible]—क

[4] पारजन्यत्व—ग.

तत्वमुक्ताकलापः

तत्साम्ये भोगसाम्यं न हि भवति यथाकर्म भोगप्रदानात् ॥ २१ ॥

देहान्तर्मात्रदृष्टेः

सर्वार्थसिद्धिः

ननु समोऽहं सर्वभूतेषु इति वदतः कथं विषमफलप्रदत्वमित्यत्राह;— **तत्साम्ये इति।** भोगसाम्यम्; क्षेत्रज्ञानां अन्योन्यमिति शेषः। सूत्रादिसिद्धं हेतुमाह;—**यथाकर्मेति** ॥ २१ ॥

अथाप्यणुत्वे किं प्रमाणमित्यत्राह;—**देहान्तरिति।** अयं भावः;—यद्यात्मा विभुः स्वयंप्रकाशश्च किमिति सर्वत्र सर्वदा न प्रकाशते? अहमिति सार्वत्रिकः प्रकाशत एवेति चेन्न; अस्मिन् देहेऽहं वर्त इति सर्वत्र प्रतीतिप्रसङ्गात्। सार्वत्रिकस्याविशदः

आनन्ददायिनी

त्यादिना साम्याङ्गीकारात् कथं भोगसाम्यं न भवतीत्यत्राह;—**भोगसाम्यमिति।** मोक्षातिरिक्तकाले इत्यर्थः। सूत्रं 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' इति। [1]अन्यत्सर्वं न्यायसिद्धाञ्जने सम्यगुपपादितं द्रष्टव्यम् ॥ २१ ॥

आक्षेपसंगत्या निरूपयति;—**अथेति।** न विभुत्वे बाधकमात्रादणुत्वसिद्धिरिति भावः। ननु देहान्तर्भानमस्तु न तावता विभुत्वविरोधः [2]बहिरभावनिश्चयाभावात्। अन्यथा घटान्त[3]र्भूताकाशस्यापि बहिस्सत्वं न स्यादित्यत्राह;—**अयं भाव इति। अस्मिन्देहे इति;**— अस्मिन् देहे अहं वर्त इति प्रकाशे या सामग्री [4]तदा [5]देहान्तरादिविशिष्ट-

[1] एतदादि—क. ख. कोशयोर्नदृश्यते. [2] बहिर्भाव—क. [3] र्भावाकाश—ग. [4] तथा देहा—क. [5] देशान्तरादिवि—क.

सर्वार्थसिद्धिः

प्रकाशोऽस्तीति च न प्रमाणम्; व्यञ्जकान्तरसापेक्षत्वात् व्यञ्जकदेशे व्यक्तिरिति नियमहेतुरिति चेन्न; स्वप्रकाशत्वविरोधात्। अथ मानसप्रत्यक्षः? तथापि कथं क्वाचित्कोपलब्धिः? यद्यपि सामग्रीदेशानुविधानेन ज्ञानोत्पत्तिः; तथापि विषयत्वं न तन्निघ्नम्; तथा अदृष्टेः। अगृहीतपरिमाणस्य स्वरूपतो ग्रहणं देहात्मभ्रमात् क्वाचित्कत्वोपलम्भ इति चेन्न; भ्रमव्यतिरिक्तमानसप्रत्यक्षेष्वपि तद्दृष्टेः। विवेकतस्समाहितानामपि परिच्छिन्नतया तदुपलब्धेः। '*हृदि ह्ययमात्मा'

आनन्ददायिनी

तया प्रकाशेऽपि सेति भावः। ननु देहस्य व्यञ्जकत्वाद्देहे भानं युक्तम् न तु देशान्तरे तस्य व्यञ्जकत्वाभावादिति शङ्कते;—**व्यञ्जकेति**। नन्वात्मनोऽस्मन्मते मानसप्रत्यक्षत्वान्न दोष इति शङ्कते;—**अथेति**। **तथापीति**। मानसप्रत्यक्षत्वे सामग्र्यास्तुल्यत्वादिति भावः। **तथापि विषयत्वमिति**;–शाब्दज्ञाने स्मरणादौ च देशा[1]न्तरस्थानां विषयत्वदर्शनादिति भावः। **निघ्नं**—अधीनम्। नन्वात्मनि [2]क्वाचित्कत्वग्रह एव नास्ति स्वरूपमात्रे गृहीते परिच्छिन्नदेहतादात्म्यग्रहात्परिच्छिन्नत्वव्यवहार इति शङ्कते;—**अगृहीतेति**। भ्रमणं—भ्रमः। **भ्रमव्यतिरिक्तेति**;—[3]देहाग्रहणात्तत्तादात्म्या[4]रोपायोगादिति भावः॥

ननु गृहीतस्य वा स्मृतस्य वा तादात्म्याध्यासात्तथा भ्रमोऽस्त्वित्यत्राह;—**विवेकत इति**। [5]तदभेदाध्यासासंभवादिति भावः। श्रुतिमपि साक्षयति;—**हृदि ह्ययमिति**। प्रत्यक्षमुक्त्वा अनुमानमप्युक्तार्थे

भावप्रकाशः

*हृदि ह्ययमात्मा इत्यादीति;—आदिपदेन 'हृदि ह्येष

---

[1] शान्तराणाम्–ख. [2] क्वाचित्कग्र–क. [3] मनसादेहाग्रह–ग. देहाग्रहणान्मनसातत्ता. [4] रोपयोगा–क. रोहसंभवा–ग. [5] तदभेदेतादात्म्याध्या–क. ख.

तत्त्वमुक्ताकलापः

पृथगिह विषयिप्राणादीनां निष्क्रमोक्तेः भूयोवाक्यानुसारात्

सर्वार्थसिद्धिः

इत्यादिदृष्टेश्च । हेत्वन्तरमाह ;—पृथगिति । इन्द्रियादीनां पृथगुत्क्रमणोक्तेः आत्मोत्क्रमणं न भाक्तमिति भावः । *सर्वगतत्वोक्तिसद्भावेऽप्यणुत्वोक्तीनां बलीयस्त्वं व्यनक्ति ;—भूय इति । सन्ति हि

आनन्ददायिनी

प्रमाणयति ;—**हेत्वन्तरमिति** । प्रमाणान्तरमित्यर्थः । नन्वत्रोत्क्रमणं प्राणेन्द्रियादिविषयकं भवतु तथा च लिङ्गासिद्धिरित्यत्राह ;—**इन्द्रियादीनामिति** । नन्वणुत्वश्रुतिबलात्सर्वगतत्वश्रुतेरन्यथासिद्धि[1] र्वाच्या । तथा च सर्वगतत्वश्रुतिबलादेव अणुत्वोक्तीनामन्यथासिद्धिः किं न स्यादित्यत्राह ;—**सर्वगतत्वेति** । भूयसां स्याद्बलीयस्त्व मिति न्यायादिति भावः ॥

भावप्रकाशः

आत्मा' (प्रश्न ३-६) 'स वा एष आत्मा हृदि (छां. ८-३-३) 'कतम आत्मा हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ. ४-३-७) इत्यादिपरिग्रहः । एतेन जीवे अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः 'हृद्यपेक्षया तु' इति सूत्रोक्तदिशा निर्व्यूढा । एतेन नान्तःकरणस्य जीवोपाधित्वम् ; तथा सति जले सूर्यः घटे आकाशः इत्यादिवत् अन्तःकरणे आत्मा इत्यादिश्रुतिनिर्देशविरहस्य निर्बीजत्वप्रसङ्गात् इति द्योत्यते ।

* सर्वगतत्वोक्तिसद्भावेऽपीत्यत्र श्रुतिर्विवक्षिता । अपिना जीवसर्वगतत्वश्रुतेर्विरहस्सूच्यते ।

---

1 र्वाच्या—क. 2 स्त्यादिति भावः—क.

सर्वार्थसिद्धिः

* 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' * 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवस्स विज्ञेयः' इत्याद्या बह्व्यः ॥

आनन्ददायिनी

* 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य' इति :—यद्यपीदं (यं) परमात्मप्रकरणस्थम्; तथाऽपि श्रुत्यन्तरैरपि जीवस्याणुत्वं स्थिरीकरिष्यते । एवं च प्रकरणापेक्षया प्रबलया अणुत्वश्रुत्या (आ. सि) इयमपि जीवपरैव; अत एव 'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' इति तदुत्तरवाक्यस्वारस्यम् । चेतसा इति वेदितव्य इत्यत्रैवान्वेति न अणुः इत्यत्र व्यवहितत्वात् । परमते सुषुप्तौ चेतोविलयकाले जीवब्रह्मविभागाभ्युपगमेन सुषुप्तावपि प्राणचेष्टावबोधनेन चेतसोऽभावे एकोपाध्यसंभवेन तदानीं प्राणोपाधिकाणुत्वविघटनप्रसङ्गाच्च । मनःप्राणयोरेकद्रव्यत्वे न किञ्चित्प्रमाणमुपलभामहे । जीवशब्दघटितां जीवप्रकरणस्थां श्रुतिमुदाहरति :— * बालाग्रेत्यादिना —

'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
प्राणाधिपस्सञ्चरति स्वकर्मभिः ।
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ॥
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥ (श्वे. ५ ८)

इति पूर्वश्रुतिः । अत्राङ्गुष्ठमात्रत्वं हृदयवर्तित्वेन । अत एव आराग्रमात्र इत्यादिकं सङ्गच्छते । रवितुल्यरूपः धर्मभूतज्ञानद्वारा विषयप्रकाशकत्वात् प्रभाद्वारा विषयप्रकाशकेन रविणा तुल्यरूपत्वम् । 'सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वित' इत्यत्र अहङ्कारः 'सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः' (श्वे)

भावप्रकाशः

इति वक्ष्यमाणो मोहः देहे अहमित्यभिमानः। सङ्कल्पे—अहङ्कारे च प्रयोजकं कर्म 'प्राणाधिपस्सञ्चरति स्वकर्मभिः' इत्यत्रोक्तम्। बुद्धिः—धर्मभूतज्ञानम्। गुणेनेत्येतदुभयं आराग्रमात्र इत्यत्र अवर इत्यत्र चान्वेति। गुणः (परिमाणम्) संयोगः शक्तिश्च। परिमाणमात्रनिबन्धनमाराग्रमात्रत्वम्। हीति हेतौ। आराग्रमात्रत्वस्याप्यवरत्व हेतुत्वात्। यद्वा हीतिप्रसिद्धौ। चस्समुच्चये। एवकारः उभयनिबन्धने आराग्रमात्रत्वेऽवरत्वे चैकमात्रनिबन्धनतां व्यवच्छिनत्ति। अपिराराग्रमात्रत्वावरत्वयोस्समुच्चये। 'मलरुद्धमणिप्रभाया इव कर्मसङ्कुचितजीवज्ञानस्य सुषुप्ताविन्द्रियाधीनकिञ्चित्प्रसरस्याप्यभावेन आश्रयतुल्यप्रमाणतया उभयप्रयुक्तत्वमाराग्रमात्रत्वस्य' इति चण्डमारुते व्यक्तम्॥

एतेन 'बुद्धेर्गुणेन निमित्तेन आत्मन्यध्यस्तो गुणो भवति। तेनात्मगुणेनाध्यस्तेनैवाराग्रपरिमाणोऽपकृष्टश्च जीवो दृष्टः' (र-प्र.५३८) इति विवरणम् तदेकार्थमन्यच्च (आ गि) अध्यासबोधकपदाभावात् परमते जीवस्य धर्मिण एवाध्यासिकत्वेन तात्विकधर्मिस्थले सर्वसंमतप्रकारेणात्रोक्तेरयुक्तत्वात् च शब्दस्य च वैयर्थ्याच्चानादरणीयम्॥

एवमेव 'आराग्रमात्रत्वस्यावरत्वस्य च जीवगतस्य बुद्धिगुणाराग्रमात्रत्वावरत्वोपाधिकतया बुद्धेर्गुणेनेति व्यपदेशः। आत्मसत्ताधीनत्वाच्चात्मगुणेनेति व्यवहारः' (ब्र. वि. आ. ५४६) इति विवरणमपि। अत्राप्यौपाधिकत्वमौत्प्रेक्षिकम्। 'आत्मसत्ताधीनताविवक्षां गुणपदं प्रतिरुणद्धि। चशब्द एवकारश्चास्वरसौ। बुद्धेर्गुणेनाराग्रमात्रः आत्मगुणेनावरोऽपि दृष्टः इति श्रुतिक्रमविरहेऽपि बुद्धेर्गुणेनाराग्रमात्रः आत्मगुणेन त्ववरोऽपि श्रवणमननादियुक्तैर्दृष्टः—साक्षात्कृतः। नास्ति वरो—महान् यतः स तथा। अपरिच्छिन्न इति यावत्।

सर्वार्थसिद्धिः

ननु विभोरपि परमात्मनोऽणुत्वं श्रूयते; तथेह स्यात्; तन्न;

आनन्ददायिनी

ननु वालाग्रशतभागस्येतिश्रुतिः अत्यन्तसूक्ष्मपरिमाणं वक्ति। आराग्रमात्र इति चर्मसूच्यग्रपरिमाणम्। तथा 'एषोऽणुरात्मा' इत्यणुत्वम्। तथाच विरुद्धपरिमाणार्थकत्वान्नैकस्यापि स्वार्थपरत्वम् विनिगमकाभावात्। अपितु परमात्मन[1] इव विरोधाभावादौपाधिकपरिच्छिन्नत्वपरमितिशङ्कते;— नन्विति। तन्नेति—किमत्रौपाधिकत्वश्रवणादौ-

भावप्रकाशः

बुद्धेर्गुणो मध्यमपरिमाणं मुख्य आत्मगुणस्त्वपरिच्छिन्नत्वं न मुख्यगुणः किंत्वात्मस्वरूपमित्याशयेन गुणपदान्तरमुक्तम्। अन्यथा बुद्धेरात्मनश्च गुणेनेति ब्रूयात्' (ल-चं ८५५) इति विवरणमपि हठात् स्वाभिप्रेतार्थस्य श्रुतौ आरोपणमेव। अत्रापि आत्मना इत्येव स्वविवक्षितलाभे गुणपदं व्यर्थम्। एवं च एव इत्यनयोर्वैफल्यम्। निकृष्टार्थप्रसिद्धावरशब्दस्य अपरिच्छिन्न इत्यर्थवर्णनं पूर्वोत्तरश्रुतिविरोधेन श्रुतिपीडनमेव। बुद्धेरात्मनश्च गुणेनेति श्रुतिनिर्देशविरहस्तु जीवस्योभयपर्याप्तगुणनिबन्धनाणुत्वभ्रमव्युदासाय। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव इत्युक्तौ तु स्वरूपतो धर्मतश्चाणुत्वं लभ्यते। स्वरूपधर्मयोर्वैलक्षण्यं वालाग्रेत्युत्तरमन्त्रे प्रतिपाद्यते। शतधा कल्पितवालाग्रशतभागस्य यथा विकासायोग्यता तद्वदेव जीवस्य विकासायोग्यता॥

एतेन पररीत्या मध्यमपरिमाणत्वमपि प्रतिक्षिप्तम्। 'सचानन्त्याय कल्पते' इत्यनेन स्वरूपतो विकासायोग्यस्य जीवस्य कर्मणा संकुचितज्ञानवत्त्वेन रवितुल्यरूप इत्यादिना पूर्वं प्रतिपन्नस्य सर्वकर्मक्षये धर्मत

[1] परमात्मन इवौपाधिकत्वे विरोधाभावात्तत्परत्वमेव युक्तमित्या—क. ग. घ. परमार्थ इत्यविरोधाभावादौपाधिकपरिच्छिन्नत्वपरमित्याह—क. ख.

तत्त्वमुक्ताकलापः

अणुरिति श्रवणे तादृशोपाध्यनुक्तेः । ईशादाराग्रमात्रो ह्यवर इति भिदावर्णनात्

सर्वार्थसिद्धिः

तत्र हि 'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा' इत्यादि*ष्वौपाधिकाणुत्वव्यक्तेः । जीवाणुत्वश्रुतौ तादृशोपाध्यनुक्तेः । प्रत्युत, स्वरूपनिर्देशेनैव वालाग्रसूक्ष्मभागसमत्वं ख्याप्यते । यदौपाधिकं जीवस्याणुत्वं तस्य जीवेश्वरसाधारणत्वात् 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' इति परव्यावर्तकपरिमाणोक्तिर्विहन्येतेत्यभिप्रायेणाह ;—ईशादिति । स्वरूपमुप-

आनन्ददायिनी

पाधिकत्वमुच्यते उतानुपपत्त्येति विकल्पमभिप्रेत्य नाद्य इत्याह ;—तत्र ह्येष आत्मेति । द्वितीयं दूषयति ;—यदीति । प्रत्युत स्वाभाविकाणुत्वाङ्गीकार एवानुपपत्तिरितिभावः । ननु वालाग्रादिश्रुतीनां विरुद्धपरिमाणार्थकत्वानुपपत्त्या औपाधिकत्वमित्युक्तस्य कः परिहारः इत्यत्राह ;—**परव्यावर्तकपरिमाणोक्तिरिति** । न तावच्छ्रुतीनां विरोधः ;

भावप्रकाशः

आनन्त्य मुच्यते । 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन' इति गुणशब्दद्वयेनाप्ययमेवार्थो विवक्षित इति निश्चीयते । अनेन पूर्वमन्त्रोक्ताराग्रमात्रात्वांशे विशेषप्रतिपादनेनावरत्वांशे विशेषः कदाऽपि नास्तीति बोधितम् । तत्र धर्मपरिमाणसंयोगाभ्यामवरत्वस्य 'स चानन्त्याय कल्पते' इत्यनेन मुक्तावभावसिद्धावपि शक्त्याऽवरत्वस्य मुक्तावप्यनिवारणात् । सर्वथाऽपि स्वरूपेणावरत्वस्य मुक्तावपि सत्त्वात् । गुणशब्दं विहाय बुद्ध्यात्मना इत्युक्तावप्युक्तार्थलाभो न संभवतीति तदुपादानमिति विभावनीयम् ॥

* औपाधिकाणुत्वव्यक्तेरिति ;—'ज्यायान् पृथिव्याः' इत्या-

सर्वार्थसिद्धिः

जातितः । 'स चानन्त्याय कल्पते' इत्यत्र * धर्मतः । तथा च सूत्रम्; 'प्रदीपवदावेशस्तथा च दर्शयति' । इति '*सर्वगतः' इत्यत्र क्रमेण सर्वविधाचेतने प्रवेशाद्वा शिलादिष्वपि प्रतिहत्यनर्हतया वा । तथा

आनन्ददायिनी

स्वरूपेण गतागतस्पन्दाद्यनुपपत्त्या बलीयस्त्वमिति भावः । **जातितइति;**—जीवत्वजात्यवच्छिन्नानां सर्वत्र सत्त्वमित्यर्थः । **धर्मत इति;**—धर्मभूतज्ञानेनेत्यर्थः । आदिशब्दार्थप्रदर्शनपूर्वकं तृतीयमुदाहरति ;—**क्रमेणेति ।**

भावप्रकाशः

द्यौपाधिकमहत्त्वश्रुतितौल्येऽप्यनौपाधिकमहत्त्वश्रुतीनां बह्वीनां सत्त्वात् 'अस्थूलमनणु' इत्यादावणुत्वनिषेधवन्महत्त्वनिषेधविरहाच्चेति भावः ॥

* धर्मत इति ;—'एष आत्मा अपहतपाप्मा सत्यकामस्सत्यसंकल्प' इति प्रजापतिविद्यायामाविर्भूतगुणाष्टकवत्त्वेन प्रमितस्य मुक्तस्य 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' 'स एकधा भवति त्रिधा' इत्यादिभूमविद्यावाक्ये सर्वदर्शित्वं बहुशरीरत्वं च प्रतिपाद्यते । तदुभयं धर्मभूतज्ञानस्य स्वाभाविकीभ्यां सर्वप्रकाशकत्वबहुशरीरप्रवर्तकत्वशक्तिभ्यां प्रतिबन्धककर्मक्षये आविर्भूताभ्यामुपपादनीयं नान्यथेति भावः ॥

* सर्वगत इत्यत्रेत्यादि ;—'अविनाशि तु तद्विद्धि' 'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति' 'वासांसि जीर्णानि' 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' 'नित्यस्सर्वगतः' इत्युपक्रमोपसंहारपर्यालोचनायामयमेवार्थः । प्रकरणं परमात्मपरतया योजयन्तोऽपि मधुसूदनसरस्वत्यः 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्युपक्रम्य; सर्वगतस्य सर्वान्तर्यामितया तदविषयत्वं दर्शयति । यो हि शस्त्रादौ न निष्ठति तं न शस्त्रादयश्छिन्दन्ति इत्यादिरीत्यैव व्याचख्युः ॥

तत्वमुक्ताकलापः

प्रतिहतिविनिवृत्त्यादिमात्रेण जीवे ॥ २२ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

च भाषितम्;—'अतिसूक्ष्मतया सर्वाचेतनान्तःप्रवेशस्वभावः' इति ।

आनन्ददायिनी

अतिसूक्ष्मतयेति;—सर्वाचेतनान्तःप्रवेशस्वभावत्वम् । अतिसूक्ष्मतये-त्युक्तया प्रतिहत्यनर्हत्वं चोक्तं भवति । अन्तःप्रवेशनस्वभावत्वेन क्रमेण सर्वगतत्वं चेति द्रष्टव्यम् । ननु पूर्वं नित्यस्सर्वगत इत्यादि

भावप्रकाशः

अत्र परोत्प्रेक्षितदूषणानामाभासता तात्पर्यचन्द्रिकासारज्ञानां सुगमा ।

'एको व्यापी समश्शुद्धो निर्गुणः आत्मा सर्वगतोऽव्ययः' (२-४-१९) इति विष्णुपुराणवचने 'सर्वगतोऽव्ययः' इति गीतासमानार्थकं व्यापित्वं धर्मतः । सोऽहं न गन्तानागन्ता' इति तु वचनानां

'अहं त्वंच तथाऽन्येच च भूतैरुह्याम पार्थिव ।
उपभोगनिमित्तं च सर्वत्र गमनक्रिया ॥

इत्यादिपूर्वोदाहृतवचनानांच पर्यालोचने देहद्वारके जीवस्य गमनागमने इत्यभिप्रायकम् ॥

त्वं चान्ये च न च त्वंच न चान्ये नाहमप्यहम् ।

इति तदुत्तरार्धंच अहं त्वमाद्यर्थस्य जीवस्य देहभेदपरमिति श्रीविष्णुचित्तीयादौ व्यक्तम् ॥

निर्धर्मकात्मवादे ब्रह्मव्यतिरिक्तं तात्विकं नाङ्गीक्रियत इति 'एको-व्यापी' 'पुमान् सर्वगतो व्यापी' इति वचनद्वयोक्तव्यापित्वादिकं न घटत इति वचनद्वयमस्वरसमेवेति चोध्यम् ॥

सर्वार्थसिद्धिः

*आत्मनोऽणुत्वे पृथिव्याद्यणुवत् प्रत्यक्षत्वं न स्यादिति चेत्; न; †विभुत्वेऽपि ते विभ्वन्तरवदप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। यथादृष्टि व्यावृत्तिरस्तीति चेत्; अणुत्वेऽपि समम्॥

आनन्ददायिनी

श्रुतेस्सर्वगतत्वोक्ते 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो' 'वायुस्सर्वत्रगो महान्' इत्यादिवत् एकजातीयानां सर्वत्रानुप्रवेशादित्यादिनैकजात्या सर्वगतत्वोक्तिः अत्र सर्वत्र कथं प्रतिहत्यनर्हतयोच्यते? इति चेत्; न; तत्र नेतुं शक्येत्युक्त्या अव्याहतत्वमात्रे तात्पर्यात्; न त्वेकजातीयतयेति। यद्वा विनिगमनाविरहादुभयाकारेणापि सर्वगतत्वमस्तु। तर्हि तथा विभागः किमर्थं कृतः? इति चेत्; एकस्य क्वचित्कश्चिदर्थः क्वचिदन्यश्चेदर्थ उच्यते तत्रोभयमपि ग्राह्यमिति [1]व्युत्पादनार्थमिति द्रष्टव्यम्। नन्वहमर्थो नाणुः प्रत्यक्षत्वात् योऽणुः स प्रत्यक्षो नेति बाधकसत्त्वादणुत्वश्रवणं बाधितमित्याशङ्कां परिहरति;—आत्मनोऽणुत्वे इति। यश्चोभयोस्समो दोषः परिहारोऽपि वा समः इति भावः। [2]अस्तु तर्हि मध्यमपरिमाण इति चेत्; न; तथात्वे साधकाभावात् श्रुतिवि-

भावप्रकाशः

जीवो नाणुः प्रत्यक्षगुणाश्रयत्वात् प्रत्यक्षत्वाद्घटवत् (कि-आ) (अ-सि ८५१) इत्यनुमानं दूषयति;

* आत्मनोऽणुत्व इति। विपक्षे देहव्यापिसुखज्ञानानुपलम्भापत्तिरूपं बाधकं पूर्वमेव परिहृतम्॥

आत्मा न विभुः उक्तहेतोरेवेति प्रतिबन्दीमाह;

† विभुत्वेऽपीत्यादिना।

---

[1] व्युत्पादनं फलं—क. [2] अस्त्वत्रम—क. ख.

[illegible]

* [illegible] बुद्धिस्थवद्भूत [illegible] स्वकत्वाव [illegible] मानसप्रत्यक्षत्वं न स्यादिति [illegible] श्रुतिविरोधादिति [illegible] व्यवः ॥ २९ ॥

[illegible]

[illegible] स्यात् [illegible] व्यापकत्वानिद्धि व्यतिरेक [illegible] आह : बुद्धिव्यवधूतादिति। ननु प्रत्यक्षत्वं न हेतुः ; अपितु मानसप्रत्यक्षत्वं [1] व्यतिरेकव्याप्तिश्चेतिचेत् ; तत्राह :— मानसेति। किन्तु स्वेऽपि समानेति दूषणं तत्रैव दूषणान्तरमाह :— श्रुतीति। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इति श्रुतिस्तुत्याविरोधादिति तद्यार्थः ॥ २९ ॥

[illegible]

[2] नन्वात्मा [illegible] नित्यादि :— एतेन उक्तानुमाने विपक्षे बाधकतर्कोऽसिद्धः त्वयाऽणुव्यतिरिक्तपरमाण्वनभ्युपगमात्। (अपि) जीवो नाणुः अमूर्तत्वात् आत्मत्वात् ईश्वरवदित्यनुमानेऽपि न विपक्षे बाधकस्तर्कः। यद्यात्मा विभुः स्वयंप्रकाशश्च किमिति सर्वत्र सर्वदा न प्रकाशते इति पूर्वग्रन्थाभिमतः प्रतिकूलतर्कोऽपीतिदिक् ॥ २९ ॥

यद्यपि देहान्तरमात्रदृष्टेरिति विभुत्वं व्यास्थापि ; तथाऽपि देहपरिमाण एव जीवः ; यथोक्तं दिगम्बरजैनेन विद्यानन्दिना (४०९ पृ. १० पं.) श्लोकवार्तिके ;—'येषां पुनः अणुपरिमाणो नित्यो वा [illegible] मात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणो वाऽऽत्मा तेषां सकलशरीरे स्वसंवेदनविरोधः। तस्याणुसंचारित्वात् तथा संवेदने सकलशरीरेषु तथा संवेदनासंवेदनाद्यनवस्थानात्। शक्यं हि वक्तुं सकलशरीरव्यापिक एकात्माऽणुपरिमाणोऽप्याशुसंचारित्वात् संवेद्यते इति। तत्राप्येवं चेतनत्वप्रसङ्गोऽन्यत्र संचरणा-

---

[1] व्यतिरेकीत्यत्राह—क. [2] ननु—ग.

सर्वार्थसिद्धिः

*जैनास्त्वाहुः ;—

आनन्ददायिनी

प्रसङ्गसङ्गत्या निरूपयति;—

भावप्रकाशः

दिति चेत्; शरीरावयवेष्वपि तन्मुक्तेष्वचेतनत्वमुपसज्येत; तद्युक्तस्यैव चोपशरीरैकदेशस्य सचेतनत्वोपपत्तेरिति यत्किञ्चिदेतत्। यथा प्रतीतेः शरीरपरिमाणानुविधायिनो जीवस्याभ्युपगमनीयत्वात्. इति ॥

एवं श्वेताम्बरजैनेनाभयदेवसूरिणाऽपि संमतितर्के ;—(१४६) देवदत्तात्मा देवदत्तशरीरमात्रव्यापकः तत्रैव व्याप्तया उपलभ्यमानगुणत्वात्। यो यत्रैव व्याप्तयोपलभ्यमानगुणः स तन्मात्रव्यापकः यथा देवदत्तस्य गृह एवोपलभ्यमानभास्वरादिगुणः प्रदीपः देवदत्तशरीर एव व्याप्तयोपलभ्यमानगुणस्तथात्मा इति। तदात्मनो हि ज्ञानादयो गुणापि तेच तद्देह एवोपलभ्यन्ते न परदेहे नाप्यन्तराले—(१४९) यदि च स्वदेहैकदेशस्थितः कथं तत्र सर्वत्र सुखादिगुणोपलब्धिः? इतरथा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणो वायुः एकपरमाणुमात्रस्स्यात् इति' इत्यार्हतशङ्कामपाकरोति मूले ;—नात्मेति। *जैनास्त्विति ;—अत्रेत्थं तत्वार्थाधिगमसूत्र राजवार्तिकश्लोकवार्तिकादिवाक्यानां संकलनेन जीवस्वरूपादौ जैनमतमाकलनीयम् ;—सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। (त. अ. सू. १-१) तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरमोक्षास्तत्वम् ॥ ३ ॥ औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्वमौदयिकपारिणामिकौ च। (त. अ. सू. २-१) अनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तिता आत्मनो विशुद्धिरुपशमः। क्षयो निवृत्तिरात्यन्तिकी। द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणः फलप्राप्तिरुदयः। द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः।

भावप्रकाशः

तत्प्रयोजनत्वात्तद्वृत्तिवचनम् । स्वभावपरित्यागापरित्यागयोश्शून्यताऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इति चेन्नादेशवचनात् । आदेशवचनात् । अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात्स्यात्स्वभावापरित्यागी । आदिमदौदयिकादिपर्यायार्थादेशात्स्यात्स्वभावपरित्यागी इत्यादि सप्तभङ्गी (रा-वा) 'सम्यक्त्वचारित्रे' द्वे 'ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' नव । ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदास्सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमश्च । अष्टादश । गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः एकविंशतिः । क्रमेण औपशमिक क्षायिकक्षयोपशमिकौदायिका भावाः जीवभव्याभव्यत्वानि च (२-७ त. अ. सू) । त्रयः पारिणामिका भावाः । चैतन्यमेव जीवशब्दस्यार्थः । सम्यग्दर्शनचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः । तद्विपरीतोऽभव्यः (रा. वा) । उपयोगो लक्षणम् । (८ सू) उपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः । चैतन्यमात्मनस्स्वभावः तमनुविदधात्येवंशीलश्चैतन्यानुविधायी सुवर्णभावानुविधायिकटकाङ्गदकुण्डलादिविकारवत् । 'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।' (२ ९) ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् (१-९) एतेन 'सम्यग्दर्शने' ति सूत्रोक्तज्ञानपदार्थोऽप्युक्तः । मतिश्रुते परोक्षे । अवध्यादि त्रयं प्रत्यक्षम् । अश्नाति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा प्राप्तक्षयोपशमः । अक्षादात्मनः परावृत्तं परोक्षम् । ततः परैरिन्द्रियादिभिरुक्ष्यते सिच्यते अभिवर्ध्यते इति परोक्षः । अक्षमात्मानं प्रतिनियतं परानिन्द्रियं वा नापेक्ष्य प्रत्यक्षम् । 'मतिः स्मृतिस्संज्ञा अभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तकम्' चक्षुरादिवत्प्रतिनियतदेशावस्थानाभावादनिन्द्रियं मनः । 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्श्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि' द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियभेदाद्द्विविधानि ।

भावप्रकाशः

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् । एतदपि द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात् । विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियमानावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृतिः । तेष्वात्मप्रदेशेषु प्रतिनियतसंस्थानः पुद्गलप्रचयो बाह्या । शुक्लकृष्णमण्डलमाभ्यन्तरमुपकरणम् । बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि । लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् । द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः ज्ञानावरणीयोपशमविशेषो लब्धिः । तान्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः । 'श्रुतं मति पूर्वम्' जिनगणधराद्याप्तवचनम् । अनुमानोपमानैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावानां श्रुतेऽन्तर्भाव इत्यकलङ्कः । प्रत्यभिज्ञानस्मृतीनामनुमानादीनामपि मतावेवान्तर्भाव इति विद्यानन्दी । तर्कनिष्णाता नव्यजैनास्तु उक्तं प्रत्यक्षपरोक्षशब्दार्थं लोकविरुद्धं मन्यमानाः प्रत्यक्षं द्विविधं मुख्यं (पारमार्थिकं) सांव्यवहारिकं चेति । मुख्यं द्विविधं विकलं सकलं चेति । विकलमवधिमनः पर्ययभेदाद्द्वेधा । सकलं केवलं—परोक्षं स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदात्पञ्चप्रकारमिति विभजन्ते । 'रूपिष्ववधेः' मूर्तिमत्स्वसर्वपर्यायेषु द्रव्येषु विषयेषु अवधेर्निबन्धः । 'तदनन्तभागे मनः पर्ययस्य' अवधिविषयानन्तभागेषु सूक्ष्मेषु मनःपर्ययस्य निबन्धः । 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' । अवधिर्देवानां नारकाणां जन्मत एव भवति । नराणां तिरश्चां तु सम्यग्ज्ञानादिगुणात् । अर्हतस्सामग्रीविशेषजन्यं केवलम् । 'मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च' चस्समुच्चये । मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गनामकं अवध्यज्ञानं चेति ज्ञानत्रयं मत्यादिज्ञानपञ्चकं च ज्ञानोपयोगः । दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात् । उपयोगिनो द्विविधाः संसारिणो मुक्ताश्च (१०) । सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः । (८-२) । बन्धो द्विविधः द्रव्यबन्धः भावबन्धश्चेति । तत्र द्रव्यबन्धः कर्म नो

भावप्रकाशः

कर्मपरिणतः पुद्गलद्रव्यविषयः। ईषत्कर्म नोकर्म शरीरम्। तत्कृतः क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः। स उभयोऽपि निरस्तो यैस्ते मुक्ताः। संसारिणस्त्रसस्थावराः। 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः' (२-१३ 'वनस्पत्यन्तानामेकं' (२२) स्पर्शनम् ॥

जीवाः पृथ्वीमुखास्तत्र स्थावराः परमागमात्।
सुनिर्बाधात्प्रबोद्धव्या युक्त्या एकेन्द्रिया हि ते ॥

द्वीन्द्रियास्त्रसाः कृम्यादयः। क्रिमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि। स्पर्शनं रसनवृद्धं कृम्यादीनाम्। स्पर्शनरसने घ्राणवृद्धे पिपीलिकादीनां। स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुर्वृद्धानि भ्रमराणाम्। तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्याणाम् ॥

एषां पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तम्। पृथिवी पृथिवीकायः पृथिवीकायिकः पृथिवीजीवः इत्यादि। पृथिवी पृथिवीसामान्यं उत्तरत्रयानुगतम्। पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्तं शरीरं पृथिवीकायः। मृतमनुष्यादिकायवत् पृथिवीकायसंबन्धवशीकृत आत्मा पृथिवीकायिकः। कार्मणकाययोगस्थः यो न तावत्पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथवीजीवः। एवमबादौ बोध्यम्। त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः। त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये तेऽनित्यनिगोताः। उभयेषां प्रत्येकं सप्तशतसहस्राणि। एकनिगोतशरीरेऽनन्ता निगोतजीवास्तिष्ठन्ति। साधारणाहारप्राणापानजीवितमरणत्वात् साधारणा इत्यन्वर्थसंज्ञा इत्येतदागमप्रामाण्यादवसीयते (रा-वा) ॥

यावन्तश्च यतो गच्छन्ति मुक्तिं जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोतवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति निगोतजीवानामानन्त्यात् (स्याद्वादमञ्जरी इति मल्लिषेणः) ॥

भावप्रकाशः

यद्यप्यौपशमिकादयस्सर्वे भावाः पौद्गलिककर्मबन्धोदयनिर्जरापेक्षत्वात्पौद्गलिका नात्मतत्वव्यपदेशमर्हन्ति ; तथापि पुद्गलद्रव्यशक्तिविशेषवशीकृत आत्मा तद्रञ्जनस्संस्तन्निमित्तं यं यं परिणाममास्कन्दति यदा तदा तन्मयत्वात्तल्लक्षण एव भवति । स परिणामोऽसाधारणत्वादात्मतत्त्वमित्याख्यायते । उक्तं च ;—

परिणमति जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तम् ।
तह्मा धम्मपरिणमो आदाधम्मो मुणे पव्वो ॥

इति। 'औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि' (३६) 'परम्परं सूक्ष्मम्' 'अनन्तगुणे परे' 'अप्रतिघाते' 'अनादिबन्धने च' सर्वस्य । बृहद्धि शरीरमौदारिकं मनुष्णाणां तिरश्चां च प्रत्यक्षसिद्धम् ॥

संभाव्यानि ततोऽन्यानि बाधकाभावनिर्णयात् ।
परमागमसिद्धानि युक्तितोऽपि च कार्मणम् ॥

आलोकान्तात्सर्वत्र तैजसकार्मणयोर्नास्ति प्रतिघातः । कर्मैव कार्मणम् । न हि कर्म धर्माधर्मरूपमदृष्टसंज्ञकं पुरुषविशेषगुणः । तस्य पौद्गलिकत्वात् । अतो न कर्मणश्शरीरत्वक्षतिः । भावकर्मैवात्मगुणरूपम् न द्रव्यकर्म पुद्गलपर्यायं प्रसिद्धमिति चेन्न ; कर्म पुद्गलपर्यायः जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात् कारागारादिबन्धवत् । क्रोधादीनां जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वे पौद्गलिकत्वमेव । चिद्रूपतया संवेद्यमानानां तेषां प्रतीतिविरोधादपौद्गलिकत्वमित्याग्रहे द्रव्यक्रोधादीनामेव पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं न भावक्रोधादीनां तेषां पारतन्त्र्यरूपत्वस्यैवाभ्युपगमादिति । क्रोधादौ व्यभिचारविरहेण द्रव्यकर्मसामान्यस्य पौद्गलिकत्वमक्षुण्णम् ॥

भावप्रकाशः

'विग्रहगतौ कर्मयोगः (२५) विग्रहो देहस्तस्मै गतिर्विग्रह-गतिः कर्म कार्मणम् । योगः—आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः । पूर्वं शरीरं परित्यज्य उत्तरशरीराभिमुखं गच्छतो जीवस्य अन्तराले कार्मणशरीर-मित्युक्तं भवति । 'अनुश्रेणिगतिः' (२५) लोकमध्यादारभ्योर्ध्वमध-स्तिर्यग्वक्रं आकाशप्रदेशपङ्क्तिश्श्रेणिः कालदेशनियनात् । श्रेणे-रानुपूर्व्येण शरीरपुद्गलस्य जीवस्य गतिः ।

सिद्धा गतिरनुश्रेणि देहिनः परमागमात् ।
लोकान्तरं प्रतिज्ञेया पुद्गलस्य च नान्यथा ॥

जीवानां मरणकाले भवान्तरकाले ऊर्ध्वलोकादधोगतिरधोलोकाच्चोर्ध्व-गतिः तिर्यग्लोकाच्चाधोगतिरूर्ध्वं वाऽनुश्रेण्येव । 'अविग्रहा जीवस्य' (२७) विग्रहो—व्याघातः कौटिल्यमिति यावत् । मुक्तानां चोर्ध्वगमन-कालेऽनुश्रेण्येव गतिः । वंक्रीभावे कारणाभावादविग्रहैव । 'अजीव-काया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' (५-१) 'असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैक-जीवानाम्;'—प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः । कथं प्रदिश्यन्ते? परमाण्वव-स्थानपरिच्छेदात् । वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणुः स यावति क्षेत्रेऽव-तिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते । ते धर्माधर्मैकजीवाः तुल्यासंख्येय-प्रदेशाः । तत्र धर्माधर्मौ निःक्रिया व्याप्य स्थिताः । जीवस्तावत् प्रदेशोऽपि संहरणविसर्पणस्वभावत्वात् कर्मनिर्वर्तितं शरीरं अणु बृहद्वा अधितिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते । यदा तु लोकपूरणं भवति तदा मन्दर-स्याधश्चित्रवज्रपटलयोर्मध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशाः व्यवतिष्ठन्ते । इतरे प्रदेशाः ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्च कृत्स्नं लोकाकाशमश्नुवते । धर्माधर्म-पुद्गलकालजीवा यत्र लोक्यन्ते स लोक इत्यधिकरणे घञ् । किं पुन-रधिकरणम्? आकाशम् । लोक एवाकाशं लोकाकाशमिति समाना-

भावप्रकाशः

धिकरणलक्षणा वृत्तिः । तस्मिन्नवस्थानं धर्मादीनां द्रव्याणाम् । अत आकाशं परप्रत्ययवशात् द्वेधा विभज्यते । लोकाकाशमलोकाकाशं चेति । लोकाकाशं धर्माधर्मतुल्यासंख्येयप्रदेशम् । बहिस्समन्तादनन्तमलोकाकाशम् ॥

'आकाशस्यानन्ताः' 'संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्' 'नाणोः' 'लोकाकाशेऽवगाहः' धर्माधर्मपुद्गलानाम् । तत्र 'धर्माधर्मयोः कृत्स्ने' 'एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्' 'असंख्येयभागादिषु जीवानाम्' लोकाकाशे इत्यनुषञ्जनीयं सूत्रत्रये । नायमेकान्तः । अल्पाधिकरणे महद्द्रव्यं नावतिष्ठत इति ; कुतः? पुद्गलानां हि प्रचयविशेषात् अल्पक्षेत्रे बहूनामवस्थानं दृष्टम् । कथम्? संहृतविसर्पितचम्पकादिगन्धवत् । यथाऽल्पे कुड्मलावस्थे चम्पके सूक्ष्मप्रचयपरिणामात् संहृताश्चम्पकपुष्पगन्धावयवाः तद्व्यापिनो बहवोऽवतिष्ठमाना दृष्टाः । तस्मिन्नेव विसर्पिते स्थूलप्रचयपरिणामाद्विनिर्गताश्चम्पकगन्धावयवाः सर्वदिग्व्यापिनो दृष्टाः । यथा बिल्वे करीषपटले दारुपिण्डे च प्रचयविशेषावगाढास्सन्तः पुद्गला अग्निना दह्यमानाः प्रचयविशेषेण धूमभावेन दिङ्मण्डलव्यापिनो दृष्टाः ; तथाऽल्पेऽपि लोकाकाशेऽनन्तानन्तानां च जीवपुद्गलानामवस्थानामिति नास्ति विरोधः । (राजवा- २०५) । स्यादेतत् ;—यद्येकस्मिन् लोकस्यासंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते द्रव्यप्रमाणेनानन्तानन्तो जीवराशिः लोकाकाशे प्रमाणविरोधात् न स्थातुमर्हतीति ; तन्न ; किं कारणम्? जीवद्वैविध्यात् । जीवाः बादराः सूक्ष्माश्च इति । तत्र बादराः सप्रतिघातशरीराः सूक्ष्माः जीवाः सूक्ष्मपरिणामादेव सशरीरत्वेऽपि परस्परेण बादरैश्च न प्रतिहन्यन्त इत्यप्रतिघातशरीराः । ततो यत्रैकसूक्ष्मनिगोतजीवस्तिष्ठति तत्रा-

भावप्रकाशः

नन्तानन्ताः साधारणशरीरा वसन्ति। बादराणां च मनुष्यादीनां शरीरेषु संस्वेदजसम्मूर्छनजादीनां जीवानां प्रतिशरीरं बहूनामवस्थानमिति नास्त्यवगाहविरोधः (राजवा. २०८)। अत्राह;—लोकाकाशतुल्यप्रदेश एको जीव इत्युक्तम्; तस्य कथं लोकस्यासंख्येयभागादिषु वृत्तिः? ननु सर्वलोकव्याप्त्यैव भवितव्यमिति अत्रोच्यते (राजवा. २०९); 'प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपत्' कार्मणशरीरवशात् उपात्तसूक्ष्मबादरशरीरानुवर्तनं प्रदेशसंहारविसर्पः;—अमूर्तस्वभावस्याप्यात्मनः अनादिसंबन्धं प्रत्येकत्वात् कथंचिन्मूर्ततां बिभ्रतः लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यापि कार्मणशरीरवशात् उपात्तसूक्ष्मशरीरमधितिष्ठतः शुष्कचर्मवत् सङ्कोचनं प्रदेशसंहारः। बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवद्विसर्पणं विसर्पः। ताभ्यामसंख्येयभागादिषु वृत्तिः प्रदेशवत्; यथा निरावरणव्योमप्रदेशावधृतप्रकाशपरिमाणः प्रदीपः शरावमानिकापवरकाद्यावरणवशात् तत्परिमाणप्रकाश उपलभ्यते तथा ताभ्यां प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां असंख्येयभागादिषु परिच्छिन्ना वृत्तिरात्मनोऽवगन्तव्या॥

तद्वदनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेन्नेष्टत्वात्। स्यादेतत्;—परिसंहारविसर्पणस्वभाव आत्मा। प्रदीपादिवदेवास्यानित्यत्वं प्रसजतीति; तन्न; किं कारणम्? इष्टत्वात्; इष्टमेव तदात्मनः कार्मणशरीरापादितप्रदेशसंहारविसर्पपर्यायादेशादनित्यत्वम्। अथवा; इष्टत्वात्—इष्टमेवैतत्; प्रदीपादेः संकोचविकासस्वभावत्वेऽपि रूपिद्रव्यसामान्यादेशान्नित्यत्वम् तथाऽऽत्मनोऽपीति न बाधको दृष्टान्तः॥

सावयवत्वाद्विशरणप्रसङ्ग इति चेन्न; अमूर्तस्वभावापरित्यागात्; स्यान्मतम्;—प्रदीपादिवत् यदि प्रदेशसंहारविसर्पवानात्मा अतः संसारिणः घटादिवत् छेदभेदादिभिः प्रदेशविसरणप्रसङ्गः; ततश्च शून्यता

भावप्रकाशः

प्राप्नोतीति ; तन्न ; किं कारणम् ? अमूर्तस्वभावापरित्यागात् । बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वमावद्यमानः नामूर्तस्वभावं जहातीति घटादिवत् न प्रदेशविशरणमस्ति । किंच ;—

अनेकान्तात् ;—यो ह्येकान्तेन संहारविसर्पवानेवात्मा सावयवश्चेति ब्रूयात् तं प्रत्ययमुपालम्भो घटामुपेयात् ; यस्य त्वनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्योपयोगादिद्रव्यार्थादेशात् स्यान्न प्रदेशसंहारविसर्पवान् । द्रव्यार्थादेशाच्च स्यान्निरवयवः । प्रतिनियतसूक्ष्मबादरशरीरापेक्षनिर्माणनामोदयपर्यायार्थादेशात् स्यात्प्रदेशसंहारविसर्पवान् । अनादिकर्मबन्धपर्यायार्थादेशाच्च स्यात्सावयवः तं प्रत्यनुपालम्भः । किंच ;—

तत्प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वादणुवत् ;—यस्यावयवाः कारणपूर्वका भवन्ति तस्यावयवविशरणं भवति । अवयूयन्ते विश्लिष्यन्ते इत्यवयवाः । यथा पटादेरनेकतन्त्वादिसंघातकारणत्वात् तन्त्वादिविश्लेषे विशरणं भवति । न तथाऽऽत्मनः । अन्यद्रव्यसंघातपूर्वकाः प्रदेशाः । कुतः ? तत्प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वात् । यथा अणोः प्रदेशः नान्यद्रव्यसंघातपूर्वकः । ततो नासाववयवविश्लेषपूर्वकं अनित्यत्वमास्कन्दति । किंतु संघातेनानित्यः । तथाऽऽत्मप्रदेशानामपि नान्यद्रव्यपूर्वकत्वम् ; अतः प्रदेशवत्त्वात् आत्मा सावयवोऽपि नावयवविश्लेषादनित्यः । किंतु गत्यादिपर्यायादेशादनित्यः ॥

तत एव प्रतिप्रदेशं गुणविशेषाभावो घटवत् ; कुत एव ? प्रदेशानामकारणपूर्वकत्वादेव । यथा घटस्य प्रदेशाः अन्यद्रव्यसंघातपूर्वका इति तेषु प्रतिप्रदेशं रूपादिगुणविशेषो दृष्टः । न तथाऽऽत्मप्रदेशाः अन्यद्रव्यसंघातपूर्वका इति न तेषु प्रतिप्रदेशं सुखादिगुणविशेषो भवति । यदि हि अन्यद्रव्यसंघातपूर्वकास्स्युरात्मनः प्रदेशाः

भावप्रकाशः

तेषु घटवत् सुखादिविशेषवृत्तिस्स्यात् . ततश्चात्मनो बद्धत्वं प्रसज्येत । तथा अणोः निरवयव एकजातीयो गुणः शुक्लादिरेककाले भवति एक एव ॥

अत्र कश्चिदाह ;—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नः चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलम् ॥

इति ; अत्रोच्यते ;—पिष्टपेषणमेतदमूर्तत्वं प्रति । नित्यानित्यत्वं च प्रत्यनैकान्तिकत्वात् उपलम्भाभाव इति ॥

पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु वृत्तिप्रसङ्ग इति चेन्न ; शरीरप्रमाणानुविधानात् ; स्यान्मतम् ;—प्रदेशसंहारविसर्पणाभ्यामेव पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु जीवस्य वृत्तिः प्राप्नोतीति ; तन्न ; किं कारणम् ? शरीरप्रमाणानुविधानात् —कार्मणशरीरवशादुपात्तं महदल्पं वा शरीरमधितिष्ठति जीव इत्युक्तम् ; नचैकप्रदेशादिकं शरीरमस्ति ! जघन्येनाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमाणत्वात् । अतो नास्यैकप्रदेशादिषु वृत्तिरस्ति ॥

मुक्तानामेतत्प्रसङ्ग इति चेन्न ; देशोनान्त्यविग्रहप्रमाणावस्थानात् । स्यादेतत्—यदि शरीरप्रमाणानुविधानात् आत्मनो नैकप्रदेशादिषु वृत्तिः मुक्तानां तर्हि तदभावात्तत्प्रसङ्ग इति ; तन्न ; किं कारणम् ? देशोनान्त्यविग्रहप्रमाणावस्थानात् । येन शरीरेण मुक्तिमाप्तवान् जीवः तत्प्रमाणमेव देशोनमवलम्ब्यावतिष्ठति । न ततो वृद्धिर्नापि हानिः ; पुनः प्रदेशसंहारविसर्पकारणाभावात् ॥

संसारिणो मुक्ताश्चेत्यत्र चकारः नोसंसारिणस्सयोगकेवलिनः संसारासंसारनोसंसारत्रितयव्यपेतायोगकेवलिनश्च समुच्चिनोति । सयोगकेवलिनां मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायाणां संसारकारणा-

भावप्रकाशः

नामभावात् योगमात्रस्य संसारकारणस्य कर्मागमनहेतोस्सद्भावात्। अयोगकेवलिनां योगाभावेऽपि पञ्चाशीतिकर्मप्रकृतिसद्भावात्। द्रव्यक्षेत्र-कालभवभावपञ्चकनिमित्ता आत्मनो भवान्तरप्राप्तिस्संसारः। संसार-निमित्तं च 'वाङ्मनः कर्मयोगः' (६०१) आस्रवः—'शुभः पुण्यस्य' 'अशुभः पापस्य'। योज्यतेऽनेनात्मा कर्मभिरितियोगः। काय-वाङ्मनःक्रियैव योगः। कायवाङ्मनोवर्गणालम्बिप्रदेशपरिस्पन्दः—भावधर्माधर्मौ विशुद्धसंक्लेशरूपौ द्रव्यधर्माधर्मौ पुद्गलस्वभावौ। विशुद्धि-संक्लेशरूपपरिणामहेतुश्शुभाशुभफलपुद्गलसमागमः विशुद्धसंक्लिष्टकाया-दिकृतः। 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः। (८-१)। अत्र योगः वाङ्मनः कर्म। कषायाः क्रोधादयः। 'हिंसानृतस्तेया-ब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरत्यभावोऽविरतिः। एवमिन्द्रियाणि क्रियाश्च। बन्धः पूर्वमेवोक्तः। 'प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः' प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्। यथा निम्बस्य का प्रकृतिः? तिक्तता स्वभावः। गुडस्य का प्रकृतिः? मधुरता स्वभावः। तथा ज्ञानावरणीयस्थ का प्रकृतिः? अर्थानवगमः। प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्। एवं दर्शनावरणस्य अर्थानालोचनम्। वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनम्। दर्शनमोहस्य तत्वार्थाश्रद्धानम्। चारित्रमोहस्यासंयमः परिणामः। आयुषो भवधारणम्। नाम्नो नरकादि-नामकरणम्। गोत्रस्य उच्चैर्नीचैस्स्थानसंशब्दनम्। अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम्। तदेवंलक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः। तत्स्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः। तस्य स्वभावस्य अप्रच्युतिः स्थितिरित्युच्यते। यथा अजामहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावा-दच्युतिः स्थितिः। तथा ज्ञानावरणादीनामर्थानवगमादिस्वभावादच्युतिः

भावप्रकाशः

स्थितिः । प्रकृतिबन्धः आद्यो 'ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरयाः' ताः पुनः कर्मप्रकृतयो द्विविधाः घातिका अघातिकाश्च । तत्र ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरयाख्या घातिकाः । इतरा अघातिकाः । विपाकोऽनुभवः । द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधो वा पाको विपाकः । कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः । कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदनावधारणं प्रदेशः । यथैव हि सर्वत्र कलशोदके क्षीरमिश्रे क्षीररसविशेषस्य फलस्योपलब्धेः सर्वेषु तदुदकप्रदेशेषु क्षीरसंश्लेषस्सिद्धः तथा सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु कर्मफलस्याज्ञानादेरुपलम्भात्कर्मप्रदेशसंश्लेषस्सिध्यति ॥

तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिदेशौ स्थित्यनुभवौ कषायहेतुकौ । निर्जरा द्विविधा । एका अनुभवरूपविपाकजा । अपरा वक्ष्यमाण संवरहेतुभूततपस्साध्या । 'आस्रवनिरोधस्संवरः (९-१) । कर्मागमननिमित्ता प्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः । तन्निरोधे सति तत्पूर्वककर्मादानाभावस्संवरः । स द्वेधा द्रव्यभावभेदात् । संस्कारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः । तन्निरोधे तत्पूर्वकर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः । 'सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः'। 'उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः' 'तपसा निर्जरा च'। तपो द्विविधम् बाह्याभ्यन्तरभेदात् । द्विविधं चैतत् अभिनवकर्मनिरोधहेतुत्वात्संवरणकारणम् । प्राक्तनकर्मरजोमलविधूननहेतुत्वान्निर्जराहेतुरपि । प्राणिपीडापरिहारेन्द्रियदर्पनिग्रहशक्तिभेदाद्विविधम् चारित्रं संयमेऽन्तर्भूतमपि कृत्स्नकर्मक्षयहेतुत्वज्ञापनार्थमन्ते पृथगुक्तम् । आभ्यन्तरतपोऽन्तर्गतं मोक्षहेतुध्यानं द्विविधं धर्म्यशुक्लभेदात् । तत्र

भावप्रकाशः

शुक्लं पृथक्त्ववितर्कं एकत्ववितर्कं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्ति चेति चतुर्विधं। वितर्कः श्रुतम्। आद्यद्वयं श्रुतकेवलिनः। तृतीयं सयोगकेवलिनः। चतुर्थमयोगकेवलिनः ॥

तत्र प्रथमे द्रव्यपर्यायरूपार्थान् ध्यायन् आहितवितर्कसामर्थ्यः तानर्थान् वचनद्वयं कायद्वयं परस्परं परिवर्तनेन पृथक्त्वेन संक्रामता मनसा मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयन् च ध्यानयोगान्निवर्तते। द्वितीये तु समूलतूलं मोहनीयं निर्दिधक्षन् ज्ञानावरणमोहप्रकृतिबन्धं निरुन्धन् स्थितेः ह्रासक्षयौ च कुर्वन् ध्यात्वा पुनर्निवर्तते। तत एकत्ववितर्कनिर्दग्धघातिकर्मा परिनिष्पन्नकेवलज्ञानः भगवांस्तीर्थकर इतरो वा सयोगकेवली। उत्कर्षेणायुःपूर्वकोटिं देशोनां विहरन् यदान्तर्मुहूर्तशेषायुष्कः तत्तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा सर्ववाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहार्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनस्सूक्ष्मक्रियाप्रतिहातिध्यानमास्कन्दितुमर्हति। ततोऽयोगकेवली समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात्समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यानमारभते। तस्मिन् ध्याने सर्वबन्धास्रवनिरोधसर्वशेषकर्मशासनसामर्थ्योपपत्तेरयोगिनः केवलिनः (रा-वा) 'मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्, (१०-१) प्रागेव मोहक्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्तं क्षीणकषायव्यपदेशमप्राप्य युगपज्ज्ञानदर्शनान्तरायाणां क्षयं कृत्वा घातिकर्मचतुष्टयाक्षयात् केवलमवाप्नोति। ततः 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति सूत्रानुसारात्। 'मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि संसारमार्गः' 'मिथ्यादर्शनाविरतीत्यादिसूत्रोक्तानामत्रैवान्तर्भावः'। मिथ्यादर्शनेत्याद्यनुसारेण 'सम्यग्दर्शनविरत्यप्रमादाकषायायोगा मोक्षहेतवः। मिथ्या-

सर्वार्थसिद्धिः

* सर्वाणि द्रव्याणि पर्यायवन्ति । आत्माऽपि द्रव्यम् । अतस्सोऽपि तत्तद्भोगायतनानुगुणाणुत्व† महत्त्वादि‡पर्यायवानिति । तान् प्रति-

आनन्ददायिनी

यद्द्रव्यं तत्पर्यायवत् यथा घटः तथाचात्माऽपि द्रव्यमित्यनुमानेनात्मनः परिणामित्वे देहातिरिक्तपरिमाणे प्रमाणाभावात् देहपरिमाणवानात्मे-त्यर्थः । **पर्यायः**—परिणामः ।

भावप्रकाशः

ज्ञानस्य मिथ्यादर्शन इव सम्यग्ज्ञानस्य सम्यग्दर्शनेऽन्तर्भावात् (श्लोकवा) मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः । पूर्वोदितनिर्जराहेतु सन्निधाने चार्जितकर्मनिरासः । सतो द्रव्यस्य द्रव्यत्वेन विनाशो नास्ति ; किं तु पर्यायेण । ततः पुद्गलद्रव्यस्य कारणवशात्कर्मत्वपर्यायमापन्नस्य तत्प्रत्यनीकहेतुसान्निधाने तत्पर्यायनिवृत्तौ कृत्स्नकर्मक्षयः । भावकर्मणां 'औपशमिकादिभव्यत्वान्तानां च' मोक्षः 'अन्यत्र केवलसम्यक्त्व-ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः' 'तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्' पूर्व-प्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च' 'आविद्धकुलालचक्र-वद्व्यपगतलेपालाबूवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च' लोकान्तान्नोर्ध्वगति-र्मुक्तस्य । संसारगतसुखस्य प्रकर्षाप्रकर्षयोगात्सान्तत्वेऽपि मुक्तानां परमानन्तपरिमाणयोगान्निरुपमं निरतिशयं सुखम् । स्त्रीणामपि मुक्तिः मुक्तौ कबळभुक्तिश्चेति श्वेताम्बराः । तदुभयं नेति दिगम्बराः प्राहुः इति॥

* सर्वाणीत्यादि—'अजीवकाया धर्माधर्मपुद्गलाः' (५-१) 'द्रव्याणि' (२) 'जीवाश्च' गुणपर्यायवद्द्रव्यम् (३७) इति तत्त्वार्था-धिगमसूत्रेषु धर्मादीनां जीवानां च द्रव्यत्वस्य पर्यायवत्त्वस्य द्रव्य-लक्षणत्वस्य चाभिधानादिति भावः । † महत्त्वादि‡पर्यायवानिति—क्रम-भाविपरिणाम एव पर्यायशब्दार्थो जैनमते इति जडसरे (१६५)

तत्वमुक्ताकलापः

नात्मा देहानुरूपं विविधपरिणतिः

सर्वार्थसिद्धिः

क्षिपति ;—**नात्मेति**। यो यद्भोगायतनवर्ती स तत्परिमाण इति नियमस्तावन्न* दृष्टः । †न च कल्प्यः ‡कल्पकासिद्धेरिति भावः ।

आनन्ददायिनी

कल्पकासिद्धेरिति ;—ननु यद्द्रव्यं तत्पारिणामवादिति व्याप्तिरस्त्येव । यो यद्भोगायतनं स तत्तुल्यपरिमाण इति व्याप्तिस्तु परिमाणान्तरे (र) कल्पकाभावात्सिध्यतीति कथं कल्पका-

भावप्रकाशः

निरूपितम् । महत्वादीत्यादिपदेन स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धस्वदेहमात्रव्यापकसुखदुःखादिपर्यायसङ्ग्रहः ॥

* न दृष्ट इति—दीपस्य गृहैकदेशस्थत्वेऽपि गृहव्यापकप्रकाशवत्त्वेन प्रत्यक्षवत् जीवस्य देहैकदशस्थत्वेऽपि स्वदेहव्यापकसुखादिमत्त्वेनाहमर्थात्मनोऽध्यक्षमुपपद्यत इति भावः ॥

यो यत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणः स तन्मात्रव्यापक इति सामान्यनियमेन विशेषासिद्धिशङ्कां निरस्तामप्यभ्युपेत्यावनुदति—†न च कल्प्य इति । ‡कल्पकासिद्धेरिति—जीवस्य शरीरव्यापकत्वाभावेऽपि शरीरान्तस्संयोगस्यैव शरीरयावदवयवावच्छेदेन सुखाद्युपलब्धिहेतुत्वसम्भवात्; सिद्धान्ते सुखाद्युपलब्धेः 'अव्यापित्वेऽपि पुंसः+ज्ञानव्याप्त्योपपन्नम्' इति श्लोकतद्विवरणयोरुपपादनात् । यथा दीपप्रभयोरपृथक्सिद्धविभिन्नतेजोद्रव्यत्वम् तद्वत् ज्ञानात्मनोरपीति श्रीभाष्यादौ निर्णयाच्च ॥

भावप्रकाशः

किञ्च जैनैरपि 'शब्दबन्ध+छायातपोद्योतवन्तश्च (५·२४) इति सूत्रे (आतपोद्योत) उष्णानुष्णप्रकाशयोः (पुद्गलपरिणामत्वम्) पुद्गलधर्मत्वमुक्तम्। अत्र। राजवार्तिकम्—'शब्दादीनां पुद्गलेभ्यो भेदार्थादेशात्स्यादन्यत्वम्। शब्दादिपरिणामे च तप्ताय:पिण्डवत्तादात्म्यादेशात्स्यादनन्यत्वमिति' अत्र अयःपिण्डे पूर्वं पृथगवस्थितेऽग्नेर्यावदवयवावच्छेदेन संयोग एव न त्वभेदः इति दीपाद्बहिरवस्थित प्रभाया न तद्दृष्टान्तेनानन्यत्वं सुसाधम्। अत एव दीपप्रभा गृहं व्याप्यावतिष्ठते न दीप इति व्यवहार उपपद्यते। जीवानामेकदेहवियोगानन्तरं अन्यदेहपरिग्रहदशायां सङ्कोचविकासवादिना यदा शरीरयावदवयवावच्छेदेन न ज्ञानसुखाद्यनुभवः सुषुप्तौ जाग्रद्दशायां वा तदा जीवस्य शरीरपरिमाणताकल्पकं किम्? 'नोत्पत्त्यनन्तरापवर्गी प्रदीपः आत्मलाभे देशान्तरसंबन्धनिमित्तक्रियापरिणामविप्रकृष्टदेशस्वघटादिप्रकाशनदर्शनात्' (५ अ. २४ सू.) इति राजवार्तिकं सप्रभाकदीपानां प्रतिक्षणोत्पादविनाशस्य श्रीभाष्यादौ साधनान्निरस्तम्। बौद्धमतासिद्धान्ते विशेषः (३९६) जडसरे निरूपितः॥

अतो दीपप्रकाशस्य दीपसहभवत्वे गुणत्वं क्रमभवत्वे पर्यायत्वमितीयानेव भेदो जैनमते। एवं च पुद्गलस्य दीपदशापन्नस्य यथा न गेहपरिमाणत्वं तद्वदेव जीवदशापन्नस्यापि न देहपरिमाणत्वम्। प्रकाशदशापन्नस्य तत्परिमाणत्वं प्रकाशस्य तत्परिमाणत्व एव विश्राम्यति। इत्थं च दीपप्रकाशयोरिव जीवज्ञानयोर्भेदाभेद एव विवादः पर्यवस्यति। भेदाभेदश्च निरसिष्यते॥

किञ्च लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्य जीवस्य देहपरिमाणत्वव्यवस्थापनमपि विफलम्। अपि च जीवस्य परमाणुत्वमनङ्गीकृत्य शरीर-

तत्वमुक्ताकलापः

निर्विकारोक्तिबाधात्

सर्वार्थसिद्धिः

* नैगमिकाभीष्ट हेतुमाह ;—निर्विकारेति । † वृद्धिह्रासौ देहस्थावेवोच्येते आत्मनि तु न क्वचित् ; प्रत्युतान्यथा । ननु स्थूलोऽहम् कृशोऽहमिति सामानाधिकरण्यात् मूर्ध्नि मे सुखमित्यादिना सर्वावयवेष्वहमर्थवृत्ति-

आनन्ददायिनी

भाव इति चेन्न ; परमाण्वादौ व्यभिचारात् सामान्यव्याप्तिरेव नास्ति कुतो विशेषव्याप्तिस्तदधीनेति भावः । ननु निर्विकारोक्तिबाधादित्य-संगतम् तैः पर्यायस्याङ्गीकारात् वेदप्रामाण्यस्यानभ्युपगमाच्चेत्यत्राह ; **नैगमिकाभीष्टमिति** । वेदप्रामाण्यदार्ढ्याभिप्रायेणेति भावः । प्रत्युतेति 'वृद्धिह्रासौ न तस्येष्टौ' इत्यादिनेत्यर्थः । ननु प्रत्यक्षेणैवात्मनो वृद्धिह्रासभाक्त्वमनुभूयते । तथा च तद्विरुद्ध आगमो ग्रावप्लवन-वाक्यवदन्यपर इति शङ्कते ;—**नन्विति । मूर्ध्नि मे सुखमिति ;**

भावप्रकाशः

परिमाणेनैव यावदवयवावच्छेदेन सुखाद्युपलब्ध्युपपादने लोकाकाश-तुल्यप्रदेशस्य जीवस्य शरीराद्बहिस्सुखाद्युपलब्धिः कथं वार्यते? तत्प्रदेशनामन्तर्बहिरविशेषेण सत्त्वे कारणगुणापूर्वकत्वं सुखाद्युपलब्धाव-प्रयोजकम् । अतश्शरीरपरिमाणकल्पकासिद्धिरपरिहार्यैवेति भावः । अर्हदागमप्रामाण्यमभ्युपेत्य स्वेष्टसाधने वेदेन किमपराद्धमित्यभि-प्रयन्नाह — * नैगमिकेति । नन्वेवमुभयोरागमयोरविशेषे कथं सिद्धान्तव्यवस्थितिरिति शङ्कायां सिद्धान्तेऽनुग्राहकं दर्शयति— † वृद्धिह्रासावित्यादिना । अयमाशयः ;—आत्मनोऽणुत्वे निरवय-

तत्वमुक्ताकलापः

स्थूलोऽहं मूर्ध्निजातं सुखमिति (हि) च मति-स्तस्य देहात्ममोहात्

सर्वार्थसिद्धिः

दर्शनाच्च परिमितिभेदः कल्प्य इत्यत्राह;—स्थूल इति। सामानाधिकरण्यं तावत् गौरोऽहमित्यादिष्वप्यस्तीत्यनेकान्तम्। देहद्वारैवात्मनि

आनन्ददायिनी

मूर्धन्यहमर्थतादात्म्याध्यासेन भवति। तदध्यासश्च अहमर्थस्य मूर्धावच्छेदेन सत्त्वे युज्यते। तत्सत्त्वं च देहपरिमाणभाक्त्वे भवतीति भावः। सामानाधिकरण्यबुद्धिर्न साक्षात्संबन्धनियतेत्याह;—गौरोहमिति। सामानाधिकरण्यं—सामानाधिकरण्यज्ञानमित्यर्थः। ननु तत्रापि साक्षात्संबन्धोऽस्तु तत्राह;—देहेति। आत्मनो देहव्यतिरिक्तस्याचाक्षुषत्वेन परैरपि रूपाद्यनङ्गीकारात्प्रतीयमानस्य देहरूपस्य तत्तादात्म्यानभ्युपगमादिति भावः। यद्यप्यनेकान्तवादे भिन्नाभिन्नत्वाभ्युपगमात् तादात्म्यमप्यस्तीति वक्तुं शक्यम्; तथाऽपि तन्निरासात् तैरनभ्युपगमाच्च

भावप्रकाशः

वत्वेन देहवैलक्षण्यं सिध्यति न तु वृद्धिह्रासभागित्वे। नचाहमर्थस्यात्मनोऽचाक्षुषत्वेन स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धतया देहवैलक्षण्यं (श्लो—वा) साधितमिति वाच्यम्; एवमौदारिक (स्थूल) शरीराद्वैलक्षण्यसिद्धावपि कार्मणशरीराद्वैलक्षण्यासिद्धेः। कार्मणशरीरस्याचाक्षुषत्वेन तस्यैवाहमर्थत्वस्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वयोरभ्युपगमसंभवेन पुद्गलविलक्षणजीवतत्वाङ्गीकारस्यायुक्तत्वात्। जीवस्य परमाणुत्वमनभ्युपगम्य कारणपूर्वकत्वाभावाभ्युपगमेऽपि निरवयवत्वासंभवेन नित्यत्वस्य प्रदीपपुद्गलव्यावृत्तस्या-

सर्वार्थसिद्धिः

गौरत्वादिवादः भ्रमाद्वा । * तथेहाऽपि । देहावयवेषु सुखाद्युत्पत्तिविषयश्च देहात्मभ्रमेण सर्वत्र सन्निधानारोपात् । सत्सन्निधानेऽपि भ्रमाङ्गीकारः ।

आनन्ददायिनी

तथा वक्तुं न शक्यमिति ध्येयम् । * **तथेहापीति ;**—नात्र देहावयवेषु प्रत्येकमहमर्थतादात्म्यारोपः ! येन देहपरिमाणमात्मनस्सिध्येत् ; अपि तु शरीरे । तथा च तत्तादात्म्यारोपो देहसंबन्धमात्रेणैव युज्यत इति न तदर्थं देहपरिमाणकल्पना । एवं च देहतादात्म्यारोपेणैवात्मनः सर्वावयवेषु सन्निधानारोपसंभवात्तथाधीरिति भावः । ननु सन्निधानारोपः किमर्थं कल्प्यते ? सर्वत्र सन्निधिरेवास्त्वित्यत्राह ; **सत्सन्निधानेऽपीति ।**

भावप्रकाशः

नभ्युपगमात् । अष्टसाहस्रयाम् 'स्यादेकं सद्द्रव्यनयापेक्षया' इत्यकलङ्क-वाक्यं विवृण्वानेन विद्यानन्दिना 'सर्वमेकं जीवादीनां षण्णां तद्भद-प्रभेदानां चानन्तानां तत्पर्यायत्वात् । एकं द्रव्यमनन्तपर्यायमिति संक्षेपतस्तत्त्वोपदेशात्' इत्युक्त्या 'नाणाः' इति सूत्रे (श्लो—वा) सर्वद्रव्यसाधारणसद्द्रव्यरूपेण नित्यत्वस्योक्तावपि (जीव) चैतन्यरूपेण नित्यत्वानुपपादनेन जीवस्यापि पर्यायत्वेन जीवरूपेण नाशावश्यंभावेन जीव (चैतन्य) रूपेण नित्यत्वस्यायोगात् 'अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानेति' सूत्रे ज्ञानस्य तत्पूर्वसूत्रे जीवस्य मुक्तावनाशस्य जीवस्य पारिणामिकत्वे-नानादित्वस्य च सिद्धान्तकरणायोगाच्चेति । *तथेहापीत्यादि—मूर्ध्नि मे सुख-मित्यत्र सुखस्य मूर्धवृत्तित्वं जैनैरपि नाङ्गीक्रियते । अस्मिन् काले मे सुख-मित्यत्रेव मूर्धावच्छिन्नत्वं विभुजीववादिभिरप्यभ्युपेयते इति तत्स्वीकारे विभुजीवव्यावृत्तिर्न भवति मूर्धहेतुकत्वं तु जीवस्य परमाणुत्वेऽपि संभव-

सर्वार्थसिद्धिः

ननु 'एकां शाखां जीवो जहाति' इत्यादिना छान्दोग्ये जीवस्य वृद्धिसंकोचौ श्रूयेते ; तन्न ; क्षेत्रादिष्विवाभिमानत्यागेनाऽपि तदुपपत्तेः ।

आनन्ददायिनी

अयं भावः ;—पादे वेदना शिरसि सुखम् इत्यादिनिर्वाहाय हि तत्सन्निधानं कल्प्यते ! तदङ्गीकारेऽपि शरीरावयवेषु सुखादिबुद्धिर्भ्रान्तिरेव । तथा च तदङ्गीकारेऽपि तदनिर्वाहात् सर्वत्रात्मसन्निधानारोप एवास्त्विति भावः । ननु जीवस्य वृद्धिह्रासभाक्त्वं श्रूयते इत्याशङ्कते ;—नन्वित्यादिना । एकस्य वृक्षस्यैकजीवाधिष्ठितत्वात् तत्रैकशाखात्यागे कृते तत्त्यागो ह्रास एव । शाखोपचये तदधिष्ठितत्त्वस्वीकारो वृद्धिरिति जीवस्यैव वृद्धिह्रासभाक्त्वादिति भावः । ननु क्षेत्रादिष्विवाभिमानत्यागान्न शोषादिकम् । तत्स्वीकारे वा नोपचयः इति चेन्न ; अत्र ज्ञानेन व्याप्याधिष्ठानरूपाभिमानविशेषस्य विवक्षितत्वात् ।

भावप्रकाशः

तीति पूर्वोदाहृतानुमानं न देहपरिमाणतां जीवस्य साधयितुमलम् । जीवस्य लोकाकाशतुल्यत्ववादिना जैनेन मूर्धादिहेतुकत्वं सुखस्यावश्यमङ्गीकरणीयम् । अन्यथा जीवस्यैकत्वेन बहिस्सुखानुभवाविरहस्य निर्बीजतापातात् । एतेन वायोरेकपरमाणुमात्रत्वापादानं निरस्तम् । वायोर्बहिस्सर्वत्रोपलब्धेः एकपरिणामकोपाधिना निर्वाहासंभवात् । जीवस्य शरीरे सर्वत्र सुखोपलब्धिसत्त्वेऽपि शरीरस्यैक्येन एकपरिणामकोपाधि संभवेन अन्तः तत्संयोगमात्रेण शरीरयावदवयवहेतुकसुखोपलब्ध्युपपत्तिसंभवेन वैषम्यात् । सर्वशरीरेषु एकजीवापादनं तु न संभवति आशुसंचारानभ्युपगमात् । सुखदुःखादिव्यवस्था प्रत्यभिज्ञादिबाधकानां पूर्वमेव निरूपणाच्चेति भावः ॥

तत्वमुक्ताकलापः

नानादेहश्च योगी प्रसजति भिदुरः पुंसि

सर्वार्थसिद्धिः

तत्रतत्राभिमानसदसद्भावौ च कर्मनियतौ । खण्डितारोपितशाखाप्ररोहस्तु तादात्विकजीवान्तराभिमानात् । भिन्नजन्त्ववयवविकम्पः प्राणांशक्षोभमात्रात् । न हि तत्र वेदनायां प्रमाणमस्ति । *बाधान्तरमाह—**नानादेह इति ।** एकस्मिन्नेव काले योगिनां विरुद्धधर्माध्यासेन

आनन्ददायिनी

अत एव न स्वेच्छामात्रात्संभवतीत्याह;—**तत्रतत्रेति ।** तथा च मनुष्याणां स्वहस्तपादाद्यभिमानत्यागः स्वाच्छन्द्यान्न भवतीति भावः । **ननु** देहपरिमाणपर्यायाभावे शाखाखण्डनेनात्मनः खण्डनाभावेन खण्डितशाखायां खण्डितस्यात्मनोऽभावात् आरोपितायाः प्ररोहो न स्यात् । न च सर्वोऽप्यात्मा खण्डितशाखायां तिष्ठतीति वाच्यम्; पूर्ववृक्ष एव विद्यमानत्वात् । अन्यथा वृक्षस्य शोषप्रसङ्गात् । तत्र भिन्नगोधाशरीराणां चलनं न स्यात् आत्मनस्तत्राभावात् इत्यत्राह;—**खण्डितेति । प्राणांशेति;**—प्राणस्य सावयवस्य खण्डितस्य तत्रावस्थानादिति भावः । ननु वेदनया कम्पः वेदना चात्मन एवेति चेत् तत्राह;—**न हि तत्रेति । एकस्मिन्निति;**—शरीराणां न्यूनाधिक-

भावप्रकाशः

एकपरिणामकशरीरोपाधिना भवदुक्तदोषाणां भवन्मतरीत्या परिहार उक्तः । योगिमुक्तविषये यद्यस्मत्सिद्धान्तरीतिराद्रियते तदाऽस्मन्मते न कोऽपि दोष इति पूर्वमेव निरूपितम् । भवन्मते मुक्तस्याशरीरत्वाभ्युपगमेनानुपपत्तिपरिहारस्य कथंचित्संभवदुक्तिकत्वेऽपि योगिविषये दोषो दुरुद्धर एवेत्याशयवान् नैगमिकाभीष्टमन्यदप्याह;—*बाधान्तरमिति ॥

तत्वमुक्ताकलापः

देहप्रमाणे मुक्तौ देहात्ययात्स्यात्परिमितिविरहस्तत्प्रयुक्तेऽस्य माने ॥ २३ ॥

सर्वार्थसिद्धिः

स्वरूपभेदः प्रसज्येत । प्रसङ्गान्तरमाह ;—**मुक्ताविति ।** देहप्रयुक्ते पुंसः परिमाणे मुक्तिदशायां* देहाभावादात्मनः परिमाणविरहस्स्यात् । तथाच गुणवद्द्रव्यत्वमेव हीयेत । *अपरिमितस्यापि द्रव्यत्वं केचिदिच्छन्तीति

आनन्ददायिनी

परिमाणवत्त्वात् तत्तद्रूपपरिमाणानां विरुद्धानां धर्मिभेदसाधकत्वादिति भावः । गुणवद्द्रव्यत्वं—गुणत्वं द्रव्यत्वं चेत्यर्थः । परिमाणरहितस्य गुणमात्रशून्यत्वादिति भावः । परिमाणशब्दस्य परिच्छिन्नार्थकत्वं मत्वा शङ्कते ;—**अपरिमितस्येति** । परिमाणं हि द्विविधम् अणुत्वमहत्त्वभेदात् । तथा चापरिच्छिन्नत्वमपि परिच्छिन्नादितरत् परिमाणान्तरमिति

भावप्रकाशः

*देहाभावादिति ;— मुक्तानामनाकारत्वादभावशङ्कायाः गतसिक्तकमूषागर्भवत् अतीतानन्तशरीरानुविधायित्वेन परिहारस्य (१०-४) कथनेन अशरीरत्वमङ्गीकृतम् । एवं च प्रागुक्तानुमानादिना मुक्तस्य शरीर परिमाणसाधनासंभवेन जीवस्य चाक्षुषमूषागर्भदृष्टान्त मात्रेणपरिमाणासिद्ध्या परिमाणविरह एव पर्यवस्यतीति भावः । ननु (५-८ श्लो. वा.) जीवस्य धर्माधर्मवल्लोकाकाशपरिमाणत्वमभ्युपगतम् । मुक्तानां परमानन्तपरिमाणयोगान्निरतिशयं सुखमिति न तस्यास्त्युपमानमाकाशपरिमाणवत् (१०-४ रा. वा.) इत्यप्युक्तम् । अतो न मुक्तस्य परिमाणविरह इत्यभ्युपेत्य शङ्कते ;—*अपरिमितस्येति॥

तत्त्वमुक्ताकलापः

निर्मुक्तस्त्वन्मते स्यात्कथमपरिमितो नित्यमू-

सर्वार्थसिद्धिः

चेन्न ; * विभुत्वप्रसङ्गात् इति ॥ २३ ॥

भवतु विभुर्मुक्तः को दोष इत्यत्राह ;— **निर्मुक्त इति** । मुक्तस्य हि पृथिव्या नित्यपतनव *न्नित्योर्ध्वगमनं युष्माभिरुच्यते

आनन्ददायिनी

परिहरति ;—**नेति** । यद्वा विभुत्वरहितस्य परिमाणाभावे द्रव्यत्वं न स्यादिति परिहर्तुभावमजानतश्शङ्का ; अभिसन्ध्युद्धाटनं नेति ॥

[1] पूर्वाक्षेपेण सङ्गतिमाह—**भवत्विति** । **पृथिव्या नित्यपतनवदिति** — पृथिवी नित्यपतन [2] शीलेति जिनमतं पूर्वं प्रतिपादितं द्रष्टव्यम् । **नित्योर्ध्वगमनमिति** । नित्याधःपतनं संसारः नित्योर्ध्वगमनं [3] मोक्ष इति जिनोक्तेरिति भावः ।

भावप्रकाशः

* विभुत्वप्रसङ्गादिति ;–लोकपूरणदशायां सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगः न त्वन्यदा इति व्यवस्थामाश्रित्य कदाचिद्विभुत्वमन्यदा तद्योग्यत्वमिति (५. ८ श्लो. वा.) कल्पनाया निर्युक्तिकत्वेन सर्वदैव विभुत्वं स्यात् । लोकाकाशतुल्यप्रदेशत्वेऽपि शरीराद्बहिस्सुखाद्युपलब्धिविरहः कारणपूर्वकत्वाभावादिति भवद्भिरुक्तया लाघवेन सदा विभुत्वाङ्गीकारस्यैव न्याय्यत्वात् । अन्यथाऽणुत्वेनोपपत्तौ कारणापूर्वकत्व पर्यन्तवैफल्यात् *नित्योर्ध्वगमनमित्यादि—तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तरात् (१०–५) ऊर्ध्वगौरवात् । उर्ध्वगौरवपरिणामो हि जीव उत्वतत्येव' इति सूत्र (रा) वार्तिकयोरुक्तेरिति भावः ॥

---

[1] पूर्वशेषत्वान्नपृथक् सङ्गतिरित्याह—**ग.** [2] शीलेत्यधस्ताज्जिन—**ग.** [3] मोक्ष इति भावः—**क.** [4] काशावस्थितिरिति—**ग.**

तत्वमुक्ताकलापः

र्ध्वं प्रधावन् देहः कश्चित्तदानीमपि यदि नियतः स्यात्तु तन्निघ्नतास्य ।

सर्वार्थसिद्धिः

अलोकाकाशावधि वा । उभयथाप्यपरिमितस्य गमनं न सिद्ध्येत् । देहविशेषपरिमित एवोत्पततीति शङ्कते—**देह इति । नियतः**—अवश्यं भावी स्व[1]कर्मनियत इति वा । तत्र बाधकमाह ;—स्यादिति । कर्मनियतदेहत्वे परतन्त्रस्य कथं मुक्तत्वमिति भावः ।

आनन्ददायिनी

अलोकाकाशावधिवेति—लोकाकाशोऽलोकाकाशश्चेत्याकाशो द्विविध इति पूर्वं प्रतिपादितं द्रष्टव्यम् । उभयथाऽपि क्रियाया मूर्तधर्मत्वादिति भावः । ननु मोक्षान्यथाऽनुपपत्त्या कश्चन देहोऽस्तु तत्तुल्यपरिमाणतया परिच्छिन्नत्वादूर्ध्व[2]गतिर्युक्तेति शङ्कत इत्याह—**देहविशेषपरिमित इति ।** नियतशब्दस्य भूतार्थकप्रत्ययान्तस्य भाव्यर्थत्वं न मुख्यमिति शेषपूरणेन योजयति—**स्वकर्मेति**—ननु कर्म[3]निमित्तत्वमात्रेण न बन्ध-

भावप्रकाशः

किञ्च 'आकाशस्यानन्ताः' इति सूत्रे अनन्तप्रदेशाः केवलज्ञानविषयत्वेन साधिताः । तत्र सूत्रे लोकपदानुपादानेन अलोकाकाशसाधारण्येनैवानन्ताः प्रदेशाः वक्तव्याः । एवं च मुक्तस्य अलोकाकाशगमनानभ्युपगमे अलोकाकाशप्रदेशानां ज्ञानं कथम् । ज्ञानस्य जीवपरिणामस्यैव भवद्भिरङ्गीकारात् । ज्ञानस्य परिणामितापक्षे ज्ञानसंयोगाद्यतिरिक्तज्ञानविषयतायाः कल्पनामात्रत्वात् । एवं मुक्तस्यालोकाकाशगमनविरहे मुक्तसुखस्य आकाशवत्परमानन्तपरिमाणमपि न घटेतेति भावः ॥

1 कर्मनियतं देहित्वे—**घ.** 2 गतियुक्तेति—**क.** गतिर्युज्यत इति—**ग.**
3 निबन्धनत्वमा—**ग.**

सर्वार्थसिद्धिः

अस्तु घातिकर्मचतुष्टयरहितस्य अघातिकर्मचतुष्टयप्रभावात् गत्यर्थो

आनन्ददायिनी

कत्वं [1]किं तु वाङ्मनःकायेन्द्रियनिमित्तकपापक्रियालक्षणघातिकर्म-निमित्तत्वेन। तथाचाघातिकर्माभिधानपुण्यनिमित्तदेहयोगात्परिमाणमस्तु [2] ततश्चोर्ध्वगमनं चेति शङ्कते;—अस्त्विति। कर्माणि द्विविधानि

भावप्रकाशः

घातिकर्मेत्यादि (८–४) मूलप्रकृतिषु ज्ञानावरणदर्शनावणमोह-नीयान्तरायाः घातिकर्माणि। वेद्यायुर्नामगोत्राण्यघातिकर्माणि (१०–१) घातिकर्मक्षयानन्तरमेव केवलमुत्पद्यते। अघातिकर्मसु 'सद्वेद्यशुभा-युर्नामगोत्राण्यपि पुण्यम्' (८–२५) 'अतोऽन्यत्पापम्' (२६) तत्र नामकर्मणः विहायोगतिः (८–११) फलमुक्तम् सिध्यज्जीवपुद्गलानां विहायोगतिस्स्वाभाविकी अवगाहनशक्तियोगात् (रा–वा) इति। एवं च गत्यर्थदेहस्संभवति। नामकर्मबलात् बहूनामात्मनामुपभोगहेतु साधारणशरीरम्। यदैको जायते तदैवानन्तानां जन्म। यदैवैको म्रियते तदैवानन्तानां मरणम् इति जैनैरभ्युपगतमेव। एवं च अयोग-केवलिनः अघातिकर्मणां क्षयेण तस्य सर्वस्यापि क्षयेपि जैनमते मुक्तौ ज्ञानदर्शनादीनामलोपस्याङ्गीकारेणेच्छातो देहपरिग्रह शङ्का सिद्धान्त प्रक्रियया तटस्थस्य युज्यत इति भावः ॥

पुंसामाशयभेदाः बहुधा प्रचरन्ति लोक इति सुधियाम्।
आचार्यपादभावप्रकाशनान्नापराध्यति जनोऽयम् ॥

---

[1] किं तु जीवात्मनः कर्मेन्द्रियनिमित्तकपाप—ग. [2] मस्तु ऊर्ध्वग—ग.

तत्वमुक्ताकलापः

इच्छातो देहमेकं विशति स परिमित्यर्थमेवेति

सर्वार्थसिद्धिः

देहः । तत्परित्यागक्षणे झडिति परिमाणसिद्ध्यर्थं [1]सकललोकमस्तकस्थायिनं[2] कञ्चिद्दिगम्बरदेहं सर्वे मुक्ताः प्रविशन्ति पृथग्वा[3]शरीराणि [4]परिगृह्णत इति वदन्तमुपालभते ;—**इच्छात इति**। न हि मुक्तस्येच्छाभोगौ युष्माभिरिष्येते। न च स्वच्छन्दव्यापाराः । अतः परिमाण-

आनन्ददायिनी

घात्यघात [5]भेदात् । [6]हिंसास्तेयासत्यात्मकानि घातीनि । अहिंसाऽऽनुकूल्यसत्यवचनात्मकान्यघातीनि । सर्वाण्यपि पुण्यापुण्यान्युक्तेष्वन्तर्गतानीति तेषां प्रक्रिया । **तत्परित्यागक्षण इति**—घातिकर्मजदेहपरित्यागक्षणे इत्यर्थः । **नहीति**—

इच्छाभोगादयो मुक्तौ न विद्यन्ते कदाचन ।
ऊर्ध्वगा एव सततं न [7]च स्वच्छन्दचारिणः ॥
जिनोपदिष्टसिद्धान्ते [8]मुक्ता घात्यादिवर्जिताः ।

इत्युक्तेरिति भावः। ननु स्वच्छन्द [9]व्यापारविशेषोऽन्यविषयः । [10]शरीरमात्रपरिग्रहे सोऽस्तीति क्लृप्त इति चेत्; तत्राह – **अतः परिमाण-**

---

[1] सर्वलोक–**ख.** [2] स्थयिनं दिगम्बर–**क.** [3] शरीरान्तराणि–**ख.** [4] परिगृह्णन्त इति–**क.** [5] भेदेन हिंसादिष्वपि ? सास्तेयासत्या–**क.** [6] हिंसापीडास्तेया–**ग.** [7] स्वतस्स्वच्छन्दचा–**ग.** [8] मुक्तया घाति–**वि. क.** मुक्ताघाति–**वि. ग.** [9] व्यापारनिषेधोऽन्य–**ग.** [10] शरीरमात्रपरिग्रहे भोगातथात्वे सर्वभोगाद–

तत्वमुक्ताकलापः

हास्यम् तस्मादास्माकनीत्या परिमितिरिह सा स्थायिनी या विमुक्तौ ॥ २४ ॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य-वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु तत्वमुक्ताकलापे जीवसरे जीवपरीक्षायां जीवाणुत्वसमर्थनम् ॥

सर्वार्थसिद्धिः

मात्रसिद्धयर्थं देहं परिगृह्णातीति निर्मूलकल्पनं [1]निपुणैर्हास्यम् । तर्हि का गतिरित्यत्राह—**तस्मादिति**। मुक्तौ काचित्स्वाभाविकी स्वीकार्या ।

आनन्ददायिनी

मात्रेति। घातिकर्मादिरहितस्येच्छादयश्चेत्स्युः ते स्वरूपानुबन्धिनस्स्युः। निर्हेतुकवादानभ्युपगमात् । मोक्षार्थाघातिकर्मचतुष्टयादेव तेषामुत्पत्तिरिति चेत्; तथात्वे सर्वभोगादयोऽप्यत ऊर्ध्वं स्युः । शरीरपरिग्रहेच्छादयस्तत्क्षण एव भवन्ति अन्ये भोगादयश्च न भवन्तीत्यत्र मानाभावादिति भावः । ननु मुक्त्यन्यथानुपपत्त्या कल्प्यते; युक्तियुक्तस्यैव सिद्धान्तत्वादित्यत्राह—**मुक्ताविति** । सिद्धान्तं परित्यज्य चेद्युक्तियुक्तं स्वीक्रियते तर्ह्यस्मदुक्तमेव तादृशमिति तदेव स्वीकुर्विति भावः । ननु वरदविष्णुमिश्रैः संसारदशायां स्वरूपज्ञानयोः सङ्कोचादणुपरिमाणमात्मस्वरूपम् । मोक्षदशायां तु सर्वगतं सर्वव्यापि ज्ञानं च विस्तीर्णतया प्रकाशते । अयमर्थो 'वालाग्रशतभागस्य' इति श्रुत्याऽवगम्यते । तथा च भगवता पराशरेण—'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता' इत्यादिना जीवस्यापि सङ्कोचविकासयोगित्वमुक्तम् । तथा श्रीमद्गीताभाष्ये

---

[1] निपुणैर्भाव्यम्—क.

सर्वार्थसिद्धिः

सैव बद्धदशायामपि स्थिरेति नित्याणुर्जीवः । तथा च सूत्रम्—' अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः । उभयमिह जीवस्वरूपं परिमाणं च ॥

इति श्री कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु सर्वार्थसिद्धौ जीवसरे जीवधर्मपरीक्षायां जीवाणुत्वसमर्थनम् ॥

आनन्ददायिनी

' अनादिमत्परं ब्रह्म ' इत्यादिव्याख्याने ब्रह्म—बृहत्त्वगुणयोगि शरीराद-र्थान्तरभूतम् । यतः शरीरादिभिः परिच्छेदरहितं क्षेत्रज्ञतत्त्वमित्यर्थः । ' स चानन्त्याय कल्पते ' इति श्रूयते शरीरपरिच्छिन्नत्वं चास्य कर्मकृतम् । कर्मबन्धनान्मुक्तस्यानन्त्यमित्युक्तम् । तथा च ' लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ' इत्यत्र लोके यद्वस्तु जातं तत्सर्वं व्याप्य तिष्ठति । परिशुद्धस्वरूपस्य देहादिपरिच्छेदरहिततया सर्वगामित्वमित्यर्थः ' इत्युक्तम् । तथा ' चरं चाचरमेव च ' इत्यत्रापीति जीवस्य सङ्कोचविकासावस्थावत्त्वमभ्युपगतमित्यत्राह—**तथा चेति** । सूत्रविरोधान्न यथाश्रुतार्थपरत्वम् । गीताभाष्यवचनं तु ज्ञानव्याप्त्येति नात्र स्वरूपव्याप्तिपरत्वम् । सारभाष्यादिषु ' स चानन्त्याय कल्पते ' इत्यादेस्तथैव व्याख्यानात् । दीपे च ' प्रदीपवदावेशस्तथाच दर्शयति ' इति सूत्रे वालाग्रेत्यादिश्रुतिमुपादाय ' प्रत्यगात्मनो ह्यणुत्वमेव स्वरूपमिति सूत्रकाराभिमतम् । ' नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ' इति परस्यैव महत्त्ववचनादिति प्रतिपादित एव । वरदविष्णुमिश्रवचनमप्युक्तार्थपरमिति स्वाभाविकमणुत्वमेव जीवस्येति भावः । सूत्रस्थोभयशब्दार्थमाह—**उभयमिहेति** ॥

इति श्रीसर्वार्थसिद्धिव्याख्यायां नृसिंहदेवविरचितायां आनन्ददायिन्यां जीवसरे जीवधर्मपरीक्षायां अणुत्वसमर्थनम् ॥

भावप्रकाशः

दोषा यद्यप्यस्मिन् दोषज्ञानां स्फुरेयुरेवमपि ।
तेषामपि गुणलेशः प्रतिभायाच्चेत् प्रमोदमातनुते ॥

इति श्री॥ लक्ष्मीहयग्रीवदिव्यपादुकासेवक श्रीमदभिनवरङ्गनाथब्रह्मतन्त्र परकालयतिविरचिते श्रीसर्वार्थसिद्धिटिप्पणे लघुनि भावप्रकाशे जीवसरे--जीवपरीक्षायां जीवाणुत्वसमर्थनम् ॥

प्रमाणवचनम् ग्रंथनाम	पुटम्
अधिष्ठानं तथा-गीता	128
,, ,, ...	290
अनन्वागतं पुण्येन-बृ.	138
,, ,, ...	183
,, ,, ...	185
अनात्मन्यात्मबुद्धि-वि. पु.	19
,, ,, ...	25
,, ,, ...	30
,, ,, ...	33
अनात्मन्यात्मविज्ञा ,, ...	14
,, ,, ...	15
,, ,, ...	18
,, ,, ...	26
,, ,, ...	33
अनादित्वान्निर्गुण-गी ...	98
,, ,, ...	236
अनाशी परमार्थ-वि.पु...	27
अनित्याशुचि—पातं.	22
अनीशया शोचति-श्वे.	325
अनीशश्चात्मा बध्यते ,, ...	23
अनुच्छित्तिधर्मा—बृ.	142
अनुज्ञापरिहारौ-ब्र. सू.	99
अनुपपत्तेस्तु ,, ...	4
अनुसंचरति-बृ.	213
अनुस्मृतेश्च—ब्र. सू	51
अनेन जीवेना—छां	75
अन्तर्ज्योतिः-बृ.	214
,, ...	220
अन्तः प्रविष्टश्शा-तै.अ.	284
अन्तवन्त इमे दे—गी.	96
अन्तवन्त इमे दे—गी	147
,, ,, ...	252
अन्नायुर्वा एष—एत.	174
अन्यत्र मना अभू-बृ.	118
,, ,, ...	120
,, ,, ...	134
अन्यार्थं तु जैमिनि-ब्र.सू.	362
अपहतपाप्मा विजरः-छां.	56
अपि वा यद्यपू—जै. सू.	281
अभयं वै ब्रह्म—बृ.	185
अभावप्रत्यया—पातं.	244
,, ,,	252
अमृतस्य परं से-श्वेता.	24
,, ,, ...	408
,, ,, ...	409
अमृतस्यैष सेतुः-मुं.	411
अमृतं मा कुरु-बृ.	423
अम्बुवदग्रहणा-ब्र. सू.	196
,, ,, ...	303
,, ,, ...	313
अयमहमस्मि—बृ.	210
अयमात्मा ब्रह्म—बृ. ...	230
,, ,, ...	328
अरुणयैकहायन्या-तै. सं.	256
अर्थैकत्वमविभागात्-जैसू.	329
अर्थैकत्वे द्रव्यगुण ,, ...	256
,, ,, ...	329
अलं वा अरविज्ञा-बृ.	184
अवाप्यते नरैर्दु-वि. पु.	21
आविकार्योऽय—गी.	97

प्रमाणवचनम्	ग्रंथनाम	पुटम्
अचिकार्योऽय	गी.	288
अचिनाशितु त	,,	96
,,	,,	252
,,	,,	288
,,	,,	460
अविनाशी वा अरे	बृ.	88
,,	,,	97
,,	,,	141
,,	,,	424
अविद्यया मृत्युं	ईशा	22
अविद्याकर्मसं	वि. पु.	29
अविभक्तम्	गी.	98
अविभागेन ह	ब्र. सू.	330
,,	,,	429
अविभागो वच	,,	425
,,	,,	428
,,	,,	429
अविरोधश्चन्दन	,,	151
अव्यक्तो	गी	96
अशब्दमस्पर्श	कठ.	46
अशोच्यानन्व	गी.	294
अश्व इव रोमाणि	छु.	412
,,	,,	413
अष्टौ प्रकृतय	आथर्व	136
असक्तं सर्वभृ	गी.	98
असङ्गो न हि	बृ.	26
,,	,,	94
असङ्गो ह्ययं	,,	274
असंभवस्तु सतो	ब्र. सू	281
अस्ति खल्वपि	महाभा.	178

प्रमाणवचनम्	ग्रंथनाम	पुटम्
अस्तीत्येवोपल	छां.	45
अस्माद्ध्येवात्म	बृ	118
अस्मितामात्र	पातं. भा.	306
अहं त्वं च	वि. पु.	11
,,		461
अहं त्वासर्व	गी.	419
अहं ब्रह्मास्मि	बृ.	78
अहमात्मागु	गी.	38
अहमिति शब्दस्य	वै. सू.	8
,,		46
अहमेवाधस्तात्	छां	38
,,		40
अहमेवेदं स	बृ.	38
अहं मनुरभवं	,,	38
,,		40
अहमेवेत्यवि	वि. पु.	9
,,	,,	20
,,	,,	21
,,	,,	30
अहं ममैतत्	,,	30
अहं मानमहा	,,	23
अहं शुभमो	पा. सू.	40
अहं सर्वस्य	गी.	26
अहं ह्यविद्यया	वि. पु.	19
,,	,,	22

[आ]

प्रमाणवचनम्	ग्रंथनाम	पुटम्
आकाशमेकं हि		370
,,		373
आकाशवत्सर्वगतश्च		438
,,		460

प्रमाणवचनम् ग्रंथनाम	पृष्ठम्
आकाशवाय्वाग्निजल–वि.पु.	19
आकाशो–कौ.	366
आक्रेस्तच्छीलतद्धर्म— पा.सू.	182
आचार्यवान् पुरु–छा.	380
आत्मनैवायं ज्यो–बृ.	180
आत्मनैवज्योतिषा–बृ.	216
,, ,, ...	218
,, ,, ...	219
आत्मनोवै शरीराणि	307
आत्मन्येष न दोषाय— वि. पु.	14
,, ,, ...	37
,, ,, ...	42
,, ,, ...	43
आत्मशरीरेत्यादि— .... न्या. सू.	90
आत्मस्थं प्रभुं—मैत्रा.	26
आत्मानंचेद्विजा—बृ. ...	143
आत्मा प्रकरणात्–ब्र. सू	165
,, ,, ...	299
आत्म बुद्ध्यासमे–पा. शि.	169
आत्मा मातुः पितु–चरक	169
,, ,,	26
आत्मा वा इदमेक–ऐ.	174
,, छां.	162
,, ,, ...	177
आत्मा वा इदमेक–ऐ.	418
,, ,, ...	427
आत्माशुद्धोक्षर–वि. पु.	12
आत्मास्य जन्तो–तै.	287
आत्मेति तूपग– ब्र. सू.	328
II आत्मैवेदं सर्व–छां.	38
आत्मैवेदमग्र—बृ.	118
,, ,, ...	127
,, ,, ...	132
,, छां.	150
I आत्मैवाधस्तात्–छा.	38
आत्मैवास्य ज्यो–छां.	212
,, ,, ...	213
,, ,, ...	114
,, ,, ...	218
,, ,, ...	220
आत्मैवाधस्तात् ,, ...	38
आदित्योवै यूपः	339
आप्तकामः आत्म–बृ. ...	114
आभास एव च–ब्र. सू.	301
,, ,, ...	302
,, ,, ...	303
,, ,, ...	305
आराग्रमात्रो–श्वे.	458
आसु तदा नाडीषु–बृ.	459
[इ]	
इगुपधज्ञा– पा. सू.	438
,, ,, ...	146
,, ,, ...	147
इच्छाद्वेषस्सुखं—गी. .	136
इच्छोद्वेषत्यादि–न्या. सू.	2
इज्याचारदमा—या.	415
इति तु कामयमा–बृ.	122

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
इत्थं च पुत्रपौ-	वि. पु.	19
इदं ज्ञानमुपा—	गी.	436
इदं शरीरं कौन्तेय-	गी.	97
,,	,,	98
,,	,,	146
,,	,,	147
इन्द्रियाणि न बु-	महा.	133
,,	,,	134
इन्द्रियाणिदशैकंच-	गी.	136
,,	,,	146
इद्रियेभ्यः परा—	कठ.	442
इमास्सर्वाः प्र—	छां.	363
इयदामननात्—	ब्र. सू.	281
इवेप्रतिकृतौ—	पा. सू.	430
[ई]		
ईक्षतेर्नाशब्दम्-	ब्र. सू.	343
ईशानंभूतभव्यस्य-	कठ	287
ईश्वरस्सर्वभू -	गी	294
,,	,,	318
[उ]		
उतेवस्त्रीभिस्सह-	बृ.	285
उद्गीतमेतत्—	श्वे.	319
,,	,,	327
उपद्रष्टाऽनु -	गी.	147
उपमानानि सा-	पा. सू.	432
उभयव्यपदेशा=	ब्र. सू.	328
उभयेऽपि हि	,,	5
,,	,,	281
[ऊ]		
ऊकालोऽच् ह्र-	पा. सू.	431
[ऋ]		
ऋतं पिबन्तौ-	कठ.	287
[ए]		
एकआत्मनश्शरीरा-	ब्र.सू.	56
एक एव हि भू		370
एकधा भवति तदेनं-	कौ.	365
एकधैवानुद्रष्टव्यम्-	छां	40
,,	,,	324
,,	,,	325
एकस्तु प्रभुशक्त्या वै		307
,,		308
एकस्वरूपभेदस्तु-	वि. पु.	17
एकं बीजं बहुधा-	बृ.	409
एकादशेन्द्रियाण्या-	मनु.	134
,,	,,	146
एकादशंमनोज्ञेयं		146
एकोदेवस्सर्व —	श्वेता.	322
,,	,,	359
,,	,,	360
एकोवहूनां यो	,,	23
,,	,,	24
एकोवशी सर्व		322
एकोव्यापी स-	वि. पु.	439
,,	,,	461
एकोहंस		324
एकः कृतार्थो		326
एतज्ज्ञानमिति—	गी.	135
,,	,,	145
एतत् क्षेत्रं समा-	गी.	147

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
एतत्सर्वं प्राण एव	बृ.	123
एतत्सर्वं मन एव	,,	121
,,	,,	122
,,	,,	137
,,	,,	152
एतद्धि सर्वाणि	,,	137
एतद्यो वेत्तितं	प्रा-गी.	147
,,	,,	137
एतद्वै सत्यकाम	बृ.	319
एतं ब्रह्मलोकं	छां.	185
एतस्माज्जीवघना		410
एतस्मादात्मनस्सर्वे		367
एतस्य वा अक्षरस्य	बृ.	26
एतेभ्यो भूतेभ्य	,,	143
एरच्	पा. सू.	191
एवमेतस्मादात्मन	बृ.	363
एवमेवाऽस्य परिद्र	प्र.	425
,,	,,	427
,,	,,	428
एवमेवैष	बृ.	119
एवं धर्मान्	मुं.	433
एवं वा अरे अय	बृ.	179
एवं सर्वान् पा	कौ	412
एवं व्यवस्थिते तत्वे	वि.पु.	16
एष आत्मा	बृ.	284
,,	,,	443
,,	,,	460
एष आत्मेति होवाच	छां.	283
एषत आत्मा सर्वा	बृ.	328
एषत आत्मा अन्त	,,	328
एषत आत्मा अन्त	बृ.	280
,,	,,	283
एषपन्थाः तेनैति	बृ.	185
एषपन्थाः एतत्कर्म	,,	417
एषब्रह्मैष इन्द्रः	,,	175
एषम आत्मान्तहृ	छां.	450
एष सेतुर्विधरण		26
एष हि द्रष्टा		187
,,		188
,,		273
,,		276
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा		299
,,		319
एषोऽणुरात्माच		455
,,		457
एषह्येवासाधुकर्म		89
ऐतदात्म्यमिदं		328
,,		333
[क]		
कतम आत्मेति भवति	बृ.	138
,, योयं		180
कतम आत्मा हृद्यन्त		218
,,		454
कथिते योगसद्भावे	वि.पु.	29
कर्तारमात्मानं	गी.	290
कर्ताविज्ञानात्मा		187
कर्ता शास्त्रार्थव	ब्र.सू.	272
,,	,,	274
,,	,,	290
,,	,,	296

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
कर्ता शास्त्रार्थव-	ब्र. सू.	333
,,	,,	438
कर्तृत्वे हेतु—	गी.	273
कर्मवश्या गुणा-	वि. पु.	11
कर्मणां देहभेदेन-	शौनक.	17
कर्मवत्कर्मणा-	पा. सू.	209
,,	,,	227
कर्मकर्तायं दृक्-	म. भाष्य.	433
कर्मानुगान्यनुक्र-	श्वे.	23
कलेबरमभोग्यं हि-	वि. पु.	19
कश्चिद्धीरः प्रत्य-	कठ.	174
,,	,,	262
कामस्संकल्पः —	बृ.	117
,,	,,	117
,,	,,	118
,,	,,	126
,,	,,	130
,,	,,	132
,,	,,	135
,,	,,	137
,,	,,	151
,,	,,	153
,,	,,	175
,,	,,	244
कामान् यःकामयते-	बृ.	122
,,	,,	144
कामायेऽस्य हृदि-	कठ.	117
,,		124
,,		129
,,		174
कामायेऽस्य हृदि-	कठ.	150
,,		153
कारणं गुणसङ्गो-	गी.	146
किंकारणं ब्रह्म—	श्वे.	318
किंज्योतिरयं—	बृ.	210
,,	,,	214
,,	,,	217
,,	,,	228
किं श्रान्तोऽस्यल्प-	वि. पु.	11
किं हेतुभिर्वदत्येषा	,,	13
कुत एतदागात्—	बृ.	362
,,	,,	367
कोऽहमित्यत्र निपु-	वि. पु.	16
,,	,,	100
क्लेशानां च क्षयक	,,	27
,,	,,	29
कैष एतद्बालाके-	कौ.	364
[क्ष]		
क्षरात्मानावीशते-	श्वे.	320
,,		323
,,		411
क्षीयन्ते चास्यक-	मुं.	410
,,	,,	411
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसं—	गी.	98
क्षेत्रंक्षेत्री	,,	98
क्षेत्रज्ञंचापि	,,	288
[ख]		
खाद्यश्चेतना-	चरक.	66
[ग]		
गताः कलाःपञ्च-	मुं.	426

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पृष्टम्
गताः कलाः पञ्च	मुं.	428
गतिशब्दाभ्यां तथा	ब्र.सू.	361
गन्धान् जिघ्रति	बृ.	120
गुणवादस्तु	जै. सू.	78
,,	,,	339
गुणद्वालोक	ब्र सू.	151
गुणान्वयोयः	श्वेता	23
,,	,,	455
गृहीतं मनः	बृ.	244
गोचरे वचसां नयः	वि.पु.	28
[घ]		
घञथ कविधानम्	वार्तिक.	438
घटध्वंसे घटा		370
,, यथा		430
[च]		
चक्षुरालोचनायैव	म. भा.	133
चक्षुषाहि रूपाणि	बृ.	126
,,	,,	132
चन्द्रमा एवास्य	,,	216
चराचरव्यपाश्र	ब्र सू.	305
,,	,,	106
,,	,,	333
चितेरप्रतिसंक्रमा	पातं.	197
चित्सदाऽहम्	कै. उ.	231
चिद्गुणेनैवनान्यथा	माध्व. चं २-३-१६	151
[ज]		
जन्माद्यस्ययतः	ब्र. सू.	413
जाग्रत्स्वप्नस्सुषुप्तं च	यो.वा	248
,,	,,	251
जानात्येवायं		170
जिघ्रन्वैतंनजि	बृ.	183
जिह्वाब्रवीत्यहमिति	वि.पु.	13
जीवापेतं वाव	छां.	59
,,	,,	94
,,	,,	95
जुष्टं यदा पश्य	श्वे.	23
,,	,,	326
,,	,,	327
जुष्टस्ततस्तेना	,,	,,
[ज्ञ]		
ज्ञः कालकालो	श्वे.	322
ज्ञा ज्ञौ द्वावजा	,,	360
ज्ञात्वा देवं	मुं.	124
,, मुच्यते	श्वे.	24
,, सर्वपा	,,	415
ज्ञानस्वरूप एवा		295
ज्ञानं नैवात्मनो		271
,,		295
ज्ञोऽत एव	ब्र. सू.	117
,,	,,	438
ज्यायान् पृथिव्या	छां.	458
ज्योतिरहं विरजा	तै.	37
,,	,,	212
ज्योतिर्दर्शनात्	ब्र. सू.	231
ज्योतिषास्ते	बृ.	217
ज्योतिष्टोमेन	आ. श्रौ.*	89

* स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत इति (आप. श्रौ. सू (10-2-1) पठ्यते तच्चैवं योजनीया निबन्धार उदाहरन्ति.

प्रमाणवचनम् ग्रन्थनाम	पुटम्
[ण]	
णेरणाविति सूत्रे-पा. सू.	227
ण्यासश्रन्थोयुच् ,, ...	191
[त]	
त इमे सत्याः कामाः–छां.	29
त इह व्याघ्रो वा ,, ...	368
,, ,, ...	404
,, ,, ...	405
ततः परं ब्रह्म–श्वे.	320
ततस्तु जातं सकलं–कै.	362
ततोऽहमिति कुत्रे–वि.पु.	11
,, ,, ...	37
ततोऽन्यत्रापि ह–वार्तिक.	256
,, ,, ...	42
ततोऽन्यद्विभक्तं–बृ. ..	138
तथात्मा प्रकृतेस्सं–वि.पु.	19
,, ,, ...	23
तथा विद्वान्–मु.	413
,, ,, ...	435
तथाऽन्यप्र–ब्र. सू.	281
तथाहेयगुण–वि. पु.	170
तदनन्यत्वमारम्भ-ब्र.सू.	348
तदभावोनाडीषु ,, ...	362
,, ,, ...	364
,, ,, ...	369
तदभिध्यानादेव तु ,, ...	413
तदात्मतत्वं प्रसमी–श्वे. ...	326
,, ...	412
तदात्मानमेवावै–बृ.	43

प्रमाणवचनम् ग्रन्थनाम	पुटम्
तदा द्रष्टुःस्वरूपे–पातं.	196
तदा विद्वान्–मुं.	420
,, ,, ...	435
,, ,, ...	436
तदेतत्कथितं बीजं–वि. पु.	19
तदेतदधिगच्छन्ति–भागव.	428
तदेतत्सत्यम्–मु.	410
तदैक्षतबहुस्याम्–छां	129
,, ,, ...	129
,, ,, ...	350
तदेनंवाक्सर्वै–बृ.	366
तदैवसक्तस्सहकर्म–श्वे.....	144
तच्छ्रूयतामवि—वि. पु....	19
,, ,, ...	28
तज्ज्ञानमज्ञान ,, ...	21
तत्कारणं सां—श्वे	348
तत्क्लेशप्रशमाया–वि. पु.	27
तत्क्षेत्रं यच्च—गी.	145
तत्तेजोऽसृत—छां.	26
तत्प्रयोजको—पा. सू. ...	296
तत्त्वमसि—छां.	45
,, ,, ...	190
,, ,, ...	330
,, ,, ...	337
,, ,, ...	338
,, ,, ...	340
,, ,, ...	399
,, ,, ...	427
,, +पासीत–छां.	334
तत्त्ववित्-गी.	292

प्रमाणवचनम् ग्रन्थनाम	पुटम्
तत्र ते न्यवसन् सुखम्	257
तत्रैवं सति कर्तारम्-गी.	288
तत्सिद्धिजातिसारूप्य—जै. सू	339
तत्सुकृतदुष्कृते—कौ.	412
तत्सृष्ट्वातद्वा—तै.	399
तत्स्वाभाव्यापत्ति-ब्र. सू.	434
तद्गुणसारत्वात्तु ,, ...	206
तद्धास्यविजज्ञाविति-छां	380
तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत-बृ.	118
,, ,, ...	125
तद्यत्रैतत्सुप्त—छां	93
,, ...	364
,, ...	387
तद्यथाऽनस्सुसमा-बृ.	443
तद्यथा प्रियया ,, ...	429
तद्यथा-एव मात्मानं ,, ...	443
तद्योयो देवानां	386
तद्वत्कामायं प्र—गी.	145
तद्वेद्धव्यं सौम्याविद्धि-मु.	400
तप्तपयसिदध्यानयति	364
तमीश्वराणां परमं-श्वे	359
तमुत्क्रामन्तम्-प्र.	443
,, ...	445
तमेव विदित्वा-श्वे.	324
,, ,, ...	337
तमोरजस्सत्व—श्री. भा	150
तमसः पारंदर्श—प्र.	380
तमसा गूढमग्रे-तै.	244
तमः परे देव एकी-सौ.....	427

प्रमाणवचनम् ग्रन्थनाम	पुटम्
तमात्मस्थं येऽनु-कठ.	316
तरतिशोकं तरति-मु.	436
तर्काप्रतिष्ठाना-ब्र. सू	46
तत्तु मृत्युमवि-वि. पु.	22
तत्तु मृत्युमवि-वि. पु.	29
तस्मादपि पृष्ठत—बृ.	121
,, ,, ...	135
,, ,, ...	153
तस्मादेवं वित्-आत्म.बृ.	185
तस्माद्धूम एवाग्ने-तै.	77
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता-गी.	97
तस्य हैतस्य पुरुषस्य-बृ.	283
,, ...	443
तस्यात्मपरदेहेषु-वि. पु.	459
,, ...	124
तस्याभिध्यानात्तु-श्वे.	414
तस्यायुषः पुण्य-चरक.....	65
तस्यैष आत्मा	419
तंत्वौपनिषदं पुरु—बृ.	335
,, ,, ...	412
तं विद्याकर्मणी—बृ.	93
तादृगेव भवति-मु.	433
तानिपरे तथा—ब्र. सू.	425
,, ,, ...	428
तीर्णो हि तदा—बृ.	137
,, ,, ...	143
,, ,, ...	173
,, ,, ...	185
तुल्यास्य प्रयत्नं-पा. सू.	431
तेजः परस्यां देव—बृ.	428

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
तेद्वन्द्वमोहानिर्मु	—गी.	23
तेन प्रद्योतेनैष आ	—बृ.	185
,,	,,	442
,,	,,	443
तेन तुल्यं क्रियाचे	—पा. सू.	431
तेन रक्तं रागा॒	—पा. सू.	127
तेषां सुखंशा	—कठ.	409
तोयेन जीवान्व्य	—तै.	406
त्यदादिषु दृशो	—पा. सू.	430
त्यागेनैके अमृत	—तै.	369
त्रीण्यात्मनेऽकुरुत	—बृ.	118
,,	,,	119
,,	,,	126
,,	,,	131
,,	,,	135
,,	,,	152
त्वं किमेतच्छिरः	—वि. पु.	16
,,	,,	100
त्वं चान्येन च	,,	461
त्वं पीवानसि	,,	42
त्वं राजा शिबिका	,,	16
त्वं हि नः पिता	—प्रश्न.	422
,,	,,	423
त्वा हौसौ	—पा. सू.	40
[द]		
दम्भाहङ्कारसं	—गी.	40
दशेमे पुरुषे प्रा	—बृ.	134
दशेमे-रोदयन्ति	,,	445
दहरोऽस्मिन्नन्तर	—छां.	363
दुःखस्यान्तः		412
दूरभूयस्त्वात्	—जै. सू.	78
,,	,,	339
दृश्यते त्वग्र्यया बु	—कठ.	260
दृष्ट एवा—त्ययः	—वै. सू.	46
दृष्टैव पुण्यं च	—बृ.	93
,,	,,	284
,,	,,	285
देव एकस्समावृणो	—श्वे.	360
देहयोगाद्वासोऽपि	—ब्र. सू.	29
,,	,,	99
,,	,,	414
देहं मनोमात्र	—भि. गी.	149
देहिनोऽस्मिन्	—गी.	96
,,	,,	147
दैवीह्येषागुण	,,	23
द्रष्टाश्रोता	—बृ.	187
,,	,,	275
द्रष्टादृशिमात्र	—पातं.	197
द्रष्टुर्दृष्टेर्विपारि	—बृ.	141
द्वाविमौ पुरुषौ लो	—गी.	406
द्वा सुपर्णा सयुजा	—मुं.	281
,,	,,	435
द्विर्वचनप्रकरणे	—महा-भाष्यं.	438
द्विर्वचनप्रकरणे	-वार्तिक	438
द्वेवावब्रह्मणो रू	—बृ.	283
[ध]		
धर्मं जैमिनिरतएव	—ब्र. सू.	415
धर्माधर्मौ न संदेह	—वि. पु.	12
धर्मापहं पापनुदम्	—श्वे.	23

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पृष्टम्
धातायथापूर्वम	पु.	312
धातुः प्रसादान्महिमा	श्वे.	23
ध्यायतीव	छां.	279
ध्यायतोविषयान्	गी.	145
[न]		
न कर्मकर्तृसाधन	न्या.सू.	90
न कर्मानादित्वादिति	ब्र.सू.	312
न च मांतानिकर्माणि	गी.	23
नचास्य कश्चिज्जनितान	श्वे.	281
,,	,,	282
नजायते म्रियते वा	,,	46
,,	,,	277
,,	गी.	96
,,	,,	287
नञिवयुक्तमन्य	परिभाषा	430
न तत्र रथारथयो	बृ.	214
,,	,,	285
,,	,,	414
नतदस्ति पृथिव्यां वा	गीता.	291
न तस्य कार्यं करणं च	श्वे.	360
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च	,,	416
न तु तद्द्वितीयमस्ति	बृ.	141
,,	,,	183
,,	,,	330
,,	,,	362
,,	,,	429
,,	,,	96
,,	,,	147
,,	,,	252
न तु तद्द्वितीयमस्ति	बृ.	294
नत्वेवाहंजातुनासम्	गी.	315
न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः	बृ.	250
,,	,,	275
,,	,,	283
,,	,,	284
न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यः	तै.	283
न प्रेत्यसंज्ञास्ति	बृ.	77
,,	,,	425
न बाह्यं किंचनवेद	,,	138
,,	,,	139
,,	,,	173
न मां दुष्कृतिनो	गी.	23
न लिप्यते लोक	मुं.	26
न विज्ञातुर्विज्ञाते	बृ.	141
,,	,,	143
,,	,,	169
,,	,,	181
,,	,,	186
,,	,,	190
,,	,,	252
न संव्यवहारमात्र	वाक्य.	349
न हवै सशरीरस्य	छां.	95
न हि द्रष्टुः	बृ.	142
,,	,,	181
,,	,,	182
नहि कश्चित् क्षणमपि	गी.	289
नात्माश्रुतेः	ब्र. सू.	56
,,	,,	333
,,	,,	437

प्रमाणवचनम् ग्रन्थनाम	पुटम्
नानात्मानोव्यव ,,	 310
नामरूपेव्याकर-छां.	 550
नांतरिक्षेनदिवि-तै.सं,	 283
नान्यं गुणेभ्यः—गी.	 286
,, ,,	 294
नान्यदतोऽस्ति—बृ.	 281
नान्योतोऽस्ति ,,	 278
,, ,,	 279
,, ,,	 280
,, ,,	 281
,, ,,	 409
नायमात्मा—मुं.	 419
नायंजनोमे—भि.गी.	 149
नायं हन्तिनह	 288
नासतास्तुतिरुपप-द्र.भा.	340
नासत्योऽनिष्पाद्य-वाक्य.	348
,, ,,	 349
नास्तिचेन्नास्तिनो	 103
नाहखल्वयमेवं—छां.	 86
,, ,,	 234
,, ,,	 241
नाहं पीवानचैवो-वि.पु.	 11
,, ,,	 13
,, ,,	 37
,, ,,	 42
,, ,,	... 77
नित्यत्वाच्च ताभ्यः-ब्र.सू.	438
नित्यस्सर्वगतः-गी.	.... ,,
,, ,,	 441
नित्योनित्यानां—कठ.	 315
नित्योनित्यानां—कठ.	 322
,, श्वे,	 322
,, ,,	 322
,, ,,	... 327
,, ,,	 360
,, ,,	 406
,, ,,	 437
नियतस्य तुसन्या-गी.	 283
निरञ्जनः परमं	 340
निरवद्यं निरञ्जनम्	 326
,,	 350
निरुपाधिकमैश्वर्यम्-पाद्म.	320
निर्माणचित्तान्यस्मिता—पातं.	306
निर्वाणमय एवायं-वि.पु.	19
,, ,,	 34
निर्विकारः परस्त्वात्मा—चरक.	66
नेतिनेति—बृ.	 325
नेहनानास्ति—मु.	 433
नैवकिञ्चित्करो—गी.	 293
,, ,,	 294
नैवात्मनोनदे-श्री.भा	 148
[प]	
पञ्चभूतात्मकदे-वि.पु.	 19
,, ,,	 30
पञ्चम्यास्तासिल्-पा.सू.	414
पञ्चवृत्तिर्मनो-ब्र.सू.	 123
,, ,,	 125
,, ,,	 128

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पृष्टम्
पञ्चैतानि महा—	गी.	277
,,	,,	286
,,	,,	287
,,	,,	291
पञ्चात्मकं पञ्चसु—	गर्भो	136
पञ्चचेन्द्रियगोच—	गी.	146
पण्डितास्समदर्शिनः—	गी.	359
परज्ञानमयोऽसद्भिः—	वि.पु.	17
परमार्थस्त्वसंलाप्यः	,,	27
परात्तुतच्छ्रुतेः—	ब्र.सू.	,,
,,	,,	290
,,	,,	296
,,	,,	333
,,	,,	413
,,	,,	418
परात्परं पुरुष—	मुं.	326
पराभिध्यानात्तुतिरो—	ब्र.सू.	24
,,	,,	29
,,	,,	123
,,	,,	124
,,	,,	127
,,	,,	443
परामृताः परि—	मू.	369
परिणामात्—	ब्र.सू.	344
परिणामस्तु स्याद्—	वाक्य.	,,
,,	,,	348
परेऽव्ययेसर्व	ए	426
पशवः पाशिताः	पू	24
,,	,,	410

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पृष्टम्
पश्यतस्सर्वभूतानि—	चरक.	68
पश्यत्यन्यमीशम—	मु.	412
पश्यन्वैतद्द्रष्टव्यम्—	बृ.	170
,,	,,	181
,, तन्नपश्यति	,,	,,
पाप्मनो विजहाति	,,	95
पिण्डः पृथग्यतः—	वि.पु.	11
,,	,,	13
,,	,,	37
पीताश्चविविधास्तनाः—	गर्भो.	59
पुनश्च जन्मान्तरकर्म—	कै.	361
पुमान् सर्वगतोव्यापी—	वि.पु.	461
पुरत्रयेक्रीडति		358
,,	,,	359
,,	,,	369
पुरश्चक्रे+पुरिशयः—	बृ.	335
पुराणन्यायमीमां		58
पुरीततिशेते—	वाजसने.	366
पुरुषः प्रकृति—	गी.	147
पुरुषश्चाप्युभावेतौ—	वि.पु.	406
पुरुषार्थोऽतश्श—	ब्र.सू.	416
पुरुषेवा अयमादि—	ऐतरे.	174
पृथगात्मानं प्रेरि—	मुं.	318
,,	,,	325
,,	,,	327
पृथिव्यप्सुलीयते—	सुजा.	362
,,	,,	365
प्रकृतिं पुरुषंचैव—	गी.	406

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
प्रकृतेः क्रियमा	,, ...	207
,,	,, ...	286
,,	,, ...	292
प्रकृतेर्गुणसंमू	,,	,,
प्रकृतैतावत्त्वं	ब्र. सू.	325
प्रकृत्यैवचकर्माणि	गी.	286
,,	,, ...	37
प्रजहातियदाका	,, ...	97
,,	,, ...	145
,,	,, ...	147
,,	,, ...	294
प्रत्यस्तमितभेदं यत्	वि.पु.	28
प्रदीपवदावेशस्तथा	ब्र सू.	306
,,	,, ...	460
प्रधानक्षेत्रज्ञपति	श्वे.	29
,,	,, ...	408
प्रवृत्तिभेदे प्रयोज	पातं. ...	307
प्रवृत्त्यानर्थक्यं तु	वाक्य	349
प्रज्ञानं ब्रह्म	....	17
,,	...	176
प्रज्ञानघन एव	बृ.	206
प्राज्ञेनात्मना	,, ...	137
,,	,, ...	366
,,	छां.	183
,, याति ?	,, ...	185
प्राणएव	....	366
प्राणस्येव प्राणोनाम	बृ.	118
,,	,, ...	127
,,	,, ...	128
,,	,, ...	175
प्राणस्य प्राणमुत	,, ...	185
प्राणाधिपस्संचरति	,, ...	100
,,	,, ...	456
प्राणापान+लिङ्गानि	वै. सू.	2
प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्यो	...	231
प्राणोऽनूत्क्रामति	बृ.	444
प्राणमनूत्क्रामन्तं	,, ...	445
प्राणोपान एतत्सर्वं	,, ...	128
प्राणोऽस्मि	छां.	115
प्रायेणाकृतकृत्य	...	102
प्रोक्तेन भक्तियोगेन	श्री. भाग.	147
[फ]		
फलमत उपपत्तेः	ब्र.सू.	24
,,	,, ...	413
,,	,, ...	415
,,	,, ...	416
[ब]		
बन्धको भवपाशेन	स्कां.	410
बन्धायतत्परम्	वि. पु.	28
बहवः पुरुषा	महाभा.	116
बहूनां यो विदधाति	श्वे.	410
बुद्धेर्गुणेना	...	458
बुद्धेरात्मामहान्	कठ.	439
,,	,, ...	441
बुद्ध्यायुक्तोज	गी.	97
,, यया	,, ...	,,
ब्रह्मपरिबृढं सर्वतः	यास्क	413

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
ब्रह्मविदाप्नोति	तै.	200
,,	,,	326
,,	,,	343
,,	,,	380
ब्रह्मविविदिषन्ति		144
ब्रह्मवेदब्रह्मैव	मुं.	195
,,	,,	326
,,	,,	413
,,	,,	434
ब्रह्मवित्		195
ब्रह्मैवसन् ब्रह्मा	बृ.	148
,,	,,	185
ब्रह्मैव भवति	मुं.	436
ब्राह्मेण जैमिनि	ब्र.सू.	56
,,	,,	92
,,	,,	127
,,	,,	164
,,	,,	340
[भ]		
भक्तिः परेशानुभवो— श्रीभाग.		148
भिद्येते तासां नाम		427
,,		428
भुवो भावे	पा. सू.	436
भूतभर्तृच्च ताज्ज्ञे	गी.	98
भूमौ पादयुगं त्वा	वि.पु.	11
भूयश्चान्ते विश्वमा	श्वे.	22
,,		23
भेदश्च तस्याज्ञानकृतो—	वि. पु.	27

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
भेदव्यपदेशात्	ब्र. सू.	325
,,	,,	327
भोक्त्रापत्तेर	,,	340
,,	,,	347
भोक्त्रापत्तेर	ब्र. सू.	350
[म]		
मद्भावं सोऽधिग	गी.	436
मनश्चमन्तव्यं च	बृ.	188
मनएव मनुष्याणां		113
मनसा कामान्का	बृ.	121
,,	,,	125
,,	,,	126
,,	,,	128
,,	,,	144
मनसा तु विशुद्धेन		260
,,	,,	125
मनसावा अग्रेसंक	बृ.	152
,,	,,	153
मनसा संकल्पयति	,,	136
मनसा हि कामान्	,,	120
मनसा ह्येव पश्यति	,,	,,
,,	,,	135
,,	,,	153
,,	,,	175
मनसाह्येष पश्यति	,,	123
मनसैवानुद्रष्टव्य	छां.	186
मनोबुद्धिरहङ्कारः		40
मनोबुद्धिः	महाभा.	134
मनोमहान्		127
मनोवाचं	बृ.	135

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
मन्वानो मनः—	बृ.	121
ममेतिद्व्यक्षरो-	शान्तिप.	25
ममेति यन्मयाचोक्तं—	वि. पु.	20
ममेति यन्मयाचोक्तं-	वि.पु.	25
,,	,, ...	27
मयि सर्वाणि कर्माणि-	गी.	292
महाभूतान्यहङ्कारो—	गी.	136
,,	,,	145
मांचयोऽव्यभिचारेण --	गी.	294
मातरं पितरं वैके—	चरक.	68
मात्रा संसर्गस्त्वस्य—	बृ.	142
मायातवेयमज्ञात—	....	22
मायां तु प्रकृतिं	वि-श्वे.....	23
मित्रामित्रकथाकुतः-	वि. पु.	359
मीमांसान्यायविस्तरः—		58
मोहतमोवृतः-	वि. पु.	21
मोहश्रमं प्रयातो—	वि. पु.	21
म्रियमाणः—	बृ.	95
[य]		
य आत्मनि तिष्ठन्-	बृ.	316
य आत्मा अपहत--	छां.	26
,,	,, ...	164
,,	,, ...	,,
य आत्मानमन्तरोय-	बृ.	283
,,	,, ...	290
य इमं च लोकं—	,, ...	279
,,	,, ...	281
य ईशोऽस्य जगतो—	....	320
य एतद्विदुरमृता—	बृ.	143

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
य एनं वेत्तिहन्तारं—	गी.	286
य एनं वेत्तिहन्तारं-	गी.	287
य एष विज्ञानमय—	बृ.	184
,,	,, ...	363
य एषोऽन्तर्हृदये	,, ...	363
,,	,, ...	364
यः कश्चनशब्दो वागेवसा–	बृ.	122
,,	बृ.	126
यः प्राणेन प्राणिति-	बृ.	123
,,	,, ...	128
यच्चास्य सन्ततो—	....	165
,,	....	179
यजमनः प्रस्तरः—	तै.	340
यत्तुकामेप्सुना—	गी.	291
यत्तु कालान्तरेणापि—	वि. पु.	16
यत्त्वेतद्भवताप्रो—	वि. पु.	12
यत्र किञ्चित्सादृश्यं—	महाभा.	432
यत्र सुप्तो न कश्चन-	बृ.	137
,,	,, ...	173
यत्र हि द्वैतमिव भवति-	बृ.	143
,,	,, ...	289
यत्रैष एतद्बालाके—	कौ.	364
यत्रैष एतत्सुप्तो—	बृ.	119
,,	,, ...	138
,,	,, ...	139
,,	,, ...	249
,,	छां ...	183

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
यत्रैष एतत्सुप्तो—	वाजसनेयक.	364
,,	,,	365
यत्सप्तान्नानि मेधया—	बृ.	152
यथा च कुमारो—	बृ.	363
यथाग्नेः क्षुद्राः—	बृ.	362
यथा च तक्षोभ—	ब्र. सू.	275
,,	,,	369
यथाचिरात्सर्व—	कै.	,,
यथाऽणुनश्चक्षुषः		151
यथा न क्रियते—	वि. पु.	169
यथानद्यस्स्यन्द—	मुं.	429
,,	,,	442
,,	,,	443
यथा प्रकाशयत्ये—	गी.	99
,,	,,	295
यथा प्रदीपश्शरणं—	अनुगी.	,,
यथा सर्वगतं सौ—	गी.	99
यथोदकं शुद्धे—	कठ.	430
,,	,,	432
यदभावि न तद्भावि—		297
यदात्मतत्वेन—	श्वे.	326
,,	,,	412
यदानोपचय—	वि. पुः	12
यदासर्वे प्र.—	मुं.	143
यदा सुप्तः स्वप्नं—		251
यदाह्यहङ्कार—	भाग.	425
,,	,,	426
,,	,,	428
यदेतज्ज्ञानथ—	बृ.	410
यदेवोपमानं—	महाभा.	432
यद्यन्योस्ति परः—	वि. पु.	13
,,	,,	359
यद्य . ङ्कारमा—	गी.	27
,,	,,	291
यद्वैतन्न विजानाति—	बृ.	139
,, पश्यति—	,,	,,
,, जिघ्रति—	,,	170
,, पश्यति—	,,	173
,, ,,	,,	181
,, ,,	,,	183
,, विजानाति	,,	184
,,	,,	184
यन्मनसाध्यायति—	बृ.	126
यमेवैषवृणुते—	मुं	418
यस्य चैतत्कर्म—	बृ.	417
यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्—	मु.	26
,,	,,	411
,,	,,	435
यस्सर्वेषु भूतेषु—	बृ.	26
यस्तन्तुनाभ इव त		409
यस्मिन् द्यौः पृथिवीचा—	मुं	40
,,	,,	325
यस्मिन् प्राणः पञ्चधा		455
यस्मिन् लोका निहिता		410
यस्य ज्ञानमयं तपः—	मु.	123
यस्य नाहं कृतो—	गी.	291
यस्य सर्वे समारम्भा—	गी.	293
यानिह्येव जाग्रत्प—	बृ.	180
या प्राणेन—	कठ.	280

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
यावत्सञ्जायतेकिञ्चित्	गी	98
यावद्विकारंतु	ब्र. सू.	437
युक्तआसीत	गी.	,,
युष्मद्युपपदे	वा. सू.	43
येत्वेतदभ्यसू	गी.	292
,,	,, ...	293
येनवापश्यति	बृ.	176
,,	ऐत.	174
येनावृतंनित्यमि	....	360
येनेदं सर्वं	बृ.	143
येषान्त्वन्तगतं	गी.	23
यैस्स्वधर्मपरैर्नाथ	वि पु.	24
योऽपानेनापानिति	बृ.	123
योब्राह्मणायाव	तै. सं.	89
योभवान् यन्निमित्तं	वि. पु	12
यो मनसि तिष्ठन्	बृ.	279
योऽयं विज्ञानमयः	,, ...	139
,,	,, ...	143
,,	,, ...	173
,,	,, ...	180
,,	,, ...	183
,,	,, ...	186
,,	,, ...	212
,,	,, ...	218
योयोरेतस्सिञ्चति	छां.	436
योवै प्राणस्साप्रज्ञा	कौ.....	366
योऽशनायापिपासे	....	26
योऽस्ति सोऽहमिति	वि. पु.	12

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
[र]		
राज्यं योगांश्च विविधान्	वि. पु.	19
रामरावणयोरिव	श्रीमद्रा.	433
रूपं रूपं प्रतिरू	कठ.	398
रूपात्प्रायात्	जै. सू.	339
[ल]		
लिङ्गं मनः	बृ	145
लोकवत्तुलीलाकै	ब्र. सू.	350
[व]		
वदन् वाक्	बृ.	118
,,	,, ...	125
वषट्कर्तुः प्रथम	.	289
वाङ्मनसि संप	छां.	113
वाचाहिनामान्य	बृ.	126
,, प्राणंजुहुम	,, ...	418
वाचैवायं ज्योति	,, ...	214
वायव्यंश्वेत	तै. सं.	329
वायुरात्माभवे	....	115
वायुर्भूत्वाततो	योगशा.	,,
वायुर्भूत्वाधू	छां.	434
वायुस्सर्वत्रगोम	गी.	441
,,	,, ...	462
वाऽसरूपोऽस्त्रियायाम्	पा. सू.	191
वासांसि जीर्णानि	गी.	96
,,	,, ...	97
,,	,, ...	369

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
विकारांश्च	,, ...	146
विजानन्वैतद्रसं—बृ.	....	176
विज्ञातारमरे	,, ...	143
,,	,, ...	185
विज्ञानघन एव—छां.	....	77
,,	,, ...	96
,,	,, ...	191
,,	,, ...	205
,,	,, ...	424
विज्ञानमयः प्राणेषु—बृ.	....	184
,,	,, ...	221
,, मयश्च आत्मा	....	426
विज्ञानमानन्दं	,, ...	139
,,	,, ...	184
,,	,, ...	413
,,	,, ...	416
विज्ञानं यज्ञंत—तै.	....	230
विज्ञानात्मा पुरुषः—बृ.	....	4
,,	,, ...	173
,,	,, ...	187
,,	,, ...	188
,,	,, ...	221
विज्ञानानिमन	,, ...	125
वीतरागजन्मादर्श—न्याय.		59
वीतशोकोधातु	....	412
वृत्तिसारूप्यमि—पातं.	....	196
वृद्धिह्रासभाक्त्व—ब्र. सू.		305
,,	,, ...	313
वेदाहमेतं पुरु—पु. सू.	....	324
वैषम्यनैर्घृण्येन सा—ब्र.सू.		312
वैषम्यनैर्घृण्येन सा—ब्र. सू.		452
वैष्णवं वामनमाल—तै. सं.		439
व्यतिरेकस्तद्भावभावि—ब्र. सू.		92
व्यवसायात्मिकाबुद्धि—गी.		97
व्येतु ते मनसोव्यथा	....	124

[श]

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
शक्तिविपर्ययात्—ब्र. सू.		274
शब्दविशेषात्	,, ...	280
शब्दोऽहमितिदोषा—वि .पु.		13
शरवत्तन्मयोभवेत्	....	410
शरीरमभिसंपद्यमानः—बृ.		95
,,	,, ...	213
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय—गी.		99
शरीराणि विहाय—गी.		358
शाखादिभ्योयः—पा. सू.		430
शास्त्रयोनित्वात्—ब्र सू.	....	46
,,	,, ...	335
शिबिकायां स्थितश्चायं—वि. पु.		11
शिरःपाण्यादिलक्षणः—वि. पु.		3
शुकस्तु मारुताच्छीघ्रं—म भार.		387
शुभाशुभफलै—गी.	....	23
शुभत्वसौ तुष्यति	....	447
श्रुतेस्तु शब्दमूल—ब्र. सू.		350
श्रूयतांचाप्यवि—वि. पु.		30
,,	,, ...	33

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
श्रूयतां सोऽहमि—वि. पु.		12
श्रृणोतग्रावाणः-तै. सं.	....	42
श्रृण्वन्तश्श्रोत्रेण—बृ.	....	153
[स]		
स त आत्मान्तर्या—बृ.	....	353
स ईक्षतलोकान्नु-एत.	....	174
,,	बृ.	177
,,	,, ...	418
स ईशोऽस्यजगतो—	....	207
,,	....	290
स उत्क्रामन्—बृ.	....	65
,,	,, ...	280
स एकधा भवति-छां.	....	307
,,	,, ...	308
स एकाकी न रमेत-महो.		326
स एतेन प्राज्ञेना-बृ.	....	176
स एव तु कर्मानु-ब्र. सू.		54
,,	,, ...	234
,,	,, ...	361
,,	,, ...	367
,,	,, ...	369
स एवाधस्तात्—छां.	....	38
,,	,, ...	242
स एष इहप्रविष्टः—बृ.	....	361
,,	,, ...	398
,,	,, ...	389
स एष नेति नेत्यात्मा—बृ	....	94
यज्ञायुधी—बृ.	....	6
स एषोन्तश्चरते—	....	410
स एष प्राज्ञेना—	....	175

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
सक्ताः कर्मण्यवि—गी.	....	292
सखल्वेवंवर्तयन्-छां.	....	343
सचानन्त्यायक	....	457
,,	....	584
,,	....	460
सतत्रपर्यैति जक्षत्-छां.		279
,,	,, ...	424
सतिसंपद्यनविदुः	,, ...	361
,,	,, ...	368
सत्यकामस्सत्य	,, ...	123
सत्यंज्ञानं—तै.	....	206
,, ,,	....	221
सत्यस्य सत्यम्—बृ	....	315
सत्संप्रयोगे पुरु-जै.सू.	....	4
,,	,, ...	117
सदेवसोम्येदमग्र-छां.	....	338
,,	,, ...	343
,,	,, ...	418
,,	,, ...	427
सधीः स्वप्नोभूत्वा-बृ.	....	130
,,	,, ...	139
,,	,, ...	173
,,	,, ...	180
,,	,, ...	218
सनसाधुनाकर्मणा	....	186
सनोदद्याद्ब्रह्मा	....	409
,,	,, ...	416
सप्राणन्नेव प्राणो--बृ.	....	124
,,	,, ...	131
समाननामरूपत्वा-ब्र.	....	312

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
समानमितरच्छयेनेन—	जै. सू.	281
समानेवृक्षे—	छां.	,,
,,	,,	436
सयत्तत्रकिञ्चि	,,	93
,,	,,	285
सयत्पूर्वोऽस्मात्	,,	411
,,	,,	412
सयत्रस्वपित्यस्य लो	,,	213
,,	,,	180
सयथा	,,	181
सयथा कुमारो	,,	366
,, प्रयोग्य आ—	छां.	96
,,	,,	287
सयदि पितृलोक	,,	124
सयथेमानद्य—	प्र.	427
सयस्तान् पुरुषान्—	बृ.	26
सयोहैतत्परमं—	मु.	436
सर्व एत आत्मनो—	माध्यान्दिन	363
सर्वकर्माणिमनसा—	गी	286
सर्वगतः	,,	460
सर्वत्रैवहिभूपाल—	वि. पु.	12
सर्वभूताधिवासं—	अमृ.बि·	381
,,	ब्र. बिं.	,,
सर्वस्य चाहं हृदि—	गी	290
,, वशीसर्वस्येशा		26
सर्वाजीवेसर्वसं—	श्वे.	317
सर्वान् शोकान् हृद—	बृ.	175
सर्वाः प्रजा अहरह—	छां.	361
सर्वावतः—	बृ.	214
सर्वेन्द्रिय—	गी.	98
सर्वेप्राणा अभि—	बृ.	445
सर्वंतत्प्रज्ञानेत्रम्—	बृ.	175
सर्वं देहोपभोगाय—	वि.पु.	19
सर्वं पाप्मानं तरति—	बृ.	148
,,	,,	125
सर्वं ह पश्यः—	छां.	186
,,	,,	460
सलिल एकोद्रष्टा	,	183
,,	,,	429
सवा अयं	,,	95
स वा अयमात्मा—	बृ.	283
स वा एष आत्मा—	छां	138
,,	,,	454
,, एतेन	,,	178
,, महानज—	बृ.	26
,,	,,	186
,,	,,	212
,,	,,	412
,,	,,	439
,,	,,	442
सविज्ञानो भवति	,,	143
संकल्पनस्पर्शनदृष्टि—	श्वे.	455
संकल्पाहङ्कारस्त	,,	,,
संज्ञां राजन् करो—	वि. पु.	17
संज्ञानमाज्ञानं—	बृ.	175
संनिपातस्त्वहमिति—	श्री-भाग.	149
,,	,,	150

प्रमाणवचनम् ग्रन्थनाम	पुटम्
संयुक्तमेतत्—श्वे.	319
,, ,, ...	320
ससमानस्सन्नुभौ—बृ.	278
संसार आधावति—श्री-भाग.	149
संसारमोक्षस्थिति—श्वे.	24
सहवासनिवासात्मा—मोक्षध.	26
स हि स्वप्नोभू—बृ.	213
साक्षी चेता केवलो-	278
,, ,, ...	286
,, ,, ...	288
,, ,, ...	360
सार्वधातुके यक्–पा. सू.	178
सिद्धं तु निवर्तकत्वात्—द्र. भा.	45
सिद्धं तु निवर्तकत्वात्—वार्तिक.	315
सुखदुःखोपभोगौ यौ—वि. पु.	12
सुपां सुलुक्—पा. सू.	126
सुषुप्तिकाले सकले वि—कै. उ.	244
,, ,, ...	251
,, ,, ...	361
सुषुप्त्युत्क्रान्त्यो–ब्र.सू.	366
सृजते स हि कर्ता–बृ.	285
सैषा विष्णोर्मह–श्री. भा.	428
सोऽकामयत—छां.	123
,, ,, ...	127

प्रमाणवचनम् ग्रन्थनाम	पुटम्
सोऽहमित्येतद्भूप–वि.पु.	14
,, ,, ...	17
सोऽहं सच त्वं सच–,, ...	18
सोऽहं भगवश्शोचामि–छां.	422
स्था-स्ना-पा-व्यधि-हनि--म. भा.	438
स्मरन्ति च—ब्र. सू.	116
स्याल्लोकवत्— ,, ...	330
स्वतन्त्रः कर्ता–पा. सू.	278
,, ,, ...	296
स्वदेहमरणिं कृत्वा—श्वे.	360
स्वमावृणोति—	409
,, ,, ...	410
स्वयं क्तेन—पा. सू.	209
स्वयं ज्योतिः—बृ.	216
,, ,, ...	225
स्वयं निर्माय ,, ...	214
,, निहत्य स्वयं नि–बृ.	180
स्वरसवाही विदुषोऽपि—पातं.	77
स्वरूपं च स्वभावश्च—	210
स्वरेण सन्धयेद्योगम्—अमृ. वि.	381
स्वरेण सन्धयेद्योगम्—ब्र. बि.	381
स्वर्गकामो यजेत—	274
स्वल्पकाले महीपाल्यम्–वि. पु.	18
स्वाप्ययात्—ब्र. सू.	361
स्वाराज्यकामो राज—	89

प्रमाणवचनम्	ग्रन्थनाम	पुटम्
स्वेन ज्योतिषा	—बृ.	212
स्वेन भासास्वेन ज्योतिषा	—बृ.	173
,,	,, ...	180
,,	,, ...	181
,,	,, ...	212
,,	,, ...	214
स्वेन रूपेणाभिनिष्प	-छां.	215
,,	,, ...	424
[ह]		
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं	-कठ.	277
,,	,, ...	286
,,	,, ...	288
हिता नाम नाड्यः	-छां.	364
,,	,, ...	365
हित्वा गुणमयं सर्वं	-मो.ध.	286
हिरण्यनिधिं निहितमक्षे	,,	367
,,	,, ...	368
हृदा मनीषा मनसा	-तै.	147
हृदि ह्ययमात्मा	—बृ.	453
हृदि ह्येष आत्मा	—प्रश्ना.	138
हृद्यन्तज्योतिः	—बृ.	95
,,	,, ...	138
,,	,, ...	179
,,	,, ...	231
हृद्यपेक्षया तु	—ब्र. सू.	454
हृद्याकाशे	—सुबालो.	138
ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं	-बृ.	125

WD 886—GBPM—750—27-11-1940.